भारतीय संस्कृति में
जैन धर्म का योगदान

म० प्र० शासन साहित्य परिषद् व्याख्यानमाला १९६०

भारतीय संस्कृति
में
जैन धर्म का योगदान

डा० हीरालाल जैन, एम.ए., डी.लिट्., एल.एल.बी.,

अध्यक्ष

संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय;

भूतपूर्व डायरेक्टर

शासकीय प्राकृत जैन अहिंसा शोध संस्थान, मुजफ्फरपुर.

प्रकाशक
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल
१९६२

मूल्य १०)

मुद्रक
अमृतलाल परवार
सिंघई प्रिंटिंग प्रेस, मढ़ाताल, जबलपुर

प्रकाशकीय

राज्य की साहित्यिक प्रवृत्तियो को गति देने, भाषाओं के विकास के लिए उच्च कोटि के साहित्य के निर्माण के लिए साहित्यिक प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करने और साहित्यकारो को सम्मानित करने के उद्देश्य से शासन द्वारा "मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्" की स्थापना सन् १६५४ मे पुराने मध्यप्रदेश में की गई थी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिषद् की ओर से प्रति वर्ष निर्दिष्ट विषयों पर उत्कृष्ट मौलिक रचनाओं, प्राचीन पाण्डुलिपियो के सम्पादन तथा अनूदित ग्रथो के लिए पुरस्कार दिए जाते रहे हैं, निबन्ध-प्रतियोगिताए की जाती रही है तथा विभिन्न साहित्यिक एव शास्त्रीय विषयो पर देश के विख्यात साहित्यकारो के व्याख्यानों का भी आयोजन किया जाता रहा है। परिषद् इन व्याख्यानमालाओ, पुरस्कृत पुस्तको तथा अन्य उपयोगी साहित्य को प्रकाशित भी करती रही है।

राज्यपुनर्गठन के फलस्वरूप यह परिषद् ३१ अक्टूबर १६५६ को विघटित कर दी गई और १ नवम्बर १६५६ से नवीन मध्यप्रदेश में इसकी पुनः स्थापना की गई। अब इसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण नवीन मध्यप्रदेश बन गया है। राज्यपुनर्गठन के बाद से विन्ध्य प्रदेश पुरस्कार योजना भी उक्त परिषद् के अन्तर्गत आ गई है और इसका कार्य पूर्ववत् चल रहा है।

"भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान" परिषद् के उक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत ६वी पुस्तक है। इसमे संस्कृत, पालि व प्राकृत साहित्य के सुप्रसिद्ध अधिकारी विद्वान् डा० हीरालाल जैन के शोधपूर्ण चार भाषणों का संग्रह है, जिनमें जैन धर्म से संबंधित संस्कृति, इतिहास, साहित्य, दर्शन तथा वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला पर प्रकाश डाला गया है। इन व्याख्यानों का आयोजन दिनाक ७ मार्च १६६० से १० मार्च १६६० तक

नवीन मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में किया गया था। डा० जैन ने भाषणों को पुस्तक का रूप देने के लिए अपने मूल भाषणों में यथास्थान आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिए हैं और उसे क्रमबद्ध बनाकर पुस्तक को उपयोगी और रोचक बना दिया है, जिसमें सामान्य पाठक के अतिरिक्त, इस विषय के शोधकर्ता को भी पर्याप्त नवीन सामग्री उपलब्ध होगी। इस पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में भी डा० जैन ने अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी अत्यधिक सहायता प्रदान की है। उन्होंने सुविस्तृत ग्रंथ-सूची और शब्द-सूची जोड़कर सोने में सुगन्ध का समावेश कर दिया है। इन सब के लिए हम डा० जैन के आभारी हैं।

आशा है कि हिन्दी-जगत् में इस पुस्तक का समुचित समादर होगा और शोध-साहित्य की श्रीवृद्धि करनेवाले विद्वानों को इससे प्रेरणा मिलेगी।

अनन्त मराल शास्त्री,
सचिव,
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद,
भोपाल

आमुख

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के आमंत्रण को स्वीकार कर मैंने भोपाल में दिनक ७, ८, ९ और १० मार्च, १९६० को क्रमशः चार व्याख्यान 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' विषय पर दिये। चारों व्याख्यानों के उपविषय थे जैन इतिहास, जैन साहित्य, जैन दर्शन और जैन कला। इन व्याख्यानों की अध्यक्षता क्रमशः मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री डा० कैलासनाथ काटजू, म०प्र० विधान सभा के अध्यक्ष पं० कुंजीलाल दुबे, म० प्र० के वित्त मन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल और म० प्र० के शिक्षा मन्त्री डा० शंकर दयाल शर्मा द्वारा की गई थी। ये चार व्याख्यान प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहे हैं।

पाठक देखेंगे कि उक्त चारों विषयों के व्याख्यान अपने उस रूप में नहीं है, जिनमें वे औसतन एक-एक घंटे में मंच पर पढ़े या बोले जा सके हों। विषय की रोचकता और उसके महत्व को देखते हुए उक्त परिषद् के अधिकारियों, और विशेषतः मध्यप्रदेश के शिक्षा मन्त्री डा० शंकरदयाल शर्मा, जिन्होंने अन्तिम व्याख्यान की अध्यक्षता की थी, का अनुरोध हुआ कि विषय को और अधिक पल्लवित करके ऐसे एक ग्रन्थ के प्रकाशन योग्य बना दिया जाय, जो विद्यार्थियों व जनसाधारण एवं विद्वानों को यथोचित मात्रा में पर्याप्त जानकारी दे सके। तदनुसार यह ग्रन्थ उन व्याख्यानों का विस्तृत रूप है। जैन इतिहास और दर्शन पर अनेक ग्रन्थ व लेख निकल चुके हैं। किन्तु जैन साहित्य और कला पर अभी भी बहुत कुछ कहे जाने का अवकाश है। इसलिये इन दो विषयों का अपेक्षाकृत विशेष विस्तार किया गया है। ग्रन्थ-सूची और शब्द-सूची विशेष अध्येताओं के लिये लाभदायक होगी। आशा है, यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

अंत में मैं मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् का बहुत कृतज्ञ हूं, जिसकी प्रेरणा से मैं यह साहित्य-सेवा करने के लिये उद्यत हुआ।

हीरालाल जैन

विषय सूची

१. जैन धर्म का उद्गम और विकास — पृष्ठ १-४६

२. जैन साहित्य — पृष्ठ ४६-२११

व्याख्यान-१

जैन धर्म का उद्‌गम और विकास

व्याख्यान–१

जैन धर्म का उद्गम और विकास

जैन धर्म की राष्ट्रीय भूमिका—

इस शासन साहित्य परिषद् की ओर से जब मुझे इन व्याख्यानों के लिये आमंत्रण मिला और तत्संबंधी विषय के चुनाव का भार भी मुझही पर डाला गया, तब मैं कुछ असमंजस मे पड़ा। आपको विदित ही होगा कि अभी कुछ वर्ष पूर्व बिहार राज्य शासन की ओर से एक विद्यापीठ की स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य है प्राकृत जैन तत्वज्ञान तथा अहिंसा विषयक स्नातकोत्तर अध्ययन व अनुसंधान। इस विद्यापीठ के संचालक का पद मुझे प्रदान किया गया है। इस बात पर मुझ से अनेक ओर से प्रश्न किया गया है कि बिहार सरकार ने यह कार्य क्यों और कैसे किया? उनके इस प्रश्न की पृष्ठभूमि यह है कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय नीति सर्वथा धर्म-निरपेक्ष निश्चित हो चुकी है, और तदनुसार संविधान में सब प्रकार के धार्मिक, साम्प्रदायिक, जातीय आदि पक्षपातों का निषेध किया गया है। अतएव इस पृष्ठभूमि पर उक्त प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का सरल उत्तर मेरी ओर से यही दिया जाता है कि बिहार सरकार ने केवल इस जैन विद्यापीठ की ही स्थापना नही की है, किंतु उसके द्वारा संस्कृत व वैदिक संस्कृति के अध्ययन व अनुसंधान के लिये मिथिला विद्यापीठ, एवं पालि व बौद्ध तत्वज्ञान के लिये नव नालंदा महाबिहार की भी स्थापना की गई है। इस प्रकार का एक संस्थान पटना मे अरबी-फारसी भाषा साहित्य व संस्कृति के लिये भी स्थापित किया गया है। भारत की प्राचीन संस्कृतियों के उच्च अध्ययन, अध्यापन व अनुसंधान हेतु इन तीन चार विद्यापीठो की स्थापना द्वारा शासन ने अपना धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ कदापि नही है कि शासन द्वारा किसी भी धर्म, तत्वज्ञान व तत्संबंधी साहित्य

के अध्ययन आदि का निषेध किया जाय, किंतु उस का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि किसी धर्म-विशेष के लिये सब सुविधायें देना और दूसरे धर्मों की उपेक्षा करना, ऐसी राष्ट्र-नीति कदापि नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत शासन का कर्तव्य होगा कि वह देश के प्राचीन इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त व दर्शन आदि संबंधी सभी विषयों के अध्ययन व अनुसंधान के लिये जितनी हो सके उतनी सुविधायें समान दृष्टि से, निष्पक्षता के साथ, उपस्थित करे। इस उदात्त व श्रेयस्कर दृष्टिकोण से कभी किसी को कोई विरोध नही हो सकता। म समझता हूं इसी धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इस शासन परिषद् ने मुझे इन व्याख्यानो के लिये आमंत्रित किया है, और उसी दृष्टि से मुझे जैनधर्म का भारतीय संस्कृति को योगदान विषयक यहा विवेचन करने में कोई संकोच नही। ध्यान मुझे केवल यह रखना है कि इस विषय की यहा जो समीक्षा की जाय, उसमें आत्म-प्रशंसा व परनिंदा की भावना न हो, किंतु प्रयत्न यह रहे कि प्रस्तुत संस्कृति की धारा ने भारतीय जीवन व विचार एवं व्यवस्थाओं को कब कैसा पुष्ट और परिष्कृत किया, इसका यथार्थ मूल्यांकन होकर उसकी वास्तविक रूपरेखा उपस्थित हो जाय। मुझे इस विषय मे विशेष सतर्क रहने की इसलिये भी आवश्यकता है क्योंकि मैं स्वयं अपने जन्म व संस्कारों से जैन होने के कारण सरलता से उक्त दोष का भागी ठहराया जा सकता हूं। किन्तु इस विषय मे मेरा उक्त उत्तर-दायित्व इस कारण विशेषरूप से हलका हो जाता है, कि जैनधर्म अपनी विचार व जीवन संबंधी व्यवस्थाओं के विकास मे कभी किसी संकुचित दृष्टि का शिकार नही बना। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। उसका यदि कभी कही अन्य धर्मों से विरोध व संघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार नीति की रक्षा के लिये। जैनियों ने अपने देश के किसी एक भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। यदि उनके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए थे, तो उनका उपदेश व निर्वाण हुआ मगध (दक्षिण बिहार) मे। उनसे पूर्व के तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ उत्तरप्रदेश की बनारस नगरी में; तो वे तपस्या करने गये मगध के सम्मेदशिखर पर्वत पर। उनसे भी पूर्व के तीर्थंकर नेमिनाथ ने अपने तपश्चरण, उपदेश व निर्वाण का क्षेत्र बनाया भारत के पश्चिमी प्रदेश काठियावाड को। सब से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जन्म हुआ अयोध्या में और वे तपस्या करने गये कैलाश पर्वत पर। इस प्रकार जैनियों की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर में हिमालय, पूर्व में मगध, और पश्चिम में काठियावाड तक हो गया। इन सीमाओं के भीतर अनेक मुनियों व आचार्यों आदि महापुरुषों के जन्म, तपश्चरण,

निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पद पद भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। चाहे धर्मप्रचार के लिये हो और चाहे आत्मरक्षा के लिये, जैनी कभी देश के बाहर नहीं भागे। यदि दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों के समय वे कहीं गये तो देश के भीतर ही, जैसे पूर्व से पश्चिम को या उत्तर से दक्षिण को। और इस प्रकार उन्होंने दक्षिण भारत को भी अपनी इस श्रद्धांजलि से वंचित नहीं रखा। वहां तामिल के सुदूरवर्ती प्रदेश में भी उनके अनेक बड़े बड़े आचार्य व ग्रंथकार हुए हैं, और अनेक स्थान उनके प्राचीन मंदिरों आदि के ध्वंसों से आज भी अलंकृत हैं। कर्नाटक प्रांत में श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर बाहुबलि की विशाल कलापूर्ण मूर्तियां आज भी इस देश की प्राचीन कला को गौरवान्वित कर रही हैं। तात्पर्य यह कि समस्त भारत देश, आजकी राजनैतिक दृष्टिमात्र से ही नही, किंतु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी, जैनियों के लिये एक इकाई और श्रद्धाभक्ति का भाजन बना है। जैनी इस बात का भी कोई दावा नही करते कि ऐतिहासिक काल के भीतर उनका कोई साधुओ या गृहस्थों का समुदाय बड़े पैमाने पर कहीं देश के बाहर गया हो और वहा उसने कोई ऐसे मंदिर आदि अपनी धार्मिक संस्थायें स्थापित की हों, जिनकी भक्ति के कारण उनके देशप्रेम में लेशमात्र भी शिथिलता या विभाजन उत्पन्न हो सके। इसप्रकार प्रान्तीयता की संकुचित भावना एवं देशबाह्य अनुचित अनुराग के दोषों से निष्कलंक रहते हुए जैनियों की देशभक्ति सदैव विशुद्ध, अचल और स्थिर कही जा सकती है।

देशभक्ति केवल भूमिगत ही हो सो बात नही है। जैनियों ने लोक-भावनाओं के संबंध में भी अपनी वही उदार नीति रखी है। भाषा के प्रश्न को ले लीजिये। वैदिक परम्परा मे संस्कृत भाषा का बड़ा आदर रहा है, और उसे ही 'दैवी वाक्' मानकर सदैव उसी में साहित्य-रचना की है। इस मान्यता का यह परिणाम तो अच्छा हुआ कि उसके द्वारा प्राचीनतम साहित्य वेदों आदि की भले प्रकार रक्षा हो गई तथा भाषा भी उत्तरोत्तर खूब मंजती गई। किन्तु इससे एक बड़ी हानि यह हुई कि उस परम्परा के कोई दो तीन हजार वर्षों में उत्पन्न विशाल साहित्य के भीतर तत्तत्का-लिक भिन्न प्रदेशीय लोक-भाषाओं का कोई प्रतिनिधित्व नही हो पाया। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय की एक लोक-भाषा मागधी को बनाया और अपने शिष्यों को यह आदेश भी दिया कि धर्म उपदेश के लिये लोकभाषाओं का ही उपयोग किया जाय। किन्तु बौद्ध परम्परा के साहित्यिक उस आदेश का पूर्ण-तया पालन न कर सके। उन्हें एक पालि भाषा से ही मोह हो गया और वह इतना

कि लंका, स्याम, बर्मा आदि दूर देशों में जाकर भी उनके साहित्य का माध्यम वही पालि भाषा बनी रही, और वहां की लोक भाषायें जीती मरती हुई उस साहित्य में कोई स्थान प्राप्त न कर सकी। जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से उस समय की सुबोध वाणी अर्द्धमागधी का उपयोग किया, तथा उनके गण-धरों ने उसी भाषा में उनके उपदेशो का संकलन किया। उस भाषा और उस साहित्य की ओर जैनियों का सदैव आदर भाव रहा है, तथापि उनकी वह भावना कभी भी लोक भाषाओं के साथ न्याय करने में बाधक नही हुई। जैनाचार्य जब जब धर्म प्रचारार्थ जहां जहां गये, तबतब उन्होने उन्ही प्रदेशो मे प्रचलित लोक-भाषाओ को अपनी साहित्य-रचना का माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य में ही भिन्न भिन्न प्रदेशों की भिन्न भिन्न कालीन शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि प्राकृत भाषाओं का पूरा पूरा प्रतिनिधित्व पाया जाता है। हिंदी, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओ का प्राचीनतम साहित्य जैनियो का ही मिलता है। यही नही, किंतु दक्षिण की सुदूरवर्ती तामिल व कन्नड भाषाओं को प्राचीनकाल मे साहित्य मे उतारने का श्रेय सभवतः जैनियों को ही दिया जा सकता है। इसप्रकार जैनियो ने कभी भी किसी एक प्रातीय भाषा का पक्षपात नही किया, किंतु सदैव देश भर की भाषाओ को समान आदरभाव से अपनाया है, और इस बात के लिये उनका विशाल साहित्य साक्षी है।

धार्मिक लोक मान्यताओ की भी जैनधर्म में उपेक्षा नही की गई, किंतु उनका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्परा मे यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्य भाव रहा है व उन्हें अवतार-पुरुष माना गया है। जैनियो ने तीर्थंकरो के साथ साथ इन्हे भी त्रेशठ शलाका पुरुषों मे आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणो मे विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। जो लोग जैनपुराणो को हलकी और उथली दृष्टि से देखते हैं, वे इस बात पर हंसते हैं कि इन पुराणो मे महापुरुषो को जैनमतावलम्बी माना गया है, व कथाओ मे व्यर्थ हेर फेर किये गये हैं। उनकी दृष्टि इस बात पर नही जाती कि कितनी आत्मीयता से जैनियो ने उन्हें अपने भी पूज्य बना लिया है, और इस प्रकार अपने तथा अन्यधर्मी देश भाइयो की भावना की रक्षा की है। इतना ही नही, किंतु रावण व जरासंध जैसे जिन अनार्य राजाओं को वैदिक परम्परा के पुराणों में कुछ घृणित भाव से चित्रित किया गया है, उनको भी जैन पुराणो मे उच्चता और सम्मान का स्थान देकर अनार्य जातियों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुंचने दी। इन नारायण के शत्रुओं को भी उन्होने प्रतिनारायण का उच्चपद प्रदान किया

है। रावण को दशमुखी राक्षस न मान कर उसे विद्याधर वंशी माना है, जिसके स्वाभाविक एक मुख के अतिरिक्त गले के हार के नौ मणियों मे मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने से लोग उसे दशानन भी कहते थे। अग्निपरीक्षा हो जाने पर भी जिस सीता के सतीत्व के संबंध में लोग नि:शंक नही हो सके, उस प्रसंग को जैन रामायण मे बड़ी चतुराई से निबाहा गया है। सीता किसीप्रकार भी रावण से प्रेम करने के लिये राजी नही है। इस कारण रावण के दुख को दूर करने के लिये उसे यह सलाह दी जाती है कि वह सीता के साथ बलात्कार करे। किंतु रावण इसके लिये कदापि तैयार नही होता। वह कहता है कि मैने व्रत लिया है कि किसी स्त्री को राजी किये बिना मै कभी उसे अपने भोग का साधन नही बनाऊंगा। इसप्रकार जैन पुराणों में रावण को राक्षसी वृत्ति से ऊपर उठाया गया है, और साथ ही सीता के अक्षुण्ण सतीत्व का ऐसा प्रमाण उपस्थित कर दिया गया है, जो शंका से परे और अकाट्य हो। इन पुराणों मे हनुमान, सुग्रीव आदि को बंदर नही, किंतु विद्याधर वंशी राजा माना गया है, जिनका ध्वज चिन्ह वानर था। इसप्रकार जैनपुराणो मे जो कथाओ का वैशिष्ट्य पाया जाता है, वह निरर्थक अथवा धार्मिक पक्षपात की संकुचित भावना से प्रेरित नही है। उसका एक महान् प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा लोक मे औचित्य की हानि न हो, और साथ ही आर्य अनार्य किसी भी वर्ग की जनता को उससे किसी प्रकार की ठेस न पहुंचकर उनकी भावनाओं की भलेप्रकार रक्षा हो।

देश मे कभी यक्षों और नागों की भी पूजा होती थी, और इसके लिये उनकी मूर्तिया व मन्दिर भी बनाये जाते थे। प्राचीन ग्रंथो मे इस बात के प्रमाण हैं। इनके उपासको को इतिहासवेत्ता मूलतः अनार्य मानते है। जैनियों ने उनकी हिंसात्मक पूजा-विधियों का तो निषेध किया, किन्तु प्रमुख यक्ष नागादि देवी देवताओं को अपने तीर्थकरों के रक्षक रूप से स्वीकार कर, उन्हे अपने देवालयों में भी स्थान दिया है। राक्षस, भूत, पिशाच आदि चाहे मनुष्य रहे हों, अथवा और किसी प्रकार के प्राणी, किन्तु देश के किन्ही वर्गों मे इनकी कुछ न कुछ मान्यता थी, जिसका आदर करते हुए जैनियो ने इन्हे एक जाति के देव स्वीकार किया है।

उदार नीति का सैद्धान्तिक आधार—

जैनियो की उक्त संग्राहक प्रवृत्तियों पर से सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म अवसरवादी रहा है, जिसके कारण उसमें अनेक विरोधी बातों का समावेश कर लिया गया है। किन्तु गम्भीर विचार करने से यह अनुमान निर्मूल सिद्ध हो

जायगा, क्योंकि उक्त सभी बातें किसी व्यावहारिक सुविधा मात्र के विचार से नहीं लाई गई हैं, किन्तु वे जैनधर्म के आधारभूत दार्शनिक व सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से स्वभावतः ही उत्पन्न हुई हैं। इस बात को स्पष्टतः समझने के लिये जैनदर्शन पर यहां एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

वेदान्त दर्शन मे केवल एक चिदात्मक तत्व ही स्वीकार किया गया है, जिसे ब्रह्म कहा है और शेष दृश्यमान जगत् के पदार्थों को असत् व माया-जाल रूप से बतलाया गया है। एक अन्य दर्शन में केवल भौतिक तत्वों की ही सत्ता स्वीकार की गई है, और उन्ही के मेल-जोल से चैतन्य गुण की उत्पत्ति मानी गई है। इस मत को चार्वाक् दर्शन कहा गया है। जैन दर्शन जीव और अजीवरूप से दोनो तत्वों को स्वीकार करता है। उसमे मौलिक तत्व एक नही, किन्तु छह द्रव्यो को माना है। द्रव्य वह है जिसमें सत्ता गुण हो, और सत्ता स्वयं त्रिगुणात्मक है। इसके ये तीन गुण है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। तात्पर्य यह कि न तो वेदान्त मे द्रव्यो की पूरी सत्ता का निरूपण पाया जाता है, और न चार्वाक् दर्शन मे। द्रव्यो मे वेदान्त-सम्मत कूटस्थ नित्यता भी सिद्ध नही होती, और न बौद्ध सिद्धान्त की क्षण-ध्वंसता मात्र। संसार में चैतन्य-गुण-युक्त आत्म-तत्व भी है, और चैतन्यहीन मूर्तिमान, भौतिक पदार्थ तथा, अमूर्तिक काल, आकाश आदि तत्व भी। ये सभी द्रव्य गुण-पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक अवस्था के कारण उनमें ध्रुवता है, तथा पर्यायात्मकता के कारण उनमे उत्पत्ति-विनाश रूप अवस्थाएं भी विद्यमान हैं। जैनधर्म के इस दार्शनिक तत्व-ज्ञान मे ही उसकी व्यापक दृष्टि पाई जाती है, और इसी व्यापक दृष्टि से वस्तु-विचार के लिए उसने अपना स्याद्वाद व अनेकान्त रूप न्याय स्थापित किया है। इस न्याय को समझने के लिए हम अपने सामने रखी हुई इस टेबिल को ही ले लेते हैं। इसे हम चैतन्यहीन पाते हैं, इसीलिए इसे मात्र जड तत्व ही कह सकते हैं। जड़ तत्वों मे यह अमूर्त नही, किन्तु मूर्तिमान है, इसीलिए इसे पुद्‌गल कह सकते है। पुद्‌गलों के नाना भेदों में से यह केवल काष्ठ की बनी है, इसीलिये इसे काठ कह सकते हैं, और काठ के बने आलमारी, कुर्सी, बेंच, दरवाजे आदि नाना रूपो में से इसके अपने विशेष रूप के कारण हम इसे टेबिल कहते हैं। इस टेबिल मे ऊँचाई, लम्बाई, चौडाई तथा रंग आदि की दृष्टि से अनेक ही नही, अनन्त गुण हैं। आपेक्षिक दृष्टि से देखने पर यही टेबिल हमे कभी छोटी और कभी बड़ी, कभी ऊंची और कभी नीची दिखाई देने लगती है। इस प्रकार जब कोई इसे उक्त द्रव्यात्मक, गुणात्मक या पर्यायात्मक नाम से कहता है, तब उसमे वास्त-विकता की दृष्टि से हमे एकाश सत्य की झलक मिलती है, और उससे हमारा

तात्कालिक कार्य भी चल जाता है। किन्तु यदि हम उसी आंशिक तथ्य को परिपूर्ण सत्य मान लें, तो यह हमारी भूल होगी। नाना कालों में, नाना देशो में, नाना मनुष्यों में वस्तुओं को नाना प्रकार से देखा, समझा व वर्णन किया जाता है। अतएव हमें उन सब कथनों व वर्णनों का ठीक-ठीक दृष्टिकोण समझकर, उन्हें अपने ज्ञान में यथास्थान समाविष्ट करना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नही कर पाते, तो पद पद पर हमें विरोध दिखाई देता है। किन्तु यदि हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को समझकर उनको सामंजस्य रूप से स्थापित कर सकें, तो हमें उस विशाल सत्य के दर्शन होने लगते हैं जो इस जगत् की वास्तविकता है। इसी उद्देश्य से जैन आचार्यों ने देश और काल, तथा द्रव्य और भाव के अनुसार भी वस्तु-वैचित्र्य का विचार करने पर जोर दिया है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने समस्त एकान्तरूप मिथ्या दृष्टियों के समन्वय से सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति मानी है।

जैनधर्म में जो अहिंसा पर जोर दिया गया है, वह भी उक्त तत्व-चिन्तन का ही परिणाम है। संसार मे एक नही, अनेक, अनन्त प्राणी हैं, और उनमे से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। ये आत्माएं अपने अपने कर्मबन्ध के बल से जीवन की नाना दशाओ, नाना योनियो, नाना प्रकार के शरीरों तथा नाना ज्ञानात्मक अवस्थाओं में दिखाई देती हैं। किन्तु उन सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने की योग्यता है। इस प्रकार शक्तिरूप से सभी जीवात्मा समान हैं। अतएव उनमें परस्पर सम्मान, सद्भाव और सहयोग का व्यवहार होना चाहिये। यही जैनधर्म की जनतंत्रात्मकता है। यदि आज की जनतंत्रात्मक विचारधारा से उसे पृथग् निर्दिष्ट करना चाहे, तो उसे प्राणि-तन्त्रात्मक कहना उचित होगा, क्योंकि जनतंत्रात्मक जो दृष्टिकोण मनुष्य समाज तक सीमित है, उसे और अधिक विस्तृत व विशाल बनाकर जैनधर्म प्राणिमात्र को उसकी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है। इस वस्तु-विचार से यह स्वभावतः ही फलित होता है कि समस्त प्राणियों में परस्पर अपनी व पराई दोनों की रक्षा की भावना होनी चाहिये। जब सभी को एक उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचना है, और वे एक ही पथ के पथिक हैं, तब उनमे परस्पर साहाय्य की भावना होनी ही चाहिये। इस विवेक का मनुष्य पर सबसे अधिक भार है, क्योंकि मनुष्य मे अन्य सब प्राणियो की अपेक्षा अधिक बुद्धि और ज्ञान का विकास हुआ है। यदि एक के पास मोटरकार है, और दूसरा पैदल चल रहा है, तो होना तो यह चाहिये कि मोटरवाला पैदल चलनेवाले को भी अपनी गाड़ी में बिठा ले। किन्तु यदि किसी कारणवश यह सम्भव न हो, तो यह तो कदापि होना ही न चाहिये कि मोटरवाला अपने उन्माद में

उस पैदल चलनेवाले को अपनी गाडी के पहियों के नीचे कुचल दे। अहिंसा सिद्धान्त का यही तत्व और मर्म है।

किन्तु जीवन की जितनी विषम परिस्थतिया हैं और प्राणियों में जितनी विरोधात्मक वृत्तिया हैं, उनमे अहिंसा सिद्धान्त के पूर्णरूप से पालन किये जाने में बड़ी कठिनाइयां हैं। जैनधर्म मनुष्य की इन विषम परिस्थितियो को स्वीकार करके चलता है, और इसीलिये अहिसापालन मे तरतम प्रणाली को स्थापित करता है। गृहस्थ एक सीमा तक ही अहिसा का पालन कर सकता है, अतएव उसके लिये अणुव्रतों का विधान किया गया है। उसके आगे महाव्रतो का परिपालन मुनियो के लिये विहित है। गृहस्थ-मार्ग भी बडा विशाल है, और उसकी भी अपनी नाना परिस्थतिया हैं। अतएव उसमे भी गृहस्थो के ग्यारह दर्जे स्थापित किये गये हैं। अहिसा भी अपने रूप मे एकप्रकार नही, भावना और क्रियारूप से वह भी दो प्रकार की है। क्रिया रूप मे भी प्रयोजना-नुसार वह अनेक प्रकार की है। मनुष्य से चलने-फिरने, घर-द्वार की सफाई करने मे भी हिंसा हो सकती है। कृषि, वाणिज्य आदि व्यवसायो मे भी जीव-हिसा बचाई नही जा सकती। हो सकता है स्वयं अपनी, अपने बधु-बान्धवो अथवा अपने घरद्वार व देश की रक्षा के लिये उसे आक्रमणकारी मनुष्यों का सामना करना पड़े। गृहस्थो के लिये इसप्रकार की हिसा का निषेध नही किया गया। उसे बचने का आदेश दिया गया है उस हिंसा से, जो बिना उक्त प्रयोजनो के, अथवा क्रोध, वैर आदि दुष्ट भावनाओं से प्रेरित होकर सकल्पपूर्वक की गई हो। जैसे शिकार खेलने, बैर चुकाने या धनहरण करने आदि के लिये किसी का वध करना, इत्यादि। मुनि उक्त विविध उत्तरदायित्वो से मुक्त होते हैं, अतएव उन पर अधिक सूक्ष्मता से अहिसा के परिपालन का भार डाला गया है।

जैनधर्म के इस अहिसा के स्वरूप पर विचार करने से, जो उस पर यह कलंक लगाया जाता है कि उसके कारण देश में शक्तिहीनता उत्पन्न हो गई व उसी कारण विदेशी आक्रामको द्वारा देश की पराजय हुई, वह निर्मूल सिद्ध हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीनतम काल से अनेक जैनधर्मावलम्बी वीर पुरुष हुए है, जिन्होने अपना धर्म भी निबाहा है, और योद्धा व सेनापति का कर्त्तव्य भी। जैन अनेकान्त दृष्टि ने इन विरोधाभासों का परिहार करके अपने कर्त्तव्यो मे सामजस्य स्थापित करने की उसके अनुयायियो को अद्भुत शक्ति दी है। अब जबकि हमारा देश वैयक्तिक व्यवहार में ही नही, किन्तु राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति के निर्धारण मे भी अहिंसा तत्व को मौलिक रूप से स्वीकार कर चुका है, तब जैनधर्म का यह सिद्धात अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण

सिद्ध होता है, और उसके सूक्ष्म अध्ययन व विचार की बड़ी आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी समन्वयात्मक अनेकांत सिद्धात के आधार पर आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व हुए समंतभद्राचार्य ने अपने युक्त्यनुशासन नामक ग्रथ मे महावीर के जैन शासन को सब आपदाओ का निवारक शाश्वत सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वापदां अन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ (यु. ६१)

प्राचीन इतिहास—

जैन पुराणो में भारतवर्ष का इतिहास उसके भौगोलिक वर्णन के साथ किया गया पाया जाता है। भारत जम्बूदीप के दक्षिणी भाग में स्थित है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है और मध्य में विजयार्द्ध पर्वत। पश्चिम मे हिमवान् से निकली हुई सिन्ध नदी बहती है और पूर्व मे गंगानदी, जिससे उत्तरभारत के तीन विभाग हो जाते हैं। दक्षिण भारत के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन विभाग हैं। ये ही भारत के छह खड हैं, जिन्हे विजय करके कोई सम्राट् चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त करता है।

भारत का इतिहास देश की उस काल की अवस्था के वर्णन से प्रारम्भ होता है, जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नही हुआ था। उस समय भूमि घास और सघन वृक्षों से भरी हुई थी। सिंह, व्याघ्र, हाथी, गाय, भैंस, आदि सभी पशु वनों मे पाये जाते थे। मनुष्य ग्राम व नगरो मे नही बसते थे, और कौटुम्बिक व्यवस्था भी कुछ नही थी। उस समय न लोग खेती करना जानते थे, न पशुपालन, न अन्य कोई उद्योग-धन्धे। वे अपने खान, पान, शरीराच्छादन आदि की आवश्यकताएं वृक्षो से ही पूरी कर लेते थे। इसीलिए उस काल के वृक्षो को कल्पवृक्ष कहा गया है। कल्पवृक्ष अर्थात् ऐसे वृक्ष जो मनुष्यो की सब इच्छाओ की पूर्ति कर सके। भाई-बहन ही पति-पत्नी रूप से रहने लगते थे, और माता-पिता अपने ऊपर सन्तान का कोई उत्तरदायित्व अनुभव नही करते थे। इस काल मे धर्म-साधना, पुण्य-पाप की भावना आदि कोई विचार विवेक नही थे। इस परिस्थिति को पुराणकारो ने भोगभूमि-व्यवस्था कहा है, क्योंकि उसमें आगे आनेवाली कर्मभूमि सम्बन्धी कृषि और उद्योग आदि की व्यवस्थाओं का अभाव था।

क्रमशः उक्त अवस्था मे परिवर्तन हुआ, और उस युग का प्रारम्भ हुआ जिसे पुराणकारो ने कर्म-भूमि का युग कहा है व जिसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ कह सकते हैं। इस युग को विकास में लाने वाले चौदह महापुरुष माने गये हैं, जिन्हे कुल-

कर या मनु कहा है। इन्होने क्रमशः अपने अपने काल में लोगों को हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के उपाय बताये। भूमि व वृक्षों के वैयक्तिक स्वामित्व की सीमाएं निर्धारित की। हाथी आदि वन्य पशुओं का पालन कर, उन्हे वाहन के उपयोग में लाना सिखाया। बाल बच्चों के लालन-पालन व उनके नामकरण आदि का उपदेश दिया। शीत तुषार आदि से अपनी रक्षा करना सिखाया। नदियों को नौकाओं द्वारा पार करना, पहाड़ों पर सीढिया बनाकर चढ़ना, वर्षा से छत्रादिक धारण कर अपनी रक्षा करना आदि सिखाया। और अन्त मे कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने की कला सिखाई, जिसके पश्चात् वाणिज्य, शिल्प आदि वे सब कलाएं व उद्योगधन्धे उत्पन्न हुए जिनके कारण यह भूमि कर्मभूमि कहलाने लगी।

चौदह कुलकरो के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता के युग में धर्मोपदेश व अपने चारित्र द्वारा अच्छे बुरे का भेद सिखाया, ऐसे त्रेसठ महापुरुष हुए, जो शलाका पुरुष अर्थात् विशेष गणनीय पुरुष माने गये है, और उन्ही का चरित्र जैन पुराणों में विशेष रूप से वर्णित पाया जाता है। इन त्रेसठ शलाका पुरुषो मे चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रति-नारायण सम्मिलित हैं, जिनके नाम इस प्रकार है :—

२४ तीर्थंकर :—१–ऋषभ, २–अजित, ३–संभव, ४–अभिनंदन, ५–सुमति, ६–पद्मप्रभ, ७–सुपार्श्व, ८–चन्द्रप्रभ, ९–पुष्पदंत, १०–शीतल, ११–श्रेयांस, १२–वासुपूज्य, १३–विमल, १४–अनन्त, १५–धर्म, १६–शान्ति, १७–कुन्थु, १८–अरह, १९–मल्लि, २०–मुनिसुव्रत, २१–नमि, २२–नेमि, २३–पार्श्वनाथ, २४–वर्धमान अथवा महावीर।

१२ चक्रवर्ती :—२५–भरत, २६–सगर, २७–मघवा, २८–सनत्कुमार, २९–शान्ति, ३०–कुन्थु, ३१–अरह, ३२–सुभौम, ३३–पद्म, ३४–हरिषेण, ३५–जयसेन, ३६–ब्रह्मदत्त।

९ बलभद्र :—३७–अचल, ३८–विजय, ३९–भद्र, ४०–सुप्रभ, ४१–सुदर्शन, ४२–आनन्द, ४३–नन्दन, ४४–पद्म, ४५–राम।

९ वासुदेव :—४६–त्रिपृष्ठ, ४७–द्विपृष्ठ, ४८–स्वयम्भू, ४९–पुरुषोत्तम, ५०–पुरुषसिंह, ५१–पुरुषपुण्डरीक, ५२–दत्त, ५३–नारायण, ५४–कृष्ण।

९ प्रति-वासुदेव :—५५–अश्वग्रीव, ५६–तारक, ५७–मेरक, ५८–मधु, ५९–निशुम्भ, ६०–बलि, ६१–प्रहलाद, ६२–रावण, ६३–जरासंध।

आदि तीर्थंकर और वातरशना मुनि—

इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में सबसे प्रथम जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ हैं, जिनसे जैनधर्म का प्रारम्भ माना जाता है। उनका जन्म उक्त चौदह कुलकरों में से अन्तिम कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी से हुआ था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे राजसिंहासन पर बैठे और उन्होंने कृषि, असि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह आजीविका के साधनों की विशेष रूप से व्यवस्था की, तथा देश व नगरों एवं वर्ण व जातियों आदि का सुविभाजन किया। इनके दो पुत्र भरत और बाहुबलि, तथा दो पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी थीं, जिन्हें उन्होंने समस्त कलाएं व विद्याएं सिखलाईं। एक दिन राज्य सभा में नीलांजना नाम की नर्तकी की नृत्य करते करते ही मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना से ऋषभदेव को संसार से वैराग्य हो गया, और वे राज्य का परित्याग कर तपस्या करने वन को चले गये। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत राजा हुए, और उन्होंने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। उनके लघु भ्राता बाहुबलि भी विरक्त होकर तपस्या में प्रवृत्त हो गये।

जैन पुराणों मे ऋषभदेव के जीवन व तपस्या का तथा केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। जैनी इसी काल से अपने धर्म की उत्पत्ति मानते हैं। ऋषभदेव के काल का अनुमान लगाना कठिन है। उनके काल की दूरी का वर्णन जैन पुराण सागरों के प्रमाण से करते है। सौभाग्य से ऋषभदेव का जीवन चरित्र जैन साहित्य मे ही नही, किन्तु वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। भागवत पुराण के पाचवें स्कंध के प्रथम छह अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन व तपश्चरण का वृतान्त वर्णित है, जो सभी मुख्य मुख्य बातों मे जैन पुराणों से मिलता है। उनके माता पिता के नाम नाभि और मरुदेवी पाये जाते हैं, तथा उन्हें स्वयंभू मनु से पांचवी पीढ़ी मे इस क्रम से हुए कहा गया है—स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, अग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य देकर सन्यास ग्रहण किया। वे नग्न रहने लगे और केवल शरीर मात्र ही उनके पास था। लोगों द्वारा तिरस्कार किये जाने, गाली-गलौज किये जाने व मारे जाने पर भी वे मौन ही रहते थे। अपने कठोर तपश्चरण द्वारा उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की, तथा दक्षिण कर्नाटक तक नाना प्रदेशों मे परिभ्रमण किया। वे कुटकाचल पर्वत के वन में उन्मत्त की नाईं नग्नरूप मे विचरने लगे। बांसों की रगड़ से वन में आग लग गई और उसी में उन्होंने अपने को भस्म कर डाला।

भागवत पुराण मे यह भी कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित्र को सुनकर कोक, वैंक व कुटक का राजा अर्हन् कलयुग मे अपनी इच्छा से उसी धर्म का संप्रवर्त्तन करेगा, इत्यादि। इस वर्णन से इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि भागवत पुराण का तात्पर्य जैन पुराणो के ऋषभ तीर्थकर से ही है, और अर्हन् राजा द्वारा प्रवर्तित धर्म का अभिप्राय जैनधर्म से। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भागवत पुराण तथा वैदिक परम्परा के अन्य प्राचीन ग्रथो मे ऋषभदेव के सबंध की बातों की कुछ गहराई से जांच पडताल की जाय।

भागवतपुराण मे कहा गया है कि—

"बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभ. प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार।" (भा पु. ५, ३, २०)

"यज्ञ मे परम ऋषियो द्वारा प्रसन्न किए जाने पर, हे विष्णुदत्त्, पारीक्षित, स्वय श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास मे महारानी मेरुदेवी के गर्भ मे आए। उन्होने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मो को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।"

भागवत पुराण के इस कथन मे दो बाते विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योकि उनका भगवान् ऋषभदेव के भारतीय सस्कृति मे स्थान तथा उनकी प्राचीनता और साहित्यिक परपरा से बड़ा घनिष्ठ और महत्वपूर्ण संबध है। एक तो यह कि ऋषभ देव की मान्यता और पूज्यता के संबंध में जैन और हिन्दुओं के बीच कोई मतभेद नही है। जैसे वे जैनियो के आदि तीर्थकर है, उसी प्रकार वे हिन्दुओ के लिए साक्षात् भगवान विष्णु के अवतार हैं। उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल मे इतनी बद्धमूल हो गई थी कि शिवमहापुराण मे भी उन्हे शिव के अट्ठाइस योगावतारों मे गिनाया गया है (शिवमहापुराण, ७, २, ९)। दूसरी बात यह कि प्राचीनता में यह अवतार राम और कृष्ण के अवतारो से भी पूर्व का माना गया है। इस अवतार का जो हेतु भागवत पुराण मे बतलाया गया है उससे श्रमण धर्म की परम्परा भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से निःसन्देह रूप मे जुड़ जाती है। ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बतलाया गया है। भागवत पुराण मे यह भी कहा गया कि—

'अयमवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थः' (भा. पु. ५, ६, १२)

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगो को कैवल्य की

शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण (मल धारण) वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था'। जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदन्तधावन, मल परीषह आदि द्वारा रजोधारण सयम का आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। बुद्ध भगवान् ने श्रमणों की आचार-प्रणाली मे व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था—

"नाहं भिक्खवे संघाटिकस्य संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्य रजोजल्लिकमत्तेन...जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि। " (मज्झिमनिकाय ४०)

अर्थात्—हे भिक्षुओ, मैं सघाटिक के संघाटी धारणमात्र मे श्रामण्य नही कहता, अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व मात्र से और जटिलक के जटाधारण-मात्र से भी श्रामण्य नही कहता।

अब प्रश्न यह होता है कि जिन वातरशना मुनियो के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखलाने के लिये भगवान् ऋषभदेव का अवतार हुआ था, वे कब से भारतीय साहित्य मे उल्लिखित पाये जाते हैं। इसके लिये जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों को देखते हैं, तो हमे वहाँ भी वातरशना मुनियो का उल्लेख अनेक स्थलो मे दिखाई देता है।

ऋग्वेद की वातरशना मुनियों के संबध की ऋचाओ में उन मुनियो की साधनायें ध्यान देने योग्य हैं। एक सूक्त की कुछ ऋचाये देखिये—

मुनियो वातरशना : पिशंगा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ॥

(ऋग्वेद १०,१३६,२-३)

विद्वानो के नाना प्रयत्न होने पर भी अभी तक वेदों का निस्सन्देह रूप से अर्थ बैठाना संभव नही हो सका है। तथापि सायण भाष्य की सहायता से मैं उक्त ऋचाओं का अर्थ इसप्रकार करता हू—अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है, अर्थात् रोक लेते है, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते है। सर्व लौकिक व्यवहार को छोडकर हम

मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायु भाव को (अशरीरी ध्यानवृत्ति) को प्राप्त होते हैं, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नही (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं)।

ऋग्वेद में उक्त ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥

(ऋग्वेद १०,१३६,१)

केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान–) ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनियों के वर्णन आदि मे की गई है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियो के वर्णन के प्रधान थे।

ऋग्वेद के इन केशी व वातरशना मुनियों की साधनाओं का भागवत पुराण मे उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि, उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओं की तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के 'वातरशना श्रमण ऋषि' एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं, इसमें तो किसी को किसी प्रकार के सन्देह होने का अवकाश नही दिखाई देता। केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करनेवाले' किया है, और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशना मुनियो के साथ नही बैठती, जिनकी साधानाओं का उस सूक्त में वर्णन है। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना मे मलधारण, मौन वृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही **'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः'** (ऋ. १०, १३६, ४) अर्थात् देव देवों के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशना शब्द मे और मल रूपी वसन धारण करने मे उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी संकेत है। इसकी भागवत पुराण मे ऋषभ के वर्णन से तुलना कीजिये।

"उर्वरित- शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगन-परिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज। जडान्ध-मूक-बधिर पिशाचोन्मादकवद् अवधूतवेषो अभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतः तूष्णीं बभूव। ......परागवलम्बमानकुटिल-जटिल-कपिश-केशभूरि-भार अवधूत-मलिन-निजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत। (भा. पु. ५, ६, २८-३१)

अर्थात् ऋषभ भगवान के शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशों सहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड़, अन्ध, मूक, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौन वृत्ति धारण किए हुए चुप रहते थे।······सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर सहित वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे मानों उन्हें भूत लगा हो।

यथार्थतः यदि ऋग्वेद के उक्त केशी संबंधी सूक्त को, तथा भागवतपुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र को सन्मुख रखकर पढ़ा जाय, तो पुराण में वेद के सूक्त का विस्तृत भाष्य किया गया सा प्रतीत होता है। वही वातरशना या गगनपरिधान वृत्ति, केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, और उन्माद-भाव समान रूप से दोनों में वर्णित हैं। ऋषभ भगवान् के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्ति कला में प्राचीनतम काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभ की ही मूर्त्तियो के सिर पर कुटिल केशो का रूप दिखलाया जाता है, और वही उनका प्रचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। इस संबंध मे मुझे केसरिया नाथ का स्मरण आता है, जो ऋषभनाथ का ही नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं 'सटा जटा केसरयोः'। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। इस प्रकार केशी और केसरी एक ही केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। केशरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है, वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। जैन पुराणों में भी ऋषभ की जटाओ का सदैव उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण (३,२८८) मे वर्णन है, **'वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः'** और हरिवंशपुराण (९,२०४) में उन्हे कहा है—**'स प्रलम्बजटाभार-भ्राजिष्णुः'**। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, तथा भागवत पुराण के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एवं केसरिया नाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार अनुमान करने के पश्चात् हठात् मेरी दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड़ गई जिसमें वृषभ और केशी का साथ साथ उल्लेख आया है। वह ऋचा इसप्रकार है:—

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी

दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस
ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥
(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना मे निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृता गाव:' आदि श्लोक उद्धृत किए गए है, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गौवो को चोर चुरा ले गए थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौए आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी। प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है। किंतु फिर प्रकारान्तर से उन्होने कहा है:—

'अथवा, अस्य सारथिः सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो वृषभः अवावचीत् भ्रशमशब्दयत्' इत्यादि।

सायण के इसी अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथा-प्रसग को भारतीय दार्शनिक परम्परानुसार ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत गाथा का मुझे यह अर्थ प्रतीत होता है—

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओ का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फल स्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थी, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ी।

तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रिया पराङ्मुखी थी, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई।

इसप्रकार केशी और वृषभ या ऋषभ के एकत्व का स्वय ऋग्वेद से ही पूर्णतः समर्थन हो जाता है। विद्वान् इस एकीकरण पर विचार करे। मै पहले ही कह चुका हू कि वेदो का अर्थ करने में विद्वान् अभी पूर्णतः सफल नही हो सके है। विशेषतः वेदो की जैसी भारतीय सस्कृति मे पदप्रतिष्ठा है, उसकी दृष्टि से तो अभी उनके समझने समझाने मे बहुत सुधार की आवश्यकता है। मुझे आशा है कि केशी, वृषभ या ऋषभ तथा वातरशना मुनियो के वेदान्तर्गत समस्त उल्लेखो के सूक्ष्म अध्ययन से इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्घाटन हो सकेगा। क्या ऋग्वेद (४, ५८, ३) के **'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश'** का यह अर्थ नही हो सकता कि त्रिधा (ज्ञान, दर्शन और चारित्र से) अनुबद्ध वृषभ ने धर्म-घोषणा की और वे एक महान देव के रूप में मर्त्यो में प्रविष्ट हुए? इसी संबंध में ऋग्वेद के शिश्नदेवों (नग्न देवों)

वाले उल्लेख भी ध्यान देने योग्य हैं (ऋ. वे ७, २१, ५; १०, ९९, ३)। इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों के निर्ग्रंथ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभ-देव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीन परंपरा पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच बहुत मतभेद है। कितने ही विद्वानों ने उन्हें ई० सन् से ५००० वर्ष व उससे भी अधिक पूर्व रचा गया माना है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य भारतीय विद्वानों का बहुमत यह है कि वेदों की रचना उसके वर्तमान रूप में ई० पूर्व सन् १५०० के लगभग हुई होगी। चारों वेदों में ऋग्वेद सब से प्राचीन माना जाता है। अतएव ऋग्वेद की ऋचाओं में ही वातरशना मुनियों तथा 'केशी ऋषभदेव' का उल्लेख होने से जैन धर्म अपने प्राचीन रूप में ई० पूर्व सन् १५०० में प्रचलित मानना अनुचित न होगा। केशी नाम जैन परम्परा में प्रचलित रहा, इसका प्रमाण यह है कि महावीर के समय में पार्श्व सम्प्रदाय के नेता का नाम केशीकुमार था (उत्तरा. २३)।

उक्त वातरशना मुनियों की जो मान्यता व साधनाएं वैदिक ऋचा में भी उल्लिखित हैं, उन पर से हम इस परम्परा को वैदिक परम्परा से स्पष्टतः पृथक् रूप से समझ सकते हैं। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी और तपस्वी नहीं, जैसे ये वातरशना मुनि। वे ऋषि स्वयं गृहस्थ हैं, यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधान में आस्था रखते हैं और अपनी इहलौकिक इच्छाओं, जैसे पुत्र, धन, धान्य, आदि सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रादि देवी-देवताओं का आह्वान करते कराते हैं, तथा इसके उपलक्ष में यजमानों से धन-सम्पत्ति का दान स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके विपरीत ये वातरशना मुनि उक्त क्रियाओं में रत नहीं होते। समस्त गृह द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह, यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते हैं। शरीर का स्नानादि संस्कार न कर मल धारण किये रहते हैं। मौन वृत्ति से रहते हैं, तथा अन्य देवी-देवताओं के आराधन से मुक्त आत्मध्यान में ही अपना कल्याण समझते हैं। स्पष्टतः यह उस श्रमण परम्परा का प्राचीन रूप है, जो आगे चलकर अनेक अवैदिक सम्प्रदायों के रूप में प्रगट हुई और जिनमें से दो अर्थात् जैन और बौद्ध सम्प्रदाय आज तक भी विद्यमान हैं। प्राचीन समस्त भारतीय साहित्य, वैदिक, बौद्ध व जैन तथा शिलालेखों में भी ब्राह्मण और श्रमण सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। जैन एवं बौद्ध साधु आजतक भी श्रमण कहलाते हैं। वैदिक परम्परा के धार्मिक गुरु कहलाते थे ऋषि, जिनका वर्णन ऋग्वेद में बारंबार आया है। किन्तु श्रमणपरम्परा के साधुओं की संज्ञा मुनि थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में केवल उन वातरशना मुनियों के संबंध को छोड़,

अन्यत्र कहीं नहीं आया। ऋषि-मुनि कहने से दोनों सम्प्रदायों का ग्रहण समझना चाहिये। पीछे परस्पर इन सम्प्रदायों का खूब आदान-प्रदान हुआ और दोनों शब्दों को प्राय: एक दूसरे का पर्यायवाची माना जाने लगा।

वैदिक साहित्य के यति और व्रात्य—

ऋग्वेद में मुनियों के अतिरिक्त' यतियों का भी उल्लेख बहुतायत से आया है। ये यति भी ब्राह्मण परम्परा के न होकर श्रमण-परम्परा के ही साधु सिद्ध होते हैं, जिनके लिये यह संज्ञा समस्त जैन साहित्य में उपयुक्त होते हुए आजतक भी प्रचलित है। यद्यपि आदि में ऋषियों, मुनियों और यतियों के बीच ठारमेल पाया जाता है, और वे समानरूप से पूज्य माने जाते थे। किन्तु कुछ ही पश्चात् यतियों के प्रति वैदिक परम्परा में महान् रोष उत्पन्न होने के प्रमाण हमे ब्राह्मण ग्रंथो में मिलते हैं, जहां इन्द्र द्वारा यतियों को शालावृकों (शृगालों व कुत्तो) द्वारा नुचवाये जाने का उल्लेख मिलता है (तैतरीय संहिता २, ४, ६, २; ६, २, ७, ५, ताण्डय ब्राह्मण १४, २, २८,–१८, १, ६) किन्तु इन्द्र के इस कार्य को देवों ने उचित नही समझा और उन्होंने इसके लिये इन्द्र का बहिष्कार भी किया (ऐतरेय ब्राह्मण ७,२८)। ताण्डय ब्राह्मण के टीकाकारो ने यतियों का अर्थ किया है **'वेदविरुद्धनियमोपेत, कर्मविरोधिजन, ज्योतिष्टोमादि अकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमान'** आदि, इन विशेषणो से उनकी श्रमण-परम्परा स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। भगवद्‌गीता मे ऋषियों मुनियों और यतियों का स्वरूप भी बतलाया है, और उन्हे समान रूप से योग साधना में प्रवृत्त माना है। यहां मुनि को इन्द्रिय और मन का संयम करने वाला, इच्छा, भय व क्रोध रहित मोक्षपरायण व सदा मुक्त के समान माना है (भ० गी० ५, २८) और यति को काम-क्रोध-रहित, संयत-चित्त व वीतराग कहा है (भ० गी० ५, २६; ८, ११ आदि) अथर्ववेद के १५ वें अध्याय मे व्रात्यों का वर्णन आया है। सामवेद के ताण्डय ब्राह्मण व लाट्यायन, कात्यायन व आपस्तंबीय श्रौतसूत्रों मे व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हे शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का भी वर्णन है। ये व्रात्य वैदिक विधि से 'अदीक्षित व संस्कारहीन' थे, वे अदुरुक्त वाक्य को दुरुक्त रीति से, (वैदिक व संस्कृत नही, किन्तु अपने समय की प्राकृत भाषा) बोलते थे,' वे 'ज्याहृद' (प्रत्यंचा रहित धनुष) धारण करते थे। मनुस्मृति (१० अध्याय) में लिच्छवि, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रिय जातियों को व्रात्यों में गिनाया है। इन सब उल्लेखों पर सूक्ष्मता से विचार करने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि ये व्रात्य भी श्रमण परम्परा के साधु व गृहस्थ थे, जो वेद-विरोधी होने से वैदिक

अनुयायियों के कोप-भाजन हुए हैं। जैन धर्म के मुख्य पांच अहिंसादि नियमों को व्रत कहा है। उन्हें ग्रहण करने वाले श्रावक देश विरत या अणुव्रती और मुनि महाव्रती कहलाते हैं। जो विधिवत् व्रत ग्रहण नहीं करते, तथापि धर्म में श्रद्धा रखते हैं, वे अविरत सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। इसीप्रकार के व्रतधारी व्रात्य कहे गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे हिंसात्मक यज्ञविधियों के नियम से त्यागी होते हैं। इसीलिये उपनिषदों में कहीं कहीं उनकी बड़ी-प्रशंसा भी पाई जाती है, जैसे प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है– व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः' (२, ११)। शांकर भाष्य में व्रात्य का अर्थ 'स्वभावत एक शुद्ध इत्यभिप्राय :' किया गया है। इस प्रकार श्रमरा साधनाओं की परम्परा हमें नाना प्रकार के स्पष्ट व अस्पष्ट उल्लेखों द्वारा ऋग्वेद आदि समस्त वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होती है।

तीर्थंकर नमि—

वेदकालीन आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के पश्चात् जैन पुराण परम्परा में जो अन्य तेईस तीर्थंकरो के नाम या जीवन-वृत्त मिलते हैं, उनमें बहुतों के तुलनात्मक अध्ययन के साधनो का अभाव है। तथापि अंतिम चार तीर्थंकरों की ऐतिहासिक सत्ता के थोडे बहुत प्रमाण यहां उल्लेखनीय हैं। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ थे। नमि मिथिला के राजा थे, और उन्हे हिन्दू पुराण में भी जनक के पूर्वज माना गया है। नमि की प्रव्रज्या का एक सुदर वर्णन हमे उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्याय में मिलता है, और यहा उन्ही के द्वारा वे वाक्य कहे गये हैं, जो वैदिक व बौद्ध परम्परा के संस्कृत व पालि साहित्य मे गूजते हुए पाये जाते हैं, तथा जो भारतीय अध्यात्म संबंधी निष्काम कर्म व अनासक्ति भावना के प्रकाशन के लिये सर्वोत्कृष्ट वचन रूप से जहां तहां उद्धृत किये जाते हैं। वे वचन हैं–

सुह वसामो जीवामो जेसिं मों एात्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए रा मे डज्झइ किंचरा॥

(उत्त० ९–१४)

सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।
मिथिलाये डहमानाय न मे किंचि अदयहथ॥

(पालि–महाजनक जातक)

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते॥

(म० भा० शांतिपर्व)

नमि की यही अनासक्त वृत्ति मिथिला राजवंश में जनक तक पाई जाती है। प्रतीत होता है कि जनक के कुल की इसी आध्यात्मिक परम्परा के कारण वह वंश तथा उनका समस्त प्रदेश ही विदेह (देह से निर्मोह, जीवन्मुक्त) कहलाया और उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यंचा-हीन रूप में उनके क्षत्रियत्व का प्रतीकमात्र सुरक्षित रहा। सम्भवतः यही वह जीर्ण धनुष था, जिसे राम ने चढ़ाया और तोड़ डाला। इस प्रसंग में जो व्रात्यों के 'ज्याहृद' शस्त्र के संबंध में ऊपर कह आये हैं, वह बात भी ध्यान देने योग्य है।

तीर्थंकर नेमिनाथ—

तत्पश्चात् महाभारत काल में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ हुए। इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार बतलाई गई है—शौरीपुर के यादव वंशी राजा अंधकवृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र हुए समुद्रविजय, जिनसे नेमिनाथ उत्पन्न हुए। तथा सबसे छोटे पुत्र थे वसुदेव, जिनसे उत्पन्न हुए वासुदेव कृष्ण। इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण आपस में चचेरे भाई थे। जरासंध के आतंक से त्रस्त होकर यादव शौरीपुर को छोड़कर द्वारका में जा बसे। नेमिनाथ का विवाह-सम्बन्ध गिरिनगर (जूनागढ़) के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से निश्चित हुआ। किन्तु जब नेमिनाथ की बारात कन्या के घर पहुंची और वहा उन्होंने उन पशुओं को घिरे देखा, जो अतिथियों के भोजन के लिए मारे जाने वाले थे, तब उनका हृदय करुणा से व्याकुल हो उठा और वे इस हिंसामयी गार्हस्थ प्रवृत्ति से विरक्त होकर, विवाह का विचार छोड़, गिरनार पर्वत पर जा चढ़े और तपस्या में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त कर उसी श्रमण परम्परा को पुष्ट किया। नेमिनाथ की इस परम्परा को विशेष देन प्रतीत होती है—'अहिंसा को धार्मिक वृत्ति का मूल मानकर उसे सैद्धांतिक रूप देना।' महाभारत का काल ई० पूर्व १००० के लगभग माना जाता है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यही काल नेमिनाथ तीर्थंकर का मानना उचित प्रतीत होता है। यहा प्रसंगवश यह भी ध्यान देने योग्य है कि महाभारत के शांतिपर्व में जो भगवान् तीर्थवित् और उनके द्वारा दिये गये उपदेश का वृत्तान्त मिलता है, वह जैन तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म के समरूप है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ—

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म बनारस के राजा अश्वसेन और उनकी रानी वर्मला (वामा) देवी से हुआ था। उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग

कर सम्मेदशिखर पर्वत पर तपस्या की। यह पर्वत आजतक भी पारसनाथ पर्वत नाम से सुविख्यात है। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर सत्तर वर्ष तक श्रमण धर्म का उपदेश और प्रचार किया। जैन पुराणानुसार उनका निर्वाण भगवान महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व और तदनुसार ई० पूर्व ५२७+२५०=७७७ वर्ष में हुआ था। पार्श्वनाथ का श्रमण-परम्परा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप आज तक भी जैन समाज प्रायः पारसनाथ के अनुयाइयों की मानी जाती है। ऋषभनाथ की सर्वस्व-त्याग रूप आकिञ्चन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता व नेमिनाथ की अहिंसा को उन्होंने अपने चातुर्याम रूप सामायिक धर्म में व्यवस्थित किया। चातुर्याम का उल्लेख निर्ग्रन्थों के सम्बन्ध मे पालि ग्रन्थों में भी मिलता है और जैन आगमों में भी। किन्तु इनमे चार याम क्या थे, इसके संबंध में मतभेद पाया जाता है। जैन आगमानुसार पार्श्वनाथ के चार याम इस प्रकार थे - (१) सर्वप्राणातिक्रम से विरमण, (२) सर्व मृषावाद से विरमण, (३) सर्व अदत्तादान से विरमण, (४) सर्व बहिस्थादान से विरमण। पार्श्वनाथ का चातुर्यामरूप सामायिक धर्म महावीर से पूर्व ही सुप्रचलित था, यह दिग०, श्वे० परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध पालि साहित्य गत उल्लेखो से भलीभांति सिद्ध हो जाता है। मूलाचार (७, ३६–३८) में स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था, तथा केवल अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करना आवश्यक बतलाया था। किन्तु महावीर ने सामायिक धर्म के स्थान पर छेदोपस्थापना संयम निर्धारित किया और प्रतिक्रमण नियम से करने का उपदेश दिया (मू० १२९–१३३)। ठीक यही बात भगवती (२०, ८, ६७५; २५, ७, ७८५), उत्तराध्ययन आदि आगमों मे तथा तत्वार्थ सूत्र (९, १८) की सिद्धसेनीय टीका में पाई जाती है। बौद्ध ग्रंथ अंगु० निकाय चतुक्कनिपात (वग्ग ५) और उसकी अट्ठकथा में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा 'बप्प शाक्य' निर्ग्रन्थ श्रावक था। पार्श्वापत्यों तथा निर्ग्रन्थ श्रावकों के इसी प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे निर्ग्रन्थ धर्म की सत्ता बुद्ध से पूर्व भलीभांति सिद्ध हो जाती है।

एक समय था जब पार्श्वनाथ तथा उनसे पूर्व के जैन तीर्थंकरों व जैन धर्म की उस काल में सत्ता को पाश्चात्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते थे। किन्तु जब जर्मन विद्वान् हर्मन याकोबी ने जैन व बौद्ध प्राचीन साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा महावीर से पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के अस्तित्व को सिद्ध किया, तबसे विद्वान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे हैं, और उनके महावीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्ति की जैन परम्परा को भी मान देने लगे हैं। बौद्ध ग्रन्थों में जो

निर्ग्रन्थों के चातुर्याम का उल्लेख मिलता है और उसे निग्रंन्थ नातपुत्र (महावीर) का धर्म कहा है, उसका सम्बन्ध अवश्य ही पार्श्वनाथ की परम्परा से होना चाहिये, क्योंकि जैन सम्प्रदाय में उनके साथ ही चातुर्याम का उल्लेख पाया है, महावीर के साथ कदापि नही। महावीर, पांच व्रतो के संस्थापक कहे गये हैं। बौद्ध धर्म में जो कुछ व्यवस्थाएं निर्ग्रन्थो से लेकर स्वीकार की गई हैं, जैसे उपोसथ, (महावग्ग २, १, १); वर्षावास (म० ३, १, १) वे भी पार्श्वनाथ की ही परम्परा की होनी चाहिये, तथा बुद्ध को जिन श्रमण साधुओं का समकालीन पालि ग्रन्थो में बतलाया गया है, वे भी पार्श्वनाथ परम्परा के ही माने जा सकते हैं।

तीर्थंकर वर्धमान महावीर—

अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के माता-पिता तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सम्प्रदाय के अनुयायी थे-ऐसा जैन आगम (आचाराग ३, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१) मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह भी कहा गया है कि उन्होने प्रव्रजित होने पर सामायिक धर्म ग्रहण किया था और पश्चात् केवलज्ञानी होने पर छेदोपस्थापना संयम का विधान किया (आचारांग २,१५,१०१३)। उनके पिता सिद्धार्थ, कुंडपुर के राजा थे, और उनकी माता त्रिशला देवी लिच्छवि वंशी राजा चेटक की पुत्री, अथवा एक अन्य परम्परानुसार बहन, थी। उनका पैतृक गोत्र नाय, नाथ, नात (संस्कृत ज्ञातृ) था। इसी से वे बौद्ध पालि ग्रन्थो में नातपुत्त के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। भगवान् का जन्मस्थान कुडपुर कहां था, इसके संबंध मे पश्चात्-कालीन जैन परपरा मे भ्रान्ति उत्पन्न हुई पाई जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय ने उनका जन्मस्थान नालंदा के समीप कुंडलपुर को माना है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने मुंगेर जिले के लछुआड़ के समीप क्षत्रियकुड को उनकी जन्मभूमि होने का सम्मान दिया है। किन्तु जैन आगमों व पुराणो मे उनकी जन्मभूमि के संबंध में जो बातें कही गई हैं, वे उक्त दोनों स्थानों में घटित होती नही पाई जाती। दोनो परम्पराओं के अनुसार भगवान् की जन्मभूमि कुडपुर विदेह देश मे स्थित माना गया है, (ह.पु. २, ४; उ.पु. ७४, २५१) और इसी से महावीर भगवान को विदेहपुत्र, विदेह-सुकुमार आदि उपनाम दिये गये हैं और यह भी स्पष्ट कहा गया है कि उनके कुमारकाल के तीस वर्ष विदेह मे ही व्यतीत हुए थे। विदेह की सीमा प्राचीनतम काल से प्राय: निश्चित रही पाई जाती है। अर्थात् उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पूर्व में कौशिकी और पश्चिम में गंडकी। किंतु उपर्युक्त वर्तमान में जन्मभूमि माने जाने वाले दोनों ही स्थान कुंडलपुर

व क्षत्रियकुंड, गंगा के उत्तर में नहीं, किन्तु दक्षिण में पड़ते हैं, और वे विदेह में नहीं, किन्तु मगधदेश की सीमा के भीतर आते हैं। महावीर की जन्मभूमि के समीप गंडकी नदी प्रवाहित होने का भी उल्लेख है। गंडकी, उत्तर बिहार की ही नदी है, जो हिमालय से निकल कर गंगा में सोनपुर के समीप मिली है। उसकी गंगा से दक्षिण में होने की संभावना ही नहीं। महावीर को आगमों में अनेक स्थलों पर वेसालिय (वैशालीय) की उपाधि सहित उल्लिखित किया गया है, (सू.कृ. १, २; उत्तरा. ६) जिससे स्पष्ट होता कि वे वैशाली के नागरिक थे, जिसप्रकार कि कौशल देश के होने के कारण भगवान ऋषभदेव को अनेक स्थलों पर कोसलीय (कौशलीय) कहा गया है। इन्हीं कारणों से डा० हार्नले, जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानो को उपर्युक्त परम्परा-मान्य दोनों स्थानों में से किसी को भी महावीर की यथार्थ जन्मभूमि स्वीकार करने में संदेह हुआ है, और वे वैशाली को ही भगवान् की सच्ची जन्मभूमि मानने की ओर झुके हैं। पुरातत्व की शोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन वैशाली आधुनिक तिरहुत मंडल के मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ़ नामक ग्राम के आसपास ही बसी हुई थी, जहां राजा विशाल का गढ़ कहलानेवाला स्थल अब भी विद्यमान है। इस स्थान के आसपास के क्षेत्र में वे सब बातें उचितरूप से घटित हो जाती है, जिनका उल्लेख महावीर जन्मभूमि से संबद्ध पाया जाता है। यहा से समीप ही अब भी गंडक नदी बहती है, और वह प्राचीन काल में बसाढ़ के अधिक समीप बहती रही हो, यह भी संभव प्रतीत होता है। भगवान् ने प्रव्रजित होने के पश्चात् जो प्रथमरात्रि कर्मार ग्राम में व्यतीत की थी, वह ग्राम अब कम्मन-छपरा के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् ने प्रथम पारणा कोल्लाग संनिवेश मे की थी, वही स्थान आजका कोल्हुआ ग्राम हो तो आश्चर्य नहीं। जिस वाणिज्यग्राम मे भगवान ने अपना प्रथम व आगे भी अनेक वर्षावास व्यतीत किये थे, वही अब बनिया ग्राम कहलाता है। इतिहास इस बात को स्वीकार कर चुका है कि लिच्छिविगण के अधिनायक, राजा चेटक, इसी वैशाली में अपनी राजधानी रखते थे। भगवान् का पैत्रिकगोत्र काश्यप और उनकी माता का गोत्र वशिष्ठ था। ये दोनों गोत्र यहां बसनेवाली जथरिया नामक जाति मे अब भी पाये जाते हैं। इस पर से कुछ विद्वानों का यह भी अनुमान है कि यही जाति ज्ञातृवंश की आधुनिक प्रतिनिधि हो तो आश्चर्य नही। प्राचीन वैशाली के समीप ही एक वासुकुंड नामक ग्राम है, जहां के निवासी परंपरा से एक स्थल को भगवान् की जन्मभूमि मानते आए हैं, और उसी पूज्य भाव से उस पर कभी हल नहीं चलाया गया। समीप ही एक विशाल कुंड है जो अब भर गया है और जोता-बोया जाता है। वैशाली की खुदाई में एक ऐसी प्राचीन मुद्रा

भी मिली है, जिसमें 'वैशाली नाम कुंडे' ऐसा उल्लेख है। इन सब प्रमाणों के आधार पर बहुसख्यक विद्वानो ने इसी वासु-कुड को प्राचीन कुंडपुर व महावीर की सच्ची जन्मभूमि स्वीकार कर लिया है, व इसी आधार पर वहां के उक्त क्षेत्र को अपने अधिकार मे लेकर, बिहार राज्य ने वहाँ महावीर स्मारक स्थापित कर दिया है, और वहाँ एक अर्द्धमागधी पद्यो मे रचित शिलालेख में यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि यही वह स्थल है, जहाँ भगवान महावीर का जन्म हुआ था। इसी स्थल के समीप बिहार राज्य ने प्राकृत जैन विद्यापीठ को स्थापित करने का भी निश्चय किया है।

महावीर के जीवन सबधी कुछ घटनाओ के विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओ मे थोडा मतभेद है। दिगम्बर परम्परानुसार वे तीस वर्ष की अवस्था तक कुमार व अविवाहित रहे और फिर प्रव्रजित हुए। किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उनका विवाह भी हुआ था और उनके एक पुत्री भी उत्पन्न हुई थी, तथा इनका जामाता जानाली भी कुछ काल तक उनका शिष्य रहा था। प्रव्रजित होते समय दिगम्बर परम्परानुसार उन्होने समस्त वस्त्रो का परित्याग कर अचेल दिगम्बर रूप धारण किया था, किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उन्होंने प्रव्रजित होने से डेढ़ वर्ष तक वस्त्र सर्वथा नही छोड़ा था। डेढ़ वर्ष के पश्चात् ही वे अचेलक हुए। बारह वर्ष की तपश्चर्या के पश्चात् उन्हें ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ और फिर तीस वर्ष तक नाना प्रदेशोमें विहार करतेहुए, व उपदेश देतेहुए, उन्होने अपने तीर्थ की स्थापना की, यह दोनो सम्प्रदायो को मान्य है। किंतु उनका प्रथम उपदेश दिगम्बर मान्यतानुसार राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ था तथा श्वेताम्बर मान्यतानुसार पावा के समीप एक स्थल पर, जहा हाल ही मे एक विशालमदिर बनवाया गया है। दोनो परम्पराओं के अनुसार भगवान् का निर्वाण बहत्तर वर्ष की आयु मे पावापुरी मे हुआ। यह स्थान पटना जिले मे बिहारशरीफ के समीप लगभग सात मील की दूरी पर माना जाता है, जहा सरोवर के बीच एक भव्य मंदिर बना हुआ है।

महावीर की सघ-व्यवस्था और उपदेश—

महावीर भगवान् ने अपने अनुयायियो को चार भागो मे विभाजित किया— मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। प्रथम दो वर्ग गृहत्यागी परिव्राजको के थे और अन्तिम दो गृहस्थों के। यही उनका चतुर्विध-संघ कहलाया। उन्होने मुनि और गृहस्थ धर्म की अलग अलग व्यवस्थाएं बाधी। उन्होने धर्म का मूलाधार अहिंसा को बनाया और उसी के विस्तार रूप पाच व्रतो को स्थापित किया-अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन

और अपरिग्रह। इन व्रतों व यमों का पालन मुनियों के लिए पूर्णरूप से महाव्रतरूप बतलाया तथा गृहस्थों के लिए स्थूलरूप-अणुव्रत रूप। गृहस्थों के भी उन्होंने श्रद्धान् मात्र से लेकर, कोपीनमात्र धारी होने तक के ग्यारह दर्जे नियत किये। दोषों और अपराधों के निवारणार्थ उन्होंने नियमित प्रतिक्रमण पर जोर दिया।

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्वज्ञान को संक्षेप में इसप्रकार व्यक्त किया जा सकता है:—जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड़, ये दो विश्व के मूल तत्व हैं, जो आदितः परस्पर संबंद्ध पाए जाते हैं, और चेतन की मन-वचन व कायात्मक क्रियाओं द्वारा इस जड़-चेतन संबन्ध की परम्परा प्रचलित रहती है। इसे ही कर्माश्रव व कर्मबंध कहते है। यमों, नियमों आदि के पालन द्वारा इस कर्माश्रव की परम्परा को रोका जा सकता है, एव संयम व तप द्वारा प्राचीन कर्मबंध को नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार चेतन का जड़ से सर्वथा मुक्त होकर, अपना अनन्तज्ञान-दर्शनात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये, जिससे इस जन्म-मृत्यु की परम्परा का विच्छेद होकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो सके।

महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय उनके प्रचार क्षेत्र में सुप्रचलित लोकभाषा अर्द्धमागधी को बनाया। इसी भाषा मे उनके शिष्यो ने उनके उपदेशों को आचारागादि बारह अंगो मे सकलित किया जो द्वादशाग आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

महावीर निर्वाण काल—

जैन परम्परानुसार महावीर का निर्वाण विक्रम काल से ४७० वर्ष पूर्व तथा शक काल से ६०५ वर्ष पाच मास पूर्व हुआ था, जो सन् ईसवी से ५२७ वर्ष पूर्व पड़ता है। यह महावीर निर्वाण संवत् आज भी प्रचलित है और उसके ग्रंथों व शिलालेखों मे उपयोग की परम्परा, कोई पाचवी छठवी शताब्दी से लगातार पाई जाती है। इसमे सन्देह उत्पन्न करनेवाला केवल एक हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व का उल्लेख है जिसके अनुसार महावीर निर्वाण से १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त (मौर्य) राजा हुआ। और चूकि चन्द्रगुप्त से विक्रमादित्य का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीर निर्वाण का समय विक्रम से २५५+१५५=४१० वर्ष पूर्व (ई०पू० ४६७) ठहरा। याकोबी, चार्पेंटियर आदि पाश्चात्य विद्वानों का यही मत है। इसके विपरीत डा० जायसवाल का मत है कि चूकि निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का जन्म हुआ और १८ वर्ष के होने पर उनके राज्याभिषेक से उनका संवत् चला, अतएव

विक्रम संवत् के ४७०+१८=४८८ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण काल मानना चाहिये। वस्तुतः ये दोनों ही मत भ्रांत हैं। अधिकांश जैन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि विक्रम जन्म से १८ वर्ष पश्चात् अभिषिक्त हुए और ६० वर्ष तक राज्यारूढ़ रहे, एवं उनका संवत् उनकी मृत्यु से प्रारंभ हुआ और उसी से ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण का काल है।

वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् जो शक सं० का प्रारम्भ कहा गया है, उसका कारण यह है कि महावीर का निर्वाण कार्तिक की अमावस्या को हुआ और इसीलिये प्रचलित वीर निर्वाण का संवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से बदलता है। इससे ठीक ५ माह पश्चात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से शक सवत् प्रारम्भ होता है। शक संवत् ७०५ में रचित जिनसेन कृत सं० हरिवंश पुराण मे वर्णन है कि महावीर के निर्वाण होने पर उनकी निर्वाणभूमि पावानगरी मे दीपमालिका उत्सव मनाया गया और उसी समय से भारत में उक्त तिथि पर प्रतिवर्ष इस उत्सव के मनाने की प्रथा चली। इस दिन जैन लोग निर्वाणोत्सव दीपमालिका द्वारा मनाते हैं और महावीर की पूजा का विशेष आयोजन करते है। जहां तक पता चलता है दीपमालिका उत्सव जो भारतवर्ष का सर्वव्यापी महोत्सव बन गया है, उसका इमसे प्राचीन अन्य कोई साहित्यिक उल्लेख नही है।

गौतम-केशी-सवाद—

महावीर निर्वाण के पश्चात् जैन संघ के नायकत्व का भार क्रमशः उनके तीन शिष्यो–गौतम, सुधर्म और जबू ने संभाला। इनका काल क्रमशः १२, १२, व ३८ वर्ष =६२ वर्ष पाया जाता है। यहातक आचार्य परपरा मे कोई भेद नही पाया जाता। इससे भी इन तीनो गणधरो की केवली संज्ञा सार्थक सिद्ध होती है। किन्तु इनके पश्चात्कालीन आचार्य परम्पराए, दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में पृथक् पृथक् पाई जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय भेद के बीज यही से प्रारम्भ हो गये। इस सम्प्रदाय-भेद के कारणो की एक झलक हमे उत्तराध्ययन सूत्र के 'केसी-गोयम संवाद' नामक २३वें अध्ययन मे मिलती है। इसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् महावीर ने अपना अचेलक या निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्थापित किया, उस समय पार्श्वनाथ का प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित था। हम ऊपर कह आए है कि स्वय भगवान् महावीर के माता-पिता उसी पार्श्व सम्प्रदाय के अनुयायी माने गये हैं, और उसी से स्वयं भगवान् महावीर भी प्रभावित हुए थे। उत्तराध्ययन के उक्त प्रकरण के अनुसार, जब महावीर के सम्प्रदाय के अधिनायक गौतम थे, उससमय पार्श्व सम्प्रदाय

के नायक थे केशी कुमार श्रमण। इन दोनों गणधरों की भेंट श्रावस्तीपुर में हुई और उन दोनों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सम्प्रदाय एक होते हुए भी क्या कारण है कि पार्श्व-सम्प्रदाय चाउज्जाम धर्म तथा वर्द्धमान का सम्प्रदाय 'पंचसिक्खिय' कहा गया है। उसीप्रकार पार्श्व का धर्म 'संतरोत्तर' तथा वर्द्धमान का 'अचेलक' धर्म है। इस-प्रकार एक-कार्य-प्रवृत्त होने पर भी दोनों में विशेषता का कारण क्या है? केशी कुमार के इस सबंध में प्रश्न करने पर, गौतम गणधर ने बतलाया कि पूर्वकाल में मनुष्य सरल किन्तु जड़ (ऋजु जड़) होते थे और पश्चिमकाल में वक्र और जड़, किन्तु मध्यमकाल के लोग सरल और समझदार (ऋजु प्राज्ञ) थे। अतएव पुरातन लोगों के लिए धर्म की शोध कठिन थी और पश्चात्कालीन लोगों को उसका अनुपालन कठिन था। किन्तु मध्यकाल के लोगो के लिए धर्म शोधने और पालने में सरल प्रतीत हुआ। इसीकारण एक ओर आदि व अन्तिम तीर्थकरो ने पंचव्रत रूप तथा मध्य के तीर्थंकरों ने उसे चातुर्याम रूप से स्थापित किया। उसीप्रकार उन्होने बतलाया कि अचेलक या संस्तर युक्त वेष तो केवल लोगो मे पहचान आदि के लिए नियत किये जाते हैं, किन्तु यथार्थतः मोक्ष के कारणभूत तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र है। गौतम और केशी के बीच इस वार्तालाप का परिणाम यह बतलाया गया है कि केशी ने महावीर का पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके बीच वेष के सबंध मे क्या निर्णय हुआ, यह स्पष्ट नही बतलाया गया। अनुमानत. इस संबध मे अचेलकत्व और अल्पवस्त्रत्व का कल्प अर्थात् इच्छानुसार ग्रहण की बात स्वीकार कर ली गई, जिसके अनुसार हमे स्थविर कल्प और जिनकल्प के उल्लेख मिलते है। स्थविर कल्प पार्श्व-परम्परा का अल्प-वस्त्र-धारण रूप मान लिया गया और जिनकल्प सर्वथा अचेलक रूप महावीर की परम्परा का। किन्तु स्वभावतः एक सम्प्रदाय मे ऐसा द्विविध कल्प बहुत समय तक चल सकना सभव नही था। बहुत काल तक इस प्रश्न का उठना नहीं रुक सकता था कि यदि वस्त्रधारण करके भी महाव्रती बना जा सकता है और निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है, तब अचेलकता की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसी संघर्ष के फलस्वरूप महावीर निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् जंबू स्वामी का नायकत्व समाप्त होते ही संघभेद हुआ प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा मे महावीर निर्वाण के पश्चात् पूर्वोक्त तीन केवली; विष्णु आदि पांच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्वी, नक्षत्र आदि पांच एकादश अंगधारी, तथा सुभद्र आदि लोहार्य पर्यन्त चार एकांगधारी आचार्यों की वंशावली मिलती है। इन समस्त अट्ठाइस आचार्यों का काल ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष निर्दिष्ट पाया जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गणभेद—

जैन संघ संबंधी श्वेताम्बर परंपरा का प्राचीनतम उल्लेख कल्पसूत्र अन्तर्गत स्थविरावली मे पाया जाताहै । इसके अनुसार श्रमण भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे । इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारहो गणधरों द्वारा पढ़ाए गए श्रमणों की संख्या का भी उल्लेख है । ये ग्यारहों गणधर १२ अग और १४ पूर्व, इस समस्त गणिपिटक के धारक थे, जिसके अनुसार उनके कुल श्रमण शिष्यों की सख्या ४२०० पाई जाती है । इन ग्यारहो गणधरो मे से नौ का निर्वाण महावीर के जीवन काल मे ही हो गया था । केवल दो अर्थात् इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्म ही महावीर के पश्चात् जीवित रहे । यह भी कहा गया है कि 'आज जो भी श्रमण निर्ग्रन्थ बिहार करते हुए पाए जाते हैं, वे सब आर्य सुधर्म मुनि के ही अपत्य है । शेष गणधरों की कोई सन्तान नहीं चली ।' आगे स्थविरावली में आर्य सुधर्म से लगाकर आर्य शाण्डिल्य तक तेतीस आचार्यों की गुरु-शिष्य परम्परा दी गई है । छठे आचार्य आर्य यशोभद्र के दो शिष्य संभूतिविजय और भद्रबाहु द्वारा दो भिन्न-भिन्न शिष्य-परंपराए चल पडी । आर्य संभूतविजय की शाखा में नौवें स्थविर आर्य वज्रसेन के चार शिष्यो द्वारा चार भिन्न-भिन्न शाखाए स्थापित हुई, जिनके नाम उनके स्थापकों के नामानुसार **नाइल, पोमिल, जयन्त** और **तावस** पडे । उसी प्रकार आर्य भद्रबाहु के चार शिष्यो द्वारा **ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौन्ड्वर्द्धनिका** और **दासीखबडिका,** ये चार शाखाएं स्थापित हुई । उसीप्रकार सातवें स्थविर आर्य स्थूलभद्र के रोहगुप्त नामक शिष्य द्वारा **'तैरासिय'** शाखा एव उत्तर **बलिस्सह** द्वारा उत्तर बलिस्सह नामक गण निकले, जिसकी पुन: **कौशाम्बिक, सौर्वातिका, कोडंबाणी** और **चंद्रनागरी,** ये चार शाखाए फूटी । स्थूल-भद्र के दूसरे शिष्य आर्य सुहस्ति के शिष्य रोहण द्वारा **उद्देह** गण की स्थापना हुई, जिससे पुन: **उदुंबरिज्जिका** आदि चार-उपशाखाएं और **नागभूत** आदि छह कुल निकले । आर्य सुहस्ति के श्रीगुप्त नामक शिष्य द्वारा **चारण** गण और उसकी **हार्यमालाकारी** आदि चार शाखाए एवं **वर्धलोय** आदि सात कुल उत्पन्न हुए । आर्य सुहस्ति के यशो-भद्र नामक शिष्य द्वारा **उडुवाडिय** गण की स्थापना हुई, जिसकी पुन: **चंपिज्जिया** आदि चार शाखाए और **भद्रयशीय** आदि तीन कुल उत्पन्न हुए । उसी प्रकार आर्य सुहस्ति के कामर्द्धि नामक शिष्य द्वारा **वेसवाडिया** गण उत्पन्न हुआ, जिसकी **श्रावस्तिका** आदि चार शाखाएं और **गणिक** आदि चार कुल स्थपित हुए । उन्ही के अन्य शिष्य ऋषिगुप्त द्वारा **माणव** गण स्थापित हुआ, जिसकी **कासवार्यिका गौतमार्यिका, वासिष्ठिका** और **सौराष्ट्रिका**, ये चार शाखाएं तथा **ऋषिगुप्ति** आदि चार कुल

स्थापित हुए । शाखाओं के नामों पर ध्यान देने से अनुमान होता है कि कहीं-कहीं स्थान भेद के अतिरिक्त गोत्र-भेदानुसार भी शाखाओं के भेद प्रभेद हुए । स्थविर सुस्थित द्वारा **कोटिकगण** की स्थापना हुई, जिससे **उच्चानागरी, विद्याधरी, बज्री** एवं **माध्यमिका** ये चार शाखाएं तथा **बम्हलीय, वत्थालीय** वाणिज्य और पण्हवाहणक, ये चार कुल उत्पन्न हुए । इस प्रकार आर्य सुहस्ति के शिष्यों द्वारा बहुत अधिक शाखाओं और कुलों के भेद प्रभेद उत्पन्न हुए । आर्य सुस्थित के अर्हद्दत्त द्वारा मध्यमा **शाखा** स्थापित हुई और विद्याधार गोपाल द्वारा **विद्याधरी शाखा** । आर्यदत्त के शिष्य शांति सेन ने एक अन्य **उच्चानागरी शाखा** की स्थापना की । आर्य शांतिसेन के श्रेणिक तापस, कुबेर और ऋषिपालिका ये चार शिष्य हुए, जिनके द्वारा क्रमशः **आर्यसेनिका, तापसी कुबेर** और **ऋषिपालिका** ये चार शाखाएं निकली । आर्य-सिंहगिरि के शिष्य आर्य-शमित द्वारा **ब्रह्मदीपिका** तथा आर्य वज्र द्वारा आर्य **बज्री शाखा** स्थापित हुई । आर्य-वज्र के शिष्य वज्रसेन, पद्म और रथ द्वारा क्रमशः **आर्य-नाइली पद्मा और जयन्ती** नामक शाखाएं निकली । इन विविध शाखाओं व कुलों की स्थान व गोत्र आदि भेदो के अतिरिक्त अपनी अपनी क्या विशेषता थी, इसका पूर्णतः पता लगाना संभव नही है । इनमें से किसी किसी शाखा व कुल के नाम मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त मूर्तियो आदि परके लेखों में पाए गये हैं, जिनसे उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है ।

प्राचीन ऐतिहासिक कालगणना —

कल्पसूत्र स्थविरावली मे उक्त आचार्य परम्परा के संबंध मे काल का निर्देश नही पाया जाता । किन्तु धर्मघोषसूरि कृत दुषमकाल-श्रमणसंघ-स्तव नामक प्राकृत पट्टावली की अवचूरि मे कुछ महत्वपूर्ण कालसंबंधी निर्देश पाये जाते हैं । यहा कहा गया है कि जिस रात्रि भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि को उज्जैनी मे चंडप्रद्योत नरेश की मृत्यु व पालक राजा का अभिषेक हुआ । इस पालक राजा ने उदायी के निःसंतान मरने पर कुणिक के राज्य पर पाटलिपुत्र मे अधिकार कर लिया और ६० वर्ष तक राज्य किया । इसी काल में गौतम ने १२, सुधर्म ने ८, और जंबू ने ४४ वर्ष तक युगप्रधान रूप से संघ का नायकत्व किया । पालक के राज्य के साठ **वर्ष व्यतीत** होने पर पाटलिपुत्र में नव नन्दो ने १५५ वर्ष राज्य किया और इसी काल में जैन संघ का नायकत्व प्रभव ने ११ वर्ष, स्वयभू ने २३, यशोभद्र ने ५०, संभूतिविजय ने ८, भद्रबाहु ने १४ और स्थूलभद्र ने ४५ वर्ष तक किया । इस प्रकार यहां तक वीर निर्वाण के २१५ वर्ष व्यतीत हुए । इसके पश्चात् मौर्य वंश का राज्य

१०८ वर्ष रहा, जिसके भीतर महागिरि ने ३० वर्ष, सुहस्ति ने ४६ और गुणसुंदर ने ३२ वर्ष जैन संघ का नायकत्व किया। मौर्यों के पश्चात् राजा पुष्यमित्र ने ३० वर्ष तथा बलमित्र और भानुमित्र ने ६० वर्ष राज्य किया। इस बीच गुणसुंदर ने अपनी आयु के शेष १२ वर्ष, कालिक ने ४० वर्ष और स्कंदिल ने ३८ वर्ष जैन संघ का नायकत्व किया। इस प्रकार महावीर निर्वाण से ४१३ वर्ष व्यतीत हुए। भानुमित्र के पश्चात् राजा नरवाहन ने ४०, गर्दभिल्ल ने १३ और शक ने ४ वर्ष पर्यन्त राज्य किया और इसी बीच रेवतीमित्र द्वारा ३६ वर्ष तथा आर्य-मंगु द्वारा २० वर्ष जैन संघ का नायकत्व चला। इस प्रकार महावीर निर्वाण से लेकर ४७० वर्ष समाप्त हुए। गर्दभिल्ल के राज्य की समाप्ति कालकाचार्य द्वारा कराई गई और उसके पुत्र विक्रमादित्य ने राज्यारूढ़ होकर, ६० वर्ष तक राज्य किया। इसी बीच जैन संघ में बहुल, श्रीव्रत, स्वाति, हारि, श्यामार्य एवं शाण्डिल्य आदि हुए, प्रत्येक-बुद्ध एवं स्वयंबुद्ध परम्परा का विच्छेद हुआ, बुद्धबोधितों की अल्पता, तथा भद्रगुप्त, श्रीगुप्त और वज्रस्वामी, ये आचार्य हुए। विक्रमादित्य के पश्चात् धर्मादित्य ने ४० और माइल्ल ने ११ वर्ष राज्य किया, और इस प्रकार वीर निर्वाण के ५८१ वर्ष व्यतीत हुए। तत्पश्चात् दुर्बलिका पुष्यमित्र के २० वर्ष तथा राजा नाहड के ४ (?) वर्ष समाप्त होने पर वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पश्चात् शक संवत् प्रारम्भ हुआ। वीर निर्वाण के ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरि ने पर्यूषणचतुर्थी की स्थापना की, तथा निर्वाण के ९८० वर्ष समाप्त होने पर आर्य-महागिरि की सतान मे उत्पन्न श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की, एवं इसी वर्ष आनदपुर मे ध्रुवसेन राजा के पुत्र-मरण से शोकार्त होने पर, उनके समाधान हेतु कल्पसूत्र सभा के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना हुई। यह बहुश्रुतो की परम्परा से ज्ञात हुआ। इतनी वार्ता के पश्चात् यह 'दुषमकाल श्रमणसंघस्तव की अवचूरि' इस समाचार के साथ समाप्त होती है कि वीर निर्वाण के १३०० वर्ष समाप्त होने पर विद्वानो के शिरोमणि श्री बप्पभट्टि सूरि हुए।

सात निन्हव व दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय—

ऊपर जिन गणों कुलों व शाखाओं का उल्लेख हुआ है, उनमे कोई विशेष सिद्धान्त-भेद नही पाया जाता। सिद्धान्त-भेद की अपेक्षा से हुए सात निन्हवों का उल्लेख पाया जाता है। पहला निन्हव महावीर के जीवन काल मे ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष पश्चात् उनके एक शिष्य जमालि द्वारा श्रावस्ती में उत्पन्न

हुआ। इस निन्हव का नाम **बहुरत** कहा गया, क्योंकि यहां मूल सिद्धान्त यह था कि कोई वस्तु एक समय की क्रिया से उत्पन्न नही होती, अनेक समयों में उत्पन्न होती है। दूसरा निन्हव इसके दो वर्ष पश्चात् तिष्यगुप्त द्वारा ऋषभपुर मे उत्पन्न हुआ कहा गया है। इसके अनुयायी **जीवप्रदेशक** कहलाए, क्योंकि वे जीव के अंतिम प्रदेश को ही जीव की संज्ञा प्रदान करते थे। **अव्यक्त** नामक तीसरा निन्हव, निर्वाण से २१४ वर्ष पश्चात् आषाढ़-आचार्य द्वारा श्वेतविका नगरी मे स्थापित हुआ। इस मत में वस्तु का स्वरूप अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट व अज्ञेय माना गया है। चौथा **समुच्छेद** नामक निन्हव, निर्वाण से २२० वर्ष पश्चात् अश्वमित्र-आचार्य द्वारा मिथिला नगरी में उत्पन्न हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक कार्य अपने उत्पन्न होने के अनन्तर समय में समस्त रूप से व्युच्छिन्न हो जाता है, अर्थात् प्रत्येक उत्पादित वस्तु क्षणस्थायी है। यह मत बौद्ध दर्शन के क्षणिकत्ववाद से मेल खाता प्रतीत होता है। पांचवां निन्हव निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात् गग-आचार्य द्वारा उल्लुकातीर पर उत्पन्न हुआ। इसका नाम **द्विक्रिया** कहा गया है। इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि एक समय में केवल एक ही नही, दो क्रियाओ का अनुभवन सभव है। छठवां **त्रैराशिक** नामक निन्हव, छल्लुक मुनिद्वारा पुरमतरजिका नगरी मे उन्पन्न हुआ। इस मत के अनुयायी वस्तु-विभाग तीन राशियो मे करते थे; जैसे जीव, अजीव, और जीवाजीव। सातवां निन्हव **अबद्ध** कहलाता है, जिसकी स्थापना वी० निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् गोष्ठा माहिल द्वारा दशपुर मे हुई। इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि कर्म का जीव से स्पर्श-मात्र होता है, बधन नही होता। इन सात निन्हवों के अनन्तर, वीर निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात्, **बोटिक निन्हव** अर्थात् दिगम्बर सघ की उत्पत्ति कही गई है (स्था ७, वि० आवश्यक व तपा० पट्टा०)। दिगम्बर परम्परा मे उपर्युक्त सात निन्हवो का तो कोई उल्लेख नही पाया जाता, किन्तु वि० स० के १३६ वर्ष उपरान्त श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति होने का स्पष्ट उल्लेख (दर्शनसार गा० ११) पाया जाना है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के काल मे, व दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बर संप्रदाय के उत्पत्तिकाल–निर्देश में केवल ३ वर्षों का अन्तर पाया जाता है। इन उल्लेखों पर से यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि महावीर के संघ में दिगम्बर-श्वेताम्बर सप्रदायों का स्पष्ट रूप से भेद निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर आम्नाय में गणभेद —

दिगम्बर मान्यतानुसार महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष की आचार्य

परम्परा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कहा गया है कि तत्पश्चात् किसी समय अर्हद्बलि आचार्य हुए। उन्होंने पंचवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय एक विशाल मुनि-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमे सौ योजन के यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं पर से उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपात का युग आ गया। अतएव, उन्होंने नंदि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न भिन्न संघ स्थापित किये, जिनसे कि निकट अपनत्व की भावना द्वारा धर्म-वात्सल्य और प्रभावना बढ़ सके। दर्शनसार के अनुसार, विक्रम के ५२६ वर्ष पश्चात् दक्षिण मथुरा अर्थात् मदुरा नगर मे पूज्यपाद के शिष्य वज्रनंदि द्वारा द्राविडसंघ की उत्पत्ति हुई। इस संघ के मतानुसार बीजो मे जीव नही होता, तथा प्राशुक-अप्राशुक का कोई भेद नही माना जाता; एवं बसति मे रहने, वाणिज्य करने व शीतल नीर से स्नान करने मे भी मुनि के लिये कोई पाप नही होता। वि० के २०५ वर्ष पश्चात् कल्याणनगर मे श्वेताम्बर मुनि श्रीकलश द्वारा यापनीय सघ की स्थापना हुई कही गई है। वि० की पांचवी-छठी शताब्दी के ताम्रपटो आदि मे भी यापनीय संघ के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। काष्ठासंघ की उत्पत्ति वि० सं० के ७५३ वर्ष पश्चात् नंदीतट ग्राम मे कुमारसेन मुनि द्वारा हुई। इस संघ मे स्त्रियो को दीक्षा देने, तथा पीछी के स्थान मे मुनियों द्वारा चौरी रखने का विधान पाया जाता है। माथुरसंघ की स्थापना, काष्ठासघ की स्थापना से २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० के ९५३ वर्ष व्यतीत होने पर मथुरा में रामसेन मुनि द्वारा हुई कही गई है। इस सघ की विशेषता यह बतलाई गई है कि इसमे मुनियो द्वारा पीछी रखना छोड दिया गया। काष्ठासघ की उत्पत्ति से १८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ९७१ मे दक्षिणदेश के विन्ध्यपर्वत के पुष्कल नामक स्थान पर वीरचन्द्र मुनि द्वारा भिल्लक संघ की स्थापना हुई। उन्होंने अपना एक अलग गच्छ बनाया, प्रतिक्रमण तथा मुनिचर्या की भिन्न व्यवस्था की, तथा वर्णाचार को कोई स्थान नही दिया। इस सघ का दर्शनसार के अतिरिक्त अन्यत्र कही उल्लेख नही मिलता। किन्तु इस एक उल्लेख पर से भी प्रमाणित होता है कि नौंवी दसवीं शताब्दी में एक जैन मुनि ने विन्ध्यपर्वत के भीलों मे भी धर्म प्रचार किया और उनकी क्षमता के विचारानुसार धर्मपालन की कुछ विशेष व्यवस्थाएं बनाई।

श्रवणबेलगोला से प्राप्त हुए ५०० से भी अधिक शिलालेखो द्वारा हमें अनेक शताब्दियों की विविध आम्नायो तथा आचार्य-परम्पराओं का विवरण मिलता है। सिद्धरबस्ति के एक शिलालेख मे कहा गया है कि अर्हद्बलि ने अपने दो शिष्यों, पुष्पदंत और भूतबलि, द्वारा बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की और उन्होंने मूल संघ को चार शाखाओं में

विभाजित किया – सेन, नंदि, देव और सिंह। अनेक लेखों में जो संघों, गणों, गच्छों आदि के उल्लेख मिलते हैं उनमें से कुछ इसप्रकार हैं :—मूलसंघ, नंदिसंघ, नमिलूरसंघ, मयूरसंघ, किट्टूरसंघ, कोल्लतूरसंघ, नंदिगण, देषीगण, द्रमिल (तमिल) गण, काणूर गण, पुस्तक या सरस्वती गच्छ, वक्रगच्छ, तगरिलगच्छ, मंडितटगच्छ, इंगुलेश्वरबलि, पनसोगे बलि, आदि।

पूर्व व उत्तर भारत में धार्मिक प्रसार का इतिहास—

महावीर ने स्वयं विहार करके तो अपना उपदेश विशेष रूप से मगध, विदेह अंग, बंग, आदि पूर्व के देशों, तथा पश्चिम की ओर कोशल व काशी प्रदेश में ही फैलाया था, एवं तत्कालीन मगधराज श्रेणिक बिंबसार व उनके पुत्र कुणिक अजातशत्रु को अपना अनुयायी बनाया था। इसका भी प्रमाण मिलता है कि नंदराजा भी जैन धर्मानुयायी थे। ई० पू० १५० के लगभग के खारवेल के शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि जिस जैन प्रतिमा को नंदराज कलिंग से मगध में ले गए थे, उसे खारवेल पुनः अपने देश मे वापस लाए। यह लेख अरहंतों और सिद्धों को नमस्कार से प्रारम्भ होता है, और फिर उसमे खारवेल के कुमारकाल के शिक्षण के पश्चात् राज्याभिषिक्त होकर उनके द्वारा नाना-प्रदेशों की विजय तथा स्वदेश मे विविध लोकोपकारी कार्यों का विवरण पाया जाता है। कलिंग (उड़ीसा) मे जैनधर्म बिहार से ही गया है, इसमे तो सन्देह ही नही, और बिहार का जैनधर्म से संबंध इतिहासातीत काल से रहा है। भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार बिहार से उड़ीसा जाने का मार्ग मानभूम और सिंहभूम जिलों मे से था। मानभूम के ब्राह्मणो मे एक वर्ग अब भी ऐसा विद्यमान है जो अपने को 'पच्छिम ब्राह्मण' कहते है, और वे वर्धमान महावीर के वंशज रूप से वर्णन किये जाते है। वे यह भी कहते हैं कि वे उस प्राचीनतम आर्यवंश की शाखा के हैं जिसने अति प्राचीन काल में इस भूमि पर पैर रखा। आदितम श्रमण-परम्परा आर्यों की ही थी, किन्तु ये आर्य वैदिक आर्यों के पूर्व भारत की ओर बढ़ने से पहले ही मगध-विदेह में रहते थे, इसमे अब कोई सन्देह रहा नहीं प्रतीत होता। इस दृष्टि से उक्त 'पच्छिम ब्राह्मणो' की बात बड़े ऐतिहासिक महत्व की जान पड़ती है। यों तो समस्त मगध प्रदेश में जैन पुरातत्व के प्रतीक बिखरे हुए हैं, जिनमें पटना जिले के राजगिर और पावा, तथा हजारीबाग जिले का पार्श्वनाथ पर्वत सुप्रसिद्ध ही हैं। किन्तु इन स्थानों में वर्तमान में जो अधिकांश मूर्तियां आदि पाई जाती हैं, उनकी अपेक्षा मानभूम और सिंहभूम जिलों के नाना स्थानों में बिखरे हुए जैन मन्दिर व मूर्तियाँ अधिक प्राचीन

सिद्ध होते हैं। इनमे से अनेक आजकल हिन्दुओं द्वारा अपने धर्मायतन मान कर पूजे जाते हैं। कहीं जैन मूर्तियां भैरोंनाथ के नाम से पुजती हैं और कहीं वे पांडवों की मूर्तियां मानी जा रही हैं। यत्र तत्र से एकत्र कर जो अनेक जैन मूर्तियां पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, वे ग्यारहवी शताब्दि से पूर्व की प्रमाणित होती हैं। (देखिये राम चौधरी कृत जैनिजिम इन बिहार)। चीनी यात्री हुएनत्सांग (सातवी शताब्दी) ने अपने वैशाली के वर्णन में वहाँ निर्ग्रन्थो की बड़ी संख्या का उल्लेख किया है। उसने सामान्यतः यह भी कहा है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के जैन मुनि पश्चिम मे तक्षशिला और गृद्धकूट तक फैले हुए थे, तथा पूर्व में दिगम्बर निर्ग्रन्थ पुण्ड्रवर्धन और समतट तक भारी संख्या में पाये जाते थे। चीनी यात्री के इन उल्लेखों से सातवी शती में समस्त उत्तर में जैन धर्म के सुप्रचार का अच्छा पता चलता है।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से एक अति प्राचीन स्तूप और एक दो जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिले हैं। यहाँ पाई गई पुरातत्वसामग्री पर से ज्ञात होता है कि ई० पूर्व की कुछ शताब्दियो से लेकर, लगभग दसवी शताब्दी तक वहाँ जैनधर्म का एक महान् केन्द्र रहा है। मूर्तियों के सिंहासनों, आयाग-पट्टों आदि पर जो लेख मिले हैं, उनमे से कुछ में कुषाण राजाओं, जैसे कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि नामों और उनके राज्यकाल के अंकों का स्पष्ट उल्लेख पाया गया है, जिससे वे ई० सन् के प्रारम्भिक काल के सिद्ध होते हैं। प्राचीन जैन ग्रन्थो में इस स्तूप का उल्लेख मिलता है, और कहा गया है कि यह स्तूप सुपार्श्वनाथ की स्मृति मे निर्माण कराया गया था, तथा पार्श्वनाथ के काल में इसका उद्धार कराया गया था। उसे देव निर्मित भी कहा गया है। आश्चर्य नही जो वह प्राचीन स्तूप महावीर से भी पूर्वकालीन रहा हो। हरिषेण कथाकोश के 'वैरकुमार कथानक' (श्लोक १३२) में मथुरा के पाँच स्तूपों का उल्लेख आया है। यहाँ से ही संभवतः जैन मुनियों के पंचस्तूपान्वय का प्रारंभ हुआ। इस अन्वय का एक उल्लेख गुप्त संवत् १५६ (सन् ४७८) का पहाड़पुर (बंगाल) के ताम्रपट से मिला है जिसके अनुसार उस समय वट गोहाली में एक जैन विहार था, जिसमें अरहंतो की पूजा के लिये निर्ग्रन्थ आचार्य को एक दान दिया गया। ये आचार्य बनारस की पंचस्तूप निकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य कहे गये हैं। धवला टीका के रचयिता वीरसेन और जिनसेन (८-९वीं शती) भी इसी शाखा के थे। इसी अन्वय का उल्लेख जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में सेनान्वय के नाम से किया है। तब से इस अन्वय की सेनगण के नाम से ही प्रसिद्धि लगातार आज तक अविच्छिन्न रूप से उसकी अनेक शाखाओं व उपशाखाओं के रूप मे पाई जाती है। मथुरा के

स्तूपों की परम्परा मुगल सम्राट् अकबर के काल तक पाई जाती है, क्योंकि उस समय के जैन पंडित राजमल्ल ने अपने जम्बूस्वामी-चरित में लिखा है कि मथुरा में ५१५ जीर्ण स्तूप थे जिनका उद्धार टोडर सेठ ने अपरिमित व्यय से कराया था। ई० पू० प्रथम शताब्दी में जैन मुनिसंघ के उज्जैनी में अस्तित्व का प्रमाण कालकाचार्य कथानक में मिलता है। इस कथानक के अनुसार उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल ने अपनी कामुक प्रवृत्ति से एक जैन आर्जिका के साथ अत्याचार किया, जिसके प्रतिशोध के लिए कालकसूरि ने शाही राजाओं से संबंध स्थापित किया। इन्होंने गर्दभिल्ल को युद्ध में परास्त कर, उज्जैन में शक राज्य स्थापित किया। इसी वंश का विनाश पीछे विक्रमादित्य ने किया। इस प्रकार यह घटना-चक्र विक्रम संवत् से कुछ पूर्व का सिद्ध होता है। उससे यह भी पता चलता है कि प्रसंगवश अतिशान्त-स्वभावी और सहनशील जैन-मुनियों का भी कभी-कभी राजशक्तियों से संघर्ष उपस्थित हो जाया करता था।

मथुरा से प्राप्त एक लेख से उल्लेख मिलता है कि गुप्त संवत् ११३ (ई० सन् ४३२) में श्री कुमारगुप्त के राज्यकाल में विद्याधरी शाखा के दंतिलाचार्य की आज्ञा से श्यामाढ्य ने एक प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई। कुमारगुप्त के काल (सन् ४२६) का एक और लेख उदयगिरि (विदिशा-मालवा) से मिला है, जिसमें वहां पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। गुप्तकाल के सं० १४१ (ई० सन् ४६०) में स्कंदगुप्त राजा के उल्लेख सहित जो शिलालेख कहायू (संस्कृत ककुभः) से प्राप्त हुआ है उसमें उल्लेख है कि पांच अरहंतों की स्थापना मद्र नामके धर्म पुरुष ने कराई थी और शैल-स्तम्भ खड़ा किया था।

दक्षिण भारत व लंका में जैन धर्म तथा राजवंशों से संबंध—

एक जैन परम्परानुसार मौर्यकाल में जैनमुनि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त सम्राट् को प्रभावित किया था और वे राज्य त्याग कर, उन मुनिराज के साथ दक्षिण को गए थे। मैसूर प्रान्त के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला में अब भी उन्हीं के नाम से एक पहाड़ी चन्द्रगिरि कहलाती है, और उस पर वह गुफा भी बतलाई जाती है, जिसमें भद्रबाहु ने तपस्या की थी, तथा राजा चन्द्रगुप्त उनके साथ अन्त तक रहे थे। इस प्रकार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल मे जैनधर्म का दक्षिणभारत में प्रवेश हुआ माना जाता है। किन्तु बौद्धों के पालि साहित्यान्तर्गत महावंश मे जो लंका के राजवंशों का विवरण पाया जाता है, उसके अनुसार बुद्धनिर्वाण से १०६ वर्ष पश्चात् पांडुकाभय राजा का अभिषेक हुआ और उन्होने अपने राज्य के प्रारंभ में ही अनुराधपुर की स्थापना की,

जिसमें उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए अनेक निवासस्थान बनवाए। इस उल्लेख पर से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि बुद्ध निर्वाण सं० के १०६ वें वर्ष में ही लंका में निर्ग्रन्थों का अस्तित्व था। लंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश अशोक के पुत्र महेन्द्र द्वारा बुद्धनिर्वाण से २३६ वर्ष पश्चात् हुआ कहा गया है। इस पर से लंका में जैन धर्म का प्रचार, बौद्ध धर्म से कम से कम १३० वर्ष पूर्व हो चुका था, ऐसा सिद्ध होता है। संभवतः सिंहल मे जैनधर्म दक्षिणभारत मे से ही होता हुआ पहुँचा होगा। जिस समय उत्तर-भारत मे १२ वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु ने सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा विशाल मुनि संघ के साथ दक्षिणापथ की ओर विहार किया, तब वहाँ की जनता में जैनधर्म का प्रचार रहा होगा और इसी कारण भद्रबाहु को अपने संघ का निर्वाह होने का विश्वास हुआ होगा, ऐसा भी विद्वानो का अनुमान है। चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र सम्प्रति, एक जैन परम्परानुसार, आचार्य सुहस्ति के शिष्य थे, और उन्होंने जैनधर्म का स्तूप, मंदिर आदि निर्माण कराकर, देशभर मे उसी प्रकार प्रचार किया जिसप्रकार कि अशोक ने बौद्धधर्म का किया था। रामनद और टिन्नावली की गुफाओ मे ब्राह्मीलिपि के शिलालेख यद्यपि अस्पष्ट हैं, तथापि उनसे एवं प्राचीनतम तामिल ग्रंथो से उस प्रदेश मे अति प्राचीनकाल में जैनधर्म का प्रचार सिद्ध होता है। तामिल काव्य कुरल व ठोलकप्पियम पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

मणिमेकलइ यद्यपि एक बौद्ध काव्य है, तथापि उसमे दिगम्बर मुनियो और उनके उपदेशों के अनेक उल्लेख आये हैं। जीवक चिन्तामणि, सिलप्पडिकारं, नीलकेशी, यशोधर काव्य आदि तो स्पष्टत. जैन कृतियाँ ही हैं। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र के कांची से सम्बध का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य का सम्बध, उनके एक टीकाकार, शिवकुमार महाराज से बतलाते हैं। प्राकृत लोक-विभाग के कर्ता सर्वनन्दि (सन् ४५८) कांची नरेश सिंहवर्मा के समकालीन कहे गये हैं। दर्शनसार के अनुसार द्राविड संघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि द्वारा मदुरा मे सन् ४७० में की गई थी। इस प्रकार के अनेक उल्लेखों और नाना घटनाओ से सुप्रमाणित होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे तामिल प्रदेश मे जैन धर्म का अच्छा प्रचार हो चुका था।

कदम्ब राजवंश —

कदम्बवंशी अविनीत महाराज के दानपत्र में उल्लेख है कि उन्होंने देसीगण, कुन्दकुन्दान्वय के चन्द्रनंदि भट्टारक को जैनमंदिर के लिये एक गाव का दान दिया। यह दानपत्र शक सं० ३८८ (ई० सं० ४६६) का है और मर्करा नामक स्थान से मिला

है। इसी वंश के युवराज काकुत्स्थ, द्वारा भगवान् अर्हन्त के निमित्त श्रुतकीर्त्ति सेनापति को भूमि का दान दिये जाने का उल्लेख है। इसी राजवंश के एक दो अन्य दानपत्र बड़े महत्वपूर्ण हैं। इनमे मे एक में श्रीविजय शिवमृगेश वर्मा द्वारा अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में एक ग्राम का दान उसे तीन भागों में बांटकर दिये जाने का उल्लेख है। एक भाग 'भगवत् अर्हद् महाजिनेन्द्र देवता' को दिया गया, दूसरा 'श्वेतपट महाश्रमण संघ' के उपभोग के लिए, और तीसरा 'निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ' के उपयोग के लिए। दूसरे लेख मे शान्ति वर्मा के पुत्र श्री मृगेश द्वारा अपने राज्य के आठवें वर्ष में यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक मुनियों के हेतु भूमि-दान दिये जाने का उल्लेख है। एक अन्य लेख में शान्तिवर्मा द्वारा यापनीय तपस्वियों के लिये एक ग्राम के दान का उल्लेख है। एक अन्य लेख मे हरिवर्मा द्वारा सिंह सेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जैनमंदिर की अष्टान्हिका पूजा के लिये, तथा सर्वसंघ के भोजन के लिए एक गांव कूर्चकों के वारिषेणाचार्य संघ के हाथ मे दिये जाने का उल्लेख है। इस वंश के और भी अनेक लेख हैं जिनमे जिनालयों के रक्षणार्थ व नाना जैन संघो के निमित्त ग्रामों और भूमियो के दान का उल्लेख है। उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पांचवी छठी शताब्दी मे जैन संघ के निर्ग्रन्थ (दिगम्बर), श्वेतपट, यापनीय वा कूर्चक शाखाएं सुप्रतिष्ठित सुविख्यात, लोकप्रिय और राज्य-सम्मान्य हो चुकी थी। इनमेके प्रथम तीन मुनि-सम्प्रदायों का उल्लेख तो पट्टावलियो व जैन साहित्य मे बहुत आया है, किन्तु कूर्चक सम्प्रदाय का कही अन्यत्र विशेष परिचय नहीं मिलता।

गंग राजवश—

श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखो तथा अभयचन्द्रकृत गोम्मटसार वृत्ति की उत्थानिका में उल्लेख मिलता है कि गंगराज की नीव डालने में जैनाचार्य सिंहनंदि ने बड़ी सहायता की थी। इस वंश के अविनीत नाम के राजा के प्रतिपालक जैनाचार्य विजय-कीर्ति कहे गये हैं। सुप्रसिद्ध तत्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्त्ता आचार्य पूज्यपाद देवनंदि इसी वंश के सातवे नरेश दुर्विनीत के राजगुरू थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। इनके तथा शिवमार और श्रीपुरुष नामक नरेशों के अनेक लेखों में जैन मन्दिर निर्माण व जैन मुनियों को दान के उल्लेख भी मिलते हैं। गंगनरेश मारसिंह के विषय में कहा गया है कि उन्होंने अनेक भारी युद्धों मे विजय प्राप्त करके नाना दुर्ग और किले जीतकर एवं अनेक जैन मंदिर और स्तम्भ निर्माण करा कर अन्त में अजितसेन भट्टारक के समीप बंकापुर मे संल्लेखना विधि से मरण किया, जिसका काल शक सं० ८९६ (ई०—

सं० ६७४) निर्दिष्ट है। मारसिंह के उत्तराधिकारी राचमल्ल (चतुर्थ) थे, जिनके मंत्री चामुण्डराज ने श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय बस्ति निर्माण कराई और गोमटेश्वर की उस विशाल मूर्त्ति का उद्घाटन कराया जो प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का एक गौरवशाली प्रतीक है। चामुण्डराय का बनाया हुआ एक पुराण ग्रन्थ भी मिलता है जो कन्नड भाषा मे है। इसे उन्होने शक सं० ६०० मे समाप्त किया था। उसमें भी उन्होंने अपने ब्रह्मक्षत्र कुल तथा अजितसेन गुरु का परिचय दिया है। अनेक शिलालेखों में विविध गंगवंशी राजाओं, सामन्तों, मंत्रियों व सेनापतियो आदि के नामों, उनके द्वारा दिये गये दानों आदि धर्मकार्यों, तथा उनके संल्लेखना पूर्वक मरण के उल्लेख पाये जाते हैं। कन्नड कवि पोन्न द्वारा सन् ६३३ मे लिखे गये शान्तिपुराणकी सन् ६७३ के लगभग एक धर्मिष्ट महिला आतिमब्बे ने एक सहस्त्र प्रतियाँ लिखाकर दान मे बटवा दी।

राष्ट्रकूट राजवंश —

सातवी शताब्दी से दक्षिण-भारत मे जिस राजवंश का बल व राज्य-विस्तार बढ़ा, उस राष्ट्रकूट वंश से तो जैनधर्म का बड़ा घनिष्ठ सबंध पाया जाता है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम ने स्वय प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका की रचना की थी, जिसका तिब्बती भाषा में उसकी रचना के कुछ ही पश्चात् अनुवाद हो गया था और जिस पर से यह भी सिद्ध होता है कि राजा अमोघवर्ष राज्य छोड़कर स्वयं दीक्षित हो गये थे। उनके विषय मे यह भी कहा पाया जाता है कि वे आदिपुराण के कर्ता जिनसेन के चरणों की पूजा करते थे। शाकटायन व्याकरण पर की अमोघवृत्ति नामक टीका उनके नाम से संबद्ध पाई जाती है, और उन्ही के समय मे महावीराचार्य ने अपने गणितसार नामक ग्रंथ की रचना की थी। वे कन्नड अलंकारशास्त्र 'कविराजमार्ग' के कर्ता भी माने जाते हैं। उनके उत्तराधिकारी कृष्ण-द्वितीय के काल मे गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण को पूरा किया, इन्द्रनन्दि ने ज्वाला-मालिनी-कल्प की रचना की; सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू नामक काव्य रचा तथा पुष्पदंत ने अपनी विशाल, श्रेष्ठ अपभ्रंश रचनाएँ प्रस्तुत की। उन्होंने ही कन्नड के सुप्रसिद्ध जैन कवि कोन्न को उभय-भाषा चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया। उनके पश्चात् राष्ट्रकूट नरेश इन्द्रराज-चतुर्थ ने शिलालेखानुसार अपने पूर्वज अमोघवर्ष के समान राज्यपाट त्याग कर जैन मुनि दीक्षा धारण की थी, और श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधिपूर्वक मरण किया था। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में राष्ट्रकूट नरेशों की जैनधर्म के प्रति

आस्था, सम्मान-वृद्धि और दानशीलता के उल्लेख पाये जाते हैं। राष्ट्रकूटों के संरक्षण में उनकी राजधानी मान्यखेट एक अच्छा जैन केन्द्र बन गया था, और यही कारण है कि संवत् १०२६ के लगभग जब धारा के परमारवंशी राजा हर्षदेव के द्वारा मान्यखेट नगरी लूटी और जलाई गई, तब महाकवि पुष्पदंत के मुख से हठात् निकल पड़ा कि "जो मान्यखेट नगर दीनों और अनाथों का धन था, सदैव बहुजन पूर्ण और पुष्पित उद्यानवनों से सुशोभित होते हुए ऐसा सुन्दर था कि वह इन्द्रपुरी की शोभा को भी फीका कर देता था, वह जब धारानाथ की कोपाग्नि से दग्ध हो गया तब, अब पुष्पदंत कवि कहाँ निवास करें"। (अप. महापुराण-संधि ५०)

चालुक्य और होयसल राजवंश—

चालुक्यनरेश पुलकेशी (द्वि०) के समय में जैन कवि रविकीर्ति ने ऐहोल मे मेघुति मन्दिर बनवाया और वह शिलालेख लिखा जो अपनी ऐतिहासिकता तथा संस्कृत काव्यकला की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। उसमें कहा गया है कि रविकीर्ति की काव्यकीर्ति कालिदास और भारवि के समान थी। लेख में शक सं०५५६ (ई० सन् ६३४) का उल्लेख है और इसी आधार पर संस्कृत के उक्त दोनों महाकवियों के काल की यही उत्तरावधि मानी जाती है। लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अनेक दानपत्रों में चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैन आचार्यों को दान दिये जाने के उल्लेख मिलते है। बादामी और ऐहोल की जैन गुफायें और उनमें की तीर्थंकरो की प्रतिमायें भी इसी काल की सिद्ध होती हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिण मे पुनः चालुक्य राजवंश का बल बढ़ा। यह राजवंश जैनधर्म का बड़ा संरक्षक रहा, तथा उसके साहाय्य से दक्षिण में जैनधर्म का बहुत प्रचार हुआ और उसकी ख्याति बढ़ी। पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप ने जैन कन्नड़ कवि रन्न को आश्रय दिया। तैलप के उत्तराधिकारी सत्याश्रय ने जैनमुनि विमलचन्द्र पंडित देव को अपना गुरु बनाया। इस वंश के अन्य राजाओं, जैसे जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय, तथा विक्रमादित्य षष्ठम ने कितने ही जैन कवियों को प्रोत्साहित कर साहित्य-सृजन कराया, तथा जैन मन्दिरों व अन्य जैन संस्थाओं को भूमि आदि का दान देकर उन्हें सबल बनाया। होयसल राजवंश की तो स्थापना ही एक जैनमुनि के निमित्त से हुई कही जाती है। विनयादित्य नरेश के राज्यकाल में जैनमुनि वर्द्धमानदेव का शासन के प्रबन्ध मे भी हाथ रहा कहा जाता है। इस वंश के दो अन्य राजाओं के गुरु भी जैनमुनि रहे। इस वंश के प्राय

सभी राजाओं ने जैन मंदिरों और आश्रमों को दान दिये थे। इस वंश के सबसे अधिक प्रतापी नरेश विष्णुवर्द्धन के विषय मे कहा जाता है कि उसने रामानुजाचार्य के प्रभाव में पड़कर वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया था। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि वह अपने राज्य के अन्त तक जैनधर्म के प्रति उपकारी और दानशील बना रहा। ई० सन् ११२५ मे भी उसने जैनमुनि श्रीपाल त्रैविद्यदेव की आराधना की, शल्य नामक स्थान पर जैन विहार बनवाया तथा जैन मंदिरों व मुनियो के आहार के लिए दान दिया। एक अन्य ई० सन् ११२६ के लेखानुसार उसने मल्लिजिनालय के लिए एक दान किया। ई० सन् ११३३ मे उसने अपनी राजधानी द्वारासमुद्र मे ही पार्श्वनाथ जिनालय के लिए एक ग्राम का दान किया, तथा अपनी तत्कालीन विजय की स्मृति मे वहाँ के मूलनायक को विजय-पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध किया और अपने पुत्र का नाम विजयसिंह रक्खा, और इस प्रकार उसने अपने परम्परागत धर्म तथा नये धारण किये हुए धर्म के बीच सतुलन बनाये रखा। उसकी रानी शांतलदेवी आजन्म जैनधर्म की उपासिका रही और जैन मंदिरो को अनेक दान देती रही। उसके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे, और उसने सन् ११२१ में जैन समाधि-मरण की संल्लेखना विधि से देह त्याग किया। विष्णुवर्द्धन के अनेक प्रभावशाली मंत्री और सेनापति भी जैन धर्मानुयायी थे। उसके गगराज सेनापति ने अनेक जैनमंदिर बनवाये, अनेकों का जीर्णोद्धार किया तथा अनेको जैन सस्थाओ को विपुल दान दिये। उसकी पत्नी लक्ष्मीमति ने भी जैन सल्लेखना विधि से मरण किया, जिसकी स्मृति मे उसके पति ने श्रवणबेलगोला के पर्वत पर एक लेख खुदवाया। उसके अन्य अनेक सेनापति, जैसे बोप्प, पुनिस, मरियाने व भरतेश्वर, जैन मुनियो के उपासक थे और जैन धर्म के प्रति बड़े दानशील थे, इसके प्रमाण श्रवणबेलगोला व अन्य स्थानो के बहुत से शिलालेखों में मिलते है। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम ने श्रवणबेलगोला की वंदना की तथा अपने महान् सेनापति हुल्ल द्वारा बनवाये हुए चतुर्विंशति जिनालय को एक ग्राम का दान दिया। होयसल नरेश वीर-बल्लाल द्वितीय व नरसिंह तृतीय के गुरु जैन मुनि थे। इन नरेशों ने तथा इस वंश के अन्य अनेक राजाओ ने जैन मंदिर बनवाये और उन्हे बडे-बडे दानो से पुष्ट किया। इस प्रकार यह पूर्णतः सिद्ध है कि होयसल वंश के प्रायः सभी नरेश जैन धर्मानुयायी थे और उनके साहाय्य एवं संरक्षण द्वारा जैन मंदिर तथा अन्य धार्मिक सस्थाएँ दक्षिण प्रदेश में खूब फैली और समृद्ध हुईं।

अन्य राजवंश—

उक्त राजवंशो के अतिरिक्त दक्षिण के अनेक छोटे-मोटे राजघरानों द्वारा भी जैनधर्म को खूब बल मिला। उदाहरणार्थ, कर्नाटक के तीर्थहल्लि तालुका व उसके आसपास के प्रदेश पर राज्य करनेवाले सान्तर नरेशों ने प्रारम्भ से ही जैन धर्म को खूब अपनाया। भुजबल सान्तर ने अपनी राजधानी पोम्बुर्चा मे एक जैनमदिर बनवाया व अपने गुरू कनकनदिदेव को उस मदिर के सरक्षणार्थ एक ग्राम का दान दिया। वीर सान्तर के मत्री नगुलरस को ई० सन् १०८१ के एक शिलालेख में जैनधर्म का गढ़ कहा गया है। स्वय वीर सान्तर को एक लेख मे जिनभगवान् के चरणों का भृंग कहा गया है। तेरहवी शताब्दी मे सान्तरनरेशो के वीरशैव धर्म स्वीकार कर लेने पर उनके राज्य मे जैनधर्म की प्रगति व प्रभाव कुछ कम अवश्य हो गया तथापि सान्तर वशी नरेश शैवधर्मावलबी होते हुए भी जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु और दानशील बने रहे। उसी प्रकार मैसूर प्रदेशान्तर्गत कुर्ग व उसके आसपास राज्य करनेवाले कागल्व नरेशो ने ग्यारहवी व बारहवी शताब्दियो मे अनेक जैनमदिर बनवाये और उन्हें दान दिये। चांगल्व नरेश शैवधर्मावलबी होते हुए भी जैनधर्म के बडे उपकारी थे, यह उनके कुछ शिलालेखो से सिद्ध होता है जिनमें उनके द्वारा जैनमदिर बनवाने व दान देने के उल्लेख मिलते हैं। इन राजाओ के अतिरिक्त अनेक ऐसे वैयक्तिक सामन्तो, मत्रियो, सेनापतियों तथा सेठ साहूकारो के नाम शिलालेखो मे मिलते है जिन्होने नाना स्थानों पर जिनमदिर बनवाये, जैनमूर्तियां प्रतिष्ठित कराई, पूजा अर्चा की तथा धर्म की बहुविध प्रभावना के लिये विविध प्रकार के दान दिये। इतना ही नही, किन्तु उन्होंने अपने जीवन के अन्त मे वैराग्य धारण कर जैनविधि से समाधिमरण किया। दक्षिण प्रदेश भर में जो आजतक भी अनेक जैनमदिर व मूर्तिया अथवा उनके ध्वसावशेष बिखरे पडे हैं, उनसे भलेप्रकार सिद्ध होता है कि यह धर्म वहा कितना सुप्रचलित और लोकप्रिय रहा, एव राजगृहों से लगाकर जनसाधारण तक के गृहों मे प्रविष्ट हो उनके जीवन को नैतिक दानशील तथा लोकोपकारोन्मुख बनाता रहा।

गुजरात-काठियावाड मे जैनधर्म—

ई० सन् की प्रथम शताब्दी के लगभग काठियावाड मे भी एक जैन केन्द्र सुप्रतिष्ठित हुआ पाया जाता है। षट्खडागम सूत्रो की रचना का जो इतिहास उसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने दिया है, उसके अनुसार वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की श्रुतज्ञानी आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा के कुछ काल पश्चात् धरसेनाचार्य हुए, जो

गिरिनगर (गिरिनार, काठियावाड) की चन्द्रगुफा में रहते थे। वहीं उन्होंने पुष्पदंत और भूतवलि नामक आचार्यों को बुलवाकर उन्हें वह ज्ञान प्रदान किया, जिसके आधार पर उन्होंने पश्चात् द्रविड़ देश मे जाकर षट्खंडागम की सूत्र-रूप रचना की। जूनागढ़ के समीप अत्यन्त प्राचीन कुछ गुफाओं का पता चला है जो अब बाबा-प्यारा का मठ कहलाती हैं। उनके समीप की एक गुफा मे दो खंडित शिलालेख भी मिले है जो उनमे निर्दिष्ट क्षत्रपवंशी राजाओ के नामों के आधार से तथा अपनी लिपि पर से ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो के सिद्ध होते हैं। मैने अपने एक लेख मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्भवतः यही गुफा धरसेनाचार्य की निवासभूमि थी और सम्भवतः वही उनका समाधिमरण हुआ, जिसकी ही स्मृति मे वह लेख लिखा गया हो तो आश्चर्य नही। लेख जयदामन् के पौत्र रुद्रसिंह (प्र०) का प्रतीत होता है। खंडित होने से लेख का पूरा अर्थ तो नही लगाया जा सकता, तथापि उसमे जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द स्पष्ट पढ़े जाते हैं, उनसे उसका किसी महान् जैनाचार्य की तपस्या व समाधिमरण से सबंध स्पष्ट है। उस गुफा मे अंकित स्वस्तिक, भद्रासन,मीनयुगल आदि चिह्न भी उसके जैनत्व को सिद्ध करते हैं। ढक नामक स्थान पर की गुफाएं और उनमे की ऋषभ, पार्श्व, महावीर व अन्य तीर्थंकरो की प्रतिमाएं भी उसी काल की प्रतीत होती हैं। गिरनार मे धरसेनाचार्य का उपदेश ग्रहण कर पुष्पदत और भूतबलि आचार्यों के द्रविड़ देश को जाने और वहीं आगम की सूत्र-रूप रचना करने के वृत्तान्त से यह भी सिद्ध होता है कि उक्त काल मे काठियावाड़–गुजरात से लेकर सुदूर तामिल प्रदेश तक जैन मुनियो का निर्बाध गमनागमन हुआ करता था।

आगामी शताब्दियो मे गुजरात मे जैनधर्म का उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ता हुआ पाया जाता है। यहां वीर निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् वलभीनगर में क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता मे जैन मुनियो का एक विशाल सम्मेलन हुआ जिसमे जैन आगम के अंगोपांग आदि वे ४५-५० ग्रंथ संकलित किये गये जो श्वेताम्बर परम्परा मे सर्वोपरि प्रमाणभूत माने जाते हैं, और जो अर्द्धमागधी प्राकृत की अद्वितीय उपलभ्य रचनाएं है। सातवी शती के दो गुर्जरनरेशो, जयभट (प्र०) और दद्द (द्वि०) के दान पत्रो मे जो उनके वीतराग और प्रशान्तराग विशेषण पाये जाते हैं, वे उनके जैनधर्मावलम्बित्व को नही तो जैनानुराग को अवश्य प्रकट करते हैं। इस प्रदेश के चावडा (चापोत्कट) राजवंश के संस्थापक वनराज के जैनधर्म के साथ सम्बन्ध और उसके विशेष प्रोत्साहन के प्रमाण मिलते हैं। इस वंश के प्रतापी नरेन्द्र मूलराज ने अपनी राजधानी अनहिलवाड़ा मे मूलवसतिका नामक जैन मंदिर बनवाया, जो अब भी

विद्यमान है। श्रीचन्द्र कवि ने अपनी कथाकोष नामक अपभ्रंश रचना की प्रशस्ति में कहा है कि मूलराज का धर्मस्थानीय गोष्ठिक प्राग्वाटवंशी सज्जन नामक विद्वान् था, और उसी के पुत्र कृष्ण के कुटुंब के धर्मोपदेश निमित्त कुंदकुंदान्वयी मुनि सहस्रकीर्ति के शिष्य श्रीचन्द्र ने उक्त ग्रंथ लिखा। मुनि सहस्रकीर्ति के सबंध में यह भी कहा गया है कि उनके चरणों की वंदना गांगेय, भोजदेव आदि नरेश करते थे। अनुमानतः गांगेय से चेदि के कलचुरि नरेश का, तथा भोजदेव से उस नाम के परमारवंशी मालवा के राजा से अभिप्राय है। उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला (ई०सं० ७७८) के अनुसार गुप्तवंशी आचार्य हरिगुप्त यवन राज तोरमाण (हूणवंशीय) के गुरु थे और चन्द्रभागा नदी के समीप स्थित राजधानी पवैया (पंजाब) में ही रहते थे। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त की भी बड़ी पद-प्रतिष्ठा थी। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र पवैया से विहार करते हुए भिन्नमाल (श्रीमाल, गुजरात की प्राचीन राजधानी) में आये। उनके शिष्य यक्षदत्त व अनेक अन्य गुणवान शिष्यों ने गुर्जर देश में जैनधर्म का खूब प्रचार किया, और उसे बहुत से जैन मन्दिरो के निर्माण द्वारा अलंकृत कराया। उनके एक शिष्य वटेश्वर ने आकाश वप्र नगर मे विशाल मन्दिर बनवाया। वटेश्वर के शिष्य तत्वाचार्य कुवलयमालाकार क्षत्रिय वंशी उद्योतनसूरि के गुरु थे। उद्योतन सूरि ने वीरभद्र आचार्य से सिद्धान्त की तथा हरिभद्र आचार्य से न्याय की शिक्षा पाकर शक संवत् ७०० मे जावालिपुर (जालोर-राजपुताना) में वीरभद्र द्वारा बनवाये हुए ऋषभदेव के मन्दिर मे अपनी कुवलयमाला पूर्ण की। तोरमाण उस हूण आक्रमणकारी मिहिरकुल का उत्तराधिकारी था जिसकी क्रूरता इतिहास-प्रसिद्ध है। उस पर इतने शीघ्र जैन मुनियो का उक्त प्रभाव पड़ जाना जैनधर्म की तत्कालीन सजीवता और उदात्त धर्म-प्रचार-सरणि का एक अच्छा प्रमाण है।

चालुक्य नरेश भीम प्रथम मे जैनधर्म का विशेष प्रसार हुआ। उसके मंत्री प्राग्वाट वंशी विमलशाह ने आबू पर आदिनाथ का वह जैनमंदिर बनवाया जिसमे भारतीय स्थापत्यकला का अति उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ है, और जिसकी सूक्ष्म चित्रकारी, बनावट की चतुराई तथा सुन्दरता जगद्विख्यात मानी गई है। यह मंदिर ई० सन् १०३१ अर्थात् महमूद गजनी द्वारा सोमनाथ को ध्वस्त करने के सात वर्ष के भीतर बनकर तैयार हुआ था। खरतरगच्छ पट्टावली मे उल्लेख मिलता है कि विमल मंत्री ने तेरह सुलतानो के छत्रों का अपहरण किया था; चन्द्रावती नगरी की नीव डाली थी, तथा अर्बुदाचल पर ऋषभदेव का मंदिर निर्माण कराया था। स्पष्टतः विमलशाह ने ये कार्य अपने राजा भीम की अनुमति से ही किये होंगे और उनके द्वारा उसने सोमनाथ

तथा अन्य स्थानो पर किये गये विध्वंसो का प्रत्युत्तर दिया होगा। चालुक्यनरेश सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के काल मे जैनधर्म का और भी अधिक बल बढ़ा। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचद्र के उपदेश से कुमारपाल ने स्वय, खुलकर जैनधर्म धारण किया और गुजरात की जैन सस्थाओ को खूब समृद्ध बनाया, जिसके फलस्वरूप गुजरात प्रदेश सदा के लिए धर्मानुयायियो की सख्या एव सस्थाओ की समृद्धि की दृष्टि से जैनधर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र बन गया। यह महान् कार्य किसी धार्मिक कट्टरता के बल पर नही, किन्तु नाना-धर्मों के प्रति सद्भाव व सामंजस्य-बुद्धि द्वारा ही किया गया था। यही प्रणाली जैनधर्म का प्राण रही है, और हेमचन्द्राचार्य ने अपने उपदेशों एवं कार्यों द्वारा इसी पर अधिक बल दिया था। धर्म की अविच्छिन्न परम्परा एव उसके अनुयायियो की समृद्धि के फलस्वरूप ई० सन् १२३० मे सोम सिहदेव के राज्यकाल में पोरवाड वंशी सेठ तेजपाल ने आबूपर्वत पर उक्त आदिनाथ मदिर के समीप ही वह नेमिनाथ मदिर बनवाया जो अपनी शिल्पकला मे केवल उस प्रथम मदिर से ही तुलनीय है। १२ वी १३ वी शताब्दी मे आबू पर और भी अनेक जैनमदिरो का निर्माण हुआ था, जिससे उस स्थान का नाम देलवाडा (देवलवाडा) अर्थात् देवो का नगर पड गया। आबू के अतिरिक्त काठियावाड के शत्रुजय और गिरनार तीर्थक्षेत्रो की ओर भी अनेक नरेशों और सेठो का ध्यान गया और परिणामत वहां के शिखर भी अनेक सुन्दर और विशाल मदिरो से अलंकृत हो गये। खभात का चितामणि पार्श्वनाथ मंदिर ई० सन् ११०८ में बनवाया गया था और १२९५ मे उसका जीर्णोद्धार कराया गया था। वहाँ के लेखो से पता चलता है कि वह समय समय पर मालवा, सपादलक्ष तथा चित्रकूट के अनेक धर्मानुयायियो के विपुल दानो द्वारा समृद्ध बनाया गया था।

जैन सघ मे उत्तरकालीन पथभेद—

जैन संघ मे जो भेदोपभेद, सम्प्रदाय व गण गच्छादि रूप से, समय समय पर उत्पन्न हुए, उनका कुछ वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु उनसे जैन मान्यताओं व मुनि आचार मे कोई विशेष परिवर्तन हुए हों, ऐसा प्रतीत नही होता। केवल जो दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद विक्रम की दूसरी शती के लगभग उत्पन्न हुआ, उसका मुनि-आचार पर क्रमश गभीर प्रभाव पड़ा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में न केवल मुनियो द्वारा वस्त्र ग्रहण की मात्रा बढी, किन्तु धीरे-धीरे तीर्थंकरों की मूर्तियो में भी कोपीन का चिन्ह प्रदर्शित किया जाने लगा। तथा मूर्तियो का आंख, अंगी, मुकुट आदि द्वारा अलंकृत किया जाना भी प्रारम्भ हो गया। इस कारण दिगम्बर और

श्वेताम्बर मंदिर व मूर्तियां, जो पहले एक ही रहा करते थे, वे अब पृथक् पृथक होने लगे। ये प्रवृत्तियां सातवीं आठवीं शती से पूर्व नही पाई जाती। एक और प्रकार से मुनि-संघ में भेद दोनो सम्प्रदायो में उत्पन्न हुआ। जैन मुनि आदित: वर्षा ऋतु के चातुर्मास को छोड़ अन्य काल में एक स्थान पर परिमित दिनो से अधिक नही ठहरते थे, और वे सदा विहार किया करते थे। वे नगर में केवल आहार व धर्मोपदेश निमित्त ही आते थे, और शेषकाल वन, उपवन, में ही रहते थे। किन्तु धीरे-धीरे पांचवी छठवी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयो मे स्थायी रूप से निवास करने लगे। इससे श्वेताम्बर समाज मे वनवासी और चैत्यवासी मुनि सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी प्राय उसी काल से कुछ साधु चैत्यो मे रहने लगे। यह प्रवृत्ति आदित सिद्धान्त के पठन-पाठन व साहित्य-स्रजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह एक साधु-वर्ग की स्थायी जीवन-प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मदिरो मे भट्टारको की गद्दिया व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार के भट्टारको के आचार मे कुछ शैथिल्य तथा परिग्रह अनिवार्यत आ गया। किन्तु दूसरी ओर उससे एक बडा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियो और मठो मे विशाल शास्त्र भडार स्थापित हो गये और व विद्याभ्यास के सुदृढ केन्द्र बन गये। नौवी दसवी शताब्दी से आगे जो जैन साहित्य-स्रजन हुआ, वह प्राय इसी प्रकार के विद्या-केन्द्रो मे हुआ पाया जाता है। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दिया धीरे-धीरे प्राय सभी नगरो मे स्थापित हो गई, और मदिरो मे अच्छा शास्त्र-भडार भी रहने लगा। यही प्राचीन शास्त्रो की लिपियाँ प्रतिलिपियाँ होकर उनका नाना केन्द्रो मे आदान-प्रदान होने लगा। यह प्रणाली ग्रथो के यत्रो द्वारा मुद्रण के युग प्रारम्भ होने से पूर्व तक बराबर अविच्छिन्न बनी रही। जयपुर, जैसलमेर, ईडर, कारजा, मूडबिद्री, कोल्हापुर आदि स्थानो पर इन शास्त्र भडारो की परम्परा आज तक भी स्थिर है।

१५ वीं, १६ वी शती मे उक्त जैन सम्प्रदाया मे एक और महान् क्रान्ति उत्पन्न हुई। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे लौंकाशाह द्वारा मूर्तिपूजा विरोधी उपदेश प्रारभ हुआ, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई। यह सम्प्रदाय ढढिया नाम से भी पुकारा जाता है। इस सम्प्रदाय मे मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है। व मदिर नही, कि तु स्थानक मे रहते हैं, और वहा मूर्ति नही, किन्तु आगमो की प्रतिष्ठा करते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगमो मे से कोई बारह-चौदह आगमो को व इस कारण स्वीकार नही करते, क्योंकि उनमे मूर्तिपूजा का विधान पाया जाता है।

इसी सम्प्रदाय में से १८ वीं शती में आचार्य भिक्षु द्वारा 'तेरापंथ' की स्थापना हुई। वर्तमान के इस सम्प्रदाय के नायक तुलसी गणि है, जिन्होंने अणुव्रत आदोलन का प्रवर्तन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी १६ वी शती में तारण स्वामी द्वारा मूर्ति पूजा निषेधक पंथ की स्थापना हुई, जो तारणपंथ कहलाता है। इस पंथ के अनुयायी विशेषरूप से मध्यप्रदेश मे पाये जाते हैं। इन दिगम्बर–श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेदों का परिणाम जैन गृहस्थ समाज पर भी पड़ा, जिसके कारण जैनधर्म के अनुयायी आज इन्ही पंथो मे बटे हुए हैं। इस समय भारतवर्ष में जैनधर्मानुयायियो की संख्या पिछली भारतीय जनगणना के अनुसार लगभग २० लाख है।

व्याख्यान - २

जैन साहित्य

व्याख्यान—२

जैन साहित्य

साहित्य का द्रव्यात्मक और भावात्मक स्वरूप—

भारत का प्राचीन साहित्य प्रधानतया धार्मिक भावनाओं से प्रेरित और प्रभावित पाया जाता है। यहां का प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेदादि वेदों में है, जिनमे प्रकृति की शक्तियों, जैसे अग्नि, वायु, वरुण, (जल), मित्र (सूर्य), द्यावा-पृथ्वी (आकाश और भूमि) उषः (प्रातः) आदि को देवता मानकर उनकी वन्दना और प्रार्थना सूक्तो व ऋचाओं के रूप मे की गई है। वेदों के पश्चात् रचे जाने वाले ब्राह्मण ग्रन्थो मे उन्ही वैदिक देवताओं का वैदिक मंत्रों द्वारा आह्वान कर होम आदि सहित पूजा-अर्चा की विधियों का विवरण दिया गया है, और उन्ही के उदाहरण स्वरूप उनमे यज्ञ कराने वाले प्राचीन राजाओं आदि महापुरुषों तथा यज्ञ करने वाले विद्वान् ब्राह्मणो के अनेक आख्यान उपस्थित किये गये हैं। सूत्र ग्रंथो की एक शाखा श्रौत सूत्र है, जिसमे सूत्र रूप से यज्ञविधियों के नियम प्रतिपादित किये गये हैं, और दूसरी शाखा गृह्यसूत्र है, जिसमें गृहस्थों के घरों में गर्भाधान, जन्म, उपनयन, विवाह आदि अवसरों पर की जाने वाली धार्मिक विधियों व संस्कारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह समस्त वैदिक साहित्य पूर्णतः धार्मिक पाया जाता है।

इसी वैदिक साहित्य का एक अंग आरण्यक और उपनिषत् कहलाने वाले वे ग्रन्थ हैं, जिनमें हमें भारत के प्राचीनतम दर्शन–शास्त्रियों का तत्वचिंतन प्राप्त होता है। यों तो—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्।
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि :॥ (ऋ. १०, १२९, ६)

अर्थात् कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से उत्पन्न हुई ? ऐसे तत्वचिन्तनात्मक विचारों के दर्शन हमें वेदों में भी होते हैं।

तथापि न तो वहां इन विचारों की कोई अविच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती, और न उक्त प्रश्नो के समाधान का कोई व्यवस्थित प्रयत्न किया गया दिखाई देता। इस प्रकार का चिंतन आरण्यकों और उपनिषदो मे हमे बहुलता से प्राप्त होता है। इन रचनाओ का प्रारंभ ब्राह्मण काल में अर्थात् ई० पू० आठवी शताब्दी के लगभग हो गया था, और सहस्त्रो वर्ष पश्चात् तक निरन्तर प्रचलित रहा, जिसके फलस्वरूप सस्कृत साहित्य में सैकडो उपनिषत् ग्रन्थ पाये जाते हैं। ये ग्रन्थ केवल अपने विषय और भावना की दृष्टि से ही नही, किन्तु अपनी ऐतिहासिक व भौगोलिक परम्परा द्वारा शेष वैदिक साहित्य से अपनी विशेषता रखते हैं। जहां वेदों मे देवी-देवताओं का आह्वान, उनकी पूजा-अर्चा तथा सासारिक सुख और अभ्युदय संबधी वरदानों की माग की प्रधानता है, वहां उपनिषदों मे उन समस्त बातों की कठोर उपेक्षा, और तात्विक एवं आध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता पाई जाती है। इस चिन्तन का आदि भौगोलिक केन्द्र वेद-प्रसिद्ध पचनद प्रदेश व गंगा-यमुना से पवित्र मध्य देश न होकर वह पूर्व प्रदेश है जो वैदिक साहित्य मे धार्मिक दृष्टि से पवित्र नही माना गया। अध्यात्म के आदि-चिंतक, वैदिक ऋषि व ब्राह्मण पुरोहित नही, किन्तु जनक जैसे क्षत्रिय राजर्षि थे, और जनक की ही राजसभा मे यह आध्यात्मिक चिन्तन-धारा पुष्ट हुई पाई जाती है।

जैनधर्म मूलत. आध्यात्मिक है, और उसका आदितः सम्बन्ध कोशल, काशी, विदेह आदि पूर्वीय प्रदेशो के क्षत्रियवंशी राजाओ से पाया जाता है। इसी पूर्वी प्रदेश में जैनियो के अधिकाश तीर्थंकरो ने जन्म लिया, तपस्या की, ज्ञान प्राप्त किया और अपने उपदेशो द्वारा वह ज्ञानगगा बहाई जो आजतक जैनधर्म के रूप मे सुप्रवाहित है। ये सभी तीर्थंकर क्षत्रिय राजवशी थे। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जनक के ही एक पूर्वज नमि राजा जैनधर्म के २१ वें तीर्थंकर हुए हैं। अतएव कोई आश्चर्य की बात नही जो जनक-कुल मे उस आध्यात्मिक चिंतन की धारा पाई जाय जो जैनधर्म का मूलभूत अंग है। उपनिषत्‌कार पुकार पुकार कर कहते हैं कि :—

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
> दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (कठो. १,३,१२)
> \+ \+ \+ \+
> हन्त तेऽदम् प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
> यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतं ॥ (कठो २, २, ६-७)

अर्थात् प्राणिमात्र में एक अनादि अनन्त सजीव तत्व है जो भौतिक न होने के कारण दिखाई नही देता। वही आत्मा है। मरने के पश्चात् यह आत्मा अपने कर्म व ज्ञान की अवस्थानुसार वृक्षो से लेकर ससार की नाना जीव-योनियों मे भटकता फिरता है, जबतक कि अपने सर्वोत्कृष्ट चरित्र और ज्ञान द्वारा निर्वाण पद प्राप्त नही कर लेता। उपनिषत् मे जो यह उपदेश गौतम को नाम लेकर सुनाया गया है, वह हमे जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उन उपदेशों का स्मरण कराये विना नही रहता, जो उन्होंने अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को गौतम नाम से ही सबोधन करके सुनाये थे, और जिन्हें उन्ही गौतम ने बारह अंगो मे निबद्ध किया जो प्राचीनतम जैन साहित्य है और द्वादशांग आगम या जैन श्रुतांग के नाम से प्रचलित हुआ पाया जाता है।

महावीर से पूर्व का साहित्य—

प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर से पूर्व का भी कोई जैन साहित्य है ? इसका उत्तर हा और ना दोनो प्रकार से दिया जा सकता है। साहित्य के भीतर दो तत्वों का ग्रहण होता है, एक तो उसका शाब्दिक व रचनात्मक स्वरूप और दूसरा आर्थिक व विचारात्मक स्वरूप। इन्ही दोनों बातों को जैन परम्परा में द्रव्य-श्रुत और भाव–श्रुत कहा गया है। द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दात्मकता की दृष्टि से महावीर से पूर्वकालीन कोई जैन साहित्य उपलम्य नहीं है, किन्तु भावश्रुत की अपेक्षा जैन श्रुतांगो के भीतर कुछ ऐसी रचनाए मानी गई हैं जो महावीर से पूर्व क्रमशः–परम्परा में प्रचलित थी, और इसी कारण उन्हे 'पूर्व' कहा गया है। द्वादशांग आगम का बारहवा अग दृष्टिवाद था। इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ऐसे चौदह पूर्वों का उलेल्ख किया गया है, जिनमे महावीर से पूर्व की अनेक विचार–धाराओ, मत–मतान्तरों तथा ज्ञान–विज्ञान का सकलन उनके शिष्य गौतम द्वारा किया गया था। इन चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं, जिनसे उनके विषयों का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है–उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञान-प्रवाद, सत्य–प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद (श्वेताम्बर परम्परानुसार अबन्ध्य), प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोक–बिन्दुसार। प्रथम पूर्व उत्पाद में जीव, काल, पुद्गल आदि द्रव्यों के उत्पत्ति,

विनाश व ध्रुवता का विचार किया गया था। द्वितीय पूर्व **अग्रायणीय** में उक्त समस्त द्रव्यों तथा उनकी नाना अवस्थाओं की संख्या, परिमाण आदि का विचार किया गया था। तृतीय पूर्व **वीर्यानुवाद** मे उक्त द्रव्यो के क्षेत्रकालादि की अपेक्षा से वीर्य अर्थात् बल-सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया था। चतुर्थ पूर्व **अस्ति-नास्ति प्रवाद** मे लौकिक वस्तुओ के नाना अपेक्षाओ से अस्तित्व नास्तित्व का विवेक किया गया था। पाचवें पूर्व **ज्ञानप्रवाद** मे मति आदि ज्ञानो तथा उनके भेद प्रभेदों का प्रतिपादन किया गया था। छठे पूर्व **सत्यप्रवाद** मे वचन की अपेक्षा सत्यासत्य विवेक व वक्ताओं की मानसिक परिस्थितियो तथा असत्य के स्वरूपो का विवेचन किया गया था। सातवें पूर्व **आत्मप्रवाद** मे आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन सम्बन्धी विवेचन किया गया था। आठवे पूर्व **कर्मप्रवाद** मे नाना प्रकार के कर्मो की प्रकृतियो स्थितियो शक्तियो व परिमाणो आदिका प्ररूपण किया गया था। नौवे पूर्व **प्रत्याख्यान** मे परिग्रह-त्याग, उपवासादि विधि, मन वचन काय की विशुद्धि आदि आचार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये थे। दसवे पूर्व **विद्यानुवाद** में नाना विद्याओ और उपविद्याओ का प्ररूपण किया गया था, जिनके भीतर अगुष्ट प्रसेनादि सातसौ अल्पविद्याओ, रोहिणी आदि पाचसौ महाविद्याओ एव अन्तरिक्ष भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन और छिन्न, इन आठ महानिमित्तो द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था। ग्यारहवे पूर्व **कल्याणवाद** मे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागणो की नाना गतियो को देखकर शकुन के विचार तथा बलदेवो, वासुदेवो, चक्रवर्तियो आदि महापुरुषो के गर्भावतरण आदि के अवसरो पर होने वाले लक्षणो और कल्याणो का कथन किया गया था। इस पूर्व के अबन्ध्य नामकी सार्थकता यही प्रतीत होती है कि शकुनो और शुभाशुभ लक्षणो के निमित्त से भविष्य मे होने वाली घटनाओ का कथन अबध्य अर्थात् अवश्यम्भावी माना गया था। बारहवे पूर्व **प्राणावाय** मे आयुर्वेद अर्थात् कायचिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन एव प्राण अपान आदि वायुओ का शरीर धारण की अपेक्षा से कार्य का विवेचन किया गया गया था। तेरहवें पूर्व **क्रियाविशाल** मे लेखन, गणना आदि बहत्तर कलाओ, स्त्रियो के चौंसठ गुणो और शिल्पो, ग्रन्थरचना सम्बन्धी गुण-दोषो व छन्दो आदि का प्ररूपण किया गया था। चौदहवे पूर्व **लोकबिन्दुसार** मे जीवन की श्रेष्ठ क्रियाओ व व्यवहारों एव उनके निमित्त से मोक्ष के सम्पादन विषयक विचार किया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन पूर्व नामक रचनाओ के अतर्गत तत्कालीन न केवल धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विचारो का संकलन किया गया था, किन्तु उनके

भीतर नाना कलाओं व ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों, तथा फलित ज्योतिष, शकुन-शास्त्र, व मन्त्र-तन्त्र आदि विषयों का भी समावेश कर दिया गया था। इस प्रकार ये रचनाएं प्राचीन काल का भारतीय ज्ञानकोष कही जाय तो अनुचित न होगा।

किन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व-साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। यद्यपि पश्चात्कालीन साहित्य में इनका स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है, और उनके विषय का पूर्वोक्त प्रकार प्ररूपण भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है, तथापि ये ग्रन्थ महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् क्रमशः विच्छिन्न हुए कहे जाते हैं। उक्त समस्त पूर्वों के अन्तिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। तत्पश्चात् १८१ वर्षों में हुए विशाखाचार्य से लेकर धर्मसेन तक अन्तिम चार पूर्वों को छोड़, शेष दश पूर्वों का ज्ञान रहा, और उसके पश्चात् पूर्वों का कोई ज्ञाता आचार्य नहीं रहा। षट्खंडागम के वेदना नामक चतुर्थखण्ड के आदि में जो नमस्कारात्मक सूत्र पाये जाते हैं, उनमें दशपूर्वों के और चौदहपूर्वों के ज्ञाता मुनियों को अलग-अलग नमस्कार किया गया है (**णमो दसपुव्वियाणं, णमो चउद्दसपुव्वियाणं**)। इन सूत्रों की टीका करते हुए वीरसेनाचार्य ने बतलाया है कि प्रथम दशपूर्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ मुनियों को नाना महाविद्याओं की प्राप्ति से सांसारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे आगे वीतरागता की ओर नहीं बढ़ पाते। जो मुनि इस लोभ-मोह को जीत लेता है, वही पूर्ण श्रुतज्ञानी बन पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वों में कलाओं, विद्याओं, मन्त्र-तन्त्रों व इन्द्रजालों का प्ररूपण था, वे सर्वप्रथम ही मुनियों के संयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गये। शेष पूर्वों के विच्छिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन मुनियों के लिये उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशांग के अन्य भागों में समाविष्ट कर लिया गया था, इसीलिये इन रचनाओं के पठन-पाठन में समय-शक्ति को लगाना उचित नहीं समझा गया। इसी बातकी पुष्टि दिग० साहित्य की इस परम्परा से होती है कि वीर निर्वाण से लगभग सात शताब्दियों पश्चात् हुए गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्व के कुछ अधिकारों का विशेष ज्ञान था। उन्होंने वही ज्ञान पुष्पदंत और भूतबलि आचार्यों को प्रदान किया और उन्होंने उसी ज्ञान के आधार से सत्कर्मप्राभृत अर्थात् षट्खंडागम की सूत्र रूप रचना की।

अंग-प्रविष्ट व अंग-बाह्य साहित्य—

दिग० परम्परानुसार महावीर द्वारा उपदिष्ट साहित्य की ग्रन्थ-रचना उनके शिष्यों द्वारा दो भागों में की गई - एक अंग-प्रविष्ट और दूसरा अंग-बाह्य। अंग-प्रविष्ट के आचारांग आदि ठीक वे ही द्वादश ग्रन्थ थे, जिनका क्रमशः लोप माना गया है, किन्तु जिनमें से ग्यारह अंगो का श्वेताम्बर परम्परानुसार वीर-निर्वाण के पश्चात् १०वी शती मे किया गया संकलन अब भी उपलभ्य है। इनका विशेष परिचय आगे कराया जायगा। अंग-बाह्य के चौदह भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महा-पुंडरीक और निषिद्धिका। यह अंग-बाह्य साहित्य भी यद्यपि दिग० परम्परानुसार अपने मूलरूप मे अप्राप्य हो गया है, तथापि श्वे० परम्परा में उनका सद्‌भाव अब भी पाया जाता है। सामायिक आदि प्रथम छह का समावेश आवश्यक सूत्रों में हो गया है, तथा कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्रों में अन्त के कल्प, व्यवहारादि छह का अन्तर्भाव हो जाता है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन नाम की रचनाएँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनका श्वे० आगम साहित्य में बड़ा महत्त्व है। यही नहीं, इन ग्रन्थो की रचना के कारण का जो उल्लेख दिग० शास्त्रो मे पाया जाता है, ठीक वही उपलभ्य दशवैकालिक की रचना के संबंध में कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका (१,२०) में लिखा है कि "आरातीय आचार्यों ने कालदोष से संक्षिप्त आयु, मति और बलशाली शिष्यों के अनुग्रहार्थ दशवैकालिकादि ग्रन्थों की रचना की; इन रचनाओं मे उतनी ही प्रमाणता है, जितनी गणधरो व श्रुतकेवलियों द्वारा रचित सूत्रो मे; क्योंकि वे अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जिस प्रकार कि क्षीरोदधि से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरोदधि से भिन्न नही है।" दशवैकालिक निर्युक्ति व हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में बतलाया गया है कि स्वयंभव आचार्य ने अपने पुत्र मनक को अल्पायु जान उसके अनुग्रहार्थ आगम के साररूप दशवैकालिक सूत्र की रचना की। इस प्रकार इन रचनाओं के सम्बन्ध मे दोनो सम्प्रदायों में मतैक्य पाया जाता है। श्वे० परम्परानुसार महावीर निर्वाण से १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र मे स्थूलभद्र आचार्य ने जैन श्रमण संघ का सम्मेलन कराया, और वहा ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का उपस्थित मुनियों में से किसी को भी ज्ञान नहीं रहा था; अतएव

उसका संकलन नहीं किया जा सका। इसके पश्चात् की शताब्दियों में यह श्रुत-संकलन पुनः छिन्न-भिन्न हो गया। तब वीरनिर्वाण के लगभग ८४० वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल ने मथुरा में एक संघ-सम्मेलन कराया, जिसमें पुनः आगम साहित्य को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय के लगभग वलभी में नागार्जुन सूरि ने भी एक मुनि सम्मेलन द्वारा आगम रक्षा का प्रयत्न किया। किन्तु इन तीन पाटलिपुत्री, माथुरी और प्रथम वल्लभी वाचनाओं के पाठ उपलब्ध नहीं। केवल साहित्य में यत्र-तत्र उनके उल्लेख मात्र पाये जाते हैं। अन्त में महावीर निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष पश्चात् वलभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा जो मुनि-सम्मेलन किया गया उसमें कोई ४५–४६ ग्रन्थों का संकलन हुआ, और ये ग्रन्थ आजतक सुप्रचलित हैं। यह उपलभ्य आगम साहित्य निम्नप्रकार है :—

अर्धमागधी जैनागम

(श्रुतांग—११)

१— आचारांग (आयारंग)—इस ग्रन्थ में अपने नामानुसार मुनि-आचार का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रत्येक श्रुतस्कंध अध्ययनों में और प्रत्येक अध्ययन उद्देशकों या चूलिकाओं में विभाजित है। इस प्रकार श्रुत प्रथम स्कंध मे ९ अध्ययन व ४४ उद्देशक हैं; एवं द्वितीय श्रुतस्कंध में तीन चूलिकाएं हैं, जो १६ अध्ययनों में विभाजित हैं। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम की चूलिका रूप है। भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से स्पष्टतः प्रथम श्रुतस्कंध अधिक प्राचीन है। इसकी अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच बीच में कहीं कहीं आ जाते हैं। अर्द्धमागधी–प्राकृत भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा तो निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु उसका पाठ उपलभ्य नहीं है। उपधान नामक नवमे अध्ययन में महावीर की तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन पाया जाता है। यहीं उनके लाढ, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि मे विहार और नाना प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करने का उल्लेख आया है। द्वितीय श्रुतस्कंध में श्रमण के लिए भिक्षा मांगने, आहार-पान-शुद्धि, शय्या-संस्तरण-ग्रहण, विहार, चातुर्मास, भाषा, वस्त्र, पात्रादि उपकरण, मल-मूत्र-त्याग एवं व्रतों व तत्सम्बन्धी भावनाओं के स्वरूपों व नियमोपनियमों का वर्णन हुआ है।

२— **सूत्रकृतांग (सूयगडं)**—यह भी दो श्रुतस्कंधो मे विभक्त है, जिनके पुनः क्रमशः १६ और ७ अध्ययन हैं। पहला श्रुतस्कंध प्राय पद्यमय है। केवल एक अध्ययन मे गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध मे गद्य और पद्य दोनों पाये जाते है। इसमें गाथा छंद के अतिरिक्त अन्य छंदो का भी उपयोग हुआ है, जैसे इन्द्रवज्रा, वैतालिक, अनुष्टुप् आदि। ग्रन्थ मे जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों व वादो का प्ररूपण किया गया है जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, आदि। मुनियो को भिक्षाचार मे सतर्कता, परीषहों की सहनशीलता, नरको के दुःख, उत्तम साधुओ के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षुक व निर्ग्रन्थ आदि शब्दो की व्युत्पत्ति भले प्रकार उदाहरणों व रूपकों द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कंध मे जीव-शरीर के एकत्व, ईश्वर-कर्तृत्व व नियतिवाद आदि मतो का खंडन किया गया है। आहार व भिक्षा के दोषों का निरूपण हुआ है। प्रसंगवश भौमोत्पातादि महा-निमित्तो का भी उल्लेख आया है। प्रत्याख्यान क्रिया बतलाई गई है। पाप-पुण्य का विवेक किया गया है, एवं गोशालक, शाक्यभिक्षु आदि तपस्वियो के साथ हुआ वाद-विवाद अंकित है। अन्तिम अध्ययन नालन्दीय नामक है, क्योंकि इसमे नालन्दा मे हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेठालपुत्र का वार्तालाप और अन्त मे पेठालपुत्र द्वारा चातुर्याम को त्यागकर पंच-महाव्रत स्वीकार करने का वृत्तान्त आया है। प्राचीन मतों, वादों व दृष्टियो के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह विशेष प्राचीन सिद्ध होता है।

३—**स्थानांग (ठाणांग)**—यह श्रुतांग दस अध्ययनो मे विभाजित है, और उसमे सूत्रों की संख्या एक हजार से ऊपर है। इसकी रचना पूर्वोक्त दो श्रुतांगो से भिन्न प्रकार की है। यहा प्रत्येक अध्ययन मे जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु-संख्या गिनाई गई है; जैसे प्रथम अध्ययन मे कहा गयाहै-एक दर्शन, एक चरित्र, एक समय, एक प्रदेश, एक परमाणु, एक सिद्ध आदि। उसी प्रकार दूसरे अध्ययन मे बतलाया गया है कि क्रियाएं दो हैं, जीव-क्रिया और अजीव-क्रिया। जीव-क्रिया पुनः दो प्रकार की है, सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। उसी प्रकार अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है, इर्यापथिक और साम्परायिक, इत्यादि। इसी प्रकार दसवें अध्ययनमे इसी क्रम से वस्तुभेद दस तक गयेहैं। इस दृष्टिसे यह श्रुतांग पालि बौद्धग्रन्थ अंगुत्तर निकाय से तुलनीय है। यहाँ नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी अपनी दृष्टि से बड़े महत्व-पूर्ण हैं। यथास्थान ऋग्, यजुः, और साम, ये तीन वेद बतलाये गये है, धर्म, अर्थ •

और काम ये तीन प्रकार की कथाएं बतलाई गईहैं । वृक्ष भी तीन प्रकार के हैं,पत्रोपेत,पुष्पोपेत और फलोपेत । पुरुष भी नाना दृष्टियोसे तीन-तीन प्रकार के हैं-जैसे नाम पुरुष,द्रव्यपुरुष और भावपुरुष;अथवा ज्ञानपुरुष,दर्शनपुरुष और चरित्रपुरुष;अथवा उत्तम पुरुष, मध्यमपुरुष, और जघन्यपुरुष । उत्तमपुरुष भी तीन प्रकार के हैं-धर्मपुरुष भोगपुरुष और कर्मपुरुष । अर्हन्त धर्मपुरुष हैं, चक्रवर्ती भोगपुरुष हैं, और वासुदेव कर्मपुरुष । धर्म भी तीन प्रकार का कहा गया है-श्रुतधर्म, चरित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म । चार प्रकार की अन्त-क्रियाएं बतलाई गई हैं, और उनके दृष्टान्त-स्वरूप भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमार, सनत्कुमार व मरुदेवी के नाम बतलाये गये हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थकरो को छोड़ बीच के २२ तीर्थंकर चातुर्याम धर्मके प्रज्ञापक कहे गये हैं। आजीविकों का चार प्रकार का तप कहा गयाहै-उग्रतप, घोरतप,रसनिर्यूयणता और जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनता । शूरवीर चार प्रकार के बतलाये गये हैं-क्षमासूर, तपसूर, दानशूर और युद्धशूर । आचार्य वृक्षो के समान चार प्रकार के बतलाये गये हैं, और उनके लक्षण भी चार गाथाओ द्वारा प्रगट किये गये हैं । कोई आचार्य और उसका शिष्य-परिवार दोनों शालवृक्षके समान महान् और सुन्दर होतेहैं कोई आचार्य तो शाल वृक्षके समान होते हैं, किन्तु उनका शिष्य-समुदाय एरंड के समान होता हैं । किसी आचार्य का शिष्य-समुदाय तो शालवृक्ष के समान महान् होता है, किन्तु स्वयं आचार्य एरंड के समान खोखला, और कही आचार्य और उनका शिष्य-समुदाय दोनों एरंड के समान खोखले होते हैं । सप्तस्वरो के प्रसंग से प्रायः गीतिशास्त्र का पूर्ण निरूपण आ गया है । यहां भणिति-बोली दो प्रकार की कही गई है-संस्कृत और प्राकृत । महावीर के तीर्थ मे हुए बहुरत आदि सात निन्हवो और जामालि आदि उनके संस्थापक आचायो एवं उनके उत्पत्ति-स्थान श्रावस्ती आदि नगरियों का उल्लेख भी आया है । महावीर के तीर्थ में जिन नौ पुरुषों ने तीर्थंकर गोत्र का बंध किया उनके नाम इस प्रकार है-श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी, प्रोष्ठिल, दृढ़ायु, शंख, सजग या शतक (सयय), सुलसा और रेवती । इस प्रकार इस श्रुतांग में नाना प्रकार का विषय-वर्णन प्राप्त होता है जो अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है ।

४ **समवायांग**—इस श्रुतांग में २७५ सूत्र हैं । अन्य कोई स्कंध, अध्ययन या उद्देशक आदि रूपसे विभाजन नहीं है । स्थानांग के अनुसार यहा भी संख्या के क्रम से वस्तुओं का निर्देश और कहीं कही उनके स्वरूप व भेदोपभेदोंका वर्णन किया गया है । आत्मा एक है; लोक एक है; धर्म अधर्म एक-एक हैं; इत्यादि क्रम के २,३,४, वस्तुओं को गिनाते हुए १७८ वें सूत्रमे १०० तक संख्या पहुंची है, जहां बतलाया गया है कि

शतभिषा नक्षत्र में १०० तारे हैं, पार्श्व अरहंत तथा सुधर्माचार्य की पूर्णायु सौ वर्ष की थी, इत्यादि। इसके पश्चात् २००, ३०० आदि क्रम से वस्तु-निर्देश आगे बढ़ा है। और यहां कहा गया है कि श्रमण भगवान् महावीर के तीन सौ शिष्य १४ पूर्वों के ज्ञाता थे, और ४०० वादी थे। इसी प्रकार शतक्रम से १६१ वें सूत्र पर संख्या दस सहस्त्र पर पहुंच गई है। तत्पश्चात् संख्या शतसहस्त्र (लाख) के क्रमसे बढ़ी है, जैसे अरहन्त पार्श्व के तीन शत-सहस्त्र और सत्ताईस सहस्त्र उत्कृष्ट श्राविका संघ था। इस प्रकार २०८ वें सूत्रतक दशशत-सहस्त्र पर पहुंचकर आगे कोटि क्रमसे कथन करते हुए २१० वें सूत्रमे भगवान् ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान तक का अन्तर काल एक सागरोपम कोटाकोटि निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् २११ वें से २२७ वें सूत्र तक आयाराग आदि बारहों अंगों के विभाजन और विषयका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यहां इन रचनाओ को द्वादशाग गणिपिटक कहा गया है। इसके पश्चात् जीवराशि का विवरण करते हुए स्वर्ग और नरक भूमियो का वर्णन पाया जाता है। २४६ वे सूत्र से अन्त के २७५ वें सूत्रतक कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, तथा बलदेव और वासुदेवों एव उनके प्रतिशत्रुओ (प्रतिवासुदेवो) का उनके पिता, माता, जन्मनगरी, दीक्षास्थान आदि नामावली-क्रम से विवरण किया गया है। इस भाग को हम संक्षिप्त जैन पुराण कह सकते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सूत्र क्र० १३२ मे उत्तम (शलाका) पुरुषों की संख्या ५४ निर्दिष्ट की गई है, ६३ नही, अर्थात् नौ प्रतिवासुदेवों को शलाका पुरुषो मे सम्मिलित नही किया गया। ४६ संख्या के प्रसग में दृष्टिवाद अंग के मातृकापदो तथा ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरो का उल्लेख हुआ है। सूत्र १२४से१३०वें सूत्र तक मोहनीय कर्म के ५२ पर्यायवाची नाम गिनाये गये हैं, जैसे क्रोध, कोप, रोष, द्वेष, अक्षम, संज्वलन कलह, आदि। अनेक स्थानों मे (सू० १४१,१६२) ऋषभ अरहत को कोसलीय विशेषण लगाया गया है, जो उनके कोशल देशवासी होने का सूचक है। इससे महावीर के साथ जो अन्यत्र 'वेसालीय' विशेषण लगा पाया जाता है, उससे उनके वैशाली के नागरिक होने की पुष्टि होती है। १५० वे सूत्र में लेख, गणित, रूप, नाट्य, गीत, वादित्र आदि बहत्तर कलाओं के नाम निर्दिष्ट हुए हैं। इस प्रकार जैन सिद्धान्त व इतिहास की परम्परा के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य रूप है, किन्तु बीच बीच में नामावलियां व अन्य विवरण गाथाओं द्वारा भी प्रस्तुत हुए हैं।

५ भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति (वियाह-पण्णत्ति)—इसे संक्षेप में केवल भगवती नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इसमें ४१ शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशकों में विभाजित है। आदि के आठ शतक, तथा १२-१४, तथा १८-२० ये १४ शतक १०, १० उद्देशकों में विभाजित हैं। शेष शतकों में उद्देशकों की संख्या हीनाधिक पाई जाती है। पन्द्रहवें शतक में उद्देशक-भेद नहीं है। यहाँ मंखलिगोशाल का चरित्र एक स्वतंत्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। कहीं कहीं उद्देशक संख्या विशेष प्रकार के विभागानुसार गुणित क्रम से बतलाई गई है; जैसे ४१ वें शतक में २८ प्रकार की प्ररूपणा के गुणा मात्र से उद्देशकों की संख्या १९६ हो गई है। ३३ वें शतक मे १२ अवान्तर शतक हैं, जिनमें प्रथम आठ, ग्यारह के गुणित क्रम से ८८ उद्देशको में, एवं अन्तिम चार, नौ उद्देशकों के गुणित क्रम से ३६ होकर सम्पूर्ण उद्देशको की संख्या १२४ हो गई है। इस समस्त रचना का सूत्र-क्रम से भी विभाजन पाया जाता है, जिसके अनुसार कुल सूत्रों की संख्या ८६७ है। इस प्रकार यह ग्रन्थ श्रुतांगों की अपेक्षा बहुत विशाल है। इसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर रूप में है। गौतम गणधर जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करते हैं, और स्वयं तीर्थंकर महावीर उत्तर देते हैं। टीकाकार अभयदेव ने इन प्रश्नोत्तरों की संख्या ३६००० बतलाई है। प्रश्नोत्तर कहीं बहुत छोटे छोटे हैं। जैसे भगवन् ज्ञान का फल क्या है ?—विज्ञान। विज्ञान का क्या फल है ? प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का क्या फल है ? संयम; इत्यादि। और कहीं ऐसे बड़े कि प्रायः एक ही प्रश्न के उत्तर में मंखलिगोशाल के चरित्र सम्बन्धी पन्द्रहवां शतक ही पूरा हो गया है। इन प्रश्नोत्तरों में जैन सिद्धान्त व इतिहास तथा अन्य सामयिक घटनाओं व व्यक्तियों का इतना विशाल संकलन हो गया है कि इस रचना को प्राचीन जैन-कोष ही कहा जाय तो अनुचित नहीं। स्थान स्थान पर विवरण अन्य ग्रन्थों, जैसे पण्णवणा, जीवाभिगम, उववाइय, रायपसेणिज्ज, णंदी आदि का उल्लेख करके संक्षिप्त कर दिया गया है, और इस प्रकार उद्देशक के उद्देशक भी समाप्त कर दिये गये हैं। ये उल्लिखित रचनायें निश्चय ही ग्यारह श्रुतांगों से पश्चात्-कालीन हैं। नंदीसूत्र तो वल्लभी वाचना के नायक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही रचना मानी जाती है। उसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख होने से, तथा यहाँ के विषय-विवरण को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की सूचना से यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुतांग को अपना वर्तमान रूप, नंदीसूत्र की रचना के पश्चात् अर्थात् वीर० निर्वाण से लगभग १००० वर्ष पश्चात् प्राप्त हुआ है। यही बात प्रायः अन्य श्रुतांगों के सम्बन्ध में भी घटित

होती है। तथापि इसमें सन्देह नही कि विषय-वर्णन प्राचीन है, और आचार्य-परम्परागत है। इसमे हमे महावीर के जीवन के अतिरिक्त उनके अनेक शिष्यों गृहस्थ-अनुयायियो तथा अन्य तीर्थकों का परिचय मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडा महत्वपूर्ण है। आजीवक सम्प्रदाय के सस्थापक मक्खलि गोशाल के जीवन का जितना विस्तृत परिचय यहा मिलता है, उतना अन्यत्र कही नही। स्थान-स्थान पर पार्श्वापत्यो अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयाइयों, तथा उनके द्वारा मान्य चातुर्याम धर्म के उल्लेख मिलते है, जिनमे स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के समय में यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतंत्र रूप से प्रचलित था। उसका महावीर द्वारा प्रतिपादित पचमहाव्रत रूप धर्म से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध था, एवं उसका क्रमशः महावीर के सम्प्रदाय मे समावेश होना प्रारम्भ हो गया था। ऐतिहासिक व राजनैतिक दृष्टि से सातवें शतक मे उल्लिखित, वैशाली मे हुए महाशिलाकण्टक सग्राम तथा रथ-मुसल संग्राम, इन दो महायुद्धों का वर्णन अपूर्व है। कहा गया है कि इन युद्धो में एक ओर वज्जी एवं विदेहपुत्र थे, और दूसरी ओर नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी,काशी, कौशल एवं अठारह गणराजा थे। इन युद्धो में वज्जी, विदेहपुत्र कुणिक (अजातशत्रु) की विजय हुई। प्रथम युद्ध मे ८४ और दूसरे युद्ध मे ९६ लाख लोग मारे गये। २१, २२ और २३ वे शतक बनस्पति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बडे महत्वपूर्ण है। यहाँ नानाप्रकार से बनस्पति का वर्गीकरण किया गया है, एव उनके कद, मूल, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के सजीवत्व, निर्जीवत्व की दृष्टि से विचार किया गया है।

६ **ज्ञातृधर्म कथा (नायाधम्मकहाओ)**— यह आगम दो श्रुतस्कधो मे विभाजित हैं। प्रथम श्रुतस्कध मे १९ अध्याय हैं। इसके नामकी सार्थकता दो प्रकार से समझाई जाती है। एक तो सस्कृत रूपान्तर ज्ञातृधर्मकथा के अनुसार, जिससे प्रगट होता है कि श्रुताग मे ज्ञात् अर्थात् ज्ञातृपुत्र महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्म-कथाओ का प्ररूपण है। दूसरा सस्कृत रूपान्तर न्यायधर्मकथा भी सम्भव है, जिसके अनुसार इसमे न्यायो अर्थात् ज्ञान व नीति सबंधी सामान्य नियमो और उनके दृष्टान्तो द्वारा समझाने वाली कथाओ का समावेश है। रचना के स्वरूप को देखते हुए यह द्वितीय सस्कृत रूपान्तर ही उचित प्रतीत होता है, यद्यपि प्रचलित नाम ज्ञातृधर्मकथा पाया जाता है। प्रथम अध्ययन में राजगृह के नरेश श्रेणिक के धारिणी देवी से उत्पन्न राजपुत्र मेघकुमार का कथानक है। जब राजकुमार वैभवानुसार बालकपन को व्यतीत कर, व समस्त विद्याओ और कलाओ को सीखकर युवावस्था

को प्राप्त हुआ, तब उसका अनेक राजकन्याओं से विवाह हो गया। एकबार महावीर के उपदेश को सुनकर मेघकुमार को मुनिदीक्षा धारण करने की इच्छा हुई। माता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु राजकुमार नहीं माना और उसने प्रव्रज्या ग्रहण करली। मुनि-धर्म पालन करते हुए एकबार उसके हृदय में कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ, और उसे प्रतीत हुआ जैसे मानों उसने राज्य छोड़, मुनि दीक्षा लेकर भूल की है। किन्तु जब महावीर ने उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाकर समझाया, तब उसका चित्त पुनः मुनिधर्म में दृढ़ हो गया। इसी प्रकार अन्य अन्य अध्ययनों में भिन्न भिन्न कथानक तथा उनके द्वारा तप, त्याग व संयम संबंधी किसी नीति व न्याय की स्थापना की गई है। आठवें अध्ययन में विदेह राजकन्या मल्लि एवं सोलहवें अध्ययन के द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है। व्रतकथाओं में सुप्रचलित सुगंध-दशमी कथा का मूलाधार द्रौपदी के पूर्वभव में नागश्री व सुकुमालिया का चरित्र सिद्ध होता है। द्वितीय श्रुतस्कंध दश वर्गों में विभाजित है, और प्रत्येक वर्ग पुनः अनेक अध्ययनों में विभक्त है। इन वर्गों में प्राय: स्वर्गों के इन्द्रों जैसे चमरेन्द्र, असुरेन्द्र, वाणव्यंतरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शक्र व ईशान की अग्रमहिषी रूपसे उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रियों की कथाएं हैं। तीसरे वर्ग में देवकी के पुत्र गजसुकुमाल का कथानक विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि यह कथानक पीछे के जैन साहित्य में पल्लवित होकर अवतरित हुआ है। यही कथानक हमें पालि महावग्ग में यस पब्बज्जा के रूप में प्राप्त होता है।

७. **उपासकाध्ययन (उवासगदसाओ)**—इस श्रुतांग में, जैसा नाम में ही सूचित किया गया है, दश अध्ययन है, और उनमें क्रमश: आनंद, कामदेव, चुलनी-प्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुडकोलिय, सद्दालपुत्र, महाशतक, नंदिनीप्रिय और सालिहीप्रिय इन दस उपासकों के कथानक हैं। इन कथानकों के द्वारा जैन गृहस्थों के धार्मिक नियम समझाये गये हैं, और यह भी बतलाया गया है कि उपासकों को अपने धर्म के परिपालन में कैसे कैसे विघ्नों और प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है। प्रथम आनन्द अध्ययन में पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों – इन बारह व्रतों तथा उनके अतिचारों का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। इनका विधिवत् पालन वाणिज्य ग्राम के जैन गृहस्थ आनंद ने किया था। आनंद बड़ा धनी गृहस्थ था, जिसकी धन-धान्य संपत्ति करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं की थी। आनंद ने स्वयं भगवान् महावीर से गृहस्थ-व्रत लेकर अपने समस्त परिग्रह और भोगोपभोग के परिमाण को सीमित किया था। उसने क्रमश: अपनी धर्मसाधना को बढ़ाकर बीस

वर्ष में इतना अवधिज्ञान प्राप्त किया था कि उसके विषय में गौतम गणधर को कुछ शंका हुई, जिसका निराकरण स्वयं भगवान् महावीर ने किया। इस कथानक के अनुसार वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग संनिवेश पास-पास थे। कोल्लाग सन्निवेश में ज्ञातृकुल की प्रौषधशाला थी, जहां का कोलाहल वाणिज्य ग्राम तक सुनाई पड़ता था। वैशाली के समीप जो बनिया और कोल्हुआ नामक वर्तमान ग्राम हैं, वे ही प्राचीन वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश सिद्ध होते हैं। अगले चार अध्ययनो में धर्म के परिपालन मे बाहर से कैसी-कैसी विघ्नबाधाएं आती हैं, इनके उदाहरण उपस्थित किये गये है। द्वितीय अध्ययन मे एक मिथ्यादृष्टि देव ने पिशाच आदि नाना रूप धारण कर, कामदेव उपासक को अपनी साधना छोड देने के लिये कितना डराया धमकाया, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है। ऐसा ही चित्रण तीसरे, चौथे और पाचवे अध्ययनो मे भी पाया जाता है। छठवें अध्ययन में उपासक के सम्मुख गोसाल मंखलिपुत्र के सिद्धान्तो का एक देव के व्याख्यान द्वारा उसकी धार्मिक श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु वह अपने श्रद्धान में दृढ़ रहता है तथा अपने प्रत्युत्तरो द्वारा प्रतिपक्षी को परास्त कर देता है। इस समाचार को जानकर महावीर ने उसकी प्रशसा की। उक्त प्रसग मे गोसाल मखलिपुत्र के नियतिवादका प्ररूपण किया गया है। सातवें अध्ययन में भगवान् महावीर आजीवक सम्प्रदाय के उपासक सद्दालपुत्र को सम्बोधन कर अपना अनुगामी बना लेते हैं। (यहा महावीर को उनकी विविध महाप्रवृत्तियो के कारण महाब्राह्मण, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथिक, व महानिर्यापक उपाधियां दी गई हैं)। तत्पश्चात् उसके सम्मुख पूर्वोक्त प्रकार का दैवी उपसर्ग उत्पन्न होता है, किन्तु वह अपने श्रद्धान में अडिग बना रहता है, और अन्त तक धर्म पालन कर स्वर्गगामी होता है। आठवें अध्ययन में उपासक को उसकी अधार्मिक व मासलोलुपी पत्नी द्वारा धर्म-बाधा पहुंचाई जाती है। अन्त के कथानक बहुत संक्षेप मे शातिपूर्वक धर्मपालन के उदाहरण रूप कहे गये हैं। ग्रन्थ के अन्त की बारह् गाथाओ मे उक्त दसों कथानको के नगर आदि के उल्लेखों द्वारा सार प्रगट कर दिया गया है। इस प्रकार यह श्रुतांग आचारांग का परिपूरक है, क्योकि आचाराग मे मुनिधर्म का और इसमें गृहस्थ धर्म का निरूपण किया गया है। आनंद आदि महासम्पत्तिवान् गृहस्थों का जीवन कैसा था, इसका परिचय इस ग्रन्थ से भलीभांति प्राप्त होता है।

८ : अन्तकृद्दशा--(अंतगडदसाओ)---इस श्रुतांग मे आठ वर्ग हैं, जो क्रमशः १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३, और १० अध्ययनों में विभाजित है। इनमें ऐसे

महापुरुषों के कथानक उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने घोर तपस्या कर अन्त में निर्वाण प्राप्त किया, और इसी के कारण वे अन्तकृत् कहलाये। यहाँ कोई कथानक अपने रूप में पूर्णता से वर्णित नहीं पाया जाता। अधिकांश वर्णन अन्यत्र के वर्णनानुसार पूरा कर लेने की सूचना मात्र करदी गई है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्ययन में गौतम का कथानक द्वारावती नगरी के राजा अंधकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर, कह दिया गया है कि यहाँ स्वप्न-दर्शन, पुत्र-जन्म, उसका बालकपन, कला-ग्रहण, यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रासाद और भोगों का वर्णन जिस प्रकार महाबल की कथा में अन्यत्र (भगवती में) किया गया है, उसी प्रकार यहाँ कर लेना चाहिये। आगे तो अध्ययन के अध्ययन केवल आख्यान के नायक या नायिका का नामोल्लेख मात्र करके शेष समस्त वर्णन अन्य आख्यान द्वारा पूरा कर लेने की सूचना देकर समाप्त कर दिये गये हैं। इस श्रुतांग के नाम पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें उवासगदसाओ के समान मूलतः दस ही अध्याय रहे होंगे। पश्चात् पल्लवित होकर ग्रन्थ को उसका वर्तमान रूप प्राप्त हुआ।

९ अनुत्तरोपपातिक दशा (अणुत्तरोवाइय दसाओ)—इस श्रुतांग में कुछ ऐसे महापुरुषों का चरित्र वर्णित है, जिन्होंने अपनी धर्म-साधना के द्वारा मरणकर उन अनुत्तर स्वर्ग विमानों में जन्म लिया जहाँ से पुनः केवल एक बार ही मनुष्य योनि में आने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह श्रुतांग तीन वर्गों में विभाजित है। प्रथम वर्ग मे १०, द्वितीय में १३ व तृतीय में १० अध्ययन हैं। किन्तु इनमें चरित्रों का उल्लेख केवल सूचना मात्र से कर दिया गया है। केवल प्रथम वर्ग में धारणीपुत्र जाली तथा तीसरे में भद्रापुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णित है। उल्लिखित ३३ अनुत्तरविमानगामी पुरुषों में से प्रथम २३ राजा श्रेणिक की धारणी, चेलना व नंदा, इन तीन रानियों से उत्पन्न कहे गये हैं। और अन्त के धन्य आदि दस काकन्दी नगरी की सार्थवाही भद्रा के पुत्र। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन में धन्य की कठोर तपस्या और उसके कारण उसके अंग प्रत्यंगों की क्षीणता का बड़ा मार्मिक और विस्तृत वर्णन किया गया है। यह वर्णन पालि ग्रंथों मे बुद्ध की तप से उत्पन्न देह-क्षीणता का स्मरण कराता है।

१० प्रश्न व्याकरण (पण्ह-वागरण)— यह श्रुतांग दो खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में पाँच आस्रवद्वारों का वर्णन है, और दूसरे में पाँच संवरद्वारो का पाँच आस्रवद्वारों में हिंसादि पाँच पापों का विवेचन है, और संवरद्वारों में उन्हीं के निषेध रूप अहिंसादि व्रतों का। इस प्रकार इसमें उक्त व्रतों का सुव्यवस्थित

वर्णन पाया जाता है। किन्तु इस विषय-वर्णन से श्रुतांग के नाम की सार्थकता का कोई पता नहीं चलता। स्थानांग, समवायाग तथा नन्दीसूत्र में जो इस श्रुतांग का विषय-परिचय दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि मूलतः इसमें स्वसमय और परसमय सम्मत नाना विद्याओं व मंत्रो आदि का प्रश्नोत्तर रूप से विवेचन किया गया था, किन्तु यह विषय प्रस्तुत ग्रन्थ में अब प्राप्त नहीं होता।

११. **विपाक सूत्र (विवाग सुयं)**—इस श्रुतांग में दो श्रुतस्कंध है, पहला दुःख-विपाक विषयक और दूसरा सुख-विपाक विषयक। प्रथम श्रुत-स्कंध दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा है। प्रत्येक में दस-दस अध्ययन हैं, जिनमें क्रमशः जीव के कर्मानुसार दुःख और सुख रूप कर्मफलों का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त जैन धर्म का विशेष महत्वपूर्ण अंग है। उसके उदाहरणों के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। यहां लकडी टेककर चलते हुए व भिक्षा मांगते हुए कहीं एक अन्धे मनुष्य का दर्शन होगा, कहीं श्वास, कफ, भगंदर, अर्श, खाज, यक्ष्मा व कुष्ट आदि से पीडित मनुष्यों के दर्शन होंगे। नाना व्याधियों के औषधि-उपचार का विवरण भी मिलता है। गर्भिणी स्त्रियों के दोहले, भ्रूण-हत्या, नरबलि, क्रूर अमानुषिक दंड, वेश्याओं के प्रलोभनों, नाना प्रकार के मांस संस्कारों, पकाने की विधि आदि के वर्णन भी यहां मिलते है। उनके द्वारा हमें प्राचीन काल की नाना सामाजिक विधियों, मान्यताओं एवं अन्धविश्वासों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार सामाजिक अध्ययन के लिये यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है।

१२: **दृष्टिवाद (दिट्ठिवाद)**—यह श्रुतांग अब नहीं मिलता। समवायाग के अनुसार इसके पाँच विभाग थे—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इन पाँचों के नाना भेद-प्रभेदों के उल्लेख पाये जाते है, जिनपर विचार करने से प्रतीत होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवरण था। सूत्र के अन्तर्गत छिन्न-छेद नय, अछिन्न-छेद नय, त्रिक नय, व चतुर्नय की परिपाटियों का विवरण था। छिन्न छेद व चतुर्नय परिपाटियां निर्ग्रन्थों की एवं अछिन्न छेद नय और त्रिक नय परिपाटियाँ आजीविकों की थी। पीछे इन सबका समावेश जैन नयवाद में हो गया। दृष्टिवाद का पूर्वगत विभाग सबसे अधिक विशाल और महत्वपूर्ण रहा है। इसके अन्तर्गत उत्पाद, आग्रायणी, वीर्यप्रवाद आदि वे १४ पूर्व थे जिनका परिचय ऊपर कराया जा चुका है। अनुयोग नामक दृष्टिवाद के चतुर्थभेद के मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग—ये दो भेद बतलाये गये हैं। प्रथम में अरहन्तों के गर्भ, जन्म, तप ज्ञान और निर्वाण संबंधी इतिवृत्त समाविष्ट

किया गया था, और दूसरे में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि अन्य महापुरुषों के चरित्र का। इस प्रकार अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण कहा जा सकता है। दिग० जैन परम्परा मे इस भेद का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है। पंचम भेद चूलिका के संबंध में समवायांग में केवल यह सूचना पाई जाती है कि प्रथम चार पूर्वों की जो चूलिकाएँ गिनाई गई है, वे ही यहाँ समाविष्ट समझना चाहिये। किन्तु दिग० परम्परा मे चूलिका के पाँच भेद गिनाये गये हैं, जिनके नाम हैं— जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत। इन नामों पर से प्रतीत होता है कि उनका विषय इन्द्रजाल और मन्त्र-तन्त्रात्मक था, जो जैन धर्म की तात्त्विक और समीक्षात्मक दृष्टि के आगे स्वभावतः अधिक काल तक नही टिक सका।

उपांग-१२

उपर्युक्त श्रुतांगों के अतिरिक्त वल्लभी वाचना द्वारा १२ उपांगो, ६ छेद सूत्रो, ४ मूल सूत्रो, १० प्रकीर्णको और २ चूलिका सूत्रो का भी संकलन किया गया था। (१) प्रथम उपांग औपपातिक मे नाना विचारो, भावनाओं और साधनाओं से मरने वाले जीवो का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, इसका उदाहरणों सहित व्याख्यान किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि यहा नगरों, चैत्यों, राजाओ व रानियों आदि के वर्णन संपूर्ण रूप मे पाये जाते हैं, जिनका वर्णन अन्य श्रुतांगो मे इसी ग्रन्थ का उल्लेख देकर छोड़ दिया जाता है।

(२) दूसरे उपांग का नाम 'राय-पसेणियं' है, जिसका सं० रूपान्तर 'राजप्रश्नीय' किया जाता है, क्योकि इसका मुख्य विषय राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किये गये प्रश्नो का केशी मुनि द्वारा समाधान है। आश्चर्य नही जो इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कोशल का इतिहास-प्रसिद्ध राजा पसेंडी (सं० प्रसेनजित्) रहा हो, जिसके अनुसार ग्रन्थ के नामका ठीक सं० रूपान्तर 'राज-प्रसेनजित् सूत्र' होना चाहिये। इसके प्रथम भाग में तो सूर्याभदेव का वर्णन है, और दूसरे भाग में इस देव के पूर्व जन्म का वृत्तान्त है, जब कि सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप में पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था, और उनसे आत्मा की सत्ता व उसके स्वरूप के संबंध में नाना प्रकार से अपने भौतिकवाद की दृष्टि से प्रश्न किये थे। अन्त मे केशी मुनि के उपदेश से वह सम्यग्दृष्टि बन गया और उसी के प्रभाव से दूसरे जन्म में महासमृद्धिशाली सूर्याभ देव हुआ। यह ग्रन्थ जड़वाद और अध्यात्मवाद

की प्राचीन परम्पराओं के अध्ययन के लिये तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है।

(३) तीसरे उपाग **जीवाजीवाभिगम** मे २० उद्देश थे,किन्तु उपलभ्य संस्करण में नौ प्रतिपत्तियाँ (प्रकरण) है, जिनके भीतर २७२ सूत्र है। इसमें नामानुसार जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विवरण महावीर और गौतम के बीच प्रश्नोत्तर रूप से उपस्थित किया गया है। तीसरी प्रतिपत्ति में द्वीप-सागरों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। यहाँ प्रसगवश लोकोत्सवो, यानो, अलंकारो व मिष्टान्नों आदि के उल्लेख भी आये हैं, जो प्राचीन लोक-जीवन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

(४) चौथे उपाग **प्रज्ञापना** (पण्णवणा) मे छत्तीस पद(परिच्छेद) हैं, जिनमें क्रमशः जीव से संबंध रखनेवाले प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति एवं कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, कर्म, उपयोग, वेदना, समुद्घात आदि विषयों का प्ररूपण है। जैन दर्शन की दृष्टि से यह रचना बडी महत्वपूर्ण है। जो स्थान अंगों में भगवती सूत्र को प्राप्त है, वही उपागो मे इस सूत्रको दिया जा सकता है, और उसे भी उसी के अनुसार जैन सिद्धान्त का ज्ञानकोष कहा जा सकता है। इस रचना मे इसके कर्त्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, जिनका समय सुधर्म स्वामीसे २३ वी पीढ़ी वीर नि० के ३७६ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(५) पाचवा उपाग **सूर्यप्रज्ञप्ति** (सूरियपण्णत्ति) मे २० पाहुड हैं, जिनके अन्तर्गत १०८ सूत्रो मे सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रो की गतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष सबंधी मान्यताओं के अध्ययन के लिये यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

(६) छठा उपाग **जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति** (जम्बूदीवपण्णत्ति है। इसके दो विभाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रथम भाग के चार वक्खकारो (परिच्छेदो) मे जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतों, नदियों आदि का एवं उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल-विभागो का तथा कुलकरों, तीर्थकरो और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(७) सातवां उपांग **चन्द्रप्रज्ञप्ति** (चदपण्णत्ति) अपने विषय-विभाजन व प्रतिपादन मे सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलतः ये दोनों अवश्य अपने-अपने विषय में भिन्न रहे होंगे, किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्रायः एक से हो गये है।

(८) आठवे उपांग **कल्पिका** (कप्पिया) में १० अध्ययन हैं, जिनमें कुणिक अजातशत्रु के अपने पिता श्रेणिक बिंबिसार को बंदीगृह में डालने, श्रेणिक की आत्म-

हत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिनसे मगध के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(९) नौवें उपांग **कल्पावतंसिका** (कप्पावडंसियाओ) में श्रेणिक के दस पौत्रों की कथाएं हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए।

(१०-११) दसवें व ग्यारहवें उपांग **पुष्पिका** (पुप्फियाओ) **और पुष्पचूला** (पुप्फ-चूलाओ) में १०-१० अध्ययन हैं, जिनमें ऐसे पुरुष-स्त्रियों की कथाएं है जो धार्मिक साधनाओं द्वारा स्वर्गगामी हुए, और देवता होकर अपने विमानो द्वारा महावीर की वंदना करने आये।

(१२) बारहवें अंतिम उपाग **वृष्णिदशा** (**वण्हिदसा**) में बारह अध्ययन हैं, जिनमें द्वारावती (द्वारिका) के राजा कृष्ण वासुदेव का बाईसवे तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार का एवं वृष्णि वंशीय बारह राजकुमारो के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

आठ से बारह तक के पाँच उपांग सामूहिक रूप से **निरयावलियाओं** भी कह-लाते है, और उनमे उन्हे उपाग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। आश्चर्य नही जो आदितः ये ही पाँच उपांग रहे हो और वे अपने विषयानुसार अगों से सम्बन्द्ध हों। पीछे द्वादशाग की देखादेखी उपागो की सख्या बारह तक पहुँचा दी गई हो।

छेदसूत्र—६

छह छेदसूत्रो के नाम क्रमशः (१) **निशीथ**, (निसीह) (२) **महानिशीथ** (महा-निसीह) (३) **व्यवहार** (विवहार) (४) **आचारदशा** (आचारदसा) (५) **कल्पसूत्र** (कप्पसुत्त) और (६) **पंचकल्प** (पचकप्प) या **जीतकल्प** (जीतकप्प) हैं, जिनमें बड़े विस्तार के साथ जैन मुनियो की बाह्य और आभ्यन्तर साधनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, और विशेष नियमो के भंग होने पर समुचित प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है, प्रसगवश यहाँ नाना तीर्थंकरो व गणधरो सम्बन्धी घटनाओं के उल्लेख भी आये हैं। इन रचनाओ मे कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है, और साधुओं मे उसके पठन-पाठन की परम्परा आजतक विशेष रूप से सुप्रचलित है। मुनियों के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये ये रचनाएं बड़े महत्व की है।

मूलसूत्र—४

चार मूल सूत्रो के नाम हैं—**उत्तराध्ययन** (उत्तरज्झयरण), **आवश्यक**

(आवस्सय) **दशवैकालिक** (दसवेयालिय) और **पिंडनिर्युक्ति** (पिंडणिज्जुत्ति)। ये चारों सूत्र मुनियों के अध्ययन और चिन्तन के लिये विशेषरूप से महत्वपूर्ण माने गये हैं, क्योंकि उनमें जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तो, विचारों व भावनाओं और साधनाओं का प्रतिपादन किया गया है। **आवश्यक सूत्र** में साधुओं की छह नित्यक्रियाओं अर्थात् सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाया गया है। **पिंडनिर्युक्ति** मे अपने नामानुसार पिंड अर्थात् मुनिके ग्रहण योग्य आहार का विवेचन किया गया है। इसमे आठ अधिकार हैं—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अगार, धूम और कारण, जिनके द्वारा आहार में उत्पन्न होने वाले दोषो का विवेचन किया गया है, और उनके साधु द्वारा निवारण किये जाने पर जोर दिया गया है। निर्युक्ति आगमो पर सबसे प्राचीन टीकाओ को कहते है, और इनके कर्त्ता भद्रबाहु माने जाते है। पिंड-निर्युक्ति यथार्थतः दशवैकालिक के अतर्गत पिंड-एषणा नामक पाचवे अध्ययन की इसी प्रकार की प्राचीन टीका है, जिसे अपने विषय के महत्व व विस्तार के कारण आगम मे एक स्वतत्र स्थान प्राप्त हुआ है। शेष दो मूलसूत्र अर्थात् उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष महत्वपूर्ण, सुप्रचलित और लोकप्रिय रचनाये है, जो भाषा, साहित्य एव सिद्धान्त, तीनो दृष्टियो से अपनी विशेषता रखती है। **उत्तराध्ययन** मे ३६ अध्ययन है। परम्परानुसार महावीर ने अपने जीवन के उत्तरकाल मे निर्वाण से पूर्व ये उपदेश दिये थे। इन छत्तीस अध्ययनो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—एक सैद्धान्तिक, दूसरा नैतिक व सुभाषितात्मक, और तीसरा कथात्मक। इन तीनो प्रकार के विषयो का पश्चात्कालीन साहित्य मे खूब अनुकरण व टीकाओ आदि द्वारा खूब पल्लवन किया गया है। **दशवैकालिक** सूत्र मे बारह अध्ययन है, जिनमे विशेषत. मुनि-आचार का प्ररूपण किया गया है। ये दोनों रचनाए बहुलता से पद्यात्मक है, और सुभाषितो, न्यायो व रूपकों से भरपूर है। इनकी भाषा आचाराग और सूत्रकृताग के सदृश अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इन दोनों सूत्रो का उल्लेख दिग० शास्त्रो मे भी पाया जाता है।

प्रकीर्णक—१०

दसपइण्णा—नामक ग्रन्थो की रचना के सम्बन्ध मे टीकाकारों ने कहा है कि तीर्थंकर द्वारा दिये गये उपदेश के आधार पर नाना श्रमणों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये, वे प्रकीर्णक कहलाये। ऐसे प्रकीर्णको की संख्या सहस्रों बतलाई जाती है, किन्तु जिन

रचनाओं को वल्लभी वाचना के समय आगम के भीतर स्वीकृत किया गया वे दस हैं, जिनके नाम हैं—(१) **चतुःशरण** (चउसरण), (२) **आतुर-प्रत्याख्यान** (आउर पच्चक्खाण), (३) **महाप्रत्याख्यान** (महा-पच्चक्खाण), (४) **भक्तपरिज्ञा**, (भत्तपइण्णा), (५) **तंदुलवैचारिक** (तंदुलवेयालिय), (६) **संस्तारक** (संथारग), (७) **गच्छाचार** (गच्छायार), (८) **गणिविद्या** (गणिविज्जा), (९) **देवेन्द्रस्तव** (देविंदथ) और (१०) **मरणसमाधि** (मरणसमाहि)। ये रचनायें प्रायः पद्यात्मक हैं। (१) **चतुःशरण** में आरंभ में छः आवश्यकों का उल्लेख करके पश्चात् अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म इन चार को शरण मानकर दुष्कृत (पाप) के प्रति निंदा और सुकृत (पुण्य) के प्रति अनुराग प्रगट किया गया है। इसमे त्रेसठ गाथाएँ मात्र हैं। अंतिम गाथा मे कर्त्ता का का नाम वीरभद्र अंकित पाया जाता है। (२) **आतुर-प्रत्याख्यान** मे बालमरण और पडितमरण में भेद स्थापित किया गया है, और प्रत्याख्यान अर्थात् परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन कहा गया है। इसमे केवल ७० गाथाएं हैं, और कुछ अंश गद्य में भी है। (३) **महाप्रत्याख्यान** मे १४२ अनुष्टुप् छदमय गाथाओं द्वारा दुश्चरित्र की निंदापूर्वक, सच्चरित्रात्मक भावनाओ, व्रतो व आराधनाओ और अन्ततः प्रत्याख्यान के परिपालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यह रचना पूर्वोक्त आतुर-प्रत्याख्यान की ही पूरक स्वरूप है। (४) **भक्त-परिज्ञा** मे १७२ गाथाओं द्वारा भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन रूप मरण के भेदो का स्वरूप बतलाया गया है, तथा नाना दृष्टान्तो द्वारा मन को संयत रखने का उपदेश दिया गया है। मन को बन्दर की उपमा दी गई है, जो स्वभावतः अत्यन्त चचल है और क्षणमात्र भी शात नही रहता। (५) **तंदुलवैचारिक** या वैकालिक १२३ गाथाओ युक्त गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमें गौतम और महावीर के बीच प्रश्नोत्तरो के रूप में जीव की गर्भावस्था, 'आहार-विधि, बालजीवन-क्रीडा आदि अवस्थाओं का वर्णन है। प्रसंग वश इसमें शरीर के अंग प्रत्यगो का व उसकी अपवित्रता का, स्त्रियो की प्रकृति और उनसे उत्पन्न होने वाले साधुओं के भयों आदि का विस्तार से वर्णन है। (६) **संस्तारक** में १२२ गाथाओं द्वारा साधु के अंत समय मे तृण का आसन (संथारा) ग्रहण करने की विधि बतलाई गई है, जिस पर अविचल रूप से स्थिर रहकर वह पंडित-मरण करके सद्गति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रसंग के दृष्टान्त स्वरूप सुबंधु व चाणक्य आदि नामों का उल्लेख हुआ है। (७) **गच्छाचार** मे १३७ गाथाओं द्वारा मुनियों व आर्यिकाओं के गच्छ मे रहने व तत्संबंधी विनय व नियमोपनियमों के पालन की विधि समझाई गई है। यहा मुनियो और साध्वियों को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सतर्क रहने और

अपने को कामवासना की जागृति से बचाने पर बहुत जोर दिया गया है। (८) **गणि-विद्या** मे ८६ गाथाओ द्वारा दिवस, तिथि, नक्षत्र, योग, करण, मुहूर्त आदि का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया है जिसमे **होरा** शब्द भी आया है। (९) **देवेन्द्रस्तव** में ३०७ गाथाए है, जिनमे २४ तीर्थंकरो की स्तुति करके, स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर मे कल्पो और कल्पातीत देवो का वर्णन करता है। यह कृति भी वीरभद्र कृत मानी जाती है। (१०) **मरण-समाधि** मे ६६३ गाथाए है, जिनमे आराधना, आराधक, आलोचन, सलेखन, क्षमापन आदि १४ द्वारो से समाधि-मरण की विधि समझाई गई है, व नाना दृष्टान्तो द्वारा परीषह सहन करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अन्तमे बारह भावनाओ का भी निरूपण किया गया है। दसो प्रकीर्णको के विषय पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य प्रधानत: मुनियो के अपने अन्त समय मे मनको धार्मिक भावनाओ मे लगाते हुए शाति और निराकुलता पूर्वक शरीर परित्याग करने की विधि को समझाना ही है।

चूलिका सूत्र—२

अन्तिम दो चूलिका सूत्र **नंदी** और **अनुयोगद्वार** है, जो अपेक्षाकृत पीछे की रचनाए हैं। **नंदीसूत्र** के कर्ता तो एक मतानुसार वल्लभी वचना के प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ही हैं। नंदीसूत्र मे ९० गाथाए और ५९ सूत्र हैं। यहा भगवान महावीर तथा उनके सघवर्ती श्रमणो व परंपरागत भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरि आदि आचार्यो की स्तुति की गई है। तत्पश्चात् ज्ञान के पाचभेदो का विवेचन कर, आचारागादि बारह श्रुतागो के स्वरूप को विस्तार से व्यक्त किया गया है। यहां भारत, रामायण, कौटिल्य, पातजल आदि शास्त्रपुराणो तथा वेदो एवं बहत्तर कलाओ का उल्लेख कर मुनियों के लिये उनका अध्ययन वर्ज्य कहा गया है। (२) **अनुयोगद्वार** आर्यरक्षित कृत माना जाता है। उसमे प्रश्नोत्तर रूप से पल्योपमादि उपमा प्रमाण का स्वरूप समझाया गया है, और नयो का भी प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त काव्यसम्बन्धी नव-रसों, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि के लक्षणो एव चरक, गौतम आदि अन्य शास्त्रो के उल्लेख भी आये हैं। इस पर हरिभद्र द्वारा विवृत्ति भी लिखी गई है।

अर्द्धमागधी भाषा

उपर्युक्त ४५ आगम ग्रन्थों की भाषा अर्द्धमागधी मानी जाती है। अर्द्ध-मागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है-जो भाषा आधे मगध प्रदेश में बोली जाती

थी, अथवा जिसमें मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियां पाई जाती थी। यथार्थतः ये दोनो ही व्युत्पत्तियां सार्थक हैं, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यतः तीन विशेषताएं थी। (१) उसमें र का उच्चारण ल होता था, (२) तीनों प्रकार के ऊष्म ष, स, श वर्णों के स्थान पर केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता था; और (३) अकारान्त कर्त्ताकारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियों में से अर्द्ध-मागधी मे कर्ताकारक की एकार विभक्ति बहुलता से पाई जाती है। र का ल क्वचित् ही होता है, तथा तीनो सकारों के स्थानपर तालव्य 'श' कार न होकर दन्त्य 'स' कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा में मागधी की आधी प्रवृत्तिया कही जा सकती हैं। इसकी शेष प्रवृत्तिया शौरसैनी प्राकृत से मिलती है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध से पश्चिम प्रदेश मे रहा होगा। विद्वानो का यह भी मत है कि मूलतः महावीर एव बुद्ध दोनो के उपदेशो की भाषा उस समय की अर्द्धमागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एवं पश्चिम की जनता को समान रूप से सुबोध हो सके होगें। किन्तु पूर्वोक्त उपलभ्य आगम ग्रन्थो मे हमे उस प्राक्तन अर्द्धमागधी का स्वरूप नही मिलता। भाषा-शास्त्रियो का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्य भाषा में संयुक्त व्यजनों का समीकरण अथवा स्वर-भक्ति आदि विधियो से भाषा का सरलीकरण तो प्रारंभ हो गया था, किन्तु उसमे वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क-ग, त-द, अथवा इनके लोप की प्रक्रिया प्रारभ नही हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर में प्रारंभ हुई मानी जाती है, जिसका काल लगभग दूसरी शती ई० सिद्ध होता है। उपलभ्य आगम ग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तियों से प्रभावित पाये जाते हैं। स्पष्टतः ये प्रवृत्तियां कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनमे समाविष्ट हो गई हैं।

सूत्र या सूक्त ?—

इन आगमों के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। उन्हे प्रायः सूत्र नाम से उल्लिखित किया जाता है, जैसे आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि। किन्तु जिस अर्थ मे सस्कृत में सूत्र शब्द का प्रयोग पाया जाता है, उस अर्थ मे ये रचनाएं सूत्र रूप सिद्ध नहीं होती। सूत्र का मुख्य लक्षण संक्षिप्त वाक्य में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना है, और उनमें पुनरावृत्ति को दोष माना जाता है। किन्तु ये जैन श्रुतांग न तो वैसी संक्षिप्त रचानाएं है, और न उनमे विषय व वाक्यों की पुनरावृत्ति की कमी है। अतएव उन्हें सूत्र कहना अनुचित सा प्रतीत होता है। अपने प्राकृत

नामानुसार ये रचनाएं सुत्त कही गई है, जैसे आयारग सुत्त, उत्तराध्ययन सुत्त आदि। इस सुत्त का संस्कृत पर्याय सूत्र भ्रममूलक प्रतीत होता है। उसका उचित संस्कृत पर्याय सूक्त अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। महावीर के काल मे सूत्र शैली का प्रारंभ भी सम्भवत नही हुआ था। उस समय विशेष प्रचार था वेदों के सूक्तों का। और संभवतः वही नाम मूलतः इन रचनाओ को, तथा बौद्ध साहित्य के सुत्तो को, उसके प्राकृत रूप मे दिया गया होगा।

आगमो का टीका साहित्य—

उपर्युक्त आगम ग्रन्थो से सम्बद्ध अनेक उत्तरकालीन रचनाएं है, जिनका उद्देश्य आगमो के विषय को संक्षेप या विस्तार से समझाना है। ऐसी रचनाएं चार प्रकार की हैं, जो निर्युक्ति (णिज्जुत्ति), भाष्य (भास), चूर्णि (चुण्णि) और टीका कहलाती है। ये रचनाएं भी आगम का अंग मानी जाती है, और उनके सहित यह साहित्य पचागी आगम कहलाता है। इनमे निर्युक्तिया अपनी भाषा, शैली, व विषय की दृष्टि से सर्वप्राचीन है। ये प्राकृत पद्यो मे लिखी गई है, और सक्षेप मे विषय का प्रतिपादन करती है। इनमे प्रसंगानुसार विविध कथाओ व दृष्टान्तो के संकेत मिलते है, जिनका विस्तार हमे टीकाओ मे प्राप्त होता है। वर्तमान में आचाराग, सूत्रकृताग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कध, उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक इन ९ आगमो की निर्युक्तिया मिलती है, और वे भद्रबाहुकृत मानी जाती हैं। दशवी 'ऋषि भाषित निर्युक्ति' का उल्लेख है, किन्तु वह प्राप्त नही हुई। इनमे कुछ प्रकरणों की निर्युक्तियाँ, जैसे पिण्डनिर्युक्ति व ओघनिर्युक्ति मुनियो के आचार की दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण समझी गई कि के स्वतंत्र रूप से आगम साहित्य मे प्रतिष्ठित कर ली गई हैं।

भाष्य भी प्राकृत गाथाओ मे रचित सक्षिप्त प्रकरण हैं। ये अपनी शैली में निर्युक्तियो से इतने मिलते है कि बहुधा इन दोनो का परस्पर मिश्रण हो गया है, जिसका पृथक्करण असंभव सा प्रतीत होता है। कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, निशीथ, और व्यवहार, इनके भाष्य मिलते है। इनमे कथाए कुछ विस्तार से पाई जाती है। निशीथ भाष्य में शश आदि चार धूर्तों की वह रोचक कथा वर्णित है जिसे हरिभद्रसूरि ने अपने धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ मे सरसता के साथ पल्लवित किया है। कुछ भाष्यो, जैसे कल्प, व्यवहार और निशीथ के कर्ता संघदास गणि माने जाते है, और विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्र (ई० सं० ६०९)। यह भाष्य कोई ३६०० गाथाओं मे पूर्ण हुआ है और उसमें ज्ञान,

नय-निक्षेप, आचार आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

चूर्णियाँ भाषा व रचना शैली की दृष्टि से अपनी विशेषता रखती हैं। वे गद्य मे लिखी गई हैं, और भाषा यद्यपि प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है, फिर भी इनमें प्राकृत की प्रधानता है। आचाराग, सूत्रकृतांग, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर चूर्णियाँ पाई जाई हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक व कथात्मक सामग्री के लिये निशीथ और आवश्यक की चूर्णियाँ बडी महत्वपूर्ण है। सामान्यरूप से चूर्णियो के कर्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं, जिनका समय ई० की छठी-सातवी शती अनुमान किया जाता है।

टीकाएं अपने नामानुसार ग्रन्थों को समझने समझाने के लिये विशेष उपयोगी हैं। ये सस्कृत मे विस्तार से लिखी गई है, किन्तु कही कही, और विशेषतः कथाओं में प्राकृत का आश्रय लिया गया है। प्रतीत होता है कि जो कथाएं प्राकृत में प्रचलित थी, उन्हे यहाँ जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया है। आवश्यक, दशवैकालिक, नदी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्र सूरि (ई० स० ७५०) की टीकाएं उपलभ्य है। इनके पश्चात् आचारांग और सूत्रकृताग पर शीलाक आचार्य (ई० स० ८७६) ने टीकाएं लिखी। ११ वी शताब्दी मे वादि वेताल शान्तिसूरि द्वारा लिखित उत्तराध्ययन की शिष्यहिता टीका प्राकृत मे है, और बड़ो महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी में उत्तराध्ययन पर देवेन्द्रगणि नेमिचन्द्र ने सुखबोधा नामक टीका लिखी, जिसके अन्तर्गत ब्रह्मदत्त अगडदत्त आदि कथाएं प्राकृत कथा साहित्य के महत्वपूर्ण अग हैं, जिनका संकलन डा० हर्मन जैकोबी ने एक पृथक् ग्रन्थ मे किया था, और जो प्राकृत-कथा-संग्रह के नाम से मुनि जिनविजय जी ने भी प्रकाशित कराई थी। उत्तराध्ययन पर और भी अनेक आचार्यों ने टीकाएं लिखी, जैसे अभयदेव, द्रोणाचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, क्षेमकीर्ति, शातिचन्द्र आदि। टीकाओ की यह बहुलता उत्तराध्ययन के महत्व व लोकप्रियता को स्पष्टत. प्रमाणित करती है।

शौरसेनी जैनागम—

उपर्युक्त उपलभ्य आगम साहित्य जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सुप्रचलित है, किन्तु दिग० सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक नही मानता। इस मान्यतानुसार मूल आगम ग्रन्थों का क्रमशः लोप हो गया, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। उन आगमों का केवल आंशिक ज्ञान मुनि-परम्परा में सुरक्षित रहा। पूर्वों के एकदेश-ज्ञाता

आचार्य धरसेन माने गये हैं, जिन्होने अपना वह ज्ञान अपने पुष्पदंत और भूतबलि नामक शिष्यो को प्रदान किया और उन्होंने उस ज्ञान के आधार से षट्खंडागम की सूत्ररूप रचना की। यह रचना उपलभ्य है, और अब सुचारु रूप से टीका व अनुवाद सहित २३ भागो मे प्रकाशित हो चुकी है। इसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने प्रारंभ मे ही इस रचना के विषय का जो उद्गम बतलाया है, उससे हमे पूर्वों के विस्तार का भी कुछ परिचय प्राप्त होता है। पूर्वो मे द्वितीय पूर्व का नाम आग्रायणीय था। उसके भीतर पूर्वान्त, अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमे पाचवे प्रकरण का नाम चयन लब्धि था, जिसके अन्तर्गत बीस पाहुड थे। इनमे चतुर्थ पाहुड का नाम कर्म-प्रकृति था। इस कर्म-प्रकृति पाहुड के भीतर कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार थे, जिनके विषय को लेकर षट्खडागम के छह खड अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबध, बधस्वामित्व-विचय, वेदना, वर्गणा और महाबध की रचना हुई। इसमे का कुछ अश अर्थात् सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक जीवस्थान की आठवी चूलिका बारहवे अंग दृष्टिवाद के द्वितीय भेद सूत्रसे तथा गति-अगति नामक नवमी चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से उत्पन्न बतलाई गई है। यही आगम दिग० सम्प्रदाय मे सर्वप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना का काल ई० द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसकी रचना ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को पूर्ण हुई थी और उस दिन जैन सघ ने श्रुतपूजा का महान् उत्सव मनाया था, जिसकी परम्परानुसार श्रुतपचमी की मान्यता दिग० सम्प्रदाय मे आज भी प्रचलित है। इस आगम की परम्परा मे जो साहित्य निर्माण हुआ, उसे चार अनुयोगो मे विभाजित किया जाता है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग। **प्रथमानुयोग** मे पुराणो, चरितो व कथाओ अर्थात् आख्यानात्मक ग्रन्थो का समावेश किया जाता है। **करणानुयोग** मे ज्योतिष, गणित आदि विषयक ग्रन्थो का, **चरणानुयोग** मे मुनियों व गृहस्थो द्वारा पालने योग्य नियमोपनियम सबंधी आचार विषयक ग्रन्थो का, और **द्रव्यानुयोग** मे जीव-अजीव आदि तत्वो के चितन से संबध रखने वाले दार्शनिक, कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी, तथा नय-निक्षेप आदि विषयक सैद्धान्तिक ग्रन्थो का।

इस धार्मिक साहित्य मे प्रधानता द्रव्यानुयोग की है, और इस वर्ग की रचनाएं बहुत प्राचीन, बडी विशाल तथा लोकप्रिय है। इसमे सबसे प्रथम स्थान पूर्वोल्लिखित षट्खडागम का ही है। इस ग्रन्थ के प्रकाश मे आने का भी एक रोचक इतिहास है। इस ग्रन्थ का साहित्यकारो द्वारा प्रचुरता से उपयोग केवल ११वी १२वी शताब्दी तक गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र और उनके टीकाकारो तक ही पाया जाता है। उसके पश्चात् के लेखक इन ग्रन्थो के नाम-मात्र से परिचित प्रतीत होते हैं। इस

ग्रन्थ की दो संपूर्ण और एक त्रुटित, ये तीन प्रतियां प्राचीन कन्नड लिपि में ताड़पत्र पर लिखी हुई केवल एक स्थान मे, अर्थात मैसूर राज्य में मूड़बद्री नामक स्थान के सिद्धान्त वस्ति नामक मंदिर में ही सुरक्षित बची थी, और वहा भी उनका उपयोग स्वाध्याय के लिये नही, किन्तु दर्शन मात्र से पुण्योपार्जन के लिए किया जाता था। उन प्रतियो की उत्तरोत्तर जीर्णता को बढती देखकर समाज के कुछ कर्णधारो को चिंता हुई, और सन् १८९५ के लगभग उनकी कागज पर प्रतिलिपि करा डालने का निश्चय किया गया। प्रतिलेखन कार्य सन् १९२२ तक धीरे धीरे चलता हुआ २६-२७ वर्ष में पूर्ण हुआ। किन्तु इसी बीच इनकी एक प्रतिलिपि गुप्तरूप से बाहर निकलकर सहारनपुर पहुंच गई। यह प्रतिलिपि भी कन्नड लिपि मे थी। अतएव इसकी नागरी लिपि कराने का आयोजन किया गया, जो १९२४ तक पूरा हुआ। इस कार्य के संचालन के समय उनकी एक प्रति पुन. गुप्त रूपसे बाहर आ गई, और उसी की प्रतिलिपिया अमरावती, कारंजा, सागर और आरा मे प्रतिष्ठित हुई। इन्ही गुप्तरूप से प्रगट प्रतियो पर से इनका सम्पादन कार्य प्रस्तुत लेखक के द्वारा सन् १९३८ मे प्रारम्भ हुआ, और सन् १९५८ मे पूर्ण हुआ। हर्ष की बात यह है कि इसके प्रथम दो भाग प्रकाशित होने के पश्चात् ही मूडबिद्री की सिद्धान्त बस्ति के अधिकारियो ने मूल प्रतियो के मिलान की भी सुविधा प्रदान कर दी, जिससे इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन प्रामाणिक रूप से हो सका।

षट्खडागम टीका—

षट्खडागम के उपर्युक्त छह् खंडो मे सूत्ररूप से जीव द्वारा कर्मबध और उससे उत्पन्न होनेवाले नाना जीव-परिणामो का बड़ी व्यवस्था, सूक्ष्मता और विस्तार से विवेचन किया गया है। यह विवेचन प्रथम तीन खंडो मे जीव के कर्तृत्व की अपेक्षा से और अंतिम तीन खडो मे कर्मप्रकृतियों के स्वरूप की अपेक्षा से हुआ है। इसी विभागानुसार नेमिचन्द्र आचार्य ने इन्ही के संक्षेप रूप गोम्मटसार ग्रंथ के दो भाग किये हैं—एक जीवकाड और दूसरा कर्मकाड। इन ग्रन्थो पर श्रुतावतार कथा के अनुसार क्रमशः अनेक टीकाएं लिखी गई जिनके कर्ताओ के नाम कुंदकुंद, श्यामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव उल्लिखित मिलते हैं, किन्तु ये टीकाएं अप्राप्य हैं। जो टीका इस ग्रन्थ की उक्त प्रतियो पर से मिली है, वह वीरसेनाचार्यकृत धवला नाम की है, जिसके कारण ही इस ग्रन्थ की ख्याति धवल सिद्धान्त के नाम से पाई जाती है। टीकाकार ने अपनी जो प्रशस्ति ग्रन्थ के अंत में लिखी है, उसपर से उसके पूर्ण होने का

समय कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी, शक स० ७३८=ई० सन् ८१६ सिद्ध होता है। इस प्रशस्ति मे वीरसेन ने अपने पचस्तूप अन्वय का, विद्यागुरू एलाचार्य का, तथा दीक्षागुरु आर्यनन्दि व दादागुरु चन्द्रसेन का भी उल्लेख किया है। इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार कथा के अनुसार एलाचार्य ने चित्रकूटपुर मे रहकर वीरसेन को सिद्धान्त पढ़ाया था। पश्चात् वीरसेन ने वाटग्राम मे जाकर अपनी यह टीका लिखी। वीरसेन की टीका का प्रमाण बहत्तर हजार श्लोक अनुमान किया जाता है।

शौरसैनी आगम की भाषा—

धवला टीका की भाषा गद्यात्मक प्राकृत है, किन्तु यत्र तत्र संस्कृत का भी प्रयोग किया गया है। यह शैली जैन साहित्यकारो मे सुप्रचलित रही है, और उसे मणि-प्रवाल शैली कहा गया है। टीका मे कही कही प्रमाण रूप से प्राचीन गाथाएं भी उद्धृत की गई है। इस प्रकार भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ मे हमे प्राकृत के तीन स्तर मिलते है—एक सूत्रो की प्राकृत जो स्पष्टत. अधिक प्राचीन है तथा शौरसैनी की विशेषताओ को लिये हुए भी कही कही अर्द्धमागधी से प्रभावित है। शौरसैनी प्राकृत का दूसरा स्तर हमे उद्धृत गाथाओ मे मिलता है, और तीसरा टीका की गद्य रचना मे। यहाँ उद्धृत गाथाओ मे की अनेक गोम्मटसार मे भी जैसी की तैसी पाई जाती है, भेद यह है कि वहाँ शौरसैनी महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ कुछ अधिकता से मिश्रित दिखाई देती हैं।

यहा प्राकृत भाषा के ऐतिहासिक विकास सम्बन्धी कुछ बातो का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीनतम प्राकृत साहित्य तथा प्राकृत व्याकरणो मे हमे मुख्यत तीन भाषाओ का स्वरूप, उनके विशेष लक्षणो सहित, दृष्टिगोचर होता है। मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी। मागधी और अर्द्धमागधी के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है। शौरसेनी का प्राचीनतम रूप हमे अशोक (ई० पू० तीसरी शती) की गिरनार शिला पर खुदी हुई चौदह धर्मलिपियो मे दृष्टिगोचर होता है। यहा कारक व क्रिया रूपो के सरलीकरण के अतिरिक्त जो संस्कृत की ध्वनियो मे सरलता के लिये उत्पन्न हुए हेरफेर पाये जाते है, उनमे मुख्य परिवर्तन है : संयुक्त व्यंजनो का समीकरण या एक वर्ण का लोप. जैसे धर्म का 'धम्म, कर्म का कम्म, पश्यति का पसति, पुत्र का पुत, कल्याण का कलाण, आदि। तत्पश्चात् अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के नाटको में उक्त परिवर्तन के अतिरिक्त हमे अघोष वर्णों के स्थान पर उनके अनुरूप सघोष वर्णो का आदेश मिलता है, जैसे क का ग, च का ज, त का द, और थ का ध। इसके अनन्तर काल मे जो प्रवृत्ति भास, कालिदास आदि के नाटकों की प्राकृतों मे

दिखाई देती है, वह है-मध्यवर्ती असंयुक्त वर्णों का लोप तथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर 'ह्' आदेश। यही प्रवृति महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण माना गया है, और इसका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी के पश्चात् का स्वीकार किया जाता है। दण्डी के उल्लेखानुसार प्राकृत (शौरसेनी) ने महाराष्ट्र में आने पर जो रूप धारण किया, वही उत्कृष्ट प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः-काव्यादर्श) और इसी महाराष्ट्री प्राकृत मे सेतुबन्धादि काव्यों की रचना हुई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अर्द्धमागधी आगम मे भी ये महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हुई पाई जाती है। भारत के उत्तर व पश्चिम प्रदेशों मे जो प्राकृत ग्रंथ लिखे गये, उनमें भी इन प्रवृत्तियो का आंशिक समावेश पाकर पाश्चात्य विद्वानों ने उनकी भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' की सज्ञा दी है। किन्तु जिन षट्खंडागमादि रचनाओं का ऊपर परिचय दिया गया है, उनमें प्रधान रूप से शौरसेनी की ही मूल प्रवृत्तिया पाई जाती हैं और महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ गौण रूप से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। इस कारण इन रचनाओ की भाषा को 'जैन शौरसेनी' कहा गया है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब महाराष्ट्र प्रदेश और उससे उत्तर की भाषा मे महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तिया पूर्ण या बहुल रूप से प्रविष्ट हो गई, तब महाराष्ट्र से सुदूर दक्षिण प्रदेश में लिखे गये ग्रन्थ इस प्रवृत्ति से कैसे बचे, या अपेक्षाकृत कम प्रभावित हुए ? इस प्रश्न का समाधान यही अनुमान किया जा सकता है कि जिस मुनि-सम्प्रदाय मे ये ग्रन्थ लिखे गये उसका दक्षिण प्रदेश मे आगमन महाराष्ट्री प्रवृत्तिया उत्पन्न होने से पूर्व ही हो चुका था और आर्येतर भाषाओ के बीच मे लेखक अपने उस प्रान्तीय भाषा के रूप का ही अभ्यास करते रहने के कारण, वे महाराष्ट्री के बढ़ते हुए प्रभाव से बचे रहे या कम प्रभावित हुए। इसी भाषा-विकास-क्रम का कुछ स्वरूप हमें उक्त स्तरों में दिखाई देता है।

षट्खडागम के टीकाकार के सम्मुख जैन सिद्धान्त विषयक विशाल साहित्य उपस्थित था। उन्होने संतकम्मपाहुड, कषायपाहुड, सम्मति सुत्त, तिलोयपण्णत्ति सुत्त, पंचत्थिपाहुड, तत्वार्थसूत्र, आचारांग, वट्टकेर कृत मूलाचार, पूज्यपाद कृत सारसंग्रह, अकलंक कृत तत्वार्थ भाष्य, तत्वार्थ राजवार्तिक, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्म्मपवाद, दशकरणी संग्रह आदि के उल्लेख किये हैं। इनमे से अनेक ग्रन्थ तो सुविख्यात हैं, किन्तु कुछ का जैसे पूज्यपाद कृत सारसंग्रह, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्मप्रवाद और दशकरणी संग्रह का कोई पता नहीं चलता। इसी प्रकार उन्होंने अपने गणित संबंधी विवेचन में परिकर्म का उल्लेख किया है, तथा व्याकरणात्मक विवेचन में कुछ ऐसे सूत्र व गाथाएं

उद्धृत की है, जिनसे प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख कोई पद्यात्मक प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ उपस्थित था, जो अब प्राप्त नही है। स्वयं षट्खंडागम सूत्रों की उनके सम्मुख अनेक प्रतियाँ थी, जिनमे पाठभेद भी थे, जिनका उन्होने अनेकस्थलो पर स्पष्ट उल्लेख किया है। कही कही सूत्रो मे परस्पर विरोध देखकर टीकाकार ने सत्यासत्य का निर्णय करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है, और स्पष्ट कह दिया है कि इनमे कौन सूत्र है और कौन असूत्र इसका निर्णय आगम मे निपुण आचार्य करें। कही कहा है—इसका निर्णय तो चतुर्दश-पूर्वधारी या केवलज्ञानी ही कर सकते हैं; किन्तु वर्तमान काल मे वे है नही, और उनके पास से उपदेश पाकर आये हुए भी कोई विद्वान् नही पाये जाते, अतः सूत्रो की प्रामाणिकता नष्ट करने से डरने वाले आचार्यो को दोनों सूत्रो का व्याख्यान करना चाहिये। कही कही सूत्रो पर उठाई गई शंका पर उन्होने यहा तक कह दिया है कि इस विषय की पूछताछ गौतम गणधर से करना चाहिये, हमने तो यहाँ उनका अभिप्राय कह दिया। टीका के अनेक उल्लेखो पर से ज्ञात होता है कि सूत्रो का अध्ययन कई प्रकार से चलता था। कोई सूत्राचार्य थे, तो कोई निक्षेपाचार्य और कोई व्याख्यानाचार्य। इनसे भी ऊपर महावाचको का पद था। कषाय-प्राभृत के प्रकाण्ड ज्ञाता आर्य मक्षु और नागहस्ति को अनेक स्थानों पर महावाचक कहा गया है। आर्य नदी महावाचक का भी उल्लेख आया है। सैद्धान्तिक मतभेदो के प्रसंग में टीकाकार ने अनेक स्थानो पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ती का उल्लेख किया है, जिनमें से वे स्वयं दक्षिण प्रतिपत्ति को स्वीकार करते थे, क्योकि वह सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परम्परागत है। कुछ प्रसंगों पर उन्हे स्पष्ट आगम परम्परा प्राप्त नही हुई, तब उन्होने अपना स्वयं स्पष्ट मत स्थापित किया है और यह कह दिया है कि शास्त्र प्रमाण के अभाव मे उन्होने स्वयं अपने युक्तिबल से अमुक बात सिद्ध की है। विषय चाहे दार्शनिक हो और चाहे गणित जैसा शास्त्रीय, वे उस पर पूर्ण विवेचन और स्पष्ट निर्णय किये बिना नही रुकते थे। इसी कारण उनकी ऐसी असाधारण प्रतिभा को देखकर ही उनके विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन ने उनके विषय मे कहा है कि—

> यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
> जाताः सर्वज्ञ-सद्भावे निरारेका मनस्विनः॥

अर्थात् उनकी स्वाभाविक सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर विद्वज्जन सर्वज्ञ के सद्भाव के विषय मे निस्सन्देह हो जाते थे। इस टीका के आलोड़न से हमें तत्कालीन

सैद्धांतिक विवेचन, वादविवाद व गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

नेमिचन्द्र (११वी शती) की रचनाए

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, इसी षट्खंडागम और उसकी धवला टीका के आधार से **गोम्मटसार** की रचना हुई, जिसके ७३३ गाथाओं युक्त **जीवकांड** तथा ९६२ गाथाओ युक्त **कर्मकांड** नामक खंडो मे उक्त आगम का समस्त कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी सार निचोड लिया गया है, और अनुमानतः इसी के प्रचार से मूल षट्खडागम के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली समाप्त हो गई। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्रने अपनी कृति के अंत मे गर्व से कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती षट्खंड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा सिद्ध करता है, उसी प्रकार मैंने अपनी बुद्धि रूपी चक्र से षट्खंडागम को सिद्धकर अपनी इस कृति मे भर दिया है। इसी सफल सैद्धांतिक रचना के कारण उन्हे सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई और तत्पश्चात् यह उपाधि अन्य अनेक आचार्यो के साथ भी सलग्न पाई जाती है। सभवतः त्रैविद्यदेव की उपाधि वे आचार्य धारण करते थे, जो इस षट्खडागम के प्रथम तीन खंडों के पारगामी हो जाते थे। इन उपाधियो ने धवलाकार के पूर्व की सूत्राचार्य आदि उपाधियो का लोप कर दिया। उन्होने अपनी यह कृति गोम्मटराय के लिये निर्माण की थी। गोम्मट गंगनरेश राचभल्ल के मंत्री चामुडराय का ही उपनाम था, जिसका अर्थ होता है—सुन्दर, स्वरूपवान्। इन्ही चामुडराय ने मैसूर के श्रवण बेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बहुबलि की उस प्रख्यात मूर्ति का उद्घाटन कराया था, जो अपनी विशालता और कलात्मक सौन्दर्य के लिये कोई उपमा नही रखती। समस्त उपलम्य प्रमाणों पर से इस मूर्ति की प्रतिष्ठा का समय रविवार दि० २३ मार्च सन् १०२८, चैत्र शुक्ल पंचमी, शक स० ९५१ सिद्ध हुआ है। कर्मकाड की रचना तथा इस प्रतिष्ठा का उल्लेख कर्मकाण्ड की ९६८ वी गाथा मे साथ-साथ आया है। अतएव लगभग यही काल गोम्मटसार की रचना का माना जा सकता है। इन रचनाओं के द्वारा षट्खंडागम के विषय का अध्ययन उसी प्रकार सुलभ बनाया गया जिस प्रकार उपर्युक्त निर्युक्तियो और भाष्यो द्वारा श्रुतागो का। गोम्मटसार पर संस्कृत में दो विशाल टीकाएं लिखी गई—एक **जीवप्रबोधिनी** नामक **टीका केशव वर्णी द्वारा, और दूसरी मंदप्रबोधिनी** नामकी टीका श्रीमदभयचन्द्र सिद्धांन्त चक्रवर्ती के द्वारा। कुछ संकेतों के आधार से प्रतीत होता है कि गोम्मटसार पर चामुडराय ने भी कन्नड में एक वृत्ति लिखी थी, जो अब नही मिलती। इनके आधार

से हिंदी में इसकी सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका नामक वचनिका पं० टोडरमल जी ने सं० १८१८ मे समाप्त की । गोम्मटसार से सम्बद्ध एक और कृति **लब्धिसार** नामक है, जिसमे आत्मशुद्धि रूप लब्धियो को प्राप्त करने की विधि समझाई गयी है । अपनी **द्रव्यसंग्रह** नामक एक ५८ गाथायुक्त ग्रन्थ कृति द्वारा नेमिचन्द्र ने जीव तथा अजीव तत्वों को विधिवत् समझाकर एक प्रकार से सपूर्ण जैन तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन कर दिया है । लब्धिसार के साथ साथ एक कृति **क्षपणासार** भी मिलती है, जिसमें कर्मो को खपाने की विधि समझाई गई है । इसकी प्रशस्ति के अनुसार इसे माधवचन्द्र त्रैविद्यने बाहुबलि मंत्री की प्रार्थना से लिखकर शक स० ११२५ (ई० सन् १२०३) में पूर्ण किया था ।

षट्खडागम की परम्परा की द्वितीय महत्वपूर्ण रचना है **पंचसंग्रह**, जो अभी प्रकाशित हुई है । इसमे नामानुसार पाच अधिकार (प्रकरण) हैं. जीवसमास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सत्तरि अर्थात् सप्तितिका, जिनमे क्रमानुसार २०६, १२,७७, १०५ और ७० गाथाएं है । प्रकृति समुत्कीर्तन मे कुछ भाग गद्यात्मक भी है । इसकी बहुतसी गाथाए धवला और गोम्मटसार के समान ही है । अंतिम दो प्रकरणो पर गाथाबद्ध भाष्य भी है, जिसकी गाथाएं भी गोम्मटसार से मिलती है। ये भाष्य गाथाए मूलग्रन्थ से मिश्रित पाई जाती है । शतक नामक प्रकरण के आदि मे कर्ता ने स्पष्ट कहा है कि मैं यहा कुछ गाथाए दृष्टिवाद से लेकर कहता हू (**वोच्छं कदिवइ गाहाओ दिट्ठिवादाओ**)। शतक के अंत में १०३ वी गाथा में कहा गया है कि यहा बध-समास का वर्णन कर्म-प्रवाद नामक श्रुतसागर का रस मात्र ग्रहण करके किया गया है । जैसा हम ऊपर देख चुके है, कर्मप्रवाद दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों मे से आठवें पूर्व का नाम था । उसी प्रकार सप्तति के प्रारभ में कहा गया है कि मै यहा दृष्टिवाद के सार को सक्षेप मे कहता हूं (**वोच्छं संखेवेणं निस्संदं दिट्ठिवादादो**) । प्रत्येक प्रकरण मंगलाचरण और प्रतिज्ञात्मक गाथाओं से प्रारंभ होता है, और अपने अपने रूप मे परिपूर्ण है । इससे प्रतीत होता है कि आदित ये पाचों प्रकरण स्वतत्र रचनाओं के रूप मे रहे हैं । इनपर एक सस्कृत टीका भी है, जिसके कर्ता ने अपना परिचय शतक की अंतिम गाथा की टीका मे दिया है । यहा उन्होने मूलसघ के विद्यानदि गुरु, भट्टारक मल्लिभूपण, मुनि लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र, उनके पट्टवर्ती ज्ञानभूपण गणि और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र यति के नाम लिये हैं । ये प्रभाचन्द्र ही इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं । उक्त आचार्य-परम्परावर्ती प्रभाचन्द्र का काल सवत् १६२५ से १६३७ तक पाया जाता है । उक्त प्रशस्तिके अन्तकी पुष्पिका मे मूल ग्रन्थ को पंचसंग्रह अपर नाम लघुगोम्मटसार सिद्धान्त, कहा है । इस पर से अनुमान होता है कि मूल शतक अथवा उसकी भाष्य-गाथाओं का

संकलन गोम्मटसार पर से किया गया है। इसी पंचसंग्रह के आधार से अमितगति ने **संस्कृत श्लोकबद्ध पंचसग्रह** की रचना की, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार वि॰ सं॰ १०७३ (ई॰ सन् १०१६) में मसूरिकापुर नामक स्थान मे समाप्त हुई। इसमे पांचों अधिकारों के नाम पूर्वोक्त ही है, तथा दृष्टिवाद और कर्मप्रवाद के उल्लेख ठीक पूर्वोक्त प्रकार से ही आये है। यदि हम इसका आधार प्राकृत पंचसग्रह को न माने तो यहा शतक और सप्तति नामक अधिकारो की कोई सार्थकता ही सिद्ध नही होती, क्योकि इनमें श्लोक-संख्या उससे बहुत अधिक पाई जाती है। किन्तु जब संस्कृत रूपान्तरकारने अधिकारो के नाम वे ही रखे है, तब उन्होने भी मूल और भाष्य आधारित श्लोको को अलग अलग रखा हो तो आश्चर्य नही। प्राकृत मूल और भाष्य को सन्मुख रखकर, संभव है श्लोको का उक्त प्रकार पृथकत्व किया जा सके।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी एक **प्राकृत पंचसग्रह** पाया जाता है जिसके कर्ता पार्श्वर्षि के शिष्य चंद्रर्षि है। उनका काल छठी शती अनुमान किया जाता है। इस ग्रन्थ मे ९९३ गाथाये है जो शतक, सप्तति, कषायपाहुड, षट्कर्म और कर्मप्रकृति नामक पांच द्वारो मे विभाजित है। ग्रन्थ पर मलयगिरि की टीका उपलब्ध है।

शिवशर्म कृत **कर्मप्रकृति** (कम्मपयडि) मे ४१५ गाथाए है और वे बधन, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपशमना, उदय और सत्ता इन आठ करणों (अध्यायों) में विभाजित है। इस पर एक चूर्णि तथा मलयगिरि और यशोविजय की टीकायें उपलब्ध हैं।

शिवशर्म की दूसरी रचना **शतक** नामक भी है। गर्गर्षि कृत **कर्मविपाक** (कम्मविवाग) तथा जिनवल्लभगणि कृत **षडशीति** (सडसीइ) एवं **कर्मस्तव** (कम्मत्थव) **बंधस्वामित्व** (सामित्त) और **सप्ततिका** (सत्तरी) अनिश्चित कर्ताओं की उपलब्ध हैं, जिनमे कर्म सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न प्रकरणो का अतिसंक्षेप मे सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। ये छहो रचनाए प्राचीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन पर नाना कर्ताओं की चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, टिप्पण आदि रूप टीकाएं पाई जाती है। सत्तरी पर अभयदेव सूरि कृत भाष्य तथा मेरुतुग की वृत्ति (१४ वी शती) उपलब्ध हैं।

ईस्वी की १३वी शती में जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य देवेन्द्र सूरि ने कर्मविपाक (गा॰ ६०), कर्मस्तव (गा॰ ३४), बंधस्वामित्व (गा॰ २४), षडशीति (गा॰ ८६) और शतक (गा॰ १००), इन पाच ग्रन्थो की रचना की, जो **नये कर्मग्रन्थों** के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पर उन्होंने स्वयं विवरण भी लिखा है। छठा नव्य कर्मग्रन्थ प्रकृति-बंध विषयक ७२ गाथाओ में लिखा गया है, जिसके कर्ता के विषय में अनिश्चय है। इस पर मलयगिरि कृत टीका मिलती है।

जिनभद्र गणी कृत **विशेषणवती** (६वी शती) मे ४०० गाथाओं द्वारा ज्ञान, दर्शन, जीव, अजीव आदि नाना प्रकार से द्रव्य-प्ररूपण किया गया है।

जिनवल्लभसूरि कृत **सार्धशतक** का दूसरा नाम 'सूक्ष्मार्थ विचारसार' है जिसमें सिद्धान्त के कुछ विषयो पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस पर एक भाष्य, मुनिचन्द्र कृत चूर्णि तथा हरिभद्र, धनेश्वर और चक्रेश्वर कृत चूर्णियो के उल्लेख मिलते हैं। मूल रचना का काल लगभग ११०० ईस्वी पाया जाता है।

जीवसमास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओ मे पूर्ण हुई है, और उसमें सत्, सख्या आदि सात प्ररूपणाओ द्वारा जीवादि द्रव्यो का स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रन्थ पर एक वृहद् वृत्ति मिलती है, जो मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११०७ ईस्वी में लिखी गई ७००० श्लोक प्रमाण है।

जैन सिद्धान्त मे मन, वचन और काय योग के भेद-प्रभेदो का वर्णन आता है गोम्मटसारादि रचनाओं मे यह पाया जाता है। यशोविजय उपाध्याय (१८वी शती) ने अपने भाषारहस्य-प्रकरण की १०१ गाथाओ मे द्रव्य व भाव-आत्मक भाषा के स्वरूप तथा सत्यभाषा के जनपद-सत्या, सम्मत-सत्या, नामसत्या आदि दश भेदों का निरूपण किया है।

षट्खडागम सूत्रों की रचना के काल मे ही गुणधर आचार्य द्वारा **कसायपाहुड** की रचना हुई। यथार्थत: कहा नही जा सकता कि धरसेन और गुणधर आचार्यों में कौन पहले और कौन पीछे हुए। श्रुतावतार के कर्ता ने स्पष्ट कह दिया है कि इन आचार्यों की पूर्वापर परम्परा का उन्हे कोई प्रमाण नहीं मिल सका। कसायपाहुड की रचना षट्खडागम के समान सूत्र रूप नही, किन्तु पद्यबद्ध है। इसमे २३३ मूल गाथाएं है, जिनका विषय कषायो अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के स्वरूप का विवेचन और उनके कर्मबध मे कारणीभूत होने की प्रक्रिया का विवरण करना है। ये चारों कषाय पुन: दो वर्गो मे विभाजित होते है—प्रेयस् (राग) और द्वेष, और इसी कारण ग्रन्थ का दूसरा नाम पेज्जदोस पाहुड पाया जाता है। इस पाहुड को आर्यमंक्षु और नागहस्ति से सीखकर, यतिवृषभाचार्य ने उस पर छह हजार श्लोक प्रमाण **वृत्तिसूत्र** लिखे, जिन्हे उच्चारणाचार्य ने पुन: पल्लवित किया। इन पर वीरसेनाचार्य ने अपनी जयधवला टीका लिखी। इसे वे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर स्वर्गवासी हो गये, तब उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिख कर उसे पूरा किया। यह रचना शक सं० ७५९ (ई० सन् ८३७) में पूरी हुई, जबकि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष का राज्य था। इस टीका की रचना भी धवला के समान

मणि-प्रवाल न्याय से बहुत कुछ प्राकृत, किन्तु यत्र-तत्र संस्कृत में हुई है। इस रचना के मूडबद्री के सिद्धान्त वसति से बाहर आने का इतिहास वही है, जो षट्खंडागम का।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ—

प्राकृत पाहुडो की रचना की परम्परा मे कुंदकुंद आचार्य का नाम सुविख्यात है। यथार्थत: दिग० सम्प्रदाय मे उन्हे जो स्थान प्राप्त है, वह दूसरे किसी ग्रन्थकार को नही प्राप्त हो सका। उनका नाम एक मंगल पद्य मे भगवान महावीर और गौतम के पश्चात् ही तीसरे स्थान पर आता है—"**मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी। मंगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्।**" दक्षिण के शिलालेखों मे इन आचार्य का नाम कोडकुंद पाया जाता है, जिससे उनके तामिल देशवासी होने का अनुमान किया जा सकता है। श्रुतावतार के कर्ता ने उन्हे कोडकुड-पुर वासी कहा है। मद्रास राज्य मे गुनकल के समीप कुडकुडी नामक ग्राम है, जहाँ की एक गुफा में कुछ जैन मूर्तिया स्थापित है। प्रतीत होता है कि यही कुदकुदाचार्य का मूल निवास-स्थान व तपस्या-भूमि रहा होगा। आचार्य ने अपने ग्रन्थो मे अपना कोई परिचय नही दिया, केवल बारस अणुवेक्खा की एक प्रति के अत मे उसके कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य कहे गये है। इसके अनुसार कवि का काल ई० पू० तीसरी चौथी शताब्दी मानना पडेगा। किन्तु एक तो वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की जो आचार्य-परम्परा सुसम्बद्ध और सर्वमान्य पाई जाती है, उसमे कुन्दकुन्द का कही नाम नही आता, और दूसरे भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाए इतनी प्राचीन सिद्ध नही होती। उनमें अघोष वर्णो के लोप, य-श्रुति का आगमन आदि ऐसी प्रवृत्तिया पाई जाती हैं, जो उन्हे ई० सन् से पूर्व नही, किन्तु उससे पश्चात् कालीन सिद्ध करती हैं। पांचवी शताब्दी मे हुए आचार्य देवनदी पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका मे कुछ गाथाएं उद्धृत की है, जो कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा मे भी पाई जाने से वही से ली हुई अनुमान की जा सकती है। बस यही कुन्दकुन्दाचार्य के काल की अतिम सीमा कही जा सकती है। मर्करा के शक सवत् ३८८ के ताम्रपत्रो में उनके आम्नाय का नाम पाया जाता है, किन्तु अनेक प्रबल कारणो से ये ताम्रपत्र जाली सिद्ध होते है। अन्य शिलालेखो मे इस आम्नाय का उल्लेख सातवी आठवी शताब्दी से पूर्व नहीं पाया जाता। अतएव वर्तमान प्रमाणों के आधार पर निश्चयतः इतना ही कहा जा सकता है कि वे ई० की पाचवी शताब्दी के प्रारभ व उससे पूर्व हुए हैं।

मान्यतानुसार कुदकुदाचार्य ने कोई चौरासी पाहुडों की रचना की। किन्तु वर्तमान

में इनकी निम्न रचनाए सुप्रसिद्ध हैं.—(१) समयसार (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) नियमसार, (५) रयणसार, (६) दशभक्ति, (७) अष्ट पाहुड और (८) बारस अणुवेक्खा। **समयसार** जैन अध्यात्म की एक बडी उत्कृष्ट रचना मानी जाती है, और उसका आदर जैनियो के सभी सम्प्रदायो मे समान रूप से पाया जाता है। इसमे आत्मा के गुणधर्मों का, निश्चय और व्यवहार दृष्टियो से, विवेचन किया गया है' तथा उसकी स्वाभाविक और वैभाविक परिणतियो का सुन्दर निरूपण अनेक दृष्टान्तो, उदाहरणो, व उपमाओ सहित ४१५ गाथाओ मे हुआ है। **प्रवचनसार** की २७५ गाथाए ज्ञान, ज्ञेय व चारित्र नामक तीन श्रुतस्कंधो मे विभाजित है। यहा आचार्य ने आत्मा के मूलगुण ज्ञान के स्वरूप का सूक्ष्मता से विवेचन किया है, और जीव की प्रवृत्तियो को शुभ होने से पुण्य बध करने वाली, अशुभ होने से पाप कर्म बधक, तथा शुद्ध होने से कर्मबध से मुक्त करनेवाली बतलाया है। ज्ञेय तत्वाधिकार में गुण और पर्याय का भेद, तथा व्यवहारिक जीवन मे होनेवाले आत्म और पुद्गल सबध का विवेचन किया है। चारित्राधिकार मे श्रमणो की दीक्षा और उसकी मानसिक तथा दैहिक साधनाओ का स्वरूप समझाया है। इस प्रकार यह ग्रथ अपने नामानुसार जैन प्रवचन का सार सिद्ध होता है। कुदकुद की रचनाओ मे अभी तक इसी ग्रन्थ का भाषात्मक व विषयात्मक सम्पादन व अध्ययन आधुनिक समालोचनात्मक पद्धति से हो सका है।

पंचास्तिकाय की १८१ गाथाए दो श्रुतस्कधो मे विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कध १११ गाथाओ मे समाप्त हुआ है और इसमे ६ द्रव्यो मे से पाच अस्तिकायो अर्थात् जीव, पुद्गल. धर्म, अधर्म, और आकाश का स्वरूप समझाया गया है। अंतिम आठ गाथाए चूलिका रूप है, जिनमे सामान्य रूप से द्रव्यो और विशेषतः काल के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। दूसरा श्रुतस्कध महावीर के नमस्कार रूप मगल से प्रारभ हुआ है, और इसमे नौ पदार्थो के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है, तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाकर, उनका आचरण करने पर जोर दिया गया है। पाच अस्तिकायो के समवाय को ही लेखक ने समय कहा है, एव अपनी रचना को संग्रहसूत्र (गाथा १०१, १८०) कहा है।

समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय पर दो टीकाएं सुप्रसिद्ध है—एक अमृतचन्द्र सूरि कृत और दूसरी जयसेन कृत। अमृतचन्द्र का समय १३ वी शती का पूर्वार्द्ध व जयसेन का १० वी का अन्तिम भाग सिद्ध होता है। ये दोनों ही टीकाएं बड़ी विद्वत्तापूर्ण है, और मूलग्रथों के मर्म को तथा जैन सिद्धान्त सबंधी अनेक बातों को

स्पष्टता से समझने मे वडी सहायक होती हैं। अमृतचन्द्र की समयसार-टीका विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होने इस ग्रन्थ को संसार का सच्चा सार स्वरूप दिखलाने वाला नाटक कहा है, जिसपर से न केवल यह ग्रन्थ, किन्तु उक्त तीनो ही ग्रन्थ नाटक-त्रय के नाम से भी प्रख्यात है, यद्यपि रचना की दृष्टि से वे नाटक नही है। अमृतचन्द्र की समयसार टीका मे आये श्लोको का सग्रह **'समयसार कलश'** के नाम से एक स्वतत्र ग्रन्थ ही बन गया है, जिसपर शुभचन्द्र कृत टीका भी है।.इन्ही कलशो पर से हिन्दी में बनारसीदास ने अपना **'समयसार नाटक'** नाम का आध्यामिक काव्य रचा है, जिसके विषय मे उन्होने कहा है कि **'नाटक के पढ़त हिया फाटक सो खुलत हैं'**। अमृतचन्द्र की दो स्वतत्र रचनाए भी मिलती है—एक **पुरुषार्थसिद्ध युपाय** जो जिन प्रवचन-रहस्य-कोष भी कहलाता है, और दूसरी **तत्वार्थसार**, जो तत्वार्थसूत्र का पद्यात्मक रूपान्तर या भाष्य है। कुछ उल्लेखो व अवतरणो पर से अनुमान होता है कि उनका कोई प्राकृत पद्यात्मक ग्रन्थ, सभवत श्रावकाचार, भी रहा है, जो अभी तक मिला नही।

अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओ मे मूल ग्रन्थो की गाथा-सख्या भी भिन्न भिन्न पाई जाती है। अमृतचन्द्र के अनुसार पचास्तिकाय में १७३, समयसार मे ४१५ और प्रवचनसार मे २७५ गाथाए है, जब कि जयसेन के अनुसार उनकी संख्या क्रमश: १८१, ४३६ और ३११ है।

उक्त तीनो ग्रन्थो पर बालचन्द्र देव कृत कन्नड टीका भी पाई जाती है, जो १२ वी १३ वी शताब्दी मे लिखी गई है। यह जयसेन की टीका से प्रभावित है। प्रवचनसार पर प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित सरोज-भास्कर नामक टीका भी है, जो अनुमानत. १४ वी शती की है, और उक्त टीकाओ की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त है।

कुदकुद कृत शेष रचनाओ का परिचय चरणानुयोग विषयक साहित्य के अन्तर्गत आता है।

द्रव्यानुयोग विषयक सस्कृत रचनाए—

सस्कृत मे द्रव्यानुयोग विषयक रचनाओ का प्रारम्भ तत्वार्थ सूत्र से होता है, जिसके कर्ता उमास्वाति है। इसका रचनाकाल निश्चित नही है, किन्तु इसकी सर्वप्रथम टीका पांचवी शताब्दी की पाई जाती है, अतएव मूल ग्रन्थ की रचना इससे पूर्व किसी समय हुई होगी। यह एक ऐसी अद्वितीय रचना है, कि उसपर दिग० श्वे० दोनों सम्प्रदायो की अनेक पृथक् पृथक् टीकाएं पाई जाती हैं। इस ग्रन्थ की रचना सूत्र रूप है और वह दस अध्यायो में विभाजित है। प्रथम अध्याय के ३३ सूत्रों में

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के उल्लेख पूर्वक सम्यग्दर्शन की परिभाषा, सात तत्वों के नाम-निर्देश, प्रमाण और नयका उल्लेख एवं मति श्रुत आदि पाचज्ञानों का स्वरूप बतलाया गया है। दूसरे अध्याय में ५३ सूत्रो द्वारा जीवों के भेदोपभेद बतलाये गये हैं। तीसरे अध्याय में ३८ सूत्रों द्वारा अधोलोक और मध्यलोक का, तथा चौथे अध्याय मे ४२ सूत्रों द्वारा देवलोक का वर्णन किया गया है। पाचवे अध्याय मे छह द्रव्यो का स्वरूप ४२ सूत्रो द्वारा बतलाया गया है, और इस प्रकार सात तत्वो मे मे प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का प्ररूपण समाप्त किया गया है। छठे अध्याय मे २७ सूत्रो द्वारा आस्रव तत्व का निरूपण समाप्त किया गया है, जिसमे शुभाशुभ परिणामो द्वारा पुण्य पाप रूप कर्मास्रव का वर्णन है। सातवे अध्याय मे अहिंसादि व्रतों तथा उनसे सम्बद्ध भावनाओ का ३९ सूत्रो द्वारा वर्णन किया गया है। आठवे अध्याय के २६ सूत्रो में कर्मबन्ध के मिथ्यादर्शनादि कारण, प्रकृति स्थिति आदि विधियो, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मभेदो और उनके उपभेदो को स्पष्ट किया गया है। नौवें अध्याय मे ४७ सूत्रों द्वारा अनागत कर्मो को रोकने के उपाय रूप सवर, नथा बधे हुए कर्मो के विनाश रूप निर्जरा तत्वो को समझाया गया है। दसवे अध्याय मे नौ सूत्रो द्वारा कर्मो के क्षय से उत्पन्न मोक्ष का स्वरूप समझाया गया है। इस प्रकार छोटे छोटे ३५६ सूत्रो द्वारा जैन धर्म के मूलभूत सात तत्वो का विधिवत् निरूपण इस ग्रन्थ मे आ गया है, जिसमे इस ग्रन्थ को समस्त जैन सिद्धान्त की कुंजी कहा जा सकता है। इसी कारण यह ग्रन्थ लोक प्रियता और सुविस्तृत प्रचार की दृष्टि से जैन साहित्य मे अद्वितीय है। दिग० परम्परा में इसकी प्रमुख टीकाएं देवनदि पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि (५वी शती), अकलक कृत तत्वार्थराजवार्तिक (आठवी शती) तथा विद्यानदि कृत तत्वार्थश्लोकवार्तिक (नौवी शती) एवं श्वे० परम्परा मे स्वोपज्ञ भाष्य तथा सिद्धसेन गणि कृत टीका (आठवी शती) है। इन टीकाओ के द्वारा मूल ग्रन्थ का सूत्रो द्वारा सक्षेप मे वर्णित विषय खूब पल्लवित किया गया है। इनके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ पर छोटी बडी और भी अनेक टीकाएं उत्तर काल मे लिखी गई है। तत्वार्थ सूत्र के विषय को लेकर उसके भाष्य रूप स्वतंत्र पद्यात्मक रचनाएं भी की गई हैं। इनमे अमृतचन्द्रसूरि कृत तत्वार्थसार विशेष उल्लेखनीय है।

न्याय विषयक प्राकृत जैन साहित्य—

जैन आगम सम्मत तत्वज्ञान की पुष्टि अनेक प्रकार की न्यायशैलियों मे की गई है, जिन्हें स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद आदि नामो से कहा गया है। इन न्याय

शैलियों का स्फुटरूप से उल्लेख व प्रतिपादन तो जैन साहित्य में आदि से ही यत्र तत्र आया है, तथापि इस विषय के स्वतंत्र ग्रन्थ चौथी पांचवी शताब्दी से रचे गये मिलते हैं। जैन न्यायका प्राकृत में प्रतिपादन करने वाला सर्व प्रथम ग्रन्थ सिद्धसेन कृत **'सम्मइ सुत्त'** (सन्मति या सम्मति तर्क) या सन्मति-प्रकरण है। सन्मति-तर्क को तत्वार्थसूत्र के समान ही दिग० श्वे० दोनो सम्प्रदायो के आचार्यो ने प्रमाण रूप से स्वीकृत किया है। षट्खडागम की धवला टीका मे इसके उल्लेख व उद्धरण मिलते हैं, तथा वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित (शक ६४७) में इसका व संभवतः उस पर सन्मति (सुमतिदेव) कृत विवृत्ति का उल्लेख किया है। इसका रचना काल चौथी-पाचवी शताब्दी ई० है। इसमे तीन काड है, जिनमे क्रमशः ५४, ४३ और ६६ या ७० गाथाए है। इस पर अभयदेव कृत २५००० श्लोक प्रमाण 'तत्वबोध विधायिनी' नामकी टीका है, जिसमे जैन न्याय के साथ साथ जैन दर्शन का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इससे पूर्व मल्लवादी द्वारा लिखित टीका के भी उल्लेख मिलते है। प्राकृत में स्याद्वाद और नयका प्ररूपण करने वाले दूसरे आचार्य देवसेन है, जो दसवीं शताब्दी मे हुए है। उनकी दो रचनाए उपलभ्य है: एक **लघु-नयचक्र**, जिसमे ८७ गाथाओं द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो तथा उनके नैगमादि नौ नयो को उनके भेदोपभेद के उदाहरणो सहित समझाया है। दूसरी रचना **वृहन्नयचक्र** है, जिसमे ४२३ गाथाए हैं, और उसमे नयो व निक्षेपो का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। रचना के अंत की ६, ७ गाथाओ मे लेखक ने एक यह महत्वपूर्ण बात बतलाई है कि आदितः उन्होंने 'दव्व-सहाव-पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नाम से इस ग्रन्थ की रचना दोहा बध में की थी, किन्तु उनके एक शुभकर नामके मित्र ने उसे सुनकर हसते हुए कहा कि यह विषय इस छद मे शोभा नही देता; इसे गाथा बद्ध कीजिये। अतएव उसे उनके माहल्ल-धवल नामक शिष्य ने गाथा रूप मे परिवर्तित कर डाला। स्याद्वाद और नयवाद का स्वरूप, उनके पारिभाषिक रूप मे, व्यवस्था से समझने के लिये देवसेन की ये रचनायें बहुत उपयोगी हैं। इनकी न्यायविषयक एक अन्य रचना **'आलाप-पद्धति'** है। इसकी रचना संस्कृत गद्य मे हुई है। जैन न्याय मे सरलता से प्रवेश पाने के लिये यह छोटा सा ग्रन्थ बहुत सहायक सिद्ध होता है। इसकी रचना नयचक्र के पश्चात् नयों के सुबोध व्याख्यान रूप हुई है।

न्याय विषयक सस्कृत जैन साहित्य—

जैन न्याय की इस प्राचीन शैली को परिपुष्ट बनाने का श्रेय आचार्य समंतभद्र

(५-वी ६ ठी शती) की है, जिनकी न्याय विषयक **आप्तमीमांसा** (११४ श्लोक) और **युक्त्यनुशासन**, (६४ श्लोक), ये दोनो रचनाए प्राप्त है। **आप्तमीमांसा** को देवागम स्तोत्र भी कहा गया है। ये दोनो कृतिया स्तुतियो के रूप मे रची गई हैं, और उनमें विषय की ऊहापोह एवं खडन-मडन स्याद्वाद की सप्तभगी व नयो के आश्रय से किया गया है, और उनमे विशेष रूप से एकातवाद का खडन कर अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है। इसी अनेकान्तवाद के आधारपर युक्त्यनुशासन मे महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा गया है। इस रचना का दिग० सम्प्रदाय मे बडा आदर हुआ है, और उसपर विशाल टीका साहित्य पाया जाता है। सबसे प्राचीन टीका भट्टाकलककृत **अष्टशती** है, जिसे आत्मसात् करते हुए विद्यानदि आचार्य ने अपनी **अष्टसहस्त्री** नामक टीका लिखी है। इस टीका के आप्तमीमासालकृति व देवागमालकृति नाम भी पाये जाते है। अन्य कुछ टीकाएं वसुनदि कृत **देवागम-वृत्ति** (१० वी शती) तथा लघु समतभद्र कृत **अष्टसहस्त्रीविषमपद-तात्पर्यटीका** (१३ वी शती) नामकी है। एक टिपण्ण उपाध्याय यशोविजय कृत भी उपलभ्य है। युक्त्यनुशासन पर विद्यानदि आचार्य कृत टीका पाई जाती है। इस टीका की प्रस्तावना मे कहा गया है कि समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमासा में 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' द्वारा तीर्थकर भगवान् को व्यवस्थापित किया, और फिर युक्त्यनुशासन की रचना की। इसके द्वारा हमे उक्त दोनो ग्रन्थो के रचना-क्रम की सूचना मिलती है। विद्यानदि ने यहाँ जो 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' पद आप्तमीमासा के सम्बन्ध मे प्रयोग किया है, उसका आगे बडा प्रभाव पडा, और हेमचन्द्र ने अपनी एक स्तुति रूप रचना का यही नाम रक्खा, जिस पर मल्लिषेण ने **स्याद्वाद मंजरी** टीका लिखी। अपनी एक दूसरी स्तुति-रूप रचना को हेमचन्द्र ने 'अयोग-व्यवच्छेदिका नाम दिया है। समतभद्र कृत अन्य दो ग्रन्थो अर्थात् **जीव-सिद्धि और तत्वानुशासन** के नामो का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये रचनाये अभी तक प्रकाश मे नही आईं।

सस्कृत मे जैन न्याय विषयक सक्षिप्ततम रचना सिद्धसेन कृत **न्यायावतार** उपलब्ध होती है, जिसमे प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण-भेदो के प्रतिपादन द्वारा जैन न्याय को एक नया मोड़ दिया गया है। इससे पूर्व प्रमाण के मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल, ये पाच ज्ञानभेद किये जाते थे, जिनमे प्रथम दो परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष माने जाते थे। इसके अनुसार इन्द्रिय-जन्य समस्त ज्ञान परोक्ष माना जाता था। किन्तु वैदिक व बौद्ध परम्परा के न्याय शास्त्रो में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ही मानकर चला गया है। इस ज्ञान को

सम्भवतः जिनभद्रगणि ने अपने विशेषावश्यक भाष्य मे प्रथम बार परोक्ष के स्थान पर 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' की संज्ञा प्रदान की। इसी आधार पर पीछे के न्याय ग्रन्थों में प्रमाण को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन अथवा उपमान को मिलाकर चार भेदों मे विभाजित कर ऊहापोह की जाने लगी। न्यायावतार मे कुल ३२ कारिकाएं हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त तीन प्रमाणो का संक्षेप से प्रतिपादन किया गया है। इसी विषय का विस्तार न्यायावतार की हरिभद्र सूरि (८वी शती) कृत **वृत्ति**, सिद्धर्षि गणि (१०वीं शती) कृत **टीका**, एव देवभद्र सूरि (१२ वी शती) कृत **टिप्पणों** मे किया गया है। शान्तिसूरि (११ वी शती) ने न्यायावतार की प्रथम कारिका पर सटीक **पद्यबंध वार्त्तिक** रचा है। इसी प्रथम कारिका पर जिनेश्वर सूरि (११ वी शती) ने अपना पद्यबध **प्रमालक्षण** नामक ग्रन्थ लिखा, और स्वय उसपर व्याख्या भी लिखी।

जैन न्याय को अकलक की देन बडी महत्वपूर्ण है। अनेक शिलालेखो व प्रशस्तियो के आधार से अकलक का समय ई० की आठवी शती का उत्तरार्द्ध विशेषतः ई० ७२०-७८० सिद्ध हो चुका है। इनकी तत्त्वार्थसूत्र तथा आप्तमीमासा पर लिखी हुई टीकाओ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उन रचनाओं मे हमें एक बड़े नैयायिक की तर्क शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अकलक की न्यायविषयक चार कृतियां प्राप्त हुई है-प्रथम कृति **लघीयस्त्रय** मे प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश तथा प्रवचन-प्रवेश नाम के तीन प्रकरण है, जो प्रथमतः स्वतत्र ग्रन्थ थे, और पीछे एकत्र ग्रथित होकर लघीयस्त्रयनाम से प्रसिद्ध हो गये। प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीनो का तार्किक शैली से एकत्र प्ररूपण करने वाला यही सर्वप्रथम ग्रन्थ सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ मे उन्होने प्रत्यक्ष का स्वतत्र लक्षण स्थिर किया (१, ३), तार्किक कसौटी द्वारा क्षणिक-वाद का खंडन किया (२, १), तर्क का विषय, स्वरूप, उपयोग आदि स्थिर किया; इत्यादि। इसपर स्वयं कर्ता की विवृत्ति नामक टीका मिलती है। इसी पर प्रभाचन्द्र ने **लघीयस्त्रयालंकार** नामकी वह विशाल टीका लिखी जो '**न्यायकुमुदचन्द्र**' नामसे प्रसिद्ध है, और जैन न्याय का एक बडा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इनका काल ई० की ग्यारहवी शती है। अकलक की दूसरी रचना '**न्यायविनिश्चय**' है, और उसपर भी लेखक ने स्वयं एक वृत्ति लिखी थी। मूल रचना की कोई स्वतत्र प्रति प्राप्त नही हो सकी, किन्तु उसका उद्धार उनकी वादिराजसूरि (१३ वी शती) द्वारा रचित **विवरण** नामकी टीका पर से किया गया है। इसमे प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नाम के तीन प्रस्ताव हैं, जिनकी तुलना सिद्धसेन द्वारा न्यायावतार मे स्थापित प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत; तथा बौद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान से करने योग्य है। तीसरी

रचना '**सिद्धिविनिश्चय**' मे प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्प सिद्धि, प्रमाणान्तर सिद्धि व जीवसिद्धि आदि बारह प्रस्तावों द्वारा प्रमाण, नय और निक्षेप का विवेचन किया गया है। इस पर अनंत-वीर्यकृत (११वी शती) विशाल टीका है। इनका चौथा ग्रन्थ '**प्रमाण-संग्रह**' है, जिसकी ८७-८८ कारिकाएं नौ प्रस्तावो मे विभाजित है। इसपर कर्ता द्वारा स्वरचित वृत्ति भी है, जो गद्य मिश्रित शैली मे लिखी गई है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का स्वरूप, हेतुओं और हेत्वाभासो का निरूपण, वाद के लक्षण, प्रवचन के लक्षण, सप्तभंगी और नैगमादि सात नयों का कथन, एव प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण बडी प्रौढ़ और गंभीर शैली मे किया गया है, जिससे अनुमान होता है कि यही अकलंक की अन्तिम रचना होगी। इसपर अनन्तवीर्य कृत प्रमाणसंग्रह भाष्य, अपर नाम '**प्रमाणसंग्रह-अलंकार** टीका' उपलभ्य है। इन रचनाओ द्वारा अकलक ने जैन न्याय को खूब परिपुष्ट किया है, और उसे उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कराई है।

अकलक के अनन्तर जैन न्याय विषयक साहित्य को विशेष रूप से परिपुष्ट करने का श्रेय आचार्य विद्यानदि को है, जिनका समय ई० ७७५ से ८४० तक सिद्ध होता है। उनकी रचनाए दो प्रकार की पाई जाती है, एक तो उनसे पूर्वकाल की विशेष सैद्धान्तिक कृतियो की टीकाए, और दूसरे अपनी स्वतत्र कृतिया। उनकी उमास्वाति कृत त० सूत्र पर **श्लोकवार्तिक** नामक टीका, समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन की टीका और आप्तमी-मांसा पर **अष्टसहस्त्री** टीका के उल्लेख यथास्थान किये जा चुके है। इन टीकाओ मे भी उनकी सैद्धान्तिक प्रतिभा एवं न्याय की तर्क शैली के दर्शन पद-पद पर होते है। उनकी न्याय विषयक स्वतत्र कृतियां हैं—**आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और सत्य-शासन-परीक्षा**। **आप्त-परीक्षा** सर्वार्थसिद्धि के 'मोक्षमार्गस्य नेतार' आदि प्रथम श्लोक के भाष्य रूप लिखी गई है। विद्या-नदि ने अपने प्रमाण-परीक्षादि ग्रन्थो मे उस वर्णन-शैली को अपनाया है, जिसके अनुसार प्रतिपादन अन्य ग्रन्थ की व्याख्या रूप से नही, किन्तु विषय का स्वतंत्र धारावाही रूप से किया जाता है। इन सब ग्रन्थो मे कर्ता ने अकलक के न्याय को और भी अधिक परिमार्जित करके चमकाया है। उनकी एक और रचना '**विद्यानंद-महोदय**' का उल्लेख स्वय उनके तत्वार्थश्लोकवार्तिक मे, तथा वादिदेव सूरि के 'स्याद्वाद-रत्नाकर' मे मिलता है, किन्तु वह अभी तक प्रकाश में नही आ सकी है।

विद्यानंदि के पश्चात् विशेष उल्लेखनीय नैयायिक अनंतकीर्ति (१० वी शती) और माणिक्यनंदि (११ वी शती) पाये जाते है। अनन्तकीर्ति की दो रचनाए '**वृहत् सर्वज्ञसिद्धि**' और '**लघुसर्वज्ञसिद्धि**' प्रकाश मे आ चुकी हैं। माणिक्यनंदि कृत **परीक्षा-मुख** मे हमें अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन, इन पाचो अवयवों

के प्रयोग की स्वीकृति दिखाई देती है (३, २७-४६) । यहां अनुपलब्धि को एक मात्र प्रतिषेध का ही नहीं, किन्तु विधि-निषेध दोनों का साधक बतलाया है (३, ५७ आदि) । यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्र कृत **'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड'** नामक टीका के द्वारा विशेष प्रख्यात हो गया है । प्रभाचन्द्र कृत 'न्यायकुमुदचन्द' नामक टीका का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । प्रभाचन्द्र का काल ई० की ११ वीं शती सिद्ध होता है । १२ वी शती मे अनंतवीर्य ने **प्रमेयरत्नमाला**, १५ वी शती मे धर्मभूषण ने **न्यायदीपिका**, विमलदास ने **सप्तभंगि-तरंगिणी**, शुभचन्द्र ने **संशयवदनविदारण**, तथा अनेक आचार्यो ने पूर्वोक्त ग्रन्थो पर टीका, वृत्ति व टिप्पण रूप से अथवा स्वतंत्र प्रकरण लिखकर सस्कृत मे जैन न्यायशास्त्र की परम्परा को १७ वी-१८ वी शती तक बराबर प्रचलित रखा, और उसका अध्ययन-अध्यापन उत्तरोत्तर सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया ।

जिस प्रकार दिग० सम्प्रदाय में पूर्वोक्त प्रकार से न्यायविषयक ग्रन्थों की रचना हुई, उसी प्रकार श्वे० सम्प्रदाय में भी सिद्धसेन के पश्चात् सस्कृत में नाना न्यायविषयक ग्रन्थो की रचना की परम्परा १८ वी शती तक पाई जाती है । मुख्य नैयायिक और उनकी रचनाएं निम्न प्रकार हैं: मल्लवादी ने छठवी शती में, **द्वादशार नयचक्र** नामक ग्रन्थ की रचनाकी जिसपर सिंहसूरिगणि की वृत्ति है और उसी वृत्तिपर से इस ग्रन्थका उद्धार किया गया है । इसमे सिद्धसेन के उद्धरण पाये जाते हैं, तथा भर्तृहरि और दिङ्नाग के मतों का भी उल्लेख हुआ है । इस नयचक्र का कुछ उद्धरण अकलंकके तत्वार्थवार्तिक मे भी पाया जाता है । आठवी शती में हरिभद्राचार्य ने न केवल जैन न्याय को, किन्तु जैन सिद्धान्त को भी अपनी बिपुल रचनाओ द्वारा परिपुष्ट बनाया है, एवं कथा साहित्य को भी अलंकृत किया है । उनकी रचनाओ मे **अनेकान्त जयपताका** (स्वोपज्ञ वृत्तिसहित), **अनेकान्त-वाद-प्रवेश** तथा **सर्वज्ञसिद्धि** जैन न्याय की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।

अनेकान्त-जयपताका में ६ अधिकार है, जिनमे क्रमशः सदसद्-रूप-वस्तु, नित्यानित्यवस्तु, सामान्य-विशेष, अभिलाप्यानभिलाप्य, योगाचार मत, और मुक्ति, इन विषयों पर गम्भीर व विस्तृत न्यायशैली से ऊहापोह की गई है । उक्त विषयो मे से योगाचार मत को छोड़कर शेष पाच विषयों पर हरिभद्रने **अनेकान्तवाद-प्रवेश** नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा, जो भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से अनेकान्तजयपताका का संक्षिप्त रूप ही प्रतीत होता है । यह ग्रन्थ एक टिप्पणी सहित प्रकाशित हो चुका है (पाटन १९१२) । उनके **अष्टप्रकरण** नामक ग्रन्थ में आठ-आठ पद्यो के ३२

प्रकरण है जिनमे आत्मनित्यवाद, क्षणिकवाद, नित्यानित्य आदि विषयो का निरूपण पाया जाता है। इसपर जिनेश्वर सूरि (११ वी शती) की टीका है। इस टीका में कुछ अश प्राकृत के है, जिनका सस्कृत रूपान्तर टीकाकार के शिष्य अभयदेव सूरि ने किया है। उनकी अन्य दार्शनिक रचनाए है : **षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय** (सटीक), **धर्मसंग्रहणी, तत्वतरंगिणी** व **परलोकसिद्धि** आदि। धर्मसग्रहणी मे १३९६ गाथाओ द्वारा धर्म के स्वरूप का निक्षेपो द्वारा प्ररूपण किया गया है। प्रसगवश इसमे चार्वाक मत का खडन भी आया है। इसपर मलयगिरि कृत सस्कृत टीका उपलब्ध है। उनकी योग विषयक **योगबिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योग-शतक, योगविंशिका** (विशिति विशिका मे १७ वी विशिका) एव **षोडशक** (१५ वा, १६ वा षोडशक) नामक रचनाएं पातञ्जल योग शास्त्र की तुलना मे योग विषयक ज्ञान विस्तार की दृष्टि से अध्ययन करने योग्य है। अन्यमतो के विवेचन की दृष्टि से उनकी **द्विज-वदन-चपेटा** नामक रचना उल्लेखनीय है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने बौद्धाचार्य दिङ्नाग (५ वी शती) के न्यायप्रवेश पर अपनी टीका लिखकर एक तो मूलग्रन्थ के विषय को बडे विशदरूप मे सुस्पष्ट किया, और दूसरे उसके द्वारा जैन सम्प्रदाय मे बौद्ध न्याय के अध्ययन की परम्परा चला दी। आगामी काल की रचनाओ मे वादिदेव सूरि (१२ वी शती) कृत **प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वाद रत्नाकर**, हेमचन्द्र (१२ वी शती) कृत **प्रमाण-मीमांसा** व **अन्ययोगव्यवच्छेदिका** और **वेदांकुश**, रत्नप्रभसूरि (१३ वी शती) कृत **स्याद्वाद-रत्नाकरावतारिका**, जयसिह सूरि (१५ वी शती) कृत **न्यायसार-दीपिका**, शुभविजय (१७ वी शती) कृत **स्याद्वादमाला**, विनयविजय (१७ वी शती) कृत **नयकर्णिका** उल्लेखनीय है।

समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन के परिचय मे कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ के टीकाकार विद्यानदि ने आप्तमीमासा का 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' कहा है, और तदनुसार हेमचन्द्र ने अपनी **अन्ययोगव्यवच्छेदिका** और **अयोगव्यवच्छेद** ये दो द्वात्रिंशिकाए लिखी। अन्ययोग-व्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण सूरि ने एक सुविस्तृत टीका लिखी, जिसका नाम **स्याद्वादमंजरी** है, और जिसे उन्होने अपनी प्रशस्ति के अनुसार जिनप्रभसूरि की सहायता से शक स० १२१४ (ई० १२९२) मे समाप्त किया था। इसमे न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध व चार्वाक मतो का परिचय और उनपर टीकाकार के समालोचनात्मक विचार प्राप्त होते हैं। इस कारण यह ग्रन्थ जैन दर्शन के उक्त दर्शनो से तुलनात्मक अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आठरवी शताब्दी में आचार्य यशोविजय हुए, जिन्होने जैनन्याय और सिद्धान्त

को अपनी अनेक रचनाओ द्वारा खूब परिपुष्ट किया । न्याय की दृष्टि से उनकी **'अनेकान्त-व्यवस्था'**, **'जैन तर्कभाषा'**, **'सप्तभंगी–नय–प्रदीप'**, **'नयप्रदीप'**, **'नयोपदेश'**, **'नयरहस्य'** व **'ज्ञानसार-प्रकरण'**, **'अनेकान्त-प्रवेश'**, **अनेकान्त-व्यवस्था** व **वादमाला** आदि उल्लेखनीय है। **तर्कभाषा** में उन्होने अकलंकके लघीयस्त्रय तथा प्रमाण-संग्रह के अनुसार प्रमाण. नय और निक्षेप, इन तीन विषयों का प्रतिपादन किया है। बौद्ध परम्परा मे मोक्षाकर कृत तर्कभाषा (१२ वी शती) और वैदिक परम्परा मे केशव मिश्र कृत तर्कभाषा (१३ वी–१४ वी शती) के अनुसरण पर ही इस ग्रन्थ का नाम 'जैन तर्कभाषा' चुना गया लगता है। उन्होने **ज्ञानबिन्दु**, **न्याय-खण्डखाद्य** तथा **न्यायालोक** को नव्य शैली में लिखकर जैन न्याय के अध्ययन को नया मोड दिया। ज्ञानबिन्दु मे उन्होंने प्राचीन मतिज्ञान के व्यंजनावग्रह को कारणांश, अर्थावग्रह और ईहा को व्यापारांश, अवाय को फलांश और धारणा को परिपाकांश कहकर जैन परिभाषाओ की न्याय आदि दर्शनो मे निर्दिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियाओं से सगति बैठाकर दिखलाई है।

करणानुयोग साहित्य—

उपर्युक्त विभागानुसार द्रव्यानुयोग के पश्चात् जैन साहित्य का दूसरा विषय है करणानुयोग। इसमे उन ग्रन्थो का समावेश होता है जिनमें ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोको का, द्वीपसागरो का, क्षेत्रो, पर्वतो व नदियो आदि का स्वरूप व परिमाण विस्तार से, एव गणित की प्रक्रियाओं के आधार से, वर्णन किया गया है। ऐसी अनेक रचनाओं का उल्लेख ऊपर वर्णित जैन आगम के भीतर किया जा चुका है, जैसे सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति। इन प्रज्ञप्तियो मे समस्त विश्व को दो भागों मे बाटा गया है----लोकाकाश व अलोकाकाश। अलोकाकाश विश्व का वह अनन्त भाग है जहा आकाश के सिवाय अन्य कोई जड़ या चेतन द्रव्य नही पाये जाते। केवल लोकाकाश ही विश्व का वह भाग है जिसमे जीव, और पुद्गल तथा इनके गमनागमन मे सहायक धर्म और अधर्म द्रव्य तथा द्रव्य परिवर्तन मे निमित्तभूत काल, ये पांच द्रव्य भी पाये जाते है। इस द्रव्यलोक के तीन विभाग है–ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोक। मध्यलोक मे हमारी वह पृथ्वी है, जिसपर हम निवास करते हैं। यह पृथ्वी गोलाकार असंख्य द्वीप-सागरो मे विभाजित है। इसका मध्य मे एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है, जिसे वलयाकार वेष्टित किये हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण-समुद्र है। लवणसमुद्र को चार लाख योजन विस्तार वाला धातकी खंड द्वीप वेष्टित

किये हुए है, और उसे भी वेष्टित किये हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि के आसपास १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है। उसके आगे उक्त प्रकार दुगुने, दुगुने विस्तार वाले असंख्य सागर और द्वीप हैं। पुष्करवर-द्वीप के मध्य मे एक महान् दुर्लंघ्य पर्वत है, जो मानुषोत्तर कहलाता है, क्योंकि इसको लाघकर उस पार जाने का सामर्थ्य मनुष्य मे नही है। इस प्रकार जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप मिलकर मनुष्य--लोक कहलाता है। जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों मे विभाजित है, जिनकी सीमा निर्धारित करने वाले छह कुल--पर्वत हैं। क्षेत्रों के नाम है---भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इनके विभाजक पर्वत है-- हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी। इनमे मध्यवर्ती विदेह क्षेत्र सबसे विशाल है, और उसी के मध्य मे मेरु पर्वत है। भरतक्षेत्र मे हिमालय से निकलकर गगा नदी पूर्व समुद्रकी ओर, तथा सिंधु पश्चिम समुद्र की ओर बहती है। मध्य में विन्ध्य पर्वत है। इन नदी-पर्वतो के द्वारा भरत क्षेत्र के छह खड हो गये है, जिनको जीतकर अपने वशीभूत करने वाला सम्राट् ही षट्खड चक्रवर्ती कहलाता है।

मध्यलोक में उपर्युक्त असख्य द्वीपसागरो की परम्परा स्वयम्भूरमरण समुद्र पर समाप्त होती है। मध्यलोक के इस असंख्य योजन विस्तार का प्रमाण एक राजु माना गया है। इस प्रमाण से सात राजु ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक, और सात राजु नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। ऊर्ध्वलोक मे पहले ज्योतिर्लोक आता है, जिसमे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारो की स्थिति बतलाई गई है। इनके ऊपर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोतर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये सोलह स्वर्ग हैं। इन्हे कल्प भी कहते हैं, क्योंकि इनमे रहने वाले देव, इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक इन दस उत्तरोत्तर हीन पदरूप कल्पो (भेदो) मे विभाजित हैं। इन सोलह स्वर्गो के ऊपर नौ ग्रैवेयक, और उनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पाच कल्पातीत देव-विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर लोक का अग्रतम भाग है, जहां मुक्तात्माएं जाकर रहती हैं। इसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने से कोई जीव या अन्य द्रव्य प्रवेश नही कर पाता। अधोलोक मे क्रमशः रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम प्रभा नाम के सात उत्तरोतर नीचे की ओर जाते हुए नरक हैं।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से कालचक्र घूमा

करता है, जिसके अनुसार सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह अवसर्पिणी के, और ये ही विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी के आरे होते हैं। प्रथम तीन आरो के काल में भोगभूमि की रचना रहती है, जिसमें मनुष्य अपनी अन्न वस्त्र आदि समस्त आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से ही पूरी करते है, और वे कृषि आदि उद्योग-व्यवसायों से अनभिज्ञ रहते है। सुषमा-दुषमा काल के अन्तिम भाग में क्रमशः भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होती और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ होती है। उस समय कर्मभूमि सम्बधी युगधर्मो को समझाने वाले क्रमशः चौदह कुलकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के सुषमा-दुषमा काल के अंत में प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमकर, क्षेमधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अमिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराज, इन चौदह कुलकरो और विशेषतः अंतिम कुलकर नाभिराज ने असि, मसि, कृषि, विद्या-वाणिज्य, शिल्प और उद्योग, इन षट्कर्मों की व्यवस्थाएं निर्माण की। इनके पश्चात् ऋषभ आदि २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव ९ वासुदेव, और ९ प्रति-वासुदेव, ये ६३ शलाका पुरुष दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल मे हुए। अंतिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् पचम काल दुषम प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान मे चल रहा है। यही सामान्य रूप से करणानुयोग के ग्रन्थो मे वर्णित विषयों का संक्षिप्त परिचय है। किन्ही ग्रन्थो मे यह सम्पूर्ण विषयवर्णन किया गया है, और किन्ही मे इसमे से कोई। किन्तु विशेषता यह है कि इनके विषय के प्रतिपादन में गणित की प्रक्रियाओ का प्रयोग किया गया है, जिससे ये ग्रन्थ प्राचीन गणित के सूत्रो, और उनके क्रम-विकास को समझने मे बड़े सहायक होते हैं। इस विषय के मुख्य ग्रन्थ निम्न प्रकार है—

दिग० परम्परा मे इस विषय का प्रथम ग्रन्थ **लोकविभाग** प्रतीत होता है। यद्यपि यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नही है, तथापि इसका पश्चात् कालीन सस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर सिहसूरि कृत लोकविभाग मे मिलता है। सिहसूरि ने अपनी प्रशस्ति मे स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर महावीर ने जगत् का जो विधान बतलाया, उसे सुधर्म स्वामी आदि ने जाना, और वही आचार्य-परम्परा से प्राप्त कर, सिहसूरि ऋषि ने भाषा का परिवर्तन करके रचा। जिस मूलग्रन्थ का उन्होने यह भाषा-परवर्तन किया, उसका भी उन्होंने यह परिचय दिया है कि वह ग्रन्थ कांची नरेश सिंहवर्मा के बाईसवे संवत्सर, तदनुसार शक के ३८० वे वर्ष मे सर्वनंदि मुनि ने पांड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम मे लिखा था। इतिहास से सिद्ध है कि शक संवत् ३८० में पल्लव वंशी राजा सिहवर्मा राज्य करते थे, और उनकी राजधानी कांची थी। यह मूल ग्रन्थ अनुमानतः प्राकृत मे ही रहा होगा।

कुदकुंदकृत नियमसार की १७ वी गाथा मे जो 'लोयविभागे सुणादव्वं' रूप से उल्लेख किया गया है, उसमे सम्भव है इसी सर्वनंदि कृत लोकविभाग का उल्लेख हो। आगामी तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ मे लोकविभाग का अनेक बार उल्लेख किया गया है।

सिहसूरि ऋषि ने यह भी कहा है कि उन्होने अपना यह रूपान्तर उक्त ग्रन्थ पर से समास अर्थात् संक्षेप मे लिखा है। जिस रूप में यह रचना प्राप्त हुई है, उसमे २२३० श्लोक पाये जाते हैं, और वह जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, द्वीप-समुद्र, काल, ज्योतिर्लोक, भवनवासी लोक, अधोलोक, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोग, और मोक्ष, इन ग्यारह विभागो मे विभाजित है। ग्रन्थ में यत्र तत्र तिलोयपण्णति, आदिपुराण, त्रिलोकसार व जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति ग्रन्थो के अवतरण या उल्लेख पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना ११ वी शती के पश्चात् हुई अनुमान की जा सकती है।

त्रैलोक्य सबधी समस्त विषयो को परिपूर्णता और सुव्यवस्था से प्रतिपादित करने वाला उपलभ्य प्राचीनतम ग्रन्थ **तिलोयपण्णत्ति** है, जिसकी रचना प्राकृत गाथाओं मे हुई है। यत्र तत्र कुछ प्राकृत गद्य भी आया है, एवं अंकात्मक संदृष्टियो की उसमें बहुलता है। ग्रन्थ इन नौ महाधिकारो मे विभाजित है-- सामान्य लोक, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक। ग्रन्थ की कुल गाथा-संख्या ५६७७ है। बीच बीच मे इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, उपजाति, दोधक, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका और मालिनी छदो का भी प्रयोग पाया जाता है। ग्रन्थोल्लेखों में अग्गायणी, संगोयणी, संगाहनी, दिट्ठिवाद, परिकम्म, मूलायार, लोयविणिच्छय, लोगाइणी व लोकविभाग नाम पाये जाते हैं। मनुष्य लोकान्तर्गत श्रेसठ शलाका पुरुषो की ऐतिहासिक राजवंशीय परम्परा, महावीर निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् हुए चतुर्मुख कल्कि के काल तक वर्णित है। षट्खंडागम की वीरसेन कृत धवला टीका मे तिलोयपण्णत्ति का अनेक बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों पर से इस ग्रन्थ की रचना मूलतः ई० सन् के ५०० और ८०० के बीच हुई सिद्ध होती है। किन्तु उपलभ्य ग्रन्थ मे कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते है जो उक्त वीरसेन कृत धवला टीका परसे जोडे गये प्रतीत होते है। इस ग्रन्थ के कर्ता यति वृषभाचार्य है, जो कषायप्राभृत की चूर्णि के लेखक से अभिन्न ज्ञात होते हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत **त्रिलोकसार** १०१८ प्राकृत गाथाओ मे समाप्त हुआ है। उसमे यद्यपि कोई अध्यायो के विभाजन का निर्देश नही किया गया, तथापि जिन विषयो के वर्णन की आरंभ मे प्रतिज्ञा की गई है, और उसी अनुसार जो वर्णन हुआ है, उसपर से इसके लोक-सामान्य तथा भवन, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक और

नर-तिर्यक्लोक ये छह अधिकार पाये जाते है। विषय-वर्णन प्रायः त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनुसार संक्षिप्त रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११ वीं शती है।

पद्मनंदि मुनि कृत **जम्बूदीवपण्णत्ति** में २३८९ प्राकृत गाथाएं हैं और रचना तिलोय पण्णत्ति के आधार से हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके तेरह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं:-उपोद्घात, भरत-ऐरावत वर्ष; शैल-नंदी-भोगभूमि; सुदर्शन मेरु, मंदर जिनभवन, देवोत्तरकुरु, कक्षाविजय, पूर्व विदेह, अपर विदेह, लवण समुद्र, द्वीपसागर-अधः-ऊर्ध्व-सिद्ध लोक, ज्योतिर्लोक और प्रमाण परिच्छेद। ग्रन्थ के अन्त में कर्ता ने बतलाया है कि उन्होने जिनागम को ऋषि विजयगुरु के समीप सुनकर उन्ही के प्रसाद से यह रचना माघनदि, के प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनदि गुरु के निमित्त की। उन्होने स्वयं अपने को वीरनंदि के प्रशिष्य व बलनंदि के शिष्य कहा है; तथा ग्रन्थ रचना का स्थान पारियात्र देश के अन्तर्गत वारानगर और वहा के राजा संति या सत्ति का उल्लेख किया है।

श्वे० परम्परा मे इस विषय की आगमान्तर्गत सूर्य, चन्द्र व जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तियो के अतिरिक्त जिनभद्रगणि कृत दो रचनाएं **क्षेत्रसमास** और **संग्रहणी** उल्लेखनीय हैं। इन दोनो रचनाओं के परिमाण मे क्रमश. बहुत परिवर्द्धन हुआ है, और उनके लघु और वृहद् रूप संस्करण टीकाकारों ने प्रस्तुत किये हैं। उपलम्य **बृहत्क्षेत्रसमास**, अपर-नाम त्रैलोप्यदीपिका, मे ६५६ गाथाएं है, जो इन पांच अधिकारों में विभाजित हैं– जम्बूद्वीप, लवणोदधि, धातकीखंड, कालोदधि और पुष्करार्द्ध। इस प्रकार इसमे मनुष्य लोक मात्र का वर्णन है। उपलम्य **वृहत्संग्रहणी** के संकलनकर्ता मलधारी हेमचन्द्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि (१२ वी शती) है। इसमे ३४९ गाथाएं हैं, जो देव, नरक, मनुष्य, और तिर्यच, इन चार गति नामक अधिकारो मे, तथा उनके नाना विकल्पों एवं स्थिति, अवगाहना आदि के प्ररूपक नाना द्वारो में विभाजित है। यहां लोको की अपेक्षा उनमें रहने वाले जीवों का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। एक **लघुक्षेत्रसमास** रत्नशेखर सूरि (१४ वी शती) कृत २६२ गाथाओं में तथा **वृहत्क्षेत्रसमास** सोम-तिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत ४८९ गाथाओ में, भी पाये जाते हैं। इनमें भी अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य-लोक का वर्णन है। **विचारसार-प्रकरण** के कर्ता देवसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि (१३ वी शती) हैं। इसमें ९०० गाथाओं द्वारा कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्य व अनार्य देश, राजधानियां, तीर्थंकरों के पूर्वभव, माता-पिता, स्वप्न, जन्म आदि एवं समवशरण, गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य, कल्कि, शाक व विक्रम काल गणना,

दशनिन्हव, ८४ लाख योनिया व सिद्ध, इस प्रकार नाना विषयों का वर्णन है। इस पर माणिक्यसागर कृत संस्कृत छाया उपलम्य है। (आ० स०, भावनगर, १९८३)।

उक्त समस्त रचनाओं से सभवतः प्राचीन '**ज्योतिषकरंडक**' नामक ग्रन्थ है जिसे मुद्रित प्रति में 'पूर्वभृद् वालम्य प्राचीनतराचार्य कृत' कहा गया है (प्र० रतलाम १९२८)। इस पर पादलिप्त सूरि कृत टीका का भी उल्लेख मिलता है। उपलम्य **ज्योतिषकरंडक-प्रकीर्णक** मे ३७६ गाथाए है, जिनकी भाषा व शैली जैन महाराष्ट्री प्राकृत रचनाओ से मिलती है। ग्रन्थ के आदि मे कहा गया है कि सूर्यप्रज्ञप्ति मे जो विषय विस्तार से वर्णित है उसको यहां संक्षेप से पृथक् उद्धृत किया जाता है। ग्रन्थ में कालप्रमाण, मान, अधिकमास-निष्पत्ति, तिथि-निष्पत्ति, ओमरत्त (हीनरात्रि) नक्षत्र-परिमाण, चन्द्र-सूर्य-परिमाण, नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य-गति, नक्षत्रयोग, मडलविभाग, अयन आवृत्ति, मुहूर्तगति, ऋतु, विषुवत् (अहोरात्रि-समत्व), व्यतिपात, ताप, दिवसवृद्धि, अमावस-पौर्णमासी, प्रनष्टपर्व और पौरूषी, ये इक्कीस पाहुड है।

संस्कृत और अपभ्रंश के पुराणो मे, जैसे हरिवंशपुराण, महापुराण, त्रिशष्ठि-शलाकापुरुष चरित्र, तिसट्ठिमहापुरिसगुणालकार मे भी त्रैलोक्य का वर्णन पाया जाता है। विशेषत: जिनसेन कृत सस्कृत हरिवंशपुराण (८ वी शती) इसके लिये प्राचीनता व विषय-विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उसके चौथे से सातवे सर्ग तक क्रमशः अधोलोक, तिर्यग्लोक, ऊर्ध्वलोक और काल का विशद वर्णन किया गया है, जो प्राय तिलोय-पण्णत्ति से मेल खाता है।

चरणानुयोग-साहित्य

जैन साहित्य के चरणानुयोग विभाग मे वे ग्रन्थ आते है जिनमे आचार धर्म का प्रतिपादन किया गया है। हम ऊपर देख चुके है कि द्वादशाग आगम के भीतर ही प्रथम आचाराग मे मुनिधर्म का तथा सातवे अग उपासकाध्ययन मे गृहस्थो के आचार का वर्णन किया गया है। पश्चात्कालीन साहित्य मे इन दोनो प्रकार के आचार पर नाना ग्रन्थ लिखे गये।

मुनिआचार-प्राकृत

सर्वप्रथम कुन्दाकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे हमे मुनि और श्रावक सम्बन्धी आचार का भिन्न-भिन्न निरूपण प्राप्त होता है। उनके **प्रवचनसार** का तृतीय श्रुतस्कंध यथार्थतः मुनिआचार सम्बन्धी एक स्वतत्र रचना है जो सिद्धो, तीर्थंकरों और श्रमणों के

नमस्कारपूर्वक श्रामण्य का निरूपण करता है। यहाँ ७५ गाथाओं द्वारा श्रमण के लक्षण, प्रवृज्या तथा उपस्थापनात्मक दीक्षा, अट्ठाईस मूलगुणो का निर्देश, छेद का स्वरूप, उत्सर्ग व अपवाद मार्ग का निरूपण, ज्ञानसाधना, शुभोपयोग, संयमविरोधी प्रवृत्तियो का निषेध तथा श्रामण्य की पूर्णता द्वारा मोक्ष तत्व की साधना का प्ररूपण कर अन्तिम गाथा मे यह कहते हुए ग्रन्थ समाप्त किया गया है कि जो कोई सागार या अनगार आचार से युक्त होता हुआ इस शासन को समझ जाय, वह अल्पकाल में प्रवचन के सार को प्राप्त कर लेता है।

नियमसार में १८७ गाथाएं है। लेखक ने आदि मे स्पष्ट किया है कि जो नियम से किया जाय, वही नियम है और वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है। 'सार' शब्द मे उनका तात्पर्य है कि उक्त नियम से विपरीत बातो का परिहार किया जाय। तत्पश्चात् ग्रन्थ मे उक्त तीनो के स्वरूप का विवेचन किया है। गाथा ७७ से १५७ तक ८१ गाथाओ मे आवश्यको का स्वरूप विस्तार से समझाया है, जिसे उन्होंने मुनियो का निश्चययात्मक चारित्र कहा है। यहाँ षड्आवश्यकों का क्रम एवं उनके नाम अन्यत्र से कुछ भिन्न है। जिन आवश्यको का यहाँ वर्णन हुआ है, वे हैं—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति। उन्होने कहा है—प्रति-क्रमण उसे कहते है जिसका जिनवर-निर्दिष्ट सूत्रो मे वर्णन है (गाथा ८६) और उसका स्वरूप वही है जो प्रतिक्रमण नामके सूत्र मे कहा गया है (गाथा ९४)। यहां आवश्यक निर्युक्ति का स्वरूप भी समझाया गया है। जो अपने वश अर्थात् स्वेच्छा पर निर्भर नही है वह अवश, और अवश करने योग्य कार्य आवश्यक है। युक्ति का अर्थ है उपाय, वही निरवयव अर्थात् समष्टि रूप से निर्युक्ति कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि लेखक के सम्मुख एक आवश्यक निर्युक्ति नाम की रचना थी और वे उसे प्रामाणिक मानते थे (गाथा १४२)। आवश्यक द्वारा ही श्रामण्य गुण की पूर्ति होती है। अतएव जो श्रमण आवश्यक से हीन है, वह चारित्र-भ्रष्ट होता है (१४७-४८)। आवश्यक करके ही पुराण पुरुष केवली हुए है (गाथा १५७)। इस प्रकार ग्रन्थ का बहुभाग आवश्यको के महत्व और उनके स्वरूप विषयक है। आगे की १०, १२ गाथाओं में केवली के ज्ञानदर्शन तथा इनके क्रमशः पर-प्रकशकत्व और स्व-प्रकाशकत्व के विषय मे आचार्य ने अपने आलोचनात्क विचार प्रकट किये है। यह प्रकारण षट्खंडागम की धवला टीका मे ज्ञान और दर्शन के विवेचन विषयक प्रकरण से मिलान करने योग्य है। अंत मे मोक्ष के स्वरूप पर कुछ विचार प्रकट कर नियमसार की रचना निजभावना निमित्त की गई है, ऐसा कह कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ

की १७ वी गाथा में मनुष्य, नारकी, तिर्यंच व देवों का भेद-विस्तार लोकविभाग से जानना चाहिये, ऐसा कहा है। इस उल्लेख के संबंध में विद्वानो में यह मतभेद है कि यहां लोक-विभाग नामक किसी विशेष रचना से तात्पर्य है, अथवा लोकविभाग संबंधी सामान्य शास्त्रों से। ग्रन्थ के टीकाकार मलधारिदेव ने तो यहा स्पष्ट कहा है कि पूर्वोक्त जीवों का भेद लोकविभाग नामक परमागममें देखना चाहिये(**लोकविभागाभिधान-परमागमे द्रष्टव्यः**)। लोकविभाग नामक संस्कृत ग्रन्थ मिलता है, जिसके कर्त्ता सिंहसूरि ने उसमे सर्वनंदि द्वारा शक सं० ३८० (ई० सं० ४५८) मे लिखित प्राकृत लोकविभाग का उल्लेख किया है। आश्चर्य नही जो यही लोक विभाग नियमसार के लेखक की दृष्टि मे रहा हो। किसी बाधक प्रमाण के अभाव मे इस काल को कुदकुंद के काल की पूर्वावधि मानना अनुचित प्रतीत नही होता।

नियमसार पर संस्कृत टीका '**तात्पर्यवृत्ति**' पद्मप्रभ मलधारिदेव कृत पाई जाती है। इस टीका के आदि मे तथा पाचवें श्रुतस्कंध के अन्त मे कर्त्ता ने वीरनंदि मुनि की वन्दना की है। चालुक्यराज त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वरदेवके समय शक स० ११०७ के एक शिलालेख (एपी० इन्डि० १९१६-१७) मे पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु वीरनदि सिद्धान्तचक्रवर्ती का उल्लेख है। ये ही पद्मप्रभ इस टीका के कर्ता प्रतीत होते है।

नियमसार मे गाथा १३४ से १४० तक परमभक्तिरूप आवश्यकक्रिया का निरूपण है, जिसमे सम्यक्त्व, ज्ञान व चरण मे भक्ति, निर्वाणभक्ति, मोक्षगत पुरुषों की भक्ति एवं योगभक्ति का उल्लेख आया है, और अन्त में यह भी कहा गया है कि योगभक्ति करके ही ऋषभादि जिनेन्द्र निर्वाण-सुख को प्राप्त हुए (गा० १४०)। इस प्रसंगानुसार कुदकुद द्वारा स्वयं पृथक् रूप से भक्तिया लिखा जाना भी सार्थक प्रतीत होता है। कुंदकुद कृत उपलभ्य दशभक्तियो के नाम ये है :—**तीर्थंकर भक्ति** (गा० ८), **सिद्धभक्ति** (गा० ११), **चारित्रभक्ति** (गा० १२), **अनगारभक्ति** (गा० २३), **आचार्यभक्ति** (गा० १०), **निर्वाणभक्ति** (गा० २७), **पंचपरमेष्ठिभक्ति** (गा० ७), **नंदीश्वरभक्ति** और **शान्तिभक्ति**। ये भक्तियाँ उनके नामानुसार वन्दनात्मक व भावनात्मक है। सिद्धभक्ति की गाथा-सख्या कुछ अनिश्चित है। अन्तिम दो अर्थात् नंदीश्वरभक्ति और शांतिभक्ति जिस रूप मे मिलती हैं, उसमे केवल अन्तिम कुछ वाक्य प्राकृत मे है। उनका पूर्ण प्राकृत पाठ अप्राप्य है। इनकी प्राचीन प्रतिया एकत्र कर संशोधन किये जाने की आवश्यकता है। ये भक्तिया प्रभाचन्द्र कृत सस्कृत टीका सहित 'क्रियाकलाप' नाम से प्रकाशित हुई है। (प्र० शोलापुर १९२१)।

धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य है मोक्ष-प्राप्ति; और मोक्ष का मार्ग है सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन्ही तीन का प्रतिपादन कुंदकुंद ने क्रमशः अपने दर्शन, सूत्र व चारित्र पाहुडों मे किया है। उन्होंने **दर्शन पाहुड** की १५ वी गाथा में कहा है कि सम्यक्त्व (दर्शन) से ज्ञान और ज्ञान से सब भावो की उपलब्धि तथा श्रेय-अश्रेय का बोध होता है, जिसके द्वारा शील की प्राप्ति होकर अन्ततः निर्वाण की उपलब्धि होती है। उन्होने छह द्रव्य और नौ पदार्थों तथा पाच अस्तिकायो और सात तत्वो के स्वरूप में श्रद्धान करने वाले को व्यवहार से सम्यग्दृष्टि तथा आत्म श्रद्धानी को निश्चय सम्यग्दृष्टि कहा है (गाथा १९-२०)।

सूत्र पाहुड मे बतलाया गया है कि जिसके अर्थ का उपदेश अर्हत् (तीर्थंकर) द्वारा, एव ग्रथ-रचना गणधरो द्वारा की गई है, वही सूत्र है और उसी के द्वारा श्रमण परमार्थ की साधना करते है (गाथा १)। सूत्र को पकड कर चलने वाला पुरुष ही बिना भ्रष्ट हुए ससार के पार पहुच सकता है, जिस प्रकार कि सूत्र (धागा) से पिरोई हुई सुई सुरक्षित रहती है और बिना सूत्र के खो जाती है (गाथा ३-४)। आगे जिनोक्त सूत्र के ज्ञान से ही सच्ची दृष्टि की उत्पत्ति तथा उसे ही व्यवहार परमार्थ बतलाया गया है। सूत्रार्थपद से भ्रष्ट हुए साधक को मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये (गाथा ५-७)। सूत्र सबधी इन उल्लेखो से प्रमाणित होता है कि कुदकुंद के सम्मुख जिनागम सूत्र थे, जिनका अध्ययन और तदनुसार वर्णन, वे मुनि के लिये आवश्यक समझते थे। आगे की गाथाओ मे उन्होने मुनि के नग्नत्व व तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहितपना बतलाकर स्त्रियो की प्रवृज्या का निषेध किया है, जिससे अनुमान होता है कि कर्ता के समय मे दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद बद्धमूल हो गया था।

चरित्र पाहुड के आदि मे बतलाया गया है कि जो जाना जाय वह ज्ञान, जो देखा जाय वह दर्शन, तथा इन दोनो के संयोग से उत्पन्न भाव चारित्र होता है, तथा ज्ञान-दर्शन युक्त क्रिया ही सम्यक् चारित्र होता है। जीव के ये ही तीन भाव अक्षय और अनन्त है, और इन्ही के शोधन के लिये जिनेन्द्र ने दो प्रकार का चारित्र बतलाया है-एक दर्शनज्ञानात्मक सम्यक्त्व चारित्र और दूसरा संयम-चारित्र (गाथा ३-५)। आगे सम्यक्त्व के निःशंकादिक आठ अंग (गाथा ७) संयम चारित्र के सागार और अनगार रूप दो भेद (गाथा २१), दर्शन, व्रत आदि देशव्रती की ग्यारह प्रतिमाएं (गाथा २२), अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रत, द्वारा बारह प्रकार का सागारधर्म (गाथा २३-२७) तथा पंचेन्द्रिय संवर व पाच व्रत उनकी पच्चीस क्रियाओं सहित, पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अनगार संयम का प्ररूपण किया है (गाथा २८ आदि)। बारह

श्रावक व्रतो के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां दिशा-विदिशा प्रमाण, अनर्थदंडवर्जन और भोगोपभोग-प्रमाण ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषध, अतिथि पूजा और सल्लेखना, ये चार शिक्षा-व्रत कहे गये है। यह निर्देश त० सू० (७, २१) में निर्दिष्ट व्रतो से तीन बातों मे भिन्न है-एक तो यहा भोगोपभोग-परिमाण को अनर्थ-दंड व्रत के साथ गुणव्रतो मे लिया गया है, दूसरे यहा देशव्रत का कोई उल्लेख नही है; और तीसरे शिक्षाव्रतो मे सल्लेखना का निर्देश सर्वथा नया है। यहा यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि त. सू. (७-२१) मे दिग्देशादि सात व्रतो का निर्देश एक साथ किया गया है, उसमे गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो का पृथग् निर्देश नही है। इनका निर्देश हमे प्रथम बार कुदकुद के इसी पाहुड मे दिखाई देता है। हरिभद्रकृत **श्रावकप्रज्ञप्ति** मे गुणव्रतो का निर्देश कुदकुंद के अनुकूल है, किन्तु शिक्षाव्रतो मे वहा सल्लेखना का उल्लेख न होकर देशावकाशिक का ही निर्देश है। अनगार सयम के सबध मे उल्लेखनीय बात यह है कि यहा पचविशति क्रियाओ व तीन गुप्तियो का समावेश नया है तथा उसमे लोच आदि सात विशेष गुणो का निर्देश नही पाया जाता, यद्यपि प्रवचनसार (गा० ३, ८) मे उन सातो का निर्देश है, किन्तु तीन गुप्तियो का उल्लेख नही है।

बोध पाहुड (गाथा ६२) मे आयतन, चैत्य-गृह, प्रतिमा, दर्शन, बिंब, जिन-मुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् और प्रव्रज्या इन ग्यारह के सच्चे स्वरूप का प्ररूपण किया गया है, और पचमहाव्रतधारी महर्षि को सच्चा आयतन, उसे ही चैत्य-गृह, वन्दनीय प्रतिमा, सम्यक्त्व, ज्ञान व सयम रूप मोक्षमार्ग का दर्शन करानेवाला सच्चा दर्शन, उसी को तप और व्रतगुणो से युक्त सच्ची अर्हत मुद्रा, उसके ही ध्यान योग से युक्त ज्ञान को सच्चा ज्ञान, वही अर्थ, धर्म, काम व प्रव्रज्या को देनेवाला सच्चा देव, और उसी के निर्मल धर्म, सम्यक्त्व, सयम, तप व ज्ञान को सच्चा तीर्थ बतलाया है। जिसने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य और पाप एव समस्त दोषों और कर्मों का नाशकर अपने को ज्ञानमय बना लिया है, वही अर्हत् है, और जिसमे गृह और परि-ग्रह के मोह से मुक्ति, बाईस परीषह व सोलहकषायो पर विजय तथा पापारभ से विमुक्ति पाई जाती है, वही प्रव्रज्या है। इसमे शत्रु और मित्र, प्रशसा और निन्दा, लाभ और अलाभ एवं तृण और काचन के प्रति समताभाव पाया जाता है, उत्तम या मध्यम, दरिद्र या धनी के गृह से निरपेक्षभाव से पिण्ड (आहार) ग्रहण किया जाता है, यथा जात (नग्न दिगम्बर) मुद्रा धारण की जाती है; शरीर सस्कार छोड़ दिया जाता है; एवं क्षमा मार्दव आदि भाव धारण किये जाते है। इस पाहुड को कर्ता ने **छक्काय सुहंकरं** (षट्काय जीवो के लिये सुखकर-हितकर) कहा है, और सम्भवतः यही इस पाहुड

का कर्ता द्वारा निर्दिष्ट नाम है, जिसे उन्होंने भव्यजनों के बोधनार्थ कहा है। इस पाहुड मे प्ररूपित उक्त ग्यारह विषयो के विवरण को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नाना प्रकार के आयतन माने जाते थे, नाना प्रकार के चैत्यों, मंदिरों, मूर्त्तियों व बिंबो की पूजा होती थी, नाना मुद्राओ मे साधु दिखलाई देते थे, तथा देव, तीर्थ व प्रवृज्या के भी नाना रूप पाये जाते थे। अतएव कुदकुंद ने यह आवश्यक समझा कि इन लोक-प्रचलित समस्त विषयों पर सच्चा प्रकाश डाला जाय। यही उन्होंने इस पाहुड द्वारा किया है।

भावपाहुड · (गाथा १६५)मे द्रव्यलिगी और भावलिगी श्रमणो मे भेद किया गया है और कर्ता ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मुनि का वेष धारण कर लेने, व्रतो और तपो का अभ्यास करने, यहां तक कि शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से आत्मा का कल्याण नही हो सकता। आत्मकल्याण तो तभी होगा जब परिणामों मे शुद्धि आ जाय, राग द्वेष आदि कषायभाव छूट जाय, और आत्मा का आत्मा मे रमण होने लगे(गा० ५६-५६)। इस सम्बन्ध मे उन्होने अनेक पूर्वकालीन द्रव्य और भाव श्रमणों के उल्लेख किये है। बाहुबलि, देहादि से विरक्त होने पर भी मान कषाय के कारण दीर्घकाल तक सिद्धि प्राप्त नही कर सके (गाथा ४४)। मधुपिंग एव वशिष्ट मुनि आहारादि का त्याग कर देने पर भी चित्त मे निदान (शल्य) रहने से श्रमणत्व को प्राप्त नही हो सके (गाथा ४५-४६)। जिनलिंगी बाहु मुनि आभ्यन्तर दोष के कारण समस्त दंडक नगर को भस्म करके रौरव नरक मे गये (गाथा ४६)। द्रव्य श्रमण द्वीपायन सम्यग्-दर्शन-ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त ससारी हो गये। भव्य-सेन बारह अग और चौदह पूर्व पढकर सकल श्रुतिज्ञानी हो गये, तथापि वे भाव-श्रमणत्व को प्राप्त न कर सके (गाथा ५२)। इनके विपरीत भावश्रमण शिवकुमार युवती स्त्रियो से घिरे होते हुए भी विशुद्ध परिणामो द्वारा ससार को पार कर सके, तथा शिवभूति मुनि तुष-माष की घोषणा करते हुए (जिसप्रकार छिलके से उसके भीतर का उड़द भिन्न है, उसीप्रकार देह और आत्मा पृथक् पृथक है) भाव विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हो गये। प्रसंगवश १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानी, एवं ३२ वैनयिक, इसप्रकार ३६३ पाषडो (मतो) का उल्लेख आया है (गा० १३७-१४२)। इस पाहुड में साहित्यक गुण भी अन्य पाहुडो की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं। जिसका मति रूपी धनुष, श्रुत रूपी गुण और रत्नत्रयरूपी बाण स्थिर हैं, वह परमार्थ रूपी लक्ष्य से कभी नही चूकता (गा० २३)। जिनधर्म उसीप्रकार सब धर्मों में श्रेष्ठ है जैसे रत्नो मे वज्र और वृक्षों मे चन्दन (गा० ८२)। राग-द्वेष रूपी पवन

के झकोरो से रहित ध्यान रूपी प्रदीप उसीप्रकार स्थिरता से प्रज्वलित होता है जिस प्रकार गर्भगृह मे दीपक (गा० १२३)। जिसप्रकार बीज दग्ध हो जाने पर उसमे फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसीप्रकार भावश्रमण के कर्मबीज दग्ध हो जाने पर भव (पुनर्जन्म) रूपी अकुर उत्पन्न नही होता, इत्यादि। इस पाहुड के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कर्ता के समय मे साधुलोग बाह्य वेश तथा जप, तप, व्रत आदि बाह्य क्रियाओ मे अधिक रत रहते थे, और यथार्थ आभ्यन्तर शुद्धि की ओर यथेष्ट ध्यान नही देते थे। इसी बाह्याडम्बर से भावशुद्धि की ओर साधुओ की चित्तवृत्तियो को मोड़ने के लिये यह पाहुड लिखा गया। इसी अभिप्राय से उनका अगला लिग पाहुड भी लिखा गया है।

लिंगपाहुड . (गा० २२) मे मुनियो की कुछ ऐसी प्रवृत्तियो की निंदा की गई है जिनसे उनका श्रमणत्व सधता नही, किन्तु दूषित होता है। कोई श्रमण नाचता, गाता व बाजा बजाता है (गा० ४)। कोई सचय करता है, रखता है व आर्तध्यान मे पड़ता है (गा० ५)। कोई कलह, वाद व द्यूत मे अनुरक्त होता है (गा० ६)। कोई विवाह जोडता है और कृषिकर्म व वाणिज्य द्वारा जीवघात करता है (गा० ९)। कोई चोरो लम्पटो के वाद-विवद मे पडता है व चोपड खेलता है (गा० १०)। कोई भोजन मे रस का लोलुपी होता व काम-क्रीडा मे प्रवृत्त होता है (गा० १२)। कोई बिना दी हुई वस्तुओ को ले लेता है (गा० १४) कोई ईर्यापथ समिति का उल्लंघन कर कूदता है, गिरता है, दौड़ता है (गा० १५)। कोई शस्य (फसल) काटता है, वृक्ष का छेदन करता है या भूमि खोदता है (गा० १६)। कोई महिला वर्ग को रिझाता है, कोई प्रवृज्याहीन गृहस्थ अथवा अपने शिष्य के प्रति बहुत स्नेह प्रकट करता है (गा० १८)। ऐसा श्रमण बडा ज्ञानी भी हो तो भी भाव-विनष्ट होने के कारण श्रमण नही है, और मरने पर स्वर्ग का अधिकारी न होकर नरक व तिर्यंच योनि मे पडता है। ऐसे भाव-विनष्ट श्रमण को पासत्थ (पार्श्वस्थ) से भी निकृष्ट कहा है (गा० २०)। अन्त मे भावपाहुड के समान इस लिंग पाहुड को सव्व बुद्ध (सर्वज्ञ) द्वारा उपदिष्ट कहा है। जान पड़ता है कर्ता के काल मे मुनि सम्प्रदाय मे उक्त दोष बहुलता से दृष्टिगोचर होने लगे थे, जिससे कर्ता को इस रचना द्वारा मुनियो को उनकी ओर से सचेत करने की आवश्यकता हुई।

शीलपाहुड: (गा०४४) भी एक प्रकार से भाव और लिंग पाहुडों के विषय का ही पूरक है। यहाँ धर्मसाधना मे शील के ऊपर बहुत अधिक जोर दिया गया है, जिसके विना विशाल ज्ञानकी प्राप्ति भी निष्फल है। यहां सच्चइपुत्त (सात्यकिपुत्र)

का इस बात पर दृष्टान्त दिया गया है कि वह दश पूर्वों का ज्ञाता होकर भी विषयों की लोलुपता के कारण नरकगामी हुआ (गा० ३०-३१)। व्याकरण, छंद, वैशेषिक, व्यवहार तथा न्यायशास्त्र के ज्ञान की सार्थकता तभी बतलाई है जब उसके साथ शील भी हो (गा० १६)। शील की पूर्णता सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान, ध्यान, योग, विषयों से विरक्ति और तप के साधन मे भी बतलाई गई है। इसी शीलरूपी जल से स्नान करने वाले सिद्धालय को जाते है (गा० ३७-३८)।

कुंदकुंद की उक्त रचनाओं मे से बारह अणुवेक्खा तथा लिंग और शील पाहुड़ों को छोड, शेष पर **टीकायें** भी मिलती है। दर्शन आदि छह पाहुडो पर श्रुतसागर कृत सस्कृत टीका उपलब्ध है। इन्ही की एकत्र प्रतिया पाये जाने से उनका सामूहिक नाम **षट् प्राभृत** (छप्पाहुड) भी प्रसिद्ध हो गया है। श्रुतसागर देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य तथा विद्यानन्दि के शिष्य थे। अत उनका काल ई० सन् की १५-१६ वी शती सिद्ध होता है।

रयणसार: (गा० १६२) मे श्रावक और मुनि के आचार का वर्णन किया गया है। आदि मे सम्यग्दर्शन की आवश्यकता बतला कर उसके ७० गुणो और ४४ दोषो का निर्देश किया गया है (गा० ७-८)। दान और पूजा गृहस्थ के लिये, तथा ध्यान और स्वाध्याय मुनि के लिये आवश्यक बतलाये गये है (गा० ११ आदि), तथा सुपात्रदान की महिमा बतलाई गई है (गा० १७ आदि)। आगे अशुभ और शुभ भावों का निरूपण किया है गुरूभक्ति पर जोर दिया गया है, तथा आत्म तत्व की प्राप्ति के लिये श्रुताभ्यास करने का आदेश दिया गया है। आगे स्वेच्छाचारी मुनियो की निंदा की गई है, व बहिरात्म भाव से बचने का उपदेश दिया गया है। अन्त मे गणगच्छ को ही रत्नत्रय रूप, सघ को ही नाना गुण रूप, और शुद्धात्मा को ही समय कहा गया है। इस पाहुड का अभी तक सावधानी से सम्पादन नही हुआ। उसके बीच मे एक दोहा व छह पद्य अपभ्रंश भाषा मे पाये जाते है, या तो ये प्रक्षिप्त हैं, या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर किसी उत्तरकालीन लेखक की कृति है। गण-गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षाकृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।

वट्टकेर स्वामी कृत **मूलाचार** दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनिधर्म के लिये सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। कही कही यह ग्रथ कुंदाकुंदाचार्य कृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नही होती, तथापि उससे इस ग्रंथ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है। धवलाकार वीरसेन ने इसे **आचारांग** नाम से उद्धृत किया है। इसमें कुल १२४३ गाथाएं हैं, जो मूलगुण, वृहत्प्रत्याख्यान, संक्षेप प्रत्याख्यान, सामाचार,

पंचाचार, पिडशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण-प्रस्तार और पर्याप्ति, इन बारह अधिकारो में विभाजित हैं। यह सब यथार्थतः मुनि के उन अट्ठाईस गुणो का ही विस्तार है, जो प्रथम अधिकार के भीतर संक्षेप से निर्दिष्ट और वर्णित है। षडावष्यक अधिकार की कोई ८० गाथाए आवश्यक निर्युक्ति और उसके भाष्य से ज्यों की त्यो मिलती है। इस पर वसुनंदि कृत टीका मिलती है। टीकाकार सम्भवतः वे ही हैं जिन्होने प्राकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) की रचना की है।

मुनि आचार पर एक प्राचीन रचना **भगवती आराधना** है, जिसके कर्ता शिवार्य हैं। इन्होने ग्रथ के अन्त मे प्रगट किया है कि उन्होने आर्य जिननंदिगणि, सर्वगुप्तगणि और मित्रनदि के पादमूल मे सूत्र और उसके अर्थ का भले प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, पूर्वाचार्य-निबद्ध रचना के आश्रय से अपनी शक्ति अनुसार इस आराधना की रचना की। इससे सुस्पष्ट है कि उनके सम्मुख इसी विषय की कोई प्राचीन रचना थी। कल्पसूत्र की स्थविरावली मे एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख आया है, तथा आवश्यक मूल भाष्य मे शिवभूनि को वीर निर्वाण मे ६०९ वर्ष पश्चात् बोडिक (दिगम्बर) सघ का संस्थापक कहा है। कुदकुदाचार्य ने भावपाहुड मे कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने हरिवश–पुराण मे लोहार्य के पश्चाद्वर्ती आचार्यो मे शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणो से अर्हद्बलि पद को धारण किया था। आदिपुराण मे शिवकोटि मुनीश्वर और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधना रूप हितकारी वाणी का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के आराधना कथाकोश व देवचन्द्र कृत 'राजावली कथे' में शिव-कोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य कहा गया है। आश्चर्य नही जो इन सब उल्लेखों का अभिप्राय इसी भगवती आराधना के कर्ता से हो। ग्रंथ सम्भवतः ई० की प्रारम्भिक शताब्दियो का है। एक मत यह भी है कि यह रचना यापनीय सम्प्रदाय की है, जिसमे दिगम्बर सम्प्रदाय का अचेलकत्व तथा श्वेताम्बर की स्त्री-मुक्ति मान्य थी। इस ग्रथ मे २१६६ गाथाए है और उनमे बहुत विशदता व विस्तार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन्ही चार आराधनाओ का वर्णन किया गया है, जिनका कुदकुद की रचनाओ मे अनेक बार उल्लेख आया है। प्रसगवश जैनधर्म सबधी सभी बातो का इसमे संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। मुनियों की अनेक साधनाए व वृत्तिया ऐसी वर्णित है, जैसी दिगम्बर परम्परा के ग्रथों मे अन्यत्र नही पाई पाई जाती। गाथा १६२१ से १८९१ तक की २७१ गाथाओ मे आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानो का

विस्तार से वर्णन किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य व निशीथ आदि प्राचीन ग्रंथों से इसकी अनेक गाथाएं व वृत्तान्त मिलते हैं। इस पर दो टीकाएं विस्तीर्ण और सुप्रसिद्ध हैं-एक अपराजित सूरि कृत **विजयोदया** और दूसरी प० आशाधर कृत **मूलाराधनादर्पण**। अपराजित सूरि का समय लगभग ७ वी, ८ वी शती ई०, तथा पं० आशाधर का १३ वी शती ई० पाया जाता है। इस पर एक पंजिका तथा भावार्थ-दीपिका नामकी दो टीकाएं भी मिली है।

मुनि आचार पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हरिभद्रसूरि (८वीं शती) कृत **पंचवत्थुग** (पचवस्तुक) नामक ग्रन्थ उपलम्य है। इसमे १७१४ प्राकृत गाथाएं है जो विषयानुसार निम्न पांच वस्तु नामक अधिकारो मे विभक्त हैं—(१) मुनि-दीक्षा, (२) यतिदिनकृत्य, (३) गच्छाचार, (४) अनुज्ञा और (५) सल्लेखना। इनमे मुनि धर्म संबंधी साधनाओं का विस्तार तथा ऊहापोह पूर्वक वर्णन किया गया है। (प्रकाशित १९२७, गुज० अनुवाद, रतलाम, १९३७)। इस ग्रथ पर स्वोपज्ञ टीका भी है। हरिभद्रकृत **सम्यक्त्व-सप्तति** में १२ अधिकारो द्वारा सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है और सम्यक्त्व की प्रभावना बढानेवालो मे वज्रस्वामी, मल्लवादी, भद्रबाहु, पादलिप्त, सिद्धसेन आदि के चरित्र वर्णन किये गये हैं।

जीवानुशासन में ३२३ गाथाओं द्वारा मुनिसंघ, मासकल्प, वदना आदि मुनि चारित्र सबधी विषयो पर विचार किया गया है। प्रसगवश बिम्ब-प्रतिष्ठा का भी वर्णन आया है। इस ग्रथ की रचना वीरचद्र सूरि के शिष्य देवसूरि ने वि० सं० ११६२ (११०५ ई०) मे की थी।

नेमिचन्द्रसूरि (१३वी शती) कृत **प्रवचनसारोद्धार** मे लगभग १६०० गाथाएं हैं जो १७६ द्वारो मे विभाजित है। यहां वदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, महाव्रत, परीषह आदि अनेक मुनिचारित्र सबंधी विषयो का वर्णन किया गया है। पूजा-अर्चा के सबध मे तीर्थंकरों के लाछन, यक्ष-यक्षिणी, अतिशय, जिनकल्प और स्थविरकल्प आदि का विवरण भी यहा प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। जैन क्रियाकाण्ड समझने के लिये यह ग्रथ विशेष रूप से उपयोगी है। इस पर देवभद्र के शिष्य सिद्धसेनसूरि (१३ वीशती) ने **तत्वज्ञानविकासिनी** नामक संस्कृत टीका लिखी है।

जिनवल्लभसूरि (११-१२वी शती) कृत **द्वादशकुलक** मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद तथा क्रोधादि कषायो के परित्याग का उपदेश पाया जाता है। इस पर जिनपालकृतवृत्ति है जो वि० सं० १२९३ (बम्बई, सन् १२३६) में पूर्ण हुई थी।

मुनिआचार-संस्कृत :

प्रशमरति प्रकरण उमास्वाति कृत माना जाता है। इसमें ३१३ संस्कृत पद्यो मे जैन तत्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त, साधु व गृहस्थ आचार, अनित्यादि बारह भावनाओं, उत्तमक्षमादि दशधर्मो एव धर्मध्यान, केवलज्ञान, अयोगी व सिद्धो का स्वरूप सरल और सुन्दर शैली मे वर्णित पाया जाता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने इसको विषय की दृष्टि से २२ अधिकारो मे विभाजित किया है। (सटीक हिन्दी अनु० सहित प्रका० बम्बई, १६५०)

मुनि आचार पर एक **चारित्रसार** नामक संस्कृत ग्रन्थ है। ग्रन्थ की पुष्पिका में कहा गया है कि इस ग्रन्थ को अजितसेन भट्टारक के चरणकमलो के प्रसाद से चारो अनुयोगों रूप समुद्र के पारगामी धर्मविजय श्रीमद् चामुण्डराय ने बनाया। इस पुष्पिका से पूर्व श्लोक मे कहा गया है कि इसमे अनुयोगवेदी रणरगसिह ने तत्वार्थ-सिद्धान्त, संभवतः तत्वार्थ (राजवार्तिक,) महापुराण एव आचार शास्त्रो मे विस्तार से वर्णित चारित्रसार का सक्षेप से वर्णन किया है। कर्ता के सबध मे इस परिचय से सुष्पष्ट ज्ञात होता है कि इसकी रचना उन्ही चामुण्डराय ने अथवा उनके नाम से किसी अन्य ने सग्रहरूप से की है, जिनके द्वारा बाहुबलि की मूर्ति श्रवण-बेलगोला मे प्रतिष्ठित की गई थी, तथा जिनके निमित्त से नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना की थी। अत. इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ वी शताब्दी निश्चित है। ग्रन्थ की उक्त पुष्पिका के अन्त मे कहा गया है कि 'भावनासारसग्रहे चारित्रसारे अनगारधर्म. समाप्त.' इस पर से ग्रन्थ का दूसरा नाम 'भावनासारसग्रह' भी प्रतीत होता है।

आचार विषयक ग्रन्थो मे अमृतचन्द्र सूरि कृत **'पुरुषार्थसिद्धचुपाय'** (अपर नाम 'जिन-प्रवचन-रहस्य-कोष') कई बातो मे अपनी विशेषता रखता है। यहा २२६ संस्कृत पद्यो मे रत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है, जिसमे क्रमश: चारित्रविषयक अहिंसादि पाच व्रत, सात शील (३ गुणव्रत-४ शिक्षाव्रत), सल्लेखना, तथा सम्यक्त्व और सल्लेखना को मिलाकर चौदह व्रत-शीलो के ७० अतिचार, इनका स्वरूप समझाया है, और १२ तप ६ आवश्यक, ३ दड, ५ समिति, १० धर्म, १२ भावना और २२ परीषह, इन सब का निर्देश किया है। यहा हिंसा और अहिंसा के स्वरूप पर सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है, जैसा अन्यत्र कही नही पाया जाता। यही नही, किन्तु शेष व्रतो और शीलों मे भी मूलत. अहिंसा की ही भावना स्थापित की है। आदि में आत्मा को ही पुरुष और परिणामी-नित्य बतलाकर उसके द्वारा समस्त

विवर्तों को पार कर पूर्ण स्व-चैतन्य की प्राप्ति को ही अर्थसिद्धि बतालाया है, और यही ग्रन्थ के नाम की सार्थकता है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने एक पद्य में जैन अनेकान्त नीति को गोपी की उपमा द्वारा वडी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। ग्रन्थ की शैली आदि से अन्त तक विशद और विवेचनात्मक है। इस ग्रन्थ के कोई ६०-७० पद्य जयसेनकृत **धर्म-रत्नाकर** मे उद्धृत पाये जाते हैं। धर्मरत्नाकर की रचना का समय स्वयं उसी की प्रशस्ति के अनुसार वि० सं० १०५५--ई० ९९८ है। अतएव यही पुरुषार्थसिद्धयुपाय के रचनाकाल की उत्तरावधि है।

वीरनंदि कृत **आचारसार** मे लगभग १००० संस्कृत श्लोको में मुनियों के मूल और उत्तर गुणों का वर्णन किया गया है। इसके १२ अधिकारों के विषय हैं-मूलगुण, सामाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, शुद्ध्यष्टक, षडावश्यक, ध्यान, जीवकर्म और दशधर्मशील। इसकी रचना वट्टकेर कृत प्राकृत मूलाचार के आधार से की गई प्रतीत होती है। ग्रन्थकर्ता ने अपने गुरु का नाम मेघचन्द्र प्रगट किया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ५० में इन दोनों गुरु-शिष्यों का उल्लेख है, एव शिलालेख न० ४७ मे मेघचन्द्र मुनि के शक संवत् १०३७ (ई० १११५) मे समाधिमरण का उल्लेख किया गया है। इस पर से प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल उक्त तिथि के आसपास सिद्ध होता है। उक्त लेखो में वीरनंदि को सैद्धांतवेदी और लोकप्रसिद्ध, अमलचरित, योगि-जनाग्रणी आदि उपाधियो से विभूषित किया गया है।

सोमप्रभ कृत **सिन्दूरप्रकर**, व **शृंगार-वैराग्यतरंगिणी** (१२वीं-१३वी शती) ये दो नैतिक उपदेश पूर्ण रचनाए है। दूसरी रचना विशेष रूप से प्रौढ़ काव्यात्मक है और उसमे कामशास्त्रानुसार स्त्रियो के हाव-भाव व लीलाओ का वर्णन कर उनसे सतर्क रहने का उपदेश दिया गया है।

श्रावकाचार-प्राकृत :

प्राकृत मे श्रावकधर्म विषयक सर्वप्रथम स्वतत्र रचना **सावयपण्णत्ति** है, जिसमें ४०१ गाथाओं द्वारा श्रावको के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतो का प्ररूपण किया गया है। प्रथम व्रत अहिंसा का यहां सबसे अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन १७६ के लेकर २५९ तक की गाथाओं मे किया गया है। इस ग्रंथ के कर्तृत्व के संबंध में मतभेद है। कोई इसे उमास्वातिकृत मानते हैं, और कोई हरिभद्रकृत। उमास्वाति-कर्तृत्व का समर्थन अभयदेवसूरि कृत पंचाशकटीका के उस

उल्लेख से होता है जहा उन्होंने कहा है कि 'वाचकतिलकेन श्रीमदुमास्वतिवाचकेन श्रावकप्रज्ञप्तौ सम्यक्त्वादिः श्रावकधर्मो विस्तरेण अभिहितः'। उमास्वाति कृत श्रावक प्रज्ञप्ति का उल्लेख यशोविजय के धर्मसंग्रह तथा मुनिचन्द्रसूरि कृत धर्मबिंदु-टीका में बारहवें व्रत के संबंध में आया है। किन्तु स्वय अभयदेवसूरि ने हरिभद्रसूरि कृत पचाशक की ही वृत्ति मे प्रस्तुत ग्रथ की सपत्तदंसणाइ-आदि दूसरी गाथा को हरिभद्रसूरि के ही निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत प्राकृत ग्रन्थ तो हरिभद्रकृत ही है। यदि उमास्वाति कृत कोई श्रावक-प्रज्ञप्ति रही हो तो संभव है कि वह संस्कृत में रही होगी। यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त. परीक्षण से भी सिद्ध होती है। इस ग्रन्थ मे २८० से ३२८ गाथाओ के बीच जो गुणव्रत और शिक्षाव्रतो का निर्देश और क्रम पाया जाता है वह त० सूत्र के ७,२१ मे निर्दिष्ट क्रम से भिन्न है। त० सूत्र मे दिग्, देश और अनर्थ दड, ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोपधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि-सविभाग, ये चार शिक्षाव्रत निर्दिष्ट किये है। परन्तु यहां दिग्व्रत, भोगोपभोग-परिमाण और अनर्थदडविरति ये गुणव्रत, तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास एवं अतिथिसविभाग ये चार शिक्षाव्रत बतलाये है, जो हरिभद्रकृत समराइच्चकहा के प्रथम भव मे वर्णित व्रतो के क्रम मे ठीक मिलते है। यही नही, किन्तु समराइच्चकहा का उक्त समस्त प्रकरण श्रावक-प्रज्ञप्ति के प्ररूपण से बहुत समानता रखता है, यहा तक कि सम्यक्त्वोत्पत्ति के सबध मे जिस घसण-घोलन निमित्त का उल्लेख श्रा० प्र० की ३१ वी गाथा मे है, वही स० कहा के सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रकरण में भी प्राकृत गद्य मे प्राय ज्यो का त्यो मिलता है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह कृति हरिभद्रकृत ही है। इस पर उन्ही की सस्कृत मे स्वोपज्ञ टीका भी उपलभ्य है।

श्रावकधर्म का प्रारम्भ सम्यक्त्व की प्राप्ति से होता है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति के आदि (गाथा २) मे ही श्रावक का लक्षण यह बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके प्रतिदिन यतिजनो के पास से सदाचारात्मक उपदेश सुनता है, वही श्रावक होता है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति को विधिवत् समझाया गया है। हरिभद्र की एक अन्य कृति **दसणसत्तरि** अपर नाम 'सम्मत्त-सत्तरि' या 'दसण-सुद्धि' मे भी ७० गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाया गया है। इस पर संघतिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत टीका उपलभ्य है (प्रकाशित १९१६)। हरिभद्र की एक और प्राकृत रचना **सावयधम्मविहि** नामक है जिसमें १२० गाथाओं द्वारा श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर मानदेवसूरि कृत विवृत्ति है (भावनगर १९२४)। हरिभद्रकृत

१६ प्रकरण ऐसे हैं, जिनमे प्रत्येक में ५० गाथाएं हैं, अतएव जो समष्टि रूप से **पंचासग** कहलाते हैं। ये प्रकरण हैं- (१) श्रावकधर्म (२) दीक्षाविधान (३) वन्दनविधि (चैत्यवंदन) (४) पूजाविधि (५) प्रत्याख्यानविधि (६) स्तवविधि (७) जिनभवन करण विधि (८) प्रतिष्ठाविधि (६) यात्राविधि (१०) उपासकप्रतिमा विधि (११) साधुधर्म (१२) सामाचारी (१३) पिंडविधि (१४) शीलाग विधि (१५) आलोचना विधि (१६) प्रायश्चित्त (१७) स्थितास्थित विधि (१८) साधु प्रतिमा और (१६) तपोविधि। इन प्रकरणो मे श्रावक और मुनि आचार संबंधी प्रायः समस्त विषयों का समावेश हो गया है। पंचासग पर अभयदेवसूरि कृत शिष्यहिता नामक संस्कृत टीका है। (भावनगर १६१२; रतलाम १६४१)। पचासग के समान ग्रन्थ २० प्रकरण इस प्रकार के हैं जिनमे प्रत्येक मे २० गाथाए है। यह संग्रह **वीसवीसीओ** (विंशतिविंशिका) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन विंशिकाओं के नाम इस प्रकार है—(१) अधिकार (२) अनादि (३) कुलनीति (४) चरमपरिवर्त (५) बीजादि (६) सद्धर्म (७) दान (८) पूजाविधि (६) श्रावकधर्म (१०) श्रावकप्रतिमा (११) यतिधर्म (१२) शिक्षा (१३) भिक्षा (१४) तदतरायशुद्धिलिंग (१५) आलोचना (१६) प्रायश्चित्त (१७) योगविधान (१८) केवलज्ञान (१६) सिद्धविभक्ति और (२०) सिद्धसुख। इन विंशिकाओ मे भी श्रावक और मुनिधर्म के सामान्य नियमो तथा नानाविधानों और साधनाओ का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर आनन्दसागर सूरि द्वारा एक टीका लिखी गई है। १७ वी योगविधान नामक विंशिका पर श्री न्या० यशोविजयगणिकृत टीका भी है। (प्र० मूलमात्र, पूना, १६३२)

शान्तिसूरि (१२ वी शती) कृत **धर्मरत्न-प्रकरण** मे १८१ गाथाओं द्वारा श्रावक पद प्राप्ति के लिये सौम्यता, पापभीरुता आदि २१ आवश्यक गुणो का वर्णन किया है तथा भावश्रमण के लक्षणो और शीलो का भी निरूपण किया है। इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

प्राकृत गाथाओ द्वारा गृहस्थधर्म का प्ररूपण करनेवाला दूसरा ग्रन्थ वसुनदिकृत **उपासकाध्ययन** (श्रावकाचार) है, जिसमें ५४६ गाथाओं द्वारा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं अर्थात् दर्जो का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्ता ने अपना परिचय ग्रंथ की प्रशस्ति मे दिया है, जिसके अनुसार उनकी गुरु-परम्परा कुदकुदाम्नाय में क्रमशः श्रीनदि, नयनंदि, नेमिचन्द्र और वसुनंदि, इसप्रकार पाई जाती है। उन्होने यह भी कहा है कि मैंने अपने गुरु नेमिचन्द्र के प्रसाद से इस आचार्य-परम्परागत उपासकाध्ययन को वात्सल्य और आदरभाव से भव्यों के लिये रचा। ग्रंथ के आदि में उन्होने यह भी कहा

है कि विपुलाचल पर्वत पर इन्द्रभूति ने जो श्रेणिक को उपदेश दिया था, उसीको गुरु परिपाटी से कहे जानेवाले इस ग्रंथ को सुनिये। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि द्वादशागान्तर्गत सातवें श्रुतांग 'उपासक दशा' में हमें श्रावक की इन्हीं ग्यारह प्रतिमाओं का प्ररूपण मिलता है। भेद यह है कि वहां यह विषय आनंद श्रावक के कथानक के अन्तर्गत आया है, और यहां स्वतंत्र रूप से। इसमें की २६५-३०१ तक की, तथा इससे पूर्व की अन्य कुछ गाथाएं श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र से ज्यो की त्यो मिलती हैं। कुन्द कुन्दाचार्य कृत चारित्र पाहुड (गाथा २२) में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र उल्लिखित हैं। उनका कुछ विस्तार से वर्णन कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३०५-३६० तक ८६ गाथाओं मे किया गया है। इन सब से भिन्न वसुनंदि ने विशेषता यह उत्पन्न की है कि उन्होने निशिभोजन-त्याग को प्रथम दर्शन प्रतिमा मे ही आवश्यक बतलाकर छठवी प्रतिमा मे उसके स्थान पर दिवा-ब्रह्मचर्य का विधान किया है। ग्रंथ की रचना का काल निश्चित नही है, तथापि इस ग्रन्थ की अनेक गाथाए देवसेन कृत भावसंग्रह के आधार से लिखी गईं प्रतीत होती है, जिससे इसकी रचना की पूर्वावधि वि० सं ६६० (ई० ६३३) अनुमान की जा सकती है। आशाधरकृत सागार-धर्मामृत टीका मे वसुनदि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जिससे उनके काल की उत्तरावधि वि० स० १२९६ (ई० १२३९) सिद्ध होती है। इन्ही सीमाओं के बीच सम्भवतः ११ वी, १२वी शती मे यह ग्रन्थ लिखा गया होगा।

अपभ्रंश मे श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ **'सावयधम्मदोहा'** है। इसमे २२४ दोहो द्वारा श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओ व बारह व्रतो का स्वरूप समझाया गया है। बारह व्रतों के नाम कुंदकुद के अनुसार है, जिनमें देशव्रत सम्मिलित न होकर सल्लेखना का समावेश है। सप्तव्यसनो, अभक्ष्यो एवं कुसगति, अन्याय, चुगलखोरी, झूठे व्यापार आदि दुर्गुणो के परित्याग का उपदेश दिया गया है। शैली बडी सरल, सुन्दर, व काव्य गुणात्मक है। प्राय. प्रत्येक दोहे की एक पंक्ति मे धर्मोपदेश और दूसरी मे उसका कोई सुन्दर, हृदय मे चुभने वाला दृष्टान्त दिया गया है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के संबंध में कुछ विवाद है। प्रकाशित ग्रन्थ (कारंजा १९३२) की भूमिका मे उहापोह पूर्वक इसके कर्ता दसवी शताब्दी मे हुए देवसेन को सिद्ध किया गया है। किन्तु कुछ हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों मे इसे योगीन्द्र कृत भी कहा गया है, और कुछ मे लक्ष्मीचन्द्र कृत श्रुतसागर कृत षट्पाहुड टीका मे इस ग्रन्थ के कुछ दोहे उद्धृत पाये जाते है जिन्हे लक्ष्मीचन्द्र कृत कहा गया है। यदि पूर्ण ग्रन्थ के कर्ता लक्ष्मीचन्द्र हैं तो वह १५ वी, शती की रचना सिद्ध होती है। ग्रन्थ पर योगीन्द्र कृत परमात्म प्रकाश तथा देवसेन

कृत भावसंग्रह का बहुत प्रभाव पाया जाता है। इसकी एक प्राचीन प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मंदिर में वि० सं० १५५५ (ई० सन् १४९८) की है, और इसकी पुष्पिका मे "इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्र-विरचिते दोहक-सूत्राणि समाप्तानि" ऐसा उल्लेख है।

श्रावकाचार-सस्कृत :

रत्नकरंड श्रावकाचार— संस्कृत में श्रावक धर्म विषयक बड़ी सुप्रसिद्ध रचना है। इसके १५० श्लोकों में क्रमशः सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरूपण किया गया है। चारित्र मे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का विस्तार से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् सल्लेखना का निरूपण किया गया है, और इसप्रकार कुंदकुंद के निर्देशानुसार (चारित्र पाहुड गा० २५-२६) सल्लेखना को भी श्रावक के व्रतो मे स्वीकार कर लिया है। अन्त मे ग्यारह श्रावक-पदो (प्रतिमाओ) का भी निरूपण कर दिया गया है। इसप्रकार यहा श्रावक धर्म का प्ररूपण, निरूपण की दोनों पद्धतियो के अनुसार कर दिया गया है। ग्रन्थ कर्ता ने इस कृति मे अपना नाम प्रगट नही किया, किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसे समन्तभद्र कृत कहा है, और इसी आधार पर यह उन्ही स्वामी समन्तभद्र कृत मान लिया गया है जिन्होने आप्तमीमांसादि ग्रन्थों की रचना की। किन्तु शैली आदि भेदों के अतिरिक्त भी इसमे आप्तमीमांसा सम्मत आप्त के लक्षण से भेद पाया जाता है, दूसरे वादिराज के पार्श्वनाथ चरित्र की उत्थानिका मे इस रचना को स्पष्टतः समन्तभद्र से पृथक् 'योगीन्द्र' की रचना कहा है; तीसरे इससे पूर्व इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नही मिलता, और चौथे स्वयं ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक मे 'वीतकलंक', 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' शब्दो का उपयोग किया गया है जिससे अनुमान होता है कि अकलंककृत राजवार्तिक, और विद्यानंदि कृत श्लोक वार्तिक तथा पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, इन तीनों टीकाओ से ग्रन्थकार परिचित और उपकृत थे। इसके अनुसार यह रचना विद्यानंदि और वादिराज के कालों के बीच अर्थात् आठवीं से दसवी-ग्यारहवी शती तक किसी समय हुई होगी।

सोमदेवकृत **यशस्तिलक चम्पू** के पांच से आठवें तक के चार आश्वासों में चारित्र का वर्णन पाया जाता है। विशेषतः इसके सातवें और आठवें आश्वासों में श्रावक के बारह व्रतों का विस्तार से प्रौढ़ शैली मे वर्णन किया है। यह ग्रन्थ शक सं० ८८१ (ई० सन् ९५९) मे समाप्त हुआ था।

अमितगति कृत **श्रावकाचार** लगभग १५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और

वह १५ अध्यायों में विभाजित है, जिनमे धर्म का स्वरूप, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद, सप्त तत्व, अष्ट मूलगुण, बारह व्रत और उनके अतिचार, सामायिक आदि छह आवश्यक, दान, पूजा व उपवास एव बारह भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है। अन्तिम अध्याय मे ध्यान का वर्णन ११४ पद्यो मे किया गया है, जिसमे ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल का निरूपण है। अमितगति ने अपने अनेक ग्रन्थो मे उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है, जिनमे वि० सं० १०५० से १०७३ तक के उल्लेख मिलते हैं। अतएव उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग १००० ई० सिद्ध होता है।

आशाधर कृत **सागारधर्मामृत** लगभग ५०० संस्कृत पद्यो मे पूर्ण हुआ है, और उसमें आठ अध्यायो द्वारा श्रावकधर्म का सामान्य वर्णन, अष्ट मूलगुण तथा ग्यारह प्रतिमाओ का निरूपण किया गया है। व्रत प्रतिमा के भीतर बारह व्रतो के अतिरिक्त श्रावक की दिनचर्या भी बतलाई गई है। अन्तिम अध्याय के ११० श्लोको मे समाधि-मरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। रचनाशैली काव्यात्मक है। ग्रन्थ पर कर्ता की स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है, जिसमे उसकी समाप्ति का समय वि० स० १२९६–ई० १२३९ उल्लिखित है। (प्र० बंबई, १९१५)

गुणभूषण कृत **श्रावकाचार** को कर्ता ने भव्यजन-चित्तवल्लभ श्रावकाचार कहा है। इसमे २६९ श्लोको द्वारा दर्शन, ज्ञान और श्रावकधर्म का तीन उद्देशो मे सरल रीति से निरूपण किया गया है। इसका रचनाकाल निश्चित नही है, किन्तु उस पर रत्नकरंड, वसुनदि श्रावकाचार आदि की छाप पडी दिखाई देती है। अनुमानतः यह रचना १४वी १५वी शताब्दी की है।

श्रावकधर्म सबधी रचनाओ की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है जिसमे १७वी शताब्दी मे अकबर के काल मे राजमल्ल द्वारा रचित **लाटी संहिता** उल्लेखनीय है।

ध्यान व योग-प्राकृत :

मुनिचर्या मे तप का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। तप के दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्तादि छह प्रभेदो मे अन्तिम तप का नाम ध्यान है। अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थो मे और विशेषत: ठाणाग (अ० ४ उ० १) मे आर्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल इन चारो ध्यानो और उनके भेदोपभेदो का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार निर्युक्तियो मे और विशेषतः **आवश्यक निर्युक्ति** के कायोत्सर्ग अध्ययन (गा० १४६२–८६) मे ध्यानो के लक्षण व भेद-प्रभेद वर्णित पाये जाते है। इस

आगम-प्रणाली के अनुसार ध्यान का निरूपण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी **ध्यानशतक** नामक रचना मे किया है।

वैदिक परम्परा मे ध्यान का निरूपण योग दर्शन के भीतर पाया जाता है, जिसके आदि संस्थापक महर्षि पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) माने जाते हैं। पातंजल 'योगसूत्र' मे जो योग का लक्षण 'चित्तवृत्तिनिरोध' किया है, और उसके प्रथम अंग यम के अहिंसादि पाच भेद बतलाये हैं, इससे उस पर श्रमण परम्परा की संयम विधि की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। अष्टाग योग का सातवां अंग ध्यान है जिसके द्वारा मुनि अपने चित्त को बाह्य विषयो से खीचकर आत्मचिन्तन में लगाने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया का योग नाम से उल्लेख हमे कुन्दकुन्द कृत मोक्ष-पाहुड में मिलता है।

मोक्षपाहुड (गाथा १०६) मे कुन्दकुन्द ने आदि मे ही अपनी कृति को परम योगियो के उस परमात्मरूप परमपद का व्याख्यान करनेवाली कहा है, जिसको जानकर तथा निरन्तर अपनी साधना मे योजित करके योगी अव्याबाध, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है (गा० २–३)। यहा आत्मा के बहि:, अतर और परम ये तीन भेद किये है, जिनके क्रमश इन्द्रिय परायणता, आत्म चेतना और कर्मों से मुक्ति, ये लक्षण है (गा० ५)। परद्रव्य मे रति मिथ्यादृष्टि है और उससे जीव की दुर्गति होती है, एव स्व-द्रव्य (आत्मा) मे रति सद्गति का कारण है। स्व-द्रव्य-रत श्रमण नियम से सम्यग्दृष्टि होता है। तप से केवल स्वर्ग ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु शाश्वत सुख रूप निर्वाण की प्राप्ति ध्यान योग से ही सम्भव है (गा० २३) कषायों, मान, मद, राग-द्वेष, व्यामोह, एव समस्त लोक-व्यवहार से मुक्त और विरक्त होकर आत्मध्यान मे प्रवृत्त हुआ जा सकता है (गा० २७)। साधक को मन, वचन, काय से मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, और पाप का परित्याग कर मौनव्रत धारण करना चाहिए (गा० २८)। योग की अवस्था मे समस्त आस्रवो का निरोध होकर, संचित कर्मों का क्षय होने लगता है (गा० ३०)। लोक व्यवहार के प्रति सुषुप्ति होने पर ही आत्मजागृति होती है (गा० ३१)। पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति और रत्नत्रय से युक्त होकर मुनि को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिये (गा० ३३)। तभी वह सच्चा आराधक बनता है, आराधना के विधान को साध सकता है, और आराधना का केवलज्ञान रूप फल प्राप्त कर सकता है (गा० ३४)। किन्तु कितने ही साधक आत्मज्ञानी होकर भी पुन. विषयविमोहित होकर सद्भाव से भ्रष्ट हो जाते हैं। जो विषय-विरक्त बने रहते हैं, वे चतुर्गति से मुक्त हो जाते हैं (गा० ६७–६८)।

सम्यक्त्वहीन, चारित्रहीन अभव्य और अज्ञानी ही कहते हैं कि यह दुस्समकाल ध्यान करने का नही है (गा० ७४-७६)। ध्यान दो प्रकार से किया जा सकता है, एक तो शुद्ध आत्म-चिन्तन, जिसके द्वारा योगी अपने आप मे सुरक्त हो जाता है। यह निश्चयात्मक ध्यानावस्था है। जिसमे यह योग्यता नही है वह आत्मा का पुरुषाकार रूप से ध्यान करे (गा० ८३-८४)। यह ध्यान श्रमणो का है। श्रावको को तत्वचिन्तन रूप सम्यक्त्व का निष्कंप रूप से ध्यान करना चाहिए (गा० ८६)। ध्यानाभ्यास के बिना बहुत से शास्त्रों का पठन, और नानाविध चारित्र का पालन, बाल-श्रुत बाल-चरण ही है (गा० १००)। अन्त मे दो गाथाओ (१०४-१०५) मे पंचपरमेष्ठि, रत्नत्रय व तप की जिस आत्मा मे प्रतिष्ठा है उसकी ही शरण सबंधी भावना का निरूपण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस प्रकार इस पाहुड मे हमे जैन योग विषयक अतिप्राचीन विचार दृष्टिगोचर होते है जिसका परवर्ती योग विषयक रचनाओ से तुलनात्मक अध्ययन करने योग्य है। यथार्थत यह रचना योगशतक रूप मे लिखी गई प्रतीत होती है और उसको 'योग-पाहुड' नाम भी दिया जा सकता है। पातजल योग शास्त्र में योग के जिन यम नियमादि आठ अगों का निरूपण किया गया है, उनमें से प्राणायाम को छोड, शेष सात का विषय यहा स्फुटरूप से जैन परम्परानुसार वर्णित पाया जाता है।

बारस अणुवेक्खा (गा० ९०-९१), मे अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह भावनाओ का आरम्भ मे निर्देश और फिर क्रमश उनका स्वरूप सक्षेप मे वर्णन किया गया है। ग्यारहवी धर्मभावना के निरूपण मे श्रावको के दर्शन व्रतादि ग्यारह प्रतिमाओ (गा० ६९) तथा मुनियो के उत्तम क्षमादि दश धमो का (गा० ७०) निर्देश किया गया है, और फिर एक एक गाथा मे इन दशो का स्वरूप बतलाया गया है। अन्तिम ९१ वी गाथा मे कुन्दकुन्द मुनिनाथ का नामोल्लेख है, किन्तु यह गाथा प्राचीन कुछ प्रतियो मे नही मिलती। इसकी कुछ गाथाए मूलाचार और सर्वार्थ सिद्धि मे पाई जाती है। इस रचना में ऐसी कोई बात दिखाई नही देती जिसके कारण वह कुन्दकुन्द कृत मानी न जा सके। तत्वार्थसूत्रानुसार अनुप्रेक्षा धार्मिक साधना का एक आवश्यक अंग है; वहा बाहर अनुप्रेक्षाओ का निर्देशन भी किया गया है। अतएव यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि जब कुन्दकुन्द ने चारित्र सम्बन्धी सभी विषयो पर लिखा, तब उन्होने बारह अनुप्रेक्षाओ का निरूपण भी अवश्य किया होगा।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे कही संक्षेप और

कहीं विस्तार से श्रमणों और श्रावकों के चारित्र संबंधी प्रायः सभी विषयों का निर्देश व निरूपण आ गया है। उनकी इन कृतियों का आगे की साहित्य रचनाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा दिखाई देता है, और उनमें उक्त विषयो को लेकर पल्लवित किया गया है।

कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा) मे ४६१ गाथाओं द्वारा उन्ही बारह अनुप्रेक्षाओ का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनका संक्षिप्त निरूपण हमे कुन्दकुन्द के बारस अणुवेक्खा मे प्राप्त होता है। किन्तु यहां उनका क्रम कुछ भिन्न प्रकार से पाया जाता है। यहा संसार भावना तीसरे, अशुचित्व छठे, और लोक दसवें स्थान में पाई जाती है। लोकानुप्रेक्षा का वर्णन ११५ से २८३ तक की १६६ गाथाओ में किया गया है, क्योंकि उसके भीतर समस्त त्रैलोक्य का स्वरूप और उनके निवासी जीवों का, जीवादि छह द्रव्यो का, द्रव्यो मे उत्पादादि पर्यायो का तथा मति श्रुति आदि पाच ज्ञानों का भी प्ररूपण किया गया है, और इस प्रकार वह प्रकरण त्रिलोक-प्रज्ञप्ति का संक्षिप्त रूप बन गया है। उसी प्रकार धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन गा० ३०२ से गा० ४६७ तक की १८६ गाथाओ मे हुआ है. क्योकि यहा श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओ व बारह व्रतों का (गा० ३०५-३६१), साधु के क्षमादि दश धर्मो का (गा० ३६२-४०४), सम्यक्त्व के आठ अगो का (गा० ४१४-४२२) एव अनशनादि बारह तपो का (गा० ४४१-४८७) वर्णन भी पर्याप्त रूप से किया गया है। बारह व्रतो के निरूपण मे गुण और शिक्षा-व्रतो का क्रम वही है, जो कुन्दकुन्द के चारित्रपाहुड (गा० २५-२६) मे पाया जाता है। भेद केवल इतना है कि यहा अंतिम शिक्षाव्रत सल्लेखना नही, किन्तु देशावकाशिक ग्रहण किया गया है। यह गुण और शिक्षाव्रतो की व्यवस्था त० सू० से संख्या क्रम मे भिन्न है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति की व्यवस्था से मेल खाता है। ग्रन्थ की अन्तिम तीन गाथाओ मे कर्ता ने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए केवल इतना ही कहा है कि स्वामिकुमार ने इन अनुप्रेक्षाओ की रचना परम श्रद्धा से, जिन-वचनो की भावना तथा चंचल मन के अवरोध के लिये जिनागम के अनुसार की। अन्तिम गाथा में उन्होने कुमारकाल मे तपश्चरण धारण करनेवाले वासुपूज्य, मल्लि और अन्तिम तीन अर्थात् नेमि, पार्श्व और महावीर को वन्दना की है। इस पर से ग्रन्थकर्ता के विषय मे इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे स्वयं (ब्रह्मचारी) थे और उनका नाम स्वामिकुमार (कार्त्तिकेय) था। ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में अभी कोई अनुमान लगाना कठिन है। ग्रन्थ पर भट्टारक शुभचन्द्र कृत संस्कृत टीका (वि० सं० १६१३-ई० १५५६) मे समाप्त हुई प्राप्त होती है।

कुंदकुंद के पश्चात् स्वतंत्ररूप से योग विषयक ग्रन्थकर्ता आ० हरिभद्र हैं, जिनकी योग विषयक स्वतत्र तीन रचनाएं प्राप्त है--योगशतक (प्राकृत), योगबिन्दु (संस्कृत) और योगदृष्टिसमुच्चय (स०)। इनके अतिरिक्त उनकी विंशति विंशिका मे एक (१७ वी विंशिका) तथा षोडशक मे १४ वा व १६ वां ये दो, इसप्रकार तीन छोटे छोटे प्रकरण भी है। **योगशतक** मे १०१ प्राकृत गाथाओ द्वारा सम्यग्दर्शन आदि रूप निश्चय और व्यवहार योग का स्वरूप, योग के अधिकारी, योगाधिकारी के लक्षण एव ध्यान रूप योगावस्था का सामान्य रीति से जैन परम्परानुसार ही वर्णन किया गया है। **योगविंशति** की बीस गाथाओ मे अतिसक्षिप्त रूप से योग की विकसित अवस्थाओ का निरूपण किया गया है, जिसमे कर्ता ने कुछ नये पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया है। यहा उन्होने योग के पाच भेदो या अनुष्ठानो को स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और अन्तर्लम्बन सज्ञाए देकर (गा० २), पहले दो को कर्मयोग रूप और शेष तीन को ज्ञानयोग रूप कहा है (गा० ३)। तत्पश्चात् इन पाचो योग भेदो के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि, ये चार यम नामक प्रभेद किये हैं, और अन्त मे इनकी प्रीति, भक्ति, वचन और असग अनुष्ठान नामक चार चार अवस्थाएं स्थापित करके आलबन और अनालबन योग का स्वरूप समझाया है।

ध्यान व योग-अपभ्रश :

यहा अपभ्रश भाषा की कुछ रचनाओ का उल्लेख भी उचित प्रतीत होता है, क्योकि वे अध्यात्म विषयक है। योगीन्द्र कृत **परमात्म-प्रकाश** ३४५ दोहो मे तथा **योगसार** १०७ दोहों मे समाप्त हुए हैं। इन दोनो रचनाओ मे कुंदकुद कृत मोक्षपाहुड के अनुसार आत्मा के बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म इन तीन स्वरूपो का विस्तार से वर्णन किया गया है, और जीवो को ससार के विषयो से चित्त को हटाकर, उसे आत्मोन्मुख बनाने का नानाप्रकार से उपदेश दिया गया है। यह सब उपदेश योगीन्द्र ने अपने एक शिष्य भट्ट प्रभाकर के प्रश्नो के उत्तर मे दिया है। इन रचनाओ का काल संपादक ने ई० की छठी शती अनुमान किया है (प्रकाशित बम्बई १९३७)। परमात्म प्रकाश के कुछ दोहे हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे उद्धृत पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना हेमचन्द्र से पूर्व काल की सुनिश्चित है।

रामसिंह मुनि कृत **'पाहुड दोहा'** मे २२२ दोहे हैं, और इनमे योगी रचयिता ने बाह्य क्रियाकाड की निष्फलता तथा आत्म-सयम और आत्मदर्शन मे ही सच्चे कल्याण का उपदेश दिया है। झूठे जोगियो को ग्रन्थ मे खूब फटकारा गया है। देह

को कुटी या देवालय और आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय-वृत्तियों का शक्ति रूप से संबोधन अनेक जगह आया है। शैली मे यह रचना एक ओर बौद्ध दोहाकोशो और चर्यापदों से समानता रखती है, और दूसरी ओर कबीर जैसे संतो की वाणियो से। दो दोहो (६६-१००) मे देह और आत्मा अथवा आत्मा और परमात्मा का प्रेयसी और प्रेमी के रूपक मे वर्णन किया गया है, जो पीछे के सूफी सम्प्रदाय की काव्य-धारा का स्मरण दिलाता है। इसके ४,५ दोहे अत्यल्प परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण मे उद्धृत पाये जाते है। अतएव इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११०० से पूर्व सिद्ध होता है। (प्रकाशित, कारंजा, १९३३)

ध्यान व योग-संस्कृत.—कुंदकुंद के पश्चात् पूज्यपाद कृत योग विषयक दो सक्षिप्त सस्कृत रचनाए उल्लेखनीय हैं। एक **इष्टोपदेश** है, जिसमें ५१ श्लोक है। यहा योग-साधक की उन भावनाओं का निरूपण किया गया है, जिनके द्वारा साधक अपनी इन्द्रियो को सासारिक विषयो से पराङ्-मुख करके मन को आत्मध्यान मे प्रवृत्त करता है, तथा उसमे ऐसी अध्यात्मवृत्ति जागृत हो जाती है कि वह समस्त जगत् को इन्द्र-जाल के समान देखने लगता है, एकान्तवास चाहता है, कार्यवश कुछ कहकर तुरन्त भूल जाता है, बोलता हुआ भी नही बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता, देखता हुआ भी नही देखता, यहां तक कि उसे स्वयं अपने देह का भी भान नही रहता (श्लोक० ३९-४२)। इसप्रकार व्यवहार से दूर हटकर व आत्मानुष्ठान मे स्थित होकर योगी को परमानद प्राप्त होता है (श्लो० ४७)। इस योगावस्था का वर्णन जीवन्मुक्त की अवस्था से मेल खाता है।

पूज्यपाद की दूसरी रचना **समाधिशतक** है, जिसमे १०५ संस्कृत श्लोक हैं। इसमे बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म का स्वरूप बतला कर, अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा के ध्यान का स्वरूप बतलाया गया है। ध्यान-साधना मे अविद्या, अभ्यास व सस्कार के कारण, अथवा मोहोत्पन्न रागद्वेष द्वारा चित्त मे विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को प्रयत्नपूर्वक मन को खीचकर, आत्मतत्व में नियोजित करने का उपदेश दिया गया है। साधक को अव्रतो का त्याग कर व्रतों मे निष्ठित होने, और आत्मपद प्राप्त करने पर उन व्रतो का भी त्याग करने को कहा गया है (श्लो० ८४) लिंग तथा जाति का आग्रह करने वालों को यहां परमपद प्राप्ति के अयोग्य बतलाया है (श्लोक० ८९)। आत्मा अपने से भिन्न आत्मा की उपासना करके उसी के समान परमात्मा बन जाता है, जिसप्रकार कि एक बाती अन्य दीपक के पास से ज्वाला ग्रहण कर उसीके सदृश भिन्न दीपक बन जाती है (श्लोक० ९७)। इस रचना के संबध में

यह बात ध्यान देने योग्य है कि विषय की दृष्टि से इसका कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड से बहुत कुछ साम्य के अतिरिक्त उसकी अनेक गाथाओं का यहां शब्दशः अथवा किंचित् भेद सहित अनुवाद पाया जाता है, जैसा कि मोक्ष पा० गा० ५, ६, ८, ९, १०, ११, २९, ३१, ३२, ४२, व ६२ और समधि शतक श्लोक ५, ६, ७, १०, ११, १२, १८, ७८, ४८, ८३, व १०२ का क्रमशः मिलान करने पर स्पष्ट पता लग जाता है।

आचार्य हरिभद्र कृत **षोडशक** के १४ वें प्रकरण मे १६ संस्कृत पद्यो मे योग साधना मे बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद, रुग्, और आसंग, इन आठ चित्त-दोषो का निरूपण किया गया है; तथा १६ वें प्रकरण मे उक्त आठ दोषो के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति इन आठ चित्तगुणो का निरूपण किया है; एवं योग साधना के द्वारा क्रमशः स्वानुभूति रूप परमानद की प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

योगबिंदु मे ५२७ संस्कृत पद्यो मे जैनयोग का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। यहाँ 'मोक्ष प्रापक धर्मव्यापार' को योग और मोक्ष को ही उसका लक्ष्य बतलाकर, चरमपुद्गलपरावर्त काल मे योग की सभावना, अपुनबर्धक, भिन्नग्रंथि, देशविरत और सर्वविरत (सम्यग्दृष्टि) ये चार योगाधिकारियो के स्तर, पूजा, सदाचार, तप आदि अनुष्ठान, अध्यात्म, भावना, ध्यान आदि योग के पाच भेद, विष, गरलादि पाच प्रकार के सद् वा असद् अनुष्ठान, तथा आत्मा का स्वरूप परिणामी नित्य बतलाया गया है; और प्रसगानुसार सांख्य, बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनो का समालोचन भी किया गया है। पातंजल योग और बौद्ध सम्मत योगभूमिकाओ के साथ जैन योग की तुलना विशेष उल्लेखनीय है।

योगदृष्टिसमुच्चय मे २२७ सस्कृत पद्यो मे कुछ योगबिदु में वर्णित विषय की संक्षेप मे पुनरावृत्ति की गई है; और कुछ नवीनता भी लाई गई है। यहा आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओ का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, एक मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक आठ योग-दृष्टियों द्वारा; दूसरा इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्य योग इन तीन प्रकार के योग-भेदो द्वारा; तथा तीसरा गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी इन चार योगी भेदो द्वारा। प्रथम वर्गीकरण मे निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियो मे ही १४ गुणस्थानो की योजना कर ली गई है। मुक्त तत्व की विस्तार से मीमासा भी की गई है।

इन रचनाओं द्वारा हरिभद्र ने अपने विशेष चिन्तन, नवीन वर्गीकरण तथा अपूर्व पारिभाषिक शब्दावली द्वारा जैन परम्परा के योगात्मक विचारो को कुछ नये

रूप मे प्रस्तुत किया है; और वैदिक तथा बौद्ध परम्परा सम्मत योगधाराओं से उसका मेल बैठाने का प्रयत्न किया है। योगदृष्टि-समुच्चय पर स्वयं हरिभद्रकृत, तथा यशोविजयगणि कृत टीका उपलब्ध है। यही नही, किन्तु यशोविजय जी ने मित्रा तारादि आठ योगदृष्टियो पर चार **द्वात्रिंशिकाएं** (२१-२४) भी लिखी है, और संक्षेप मे गुजराती मे एक छोटी सी **सज्झाय** भी लिखी है।

गुणभद्र कृत **आत्मानुशासन** मे २७ संस्कृत पद्यो द्वारा इन्द्रियों और मन की बाह्य वृत्तियो को रोककर आत्मध्यान परक बनने का उपदेश दिया गया है। और इस प्रकार इसे योगाभ्यास की पूर्व-पीठिका कह सकते हैं। यह कृति रचना में काव्य गुण युक्त है। इसके कर्ता वे ही गुणभद्राचार्य माने जाते है जो धवला टीकाकार वीरसेन के प्रशिष्य और जिनसेन के शिष्य थे, तथा जिन्होने उत्तरपुराण की रचना ९ वी शताब्दी के मध्यभाग मे पूर्ण की थी। अतएव प्रस्तुत रचना का भी लगभग यही काल सिद्ध होता है।

अमितगति कृत **सुभाषित-रत्न-संदोह** (१० वी, ११ वी शती) एक सुभाषितों का संग्रह है जिसमे ३२ अध्यायो के भीतर उत्तम काव्य की रीति से नैतिक व धार्मिक उपदेश दिये गये है। प्रसंगवश यत्रतत्र अन्यधर्मी मान्यताओ पर आलोचनात्मक विचार भी प्रकट किये गये है। अमितगति की एक दूसरी रचना **योगसार** है, जिसके ९ अध्यायों मे नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं।

संस्कृत मे आचार सम्बन्धी और प्रसगवश योग का भी विस्तार से वर्णन करनेवाला एक ग्रन्थ **ज्ञानार्णव** है। इसके कर्ता शुभचन्द्र है, जो राजाभोज के समकालीन ११ वी शताब्दी मे हुए माने जाते है। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति पाटन भंडार से सं० १२८८ की लिखी प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ मे २००० से ऊपर श्लोक हैं, जो ४२ प्रकरणो मे विभाजित है। इनमे जैन सिद्धान्त के प्राय. सभी विषयों का संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। आचार सम्बन्धी व्रतो का और भावनाओं आदि का भी विस्तार से प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त आसन, प्राणायाम आदि योग की प्रक्रियाओ का, तथा ध्यान के आज्ञा, विपाक व सस्थान विचयो का वर्णन किया गया है। यहा ध्यान के निरूपण मे पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत संज्ञाओं का प्रयोग मौलिक है, और इन ध्यान-भेदों का स्वरूप भी अपूर्व है। इक्कीसवें प्रकरण में क्षिवतत्व, गरुडतत्व और कामतत्व का वर्णन भी इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थकर्ता ने प्राणायाम का निरूपण तो पर्याप्त किया है, किन्तु उसे ध्यान की सिद्धि में साधक नही, एक प्रकार से बाधक कहकर उसके अभ्यास का निषेध किया

है। यह वर्णन सस्कृत गद्य मे किया गया है और उस पर श्रुतसागर कृत एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। इसमे वर्णित विषयों का इतना बाहुल्य है कि वे इसका ज्ञानार्णव नाम सार्थक सिद्ध करते हैं। दिगम्बर परम्परा मे योग विषयक **ध्यानसार** और **योग-प्रदीप** नामक दो अन्य सस्कृत पद्यबद्ध रचनाए भी मिलती हैं।

हेमचन्द्र (१२ वी शती ई०) कृत **योगशास्त्र** मे लगभग १००० संस्कृत श्लोक हैं। इनमें मुनि और श्रावक धर्मों का व तत्संबधी व्रतो का क्रमवार निरूपण है। तत्पश्चात् यहां श्रावक की दिनचर्या, कषाय जय द्वारा मनःशुद्धि तथा अनित्य आदि बारह भावनाओ का स्वरूप बतलाकर आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा; ध्यान के पिडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीन तथा आज्ञा-विचय, अपाय-विचय आदि धर्मध्यान, और शुक्लध्यान के चार भेद; केवलि समुद्घात और मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह प्रायः समस्त वर्णन स्पष्ट रूप से शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव से कही शब्दशः और कही कुछ हेरफेर अथवा सकोच-विस्तार पूर्वक लिया गया है। यहाँ तक कि प्राणायाम का विस्तार पूर्वक कोई ३०० श्लोको मे प्ररूपण करने पर भी उसे ज्ञानार्णव के समान मोक्षप्राप्ति मे बाधक कहा गया है। शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के काल की दृष्टि से पूर्वापरत्व और एक पर दूसरे की छाप इतनी सुस्पष्ट है कि हेमचन्द्र को शुभचन्द्र का इस विषय मे ऋणी न मानने का कोई अवकाश नही।

आशाधर कृत **अध्यात्म–रहस्य** हाल ही प्रकाश मे आया है। इसमे ७२ सस्कृत श्लोको द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन एवं अनुभूति का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। आशाधर ने अपनी अनगारधर्मामृत की टीका की प्रशस्ति मे इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति की अन्तिम पुष्पिका में इसे धर्मामृत का **'योगीद्दीपन'** नामक अठारहवा अध्याय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का दूसरा नाम योगीद्दीपन भी है और इसे कर्ता ने अपने धर्मामृत के अन्तिम उपसंहारात्मक अठारहवे अध्याय के रूप मे लिखा था। स्वय कर्ता के शब्दो मे उन्होने अपने पिता के आदेश से आरब्ध योगियो के लिये इस प्रसन्न, गम्भीर और प्रिय शास्त्र की रचना की थी।

स्तोत्र साहित्य :

जैन मुनियो के लिये जो छह आवश्यक क्रियाओ का विधान किया गया है, उनमें चतुर्विशति-स्तव भी एक है। इस कारण तीर्थंकरो की स्तुति की परम्परा प्रायः उतनी ही प्रचीन है, जितनी जैन संघ की सुव्यवस्था। ये स्तुतिया पूर्व में

भक्त्यात्मक विचारों के प्रकाशन द्वारा की जाती थी, जैसाकि हम पूर्वोक्त कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत व पूज्यपाद कृत संस्कृत भक्तियो में पाते है। तत् पश्चात् इन स्तुतियों का स्वरूप दो धाराओं मे विकसित हुआ। एक ओर बुद्धिवादी नैयायिको ने ऐसी स्तुतियां लिखी जिनमें तीर्थंकरों की, अन्यदेवों की अपेक्षा, उत्कृष्टता और गुणात्मक विशेषता स्थापित की गई हैं। इस प्रकार की स्तुतियां **आप्तमीमांसादि** समन्तभद्र कृत, **द्वात्रिंशिकाएं** सिद्धसेन कृत तथा हेमचन्द्र कृत अन्ययोग व अयोग-व्यवच्छेदिकाए आदि हैं, जिनका उल्लेख ऊपर जैन न्याय के प्रकरण में किया जा चुका है।

दूसरी धारा का विकास, एक ओर चौबीसों तीर्थंकरों के नामोल्लेख और यत्र तत्र गुणात्मक विशेषणो की योजनात्मक स्तुतियो मे हुआ। इसप्रकार की अनेक स्तुतियाँ हमे पूजाओ की जयमालाओ के रूप मे मिलती है। क्रमश: स्तोत्रों मे विशेषणो व पर्यायवाची नामों का प्राचुर्य बढा। इस शैली के चरम विकास का उदाहरण हमे जिनसेन (९ वी शती) कृत '**जिनसहस्त्रनाम स्तोत्र**' मे मिलता है। इस स्तोत्र के आदि के ३४ श्लोको मे नाना विशेषणो द्वारा परमात्म तीर्थंकर को नमस्कार किया गया है, और फिर दश शतको मे सब मिलाकर जिनेन्द्र के १००८ नाम गिनाये गये है। इन नामो मे प्रायः अन्य धर्मों के देवताओ जैसे ब्रम्हा, शिव, विष्णु, बुद्ध, बृहस्पति, इन्द्र आदि के नाम भी आ गये हैं। इसी के अनुसार पं० आशाधर (१३ वी शती), देवविजयगणि (१६ वी शती), विनयविजय उपाध्याय (१७ वी शती) व सकलकीर्ति आदि कृत अनेक जिनसहस्त्रनाम स्तोत्र उपलब्ध है। सिद्धसेन दिवाकर कृत जिनसहस्त्रनामस्त्रोत्र का भी उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर काव्य प्रतिभाशाली स्तुतिकारों ने ऐसे स्तोत्र लिखे, जिनमे तीर्थंकरो का गुणानुवाद भक्ति भाव पूर्ण, छन्द, अलकार व लालित्य युक्त कविता मे पाया जाता है और इस प्रकार ये रचनाये जैन साहित्य मे गीति-काव्य के सुन्दर उदाहरण है। प्राकृत मे इस प्रकार का अति प्राचीन **उवसग्गहर स्तोत्र** है, जो भद्रबाहु कृत कहा जाता है। इसमे पाच गाथाओ द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति की गई है। धनपाल कृत **ऋषभ पंचाशिका** मे ५० पद्यो द्वारा प्रथम तीर्थंकर के जीवन चरित्र संबंधी उल्लेख आये हैं। यह स्तुति कला और कल्पना पूर्ण है, और उसमे अलकारों की अच्छी छटा पायी जाती है। कवि के शब्दों में जीवन एक महोदधि है, जिसमें ऋषभ भगवान् ही एक नौका है। जीवन एक चोर डाकुओ से व्याप्त वन है, जिसमें ऋषभ ही एक रक्षक हैं। जीवन मिथ्यात्व मय एक रात्रि है, जिसमे ऋषभ ही उदीयमान सूर्य हैं। जीवन वह रंगमंच है जहा से प्रत्येक पात्र को अन्त में प्रस्थान करना ही

पड़ता है, इत्यादि। इस पर प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, महीमेरु, धर्मशेखर आदि कृत टीकाएं पाई जाती हैं। इसका क्लाट द्वारा जर्मन भाषा मे अनुवाद भी हुआ है। नंदिषेण (९ वी शती) कृत **अजियसंतित्थय** (अजित-शान्ति-स्तव) मे द्वितीय व सोलहवें तीर्थंकरो की स्तुति की गई है, क्योकि इन दो तीर्थंकरो ने, एक प्राचीन मान्यतानुसार, शत्रुजय पर्वत की गुफाओ मे वर्षा काल व्यतीत किया था, एवं, टीकाकार के अनुसार, कवि इसी तीर्थ की यात्रा से इस स्तुति की रचना करने के लिये प्रोत्साहित हुआ था। इन्ही दो तीर्थंकरो की स्तुति जिनवल्लभ (१२ वी शती) ने **उल्लासिक्कमथय** द्वारा की है। सुमति गणि के अनुसार जिनवल्लभ पाणिनीय व्याकरण, महाकाव्य, अलकार शास्त्र, नाट्य, साहित्य, ज्योतिष व न्याय के महान् पडित थे। वीर गणि ने भी एक **अजियसतित्थय स्तोत्र** की रचना की है। अभयदेव (११ वी शती) कृत **जयतिहुयण स्तोत्र** भी प्राकृत की एक लालित्य व भक्तिपूर्ण स्तुति है, जिसके फलस्वरूप, कहा जाता है, स्तुतिकर्ता को एक व्याधि से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ हुआ था। **नेमिजिनस्तव** एक छोटा सा स्तोत्र है जिसमे ल और म के अतिरिक्त और किसी व्यंजन का उपयोग नही किया गया। प्राकृत मे **महावीरस्तव** शब्दालकार का सुन्दर उदाहरण है, जिसमे एक एक शब्द लगातार तीन तीन बार भिन्न भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। कुछ स्तुतिया ऐसी है जिनमे अनेक भाषाओं का प्रयोग किया गया है, जैसे धर्मवर्द्धन (१३ वी शती) कृत **पार्श्वजिनस्तवन**, एव जिनपद्म (१४ वी शती) कृत **शांतिनाथस्तवन**। इनमे संस्कृत, महाराष्ट्री, मागधी, शौरसैनी, पैशाची, और अपभ्रंश' इन छह भाषाओ के पद्य समाविष्ट किये गये है। कही कही एक ही पद्य आधा संस्कृत और आधा प्राकृत मे रचा गया है। धर्मघोष कृत **इसिमंडल** (ऋषिमंडल) स्तोत्र मे जम्बूस्वामी, स्वयभव, भद्रबाहु आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। एक **समवशरण स्तोत्र** धर्मघोष कृत (२४ गाथाओ का) और दूसरा महाख्यकृत (५२ गाथाओ का) पाये जाते हैं।

संस्कृत मे काव्य शैली की सर्व प्राचीन दो स्तुतिया समन्तभद्र कृत उपलब्ध हैं। एक **वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र** के नाम से प्रसिद्ध है, क्योकि वह 'स्वयम्भुवा' शब्द से प्रारम्भ होता है। इसके भीतर २४ तीर्थंकरो को पृथक् पृथक् स्तुतिया आ गई हैं। अधिकांश स्तव ५, ५ पद्योके है, एवं समस्त पद्यो की संख्या १४३ है। इनमे वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, वसंततिलका आदि १५,१६ प्रकार के छदो का उपयोग हुआ है। अर्थ व शब्दालंकार भी खूब आये हैं। तात्त्विक वर्णन और नैतिक व धार्मिक उपदेश भी खूब आया है। इस पर प्रभाचन्द्र कृत सस्कृत टीका मिलती है।

समन्तभद्रकृत दूसरी स्तोत्रपरक रचना **स्तुतिविद्या** है, जिसके **जिनशतक** व जिनशतकालंकार आदि नाम भी पाये जाते हैं। इसमें कवि का काव्य-कौशल अति उत्कृष्ट सीमा पर पहुंचा दिखाई देता है। इसमें ११६ पद्य हैं, जो अलंकारों व चित्र-काव्यो द्वारा कही कही इतने जटिल हो गये हैं कि बिना टीका के उनको भले प्रकार समझना कठिन है। इसपर वसुनंदि कृत एक मात्र टीका पाई जाती है। इसी कोटि का पूज्यपाद देवनंदि (छठी शती) कृत अलंकार प्रचुर **सिद्धप्रिय स्तोत्र** है, जो २६ पद्यों में पूरा हुआ है। इसमे चौबीस तीर्थकरो की स्तुति की गई है, व सिद्धप्रिय शब्द से प्रारम्भ होने के कारण उक्त नाम से प्रसिद्ध है।

संस्कृत मे मानतुगाचार्य (लगभग ५ वीं ६ ठवी शती) कृत '**भक्तामर स्तोत्र**' बहुत ही लोकप्रिय और सुप्रचलित एवं प्रायः प्रत्येक जैन की जिह्वा पर आरूढ़ पाया जाता है। दिग० परम्परानुसार इसमे ४८ तथा श्वेताम्बर परम्परा मे ४४ पद्य पाये जाते है। स्तोत्र की रचना सिहोन्नता छद मे हुई है। इसमे स्वयं कर्ता के अनुसार प्रथम जिनेन्द्र अर्थात् ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। तथापि समस्त रचना ऐसी है कि वह किसी भी तीर्थकर के लिये लागू हो सकती है। प्रत्येक पद्य मे बड़े सुन्दर उपमा, रूपक आदि अलकारो का समावेश है। हे भगवन् आप एक अद्भुत जगत् प्रकाशी दीपक हैं, जिसमे न तेल है, न वाती और न धूम, एवं जहा पर्वतो को हिलादेने वाले वायु के झोके भी पहुच नही सकते, तथापि जिससे जगत् भर मे प्रकाश फैलता है। हे मुनीन्द्र, आपकी महिमा सूर्य से भी बढकर है, क्योकि आप न कभी अस्त होते, न राहुगम्य है, न आपका महान् प्रभाव मेघो से निरुद्ध होता, एव एक साथ समस्त लोकों का स्वरूप सुस्पष्ट करते हैं। भगवन् आपही बुद्ध है, क्योकि आपके बुद्धि व बोध की विबुध जन अर्चना करते हैं। आप ही शकर है, क्योकि आप भुवनत्रय का शम् अर्थात् कल्याण करते हैं। और आप ही विधाता ब्रह्मा है, क्योकि आपने शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) की विधि का विधान किया है, इत्यादि। इसका सम्पादन व जर्मन भाषा में अनुवाद डा० जैकोबी ने किया है। इस स्तोत्र के आधार से बडा विशाल साहित्य निर्माण हुआ है। कोई २०, २५ तो टीकाएं लिखी गई है एवं भक्तामर स्तोत्र कथा व चरित्र, छाया स्तवन, पंचाग विधि, पादपूर्ति स्तवन, पूजा, मंत्र, माहात्म्य, व्रतोद्यापन आदि रचनाएं भी २०, २५ से कम नही हैं। प्राकृत मे भी मानतुग कृत **भयहर स्तोत्र** पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया पाया जाता है।

भक्तामर के ही जोड़ का और उसी छंद व शैली मे, तथा उसी के समान लोक-प्रिय दूसरी रचना **कल्याण मंदिर स्तोत्र** है। उसमें ४४ पद्य हैं। अन्तिम भिन्न छंद के

एक पद्य में इसके कर्त्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है, जिसे कुछ लोग सिद्ध-सेन (लगभग ६ठी शती) का ही दूसरा नाम मानते हैं। दूसरे पद्य के अनुसार यह २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति मे रचा गया है। भक्तामर के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्य कल्पनाओ व शब्द योजना मे मौलिक ही है। हे जिनेन्द्र, आप उन भव्यों को संसार से कैसे पार कर देते है, जो अपने हृदय मे आपका नाम धारण करते हैं ? हा जाना, जो एक मशक (दृति) भी जल मे तैर कर निकल जाती है, वह उसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे जिनेश, आपके ध्यान से भव्य पुरुष क्षणमात्र मे देह को छोडकर परमात्म दशा को प्राप्त हो जाते है; क्यो न हो, तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुएं अपने पाषाण भाव को छोडकर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती है। इस स्तोत्र का भी डा० जैकोबी ने सम्पादन व जर्मन भाषा मे अनुवाद किया है। भक्तामर स्तोत्र के समान इस पर भी कोई २०, २५ टीकाए व छाया स्तोत्र पाये जाते हैं।

धनजय (७वी शती, ८वी शती) कृत **विषापहार स्तोत्र** मे ४० इन्द्रवज्रा छद के पद्य है। अन्तिम पद्य का छद भिन्न है, और उसमे कर्ता ने अपना नाम सूचित किया है। स्तोत्र के द्वितीय पद्य मे इस स्तुति को प्रथम तीर्थंकर वृषभ की कहा गया है। इसमे अन्य देवों से पृथक् करने वाले तीर्थंकर के गुणो का वर्णन विशेष रूप से आया है। हे देव, जो यह कहकर आपका गुणानुवाद करते है कि आप अमुक के पुत्र है, अमुक के पिता हैं, व अमुक कुल के है, वे यथार्थत. अपने हाथ मे आये हुए सुवर्ण को पत्थर समझकर फेक देते है। हे देव, मै यह स्तुति करके आपसे दीनता पूर्वक कोई वर नही मांगता हूं, क्योंकि आप उपेक्षा (मध्यस्थ भाव) रखते है। जो कोई छाया पूर्ण वृक्ष का आश्रय लेता है, उसे छाया अपने आप मिलती ही है, फिर छाया मागने से लाभ क्या ? और हे देव, यदि आपको मुझे कुछ देने की इच्छा ही है, और उसके लिये अनुरोध भी, तो यही वरदान दीजिये कि मेरी आपमे भक्ति दृढ बनी रहे। स्तोत्र का नाम उसके १४ वे पद्य के आदि मे आये हुए विषापहार शब्द पर से पडा है, जिसमें कहा गया है कि हे भगवन् लोग विषापहार मणि, औषधियो, मत्र और रसायन की खोज मे भटकते फिरते है, वे यह नही जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम हैं। इस स्तोत्र पर नागचन्द्र और पार्श्वनाथ गोम्मट कृत टीकाएं है व एक अवचूरि तथा देवेन्द्रकीर्ति कृत विषापहार व्रतोद्यापन नामक रचनाओ के उल्लेख मिलते है।

वादिराज (११ वी शती) कृत **एकीभाव स्तोत्र** मे २६ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द के हैं। अन्तिम भिन्न छन्दात्मक पद्य मे कर्ता के नाम के साथ उन्हे एक उत्कृष्ट शाब्दिक,

सार्किक काव्यकृत् और भव्यसहायक कहा गया है। इस स्तोत्र में भक्त के मन, वचन और काय को स्वस्थ और शुद्ध करनेवाले तीर्थंकर के गुणों की विशेष रूप से स्तुति की गई है। हे भगवन्, जो कोई आपके दर्शन करता है, वचन रूपी अमृत का भक्ति रूपी पात्रसे पान करता है, तथा कर्मरूपी मनसे आप जैसे असाधारण आनन्द के धाम, दुर्वार काम के मदहारी व प्रसाद की अद्वितीय भूमिरूप पुरुष मे ध्यान द्वारा प्रवेश करता है, उसे क्रूराकार रोग और कंटक कैसे सता सकते हैं? हे देव, न आपमे कोप का आवेश है, और न किसी के प्रति प्रसन्नता; एवं आपका चित्त परम उपेक्षा से व्याप्त है। इतने पर भी भुवन मात्र आपकी आज्ञा के वश है, और आपके सामीप्य मात्र से वैर का अपहार हो जाता है; ऐसा भुवनोत्कृष्ट प्रभाव आपको छोड़कर और किसमे हैं? इस स्तोत्र पर एक स्वोपज्ञ टीका, एक श्रुतसागर कृत टीका व एक अन्य टीका मिलती है, तथा जगत्कीर्ति कृत व्रतोद्यापन का भी उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्तोत्र लिखे गये हैं, जिनकी सख्या सैकड़ो पर पहुंच जाती है, और जिनकी कुछ न कुछ छद, शब्द-योजना, अलंकार व भक्तिभाव (१) बप्पभट्टिकृत सरस्वती स्तोत्र (९वी शती) (२) भूपालकृत जिनचतुर्विंशतिका, (३) हेमचन्द्र कृत वीतराग स्तोत्र (१२वी शती), सबंधी अपनी अपनी विशेषता है। इनमे से कुछ के नाम ये है: (४) आशाधर कृत सिद्धगुण स्तोत्र (१३ वी शती) स्वोपज्ञ टीका सहित, (५) धर्मघोष कृत यमक स्तुति व चतुर्विंशति जिन स्तुति, (६) जिनप्रभ सूरि कृत चतुर्विंशति जिनस्तुति (१४ वी शती,) (७) मुनिसुन्दर कृत जिन स्तोत्र रत्नकोष (१४वी शती), (८) सोमतिलक कृत सर्वज्ञ स्तोत्र, (९) कुमारपाल, (१०) सोमप्रभ, (११) जयानद, और (१२) रत्नाकर कृत पृथक्, पृथक्, 'साधारण जिन स्तोत्र'; (१३) जिन वल्लभ कृत नंदीश्वर स्तवन, (१४) शन्तिचन्द्रगणि (१६ वी शती) कृत ऋषभजिनस्तव' व 'अजितशान्ति स्तव' आदि। धर्मसिह कृत सरस्वती भक्तामर स्तोत्र तथा भावरत्न कृत नेमिभक्तामर स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि इनकी रचना भक्तामर स्तोत्र पर से समस्यापूर्ति प्रणाली द्वारा हुई है, और इनमे क्रमशः सरस्वती व नेमि तीर्थंकर की स्तुति की गई है।

प्रथमानुयोग—प्राकृत पुराण :

जैनागम के परिचय में कहा जा चुका है कि बारहवे श्रुताग दृष्टिवाद के पाच भेदो मे एक भेद प्रथमानुयोग था, जिसमे अरहंत व चक्रवर्ती आदि महापुरुषो का चरित्र वर्णन किया गया था। यही जैन कथा साहित्य का आदि स्रोत माना जाता

है। चौथे श्रुतांग समवायांग के भीतर २४६ से २७५वें सूत्र तक जो कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियो, बलदेवो, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों का वर्णन आया है, उसका भी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। समवायांग के उस वर्णन की अपनी निराली ही प्राचीन प्रणाली है। वहां पहले जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र मे वर्तमान अवसर्पिणी काल में चौबीसों तीर्थंकरो के पिता, माता, उनके नाम, उनके पूर्वभव के नाम, उनकी शिविकाओं के नाम, निष्क्रमण भूमिया, तथा निष्क्रमण करने वाले अन्य पुरुषो की संख्या, प्रथम भिक्षादाताओ के नाम, दीक्षा से प्रथम आहार ग्रहण का कालान्तर, चैत्यवृक्ष व उनकी ऊंचाई तथा प्रथम शिष्य और प्रथम शिष्यनी, इन सबकी नामावलियां मात्र क्रम से दी गई है। तीर्थंकरो के पश्चात् १२ चक्रवर्तियो के पिता, माता, स्वय चक्रवर्ती और उनके स्त्रीरत्न क्रमशः गिनाये गये है। तत्पश्चात् ९ बलदेव और ९ वासुदेवो के पिता, माता, स्वयं उनके नाम, उनके पूर्वभव के नाम व धर्माचार्य, वासुदेवो की निदान भूमिया और निदान कारण (स० २६३), इनके नाम गिनाये गये है। विशेषता केवल बलदेवो और वासुदेवो को नामावली मे यह है कि उनसे पूर्व उत्तमपुरुष, प्रधान पुरुष, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, कान्त, सौम्य, सुभग आदि कोई सौ से भी ऊपर विशेषण लगाये गये है। तत्पश्चात् इनके प्रतिशत्रुओ (प्रतिवासुदेव) के नाम दिये गये है। इसके पश्चात् भविष्य काल के तीर्थंकर आदि गिनाये गये है। यहा यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि उक्त नामावलियों मे श्रेशठ पुरुषो का वृतान्त दिया गया है, तथापि उससे पूर्व १३२वे सूत्र मे उत्तम पुरुषो की संख्या ५४ कही गई है, ६३ नही; अर्थात् ९ प्रतिवासुदेवो को उत्तम पुरुषो मे सम्मिलित नही किया गया।

यतिवृषभ कृत **तिलोय पण्णत्ति** के चतुर्थ महा अधिकार में भी उक्त महापुरुषों का वृत्तान्त पाया जाता है। इस अधिकार की गाथा ४२१ से ५०९ तक चौदह मनुओ या कुलकरों का उल्लेख करके क्रमशः १४११वी गाथा तक उनका वही वर्णन किया गया है जो ऊपर बतलाया जा चुका है। किन्तु विशेषता यह है कि यहां अनेक बातों में अधिक विस्तार पाया जाता है, जैसे--तीर्थंकरो की जन्मतिथियां और जन्मनक्षत्र, उनके वंशो का निर्देश, जन्मान्तराल, आयुप्रमाण, कुमारकाल, उत्सेध, शरीर वर्ण, राज्यकाल, चिन्ह, राज्य पद, वैराग्य कारण व भावना; दीक्षा स्थान, तिथि, काल व नक्षत्र और वन तथा उपवासो के नाम-निर्देश, दीक्षा के पूर्व की उपवास-सख्या, पारणा के समय नक्षत्र और स्थान, केवलज्ञान का अन्तरकाल, समोसरण की रचना का विस्तार पूर्वक वर्णन (गाथा ७१० से ९३३ तक), यक्ष-यक्षिणी, केवलि-काल, गणधरों की संख्या, ऋद्धियो के भेद, ऋषियों की संख्या, सात गण, आर्यिकाओ की संख्या, मुख्य

आर्यिकाओं के नाम, श्रावकों की संख्या, मुक्ति की तिथि, काल व नक्षत्र, तथा साथ में मुक्त हुए जीवों की संख्या; मुक्ति से पूर्व का योग-काल, मुक्त होते समय के आसन, अनुबद्ध केवलियों की संख्या, अनुत्तर जानेवालों की संख्या, मुक्तिप्राप्त यति-गणों की संख्या, मुक्ति-प्राप्त शिष्यगणों का मुक्ति-काल, स्वर्ग-प्राप्त शिष्यों की संख्या, भाव श्रमणों की संख्या, आदि; और अन्तिम तीर्थंकरों का मुक्ति काल और परस्पर अन्तराल एवं तीर्थ-प्रवर्तन काल। यह सब विस्तार १२७८वीं गाथा में समाप्त होकर तत्पश्चात् चक्रवर्तियों का विवरण प्रारम्भ होता है, जिसमें उनके शरीरोत्सेध, आयु, कुमारकाल, मंडलीक-काल, दिग्विजय, विभव, राज्यकाल, संयमकाल और पर्यायान्तर प्राप्ति (पुनर्जन्म) का वर्णन गाथा १४१० तक किया गया है। इसके पश्चात् बलदेव, वासुदेव और उनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेवों)के नामों के अतिरिक्त वे किस-किस तीर्थंकर के तीर्थ में हुए इसका निर्देश किया गया है, और फिर उनके शरीर-प्रमाण, आयु, कुमार काल और मंडलीक काल; तथा शक्ति, धनुष आदि सात महारत्नों व मुसल आदि चार रत्नों के उल्लेख के पश्चात् गाथा १४३६ में कहा गया है कि समस्त बलदेव निदान रहित होने से मरण के पश्चात् ऊर्ध्वगामी व सब नारायण निदान सहित होने से अधोगामी होते हैं। यह गाथा कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ वही है जो समवायांग के २६३वें सूत्र के अन्तर्गत आई है। इसके पश्चात् उनके मोक्ष, स्वर्ग व नरक गतियों का विशेष उल्लेख है। गा० १४३७ मे यह भी निर्देश किया गया है कि अन्तिम बलदेव, कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता, ब्रह्मस्वर्ग को गये हैं; और अगले जन्म मे वे कृष्ण तीर्थंकर के तीर्थ में सिद्धि को प्राप्त होंगे। इसके पश्चात् ११ रुद्र, ६ नारद और २४ कामदेव, इनका वृत्तान्त गा० १४३६ से १४७२वी गाथा तक दिया गया है। और तदनन्तर दुःषम काल का प्रवेश, अनुबुद्ध केवली, १४ पूर्वधारी, १० पूर्वधारी, ११ अंग-धारी, आचारांग के धारक, इनका काल-निर्देश करते हुए, शक राजा की उत्पत्ति, उसके वंश का राज्यकाल; गुप्तों और चतुर्मुख के राज्यकाल तक महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष तक की परम्परा; तथा दूसरी ओर महावीर-निर्वाण की रात्रि मे राज्या-भिषिक्त हुए अवन्तिराज पालक, विजयवंश, मुरुण्ड वंश, पुष्यमित्र, वसुमित्र, अग्निमित्र, गन्धर्व, नरवाहन, भृत्यान्ध्र और गुप्तवंश तथा कल्कि चतुर्मुख के राज्यकाल की परम्परा द्वारा वीर-निर्वाण से वही १००० वर्ष का वृत्तान्त दिया गया है। बस यहीं पर तिलोय पण्णत्ति का पौराणिक व ऐतिहासिक वृत्तान्त समाप्त होता है (गा० १४७६–१५१४)।

जैन साहित्य में महापुरुषों के चरित्र को नवीन काव्य शैली में लिखने का

प्रारम्भ विमलसूरि ने किया। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य मे आदि काव्य वाल्मीकि कृत रामायण माना जाता है, उसी प्रकार प्राकृत का आदि काव्य भी विमलसूरि कृत **पउमचरियं** (पद्मचरितम्) है। इस काव्य के अन्त की प्रशस्ति में इसके कर्ता व रचना-काल का निर्देश पाया जाता है। यहा कहा गया है कि स्व-समय और पर-समय अर्थात् अपने धर्म तथा अन्यधर्म के ज्ञायक रोहू नामके आचार्य हुए। उनके शिष्य थे नाइल कुलवंशी विजय, और विजय के शिष्य विमलसूरि ने पूर्वगत में से नारायण और सीरि(बलदेव)के चरित्र सुनकर इस काव्य की रचना की,जिसकी समाप्ति महावीर के सिद्ध होने के उपरान्त दुषमाकाल के ५३० वर्ष व्यतीत होने पर हुई। त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों के अनुसार वीर निर्वाण से ३ वर्ष ८ मास और १ पक्ष व्यतीत होने पर दुषमाकाल का प्रारम्भ हुआ (ति० प० ४, १४७४)। अब यदि हम पहले कहे अनुसार महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ की कार्तिक कृष्ण अमावास्या को मानते हैं, तो पउमचरिय की समाप्ति का काल आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा सन् ७ ई० सिद्ध होता है। किन्तु कुछ विद्वान, जैसे जैकोबी, ग्रन्थरचना के इस काल को ठीक नही मानते, क्योंकि एक तो ग्रन्थ की भाषा अधिक विकसित है, और उसमें दीनार, लग्न आदि ऐसे शब्द आये हैं जो यूनान से लिये गये प्रतीत होते हैं। दूसरे उसमें कुछ ऐसे छंदों का उपयोग हुआ है, जिनका आविष्कार संभवतः उस समय तक नही हुआ था। अतः विद्वान् इसका रचना-काल तीसरी-चौथी शती ई० अनुमान करते हैं। यथार्थतः ये मत बहुत कुछ काल्पनिक व अपर्याप्त प्रमाणो पर आधारित हैं। वस्तुतः अभी तक ऐसा कोई प्रमाण सम्मुख नही लाया जा सका, जिसके कारण ग्रन्थ मे निर्दिष्ट समय पूर्णतः असिद्ध किया जा सके। यह बात अवश्य है कि इसकी भाषा में हमे महाराष्ट्री प्राकृत का प्रायः निखरा हुआ रूप दिखाई देता है; और महाराष्ट्री के विकास का काल लगभग ई० की दूसरी शताब्दी माना जाता है। दूसरी यह बात भी चिन्तनीय है कि जैन साहित्य में अन्य कोई इस शैली का प्राकृत काव्यछठी-सातवी शती से पूर्व का नहीं मिलता।

पउमचरिय के कर्ता ने अपने ग्रन्थ विषयक आदि स्रोतों के विषय में यह सूचित किया है कि उन्होंने नारायण और बलदेव (लक्ष्मण और राम) का चरित्र पूर्वगत मे से सुना था (उ० ११८, गा० ११८)। यद्यपि पूर्वों के प्राप्त परिचय में कथात्मक साहित्य का उल्लेख नहीं पाया जाता; तथापि १२वे श्रुतांग दृष्टिवाद के भेदों में प्रथमानुयोग और पूर्वगत, दोनों साथ साथ निर्दिष्ट हैं। पउमचरिय में यह भी कहा गया है कि जो पद्मचरित पहले नामावली निबद्ध और आचार्य परम्परागत था,

उसे उन्होंने अनुपूर्वी से संक्षेप में कहा है (१, ८)। यहां स्पष्टतः कर्ता का संकेत उन नामावली-निबद्ध चरित्रों से है, जो समवायांग व तिलोयपण्णति में पाये जाते हैं। वे नामावलियां यथार्थतः स्मृति-सहायक मात्र हैं। उनके आधार से विशेष कथानक मौखिक गुरु-शिष्य परम्परा मे अवश्य प्रचलित रहा होगा; और इसी का उल्लेख कर्ता ने आचार्य-परम्परागत कहकर किया है। जिन सूत्रों के आधार पर यह गाथात्मक काव्य रचा गया है, उनका निर्देश ग्रन्थ के प्रथम उद्देश में किया गया है। कवि को इस ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा कहां से मिली, इसकी भी सूचना ग्रन्थ में पाई जाती है। श्रेणिक राजा ने गौतम के सम्मुख अपना यह सन्देह प्रकट किया कि वानरों ने अतिप्रबल राक्षसों का कैसे विनाश किया होगा? क्या सचमुच रावण आदि राक्षस और मांस-भक्षी थे? क्या सचमुच रावण का भाई कुम्भकर्ण छह महीने तक लगातार सोता था? और निद्रा से उठकर भूखवश हाथी और भैसे निगल जाता था? क्या इन्द्र संग्राम में रावण से पराजित हो सका होगा? ऐसी विपरीत बातो से पूर्ण रामायण कवियों द्वारा रची गई है, क्या वह सच है? अथवा तथ्य कुछ अन्य प्रकार है? श्रेणिक के इस सन्देह के समाधानार्थ गौतम ने उन्हें यथार्थ रामायण का कथानक कहकर सुनाया (२, ३)। इस कथन से स्पष्ट है कि पउमचरिय के लेखक के सम्मुख बाल्मीकि कृत रामायण उपस्थित थी और उसी से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने पूर्व साहित्य व गुरु परम्परा से प्राप्त कथा-सूत्रों को पल्लवित करके प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया।

पउमचरिय में स्वयं कर्ता के कथनानुसार सात अधिकार हैं। स्थिति, वंशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लवंकुश (लवणांकुश) उत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। ये अधिकार उद्देशों मे विभाजित है, जिनकी संख्या ११८ है। समस्त रचना प्राकृत गाथाओं में है; किन्तु उद्देशों के अन्त मे भिन्न भिन्न छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। रचना प्रायः सर्वत्र सरल, धारावाही कथा-प्रधान है; किन्तु यत्र-तत्र उपमा आदि अलंकारों, सूक्तियों व रस-भावात्मक वर्णनों का भी समावेश पाया जाता है। इन विशेषताओं के द्वारा उसकी शैली भाषाभेद होने पर भी संस्कृत के रामायण महाभारत आदि पुराणों की शैली से मेल रखती है। इसमे काव्य का वह स्वरूप विकसित हुआ दिखाई नही देता जिसमें अलंकारिक वर्णन व रस-भाव-निरूपण प्रधान, और कथा भाग गौण हो गया है। प्रथम २४ उद्देशों में मुख्यतः विद्याधर और राक्षस वंशों का विवरण दिया गया है। राम के जन्म से लेकर, उनके लंका से लौटकर राज्याभिषेक तक अर्थात्, रामायण का मुख्य भाग २५ से ८५ तक के ६१ उद्देशों में वर्णित है। ग्रन्थ के शेष भाग मे सीता-निर्वासन (उद्देश ९४), लवणांकुश-उत्पत्ति, देश-विजय व

समागम, पूर्व भवों का वर्णन आदि विस्तार से करके अन्त में राम को केवलज्ञान की उत्पत्ति, और उनकी निर्वाण-प्राप्ति के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। यहां राम का कथानक कई बातो में वाल्मीकि रामायण से अपनी विशेषता रखता है। यहां हनुमान सुग्रीव आदि वानर नहीं, किन्तु विद्याधर थे, जिनका ध्वज-चिन्ह वानर होने के कारण वे वानर कहलाने लगे। रावण के दशमुख नही थे; किन्तु उसके गले मे पहनाये गये हार के मणियों में प्रतिबिम्बित नौ अन्य मुखो के कारण वह दशमुख कहलाया। सीता यथार्थत: जनक की ही औरस कन्या थी; और उसका एक भाई भामंडल भी था। रामने बर्बरों द्वारा किये गये आक्रमण के समय जनक की सहायता की, और उसी के उपलक्ष्य में जनक ने सीता का विवाह राम के साथ करने का निश्चय किया। सीता के भ्राता भामंडल को उसके बचपन में ही एक विद्याधर हर ले गया था। युवक होने पर तथा अपने सच्चे मातापिता से अपरिचित होने के कारण उसे सीता का चित्रपट देखकर उस पर मोह उत्पन्न हो गया था, और वह उसी से अपना विवाह करना चाहता था। इसी विरोध के परिहार के लिये धनुष-परीक्षा का आयोजन किया गया, जिसमे राम की विजय हुई। दशरथ ने जब वृद्धत्व आया जान राज्यभार मे मुक्त हो, वैराग्यधारण करने का विचार किया; तभी गंभीर-स्वभावी भरत को भी वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार अपने पति और पुत्र दोनो के एक साथ वियोग की आशंका से भयभीत होकर केकेयी ने अपने पुत्र को गृहस्थी मे बाधे रखने की भावना से उसे ही राज्य पद देने के लिये दशरथ से एक मात्र वर मागा, और राम, दशरथ की आज्ञा से नही, किन्तु स्वेच्छा से वन को गये। इस प्रकार कैकेयी को किसी दुर्भावना के कलंक से बचाया गया है। रावण के आधिपत्य को स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराकर बालि स्वयं अपने लघु भ्राता सुग्रीव को राज्य देकर प्रवृजित हो गया था; राम ने उसे नही मारा। रावण को यहा ज्ञानी और व्रती चित्रित किया गया है। वह सीता का अपहरण तो कर ले गया; किन्तु उसने उसकी इच्छा के प्रतिकूल बलात्कार करने का कभी विचार या प्रयत्न नही किया, और प्रेम की पीड़ा से वह घुलता रहा। जब स्वयं उसकी पत्नी मंदोदरी ने रावण के सुधारने का दूसरा कोई उपाय न देख, सच्ची पत्नी के नाते उसे बलपूर्वक भी अपनी इच्छा पूर्ण कर लेने का सुझाव दिया; तब उसने यह कहकर उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि मैंने किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध कभी संभोग न करने का व्रत ले लिया है; जिसे मै कभी भंग न करूंगा। रावण के स्वयं अपने मुख से इस व्रत के उल्लेख द्वारा कवि ने न केवल उसके चरित्र को ऊंचा उठाया है, किन्तु सीता के अखंड पातिव्रत का भी एक निस्संदेह

प्रमाण उपस्थित कर दिया है। रावण की मृत्यु यहां राम के हाथ से नहीं, किन्तु लक्ष्मण के हाथ से कही गई है। राम के पुत्रों के नाम यहां लवण और अंकुश पाये जाते हैं। इस प्रकार की अनेक विशेषताएं इस कथानक में पाई जाती है; जिनका उद्देश्य कथा को अधिक स्वाभाविक बनाना, और मानव चरित्र को सभी परिस्थितियों में ऊंचा उठाये रखना प्रतीत होता है। कथानक के बीच में प्रसंगवश नाना अवान्तर कथाएं व धर्मोपदेश भी गुंथे हुए हैं। पउमचरियं के अतिरिक्त विमलसूरि की और कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई; किन्तु शक संवत ७०० (ई० सन् ७७८) में बनी कुवलयमाला मे उसके कर्ता उद्योतनसूरि ने कहा है कि—

बुहयण-सहस्स-दइयं हरिवंसुप्पत्ति-कारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पि हु हरिवसं चेव विमलपयं ।।

अर्थात् मै सहस्त्रों बुधजनो के प्रिय हरिवंशोत्पति के प्रथम कारक अर्थात् रचयिता विमलपद हरिवश की ही वन्दना करता हू। इस उल्लेख पर से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत: विमलसूरि ने हरिवंश-कथात्मक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि समवायांग सूत्र में यद्यपि नामावलियां समस्त त्रेसठ शलाका पुरुषो की निबद्ध की गई है, तथापि उनमे से ९ प्रतिवासुदेवों को छोडकर शेष ५४ को ही उत्तमपुरुष कहा है। इन्ही ५४ उत्तमपुरुषो का चरित्र शीलांकाचार्य ने अपने 'चउपन्नमहापुरिस-चरिय' में किया है, जिसकी रचना वि० सं० ९२५ ई०-सन् ८६८ मे समाप्त हुई। यह ग्रन्थ प्राकृत गद्य मे व यत्र तत्र पद्यों में रचा गया है। तीर्थंकरो व चक्रवर्तियों का चरित्र यहा पूर्वोक्त नामावलियो के आधार से जैन परम्परानुसार वर्णन किया गया है। किन्तु विशेष तुलना के लिये यहा राम का आख्यान ध्यान देने योग्य है। अधिकाश वर्णन तो संक्षेप से विमलसूरि कृत पउमचरियं के अनुसार ही है, किन्तु कुछ बातों मे उल्लेखनीय भेद दिखाई देता है। जिस रावण की भगिनी को पउमचरियं मे सर्वत्र चन्द्रनखा कहा गया है; उसका नाम यहां सूर्पनखा पाया जाता है। पउमचरियं में रावण ने लक्ष्मण के स्वर मे सिंहनाद करके राम को धोखा देकर सीता का अपहरण किया; किन्तु यहा स्वर्णमयी मायामृग का प्रयोग पाया जाता है। पउमचरियं में बालि स्वयं सुग्रीव को राज्य देकर प्रव्रजित हो गया था; किन्तु यहा उसका राम के हाथ से वध हुआ कहा गया है। यहां सीता को अपहरण के पश्चात् सम्बोधन करने वाली त्रिजटा का उल्लेख आया है, जो पउमचरियं में नहीं है। इन भेदों से सुस्पष्ट है कि शीलाक की रचना में वाल्मीकि कृत रामायण का प्रभाव अधिक पड़ा है, यद्यपि ग्रन्थ के अन्त में शीलांक ने स्पष्टतः कहा है कि राम और लक्ष्मण का चरित्र जो पउमचरियं में

विस्तार से वर्णित है, उसे उन्होंने सक्षेप से कहा है।

भद्रेश्वर कृत 'कहावलि' मे त्रेसठ महापुरुषो का चरित्र वर्णित है। भद्रेश्वर अभयदेव के गुरु थे। अभयदेव के शिष्य आषाढ़ का समय लगभग ११९१ ई० पाया जाता है; अतएव यह रचना १२ वी शती के प्रारम्भ की सिद्ध होती है। समस्त रचना प्राकृत गद्य में लिखी गई है; केवल यत्र तत्र पद्य पाये जाते हैं। ग्रन्थ में कोई अध्यायो का विभाग नही है; किन्तु कथाओ का निर्देश 'रामकहा भण्णइ', 'वाणरकहा भण्णइ' इत्यादि रूपसे किया गया है। इस ग्रन्थ मे रामायण की कथा विमलसूरि कृत 'पउम-चरियं' के ही अनुसार है। जो थोड़ा-बहुत भेद यत्र-तत्र पाया जाता है, उसमे विशेष उल्लेखनीय सीता के निर्वासन का प्रसग है। सीता गर्भवती है और उसे स्वप्न हुआ है कि वह दो पराक्रमी पुत्रो को जन्म देगी। सीता के इस सौभाग्य की बात से उसकी सपत्नियों को ईर्ष्या उत्पन्न होती है। उन्होने सीता के साथ एक छल किया। उन्होने सीता से रावण का चित्र बनाने का आग्रह किया। सीता ने यह कहते हुए कि मैंने उसके मुखादि अंग तो देखे नही, केवल उसके पैरो का चित्र बना दिया। इसे उन सपत्नियो ने राम को दिखाकर कहा कि सीता रावण मे अनुरक्त हो गई है; और उसी की चरण-वंदना किया करती है। राम ने इसपर जब तत्काल कोई प्रतिक्रिया नही दिखाई; तब उन सपत्नियो ने जनता मे यह अपवाद फैला दिया; जिसके परिणाम-स्वरूप राम सीता का निर्वासन करने के लिये विवश हुए। रावण के चित्र का वृत्तान्त हेमचन्द्र ने अपने त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित में भी निबद्ध किया है।

प्राकृत में तीर्थंकर चरित्र —

शीलांक कृत 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' के पश्चात् आगामी तीन चार शताब्दियों में नाना तीर्थंकरों के चरित्र प्राकृत मे कही पद्यात्मक, कही गद्यात्मक और कही मिश्रित रूप से काव्यशैली मे लिखे गये। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ नाथ पर अभयदेव के शिष्य वर्द्धमान सूरि ने सन् ११०३ ई० मे ११००० श्लोक प्रमाण आदिणाह-चरियं की रचना की। पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का चरित्र १२ वी शती के मध्य मे विजयसिंह के शिष्य सोमप्रभ द्वारा लगभग ९००० गाथाओं में रचा गया। छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ का चरित्र देवसूरि द्वारा १३ वीं शती में रचा गया। सातवें तीर्थंकर पर लक्ष्मण गणि कृत 'सुपासणाह-चरियं' एक सुविस्तृत और उत्कृष्ट कोटि की रचना है, जो वि०सं० ११९९ में समाप्त हुई है। इसमें लगभग ७० पद्य अपभ्रंश के भी समाविष्ट पाये जाते हैं। आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पर यशोदेव कृत (सं० ११७८) तथा श्रीचन्द्र के शिष्य

हरिभद्रकृत (सं० १२२३), ११ वे श्रेयांस पर अजितसिंह कृत, और १२ वें वासुपूज्य पर चन्द्रप्रभ कृत चरित्र-ग्रन्थ पाये जाते हैं। १४ वें तीर्थंकर अनन्तनाथ का चरित्र नेमिचन्द्र द्वारा वि० सं० १२१३ में लिखा गया। १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र देवचन्द्र सूरि द्वारा वि० सं० ११६० में तथा दूसरा मुनिभद्र द्वारा वि० सं० १३५३ में लिखा गया। देवसूरि कृत रचना लगभग १२००० श्लोक प्रमाण है। १९वें मल्लिनाथ तीर्थंकर के चरित्र पर दो रचनाएं मिलती हैं; एक श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिभद्र द्वारा सर्वदेवगणि की सहायता से, और दूसरी जिनेश्वर सूरि द्वारा। १२ वी शती में ही २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का चरित्र श्रीचन्द्र द्वारा लगभग ११००० गाथाओं में लिखा गया। २२ वें नेमिनाथ पर भी तीन रचनायें उपलब्ध हैं, एक मलधारी हेमचन्द्र कृत, दूसरी जिनेश्वर सूरि कृत वि० सं० ११७५ की, और तीसरी रत्नप्रभ सूरि कृत वि० संवत् १२२३ की। २३ वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र अभयदेव के प्रशिष्य देवभद्र सूरि द्वारा वि०स० ११६८ मे रचा गया। रचना गद्य-पद्य मिश्रित है। अन्तिम तीर्थंकर पर 'महावीर-चरिय' नामक तीन रचनाएं (प्रका० अमदाबाद १९४५) उपलब्ध है; एक सुमति वाचक के शिष्य गुणचन्द्र गणिकृत, दूसरी देवेन्द्रगणि अपर नाम नेमिचन्द्र, और तीसरी देवभद्र सूरिकृत। इन सबसे प्राचीन महावीर चरित्र आचारांग व कल्पसूत्र में पाया जाता है। कल्पसूत्र मे वर्णित चरित्र अपनी काव्यात्मक शैली में ललितविस्तर मे वर्णित बुद्धचरित से मिलता है। यह रचना भद्रबाहु कृत कही जाती है।

उक्त समस्त रचनाओ की भाषा व शैली प्रायः एक सी है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, किन्तु कही कही शौरसेनी की प्रवृतिया भी पाई जाती है। शैली प्रायः पौराणिक है; किन्तु कवि की प्रतिभानुसार उनमें छंद, अलंकार, रस-भाव आदि काव्य गुणों का तरतम भाव पाया जाता है। प्रत्येक रचना में प्रायः चरित्रनायक के अनेक पूर्व भवो का वर्णन किया गया है; जो ग्रन्थ के एक-तृतीय भाग से कही कही अर्द्ध-भाग तक पहुंच गया है। शेष भाग में भी उपाख्यानों और उपदेशों की बहुलता पाई जाती है। नायक के चरित्र वर्णन मे जन्म-नगरी की शोभा, माता-पिता का वैभव, गर्भ और जन्म समय के देव-कृत अतिशय, कुमार-क्रीड़ा और शिक्षा-दीक्षा, प्रवृज्या और तपस्या की कठोरता, परिषहो और उपसर्गों का सहन, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवशरण-रचना धर्मोपदेश, देश-प्रदेश बिहार, और अन्ततः निर्वाण, इनका वर्णन कही संक्षेप से और कहीं विस्तार से; कहीं सरल रूप मे और कही कल्पना, लालित्य और अलंकारों से भरपूर पाया जाता है।

प्राकृत में विशेष कथाग्रन्थ-पद्यात्मक—

तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त प्राकृत में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें किसी व्यक्तिविशेष के जीवन-चरित्र द्वारा जैनधर्म के किसी विशेष गुण, जैसे संयम, उपवास, पूजा, विधि-विधान, पात्र-दान आदि का माहात्म्य प्रकट किया गया है। ये रचनाएं अपनी शैली व प्रमाणादि की दृष्टि से तीन भागों मे विभक्त की जा सकती हैं। एक वे ग्रन्थ हैं जिनमें प्राकृत पद्यात्मक रचनाएं ही पाई जाती है, एवं जिनमे छंद, अलंकार आदि का भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है। अतएव इन्हे हम प्राकृत काव्य कह सकते हैं। दूसरी वे रचनाएं हैं जिनमे मुख्यतः प्राकृत गद्य शैली में किसी व्यक्ति विशेष का जीवन वृत्तान्त कहा गया है। तीसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जो बहुधा कथाकोष के नाम से प्रकट किये गये है; और जिनमे कही पद्य, और कही मिश्रित रूप से अपेक्षा कृत संक्षेप में धार्मिक स्त्री-पुरुषो के चरित्र वर्णित किये गये हैं।

सबसे अधिक प्राचीन प्राकृत काव्य पादलिप्तसूरि कृत **तरंगवती कथा** का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों, जैसे अनुयोगद्वारसूत्र, कुवलयमाला, तिलकमजरी आदि मे मिलता है। 'विसेसनिसीह चूर्णि,' मे **नरवाहनदत्तकी कथा** को लौकिक व **तरंगवती** और **मगधसेना** आदि कथाओ को लोकोत्तर कहा गया है। हालकृत गाथा-सप्तशती मे पादलिप्त कृत गाथाओ का सकलन पाया जाता है। प्रभाचन्द्र कृत प्रभावक-चरित्र मे (१३ वी शती) पादलिप्तसूरि का जीवनवृत्त पाया जाता है, जिसमे उनके विद्याधर कुल व नागहस्ति गुरु का उल्लेख है। इन उल्लेखो पर से इस रचना का काल ई० सन् ५०० से पूर्व सिद्ध होता है। दुर्भाग्यतः यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हो सका, किन्तु लगभग १५ वी शती मे वीरभद्र के शिष्य नैमिचन्द्र ने इसका संक्षेप **तरंगलोला** नाम से १६४३ गाथाओ मे प्रस्तुत किया है, जो प्रकाश में आ चुका है। (नेमिविज्ञान ग्रन्थमाला वि० स० २०००)। इसका जर्मन मे प्रोफेसर लायमन द्वारा, तथा गुजराती मे नरसिंह भाई पटेल द्वारा किये हुए अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके है। तरंगलोलाकार ने स्पष्ट कहा है कि तरंगवती कथा देशी-वचनात्मक, बडी विशाल और विचित्र थी, जिसमें सुन्दर कुलको, कही गहन युगलों और कहीं दुर्गम षट्कलो का प्रयोग हुआ था। वह विद्वानों के ही योग्य थी; जनसाधारण उससे लाभ नही उठा सकते थे। अतएव उस रचना की गाथाओ को संक्षेपरूप से यहां प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उक्त कथा का लोप न हो। इस कथा में तरंगवती नामकी एक साध्वी जब भिक्षा के लिये नगर मे गई तब एक सेठानी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर उसका जीवन-वृत्तान्त पूछा। साध्वी ने बतलाया कि जब वह युवती थी, तब एक चकवा पक्षी को देखकर

उसे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया कि जब वह भी चकवी के रूप में गंगा के किनारे अपने प्रिय चकवे के साथ क्रीड़ा किया करती थी। वह एक व्याध के बाण से विद्ध होकर मर गया, तब मैंने भी प्राण परित्याग कर यह जन्म धारण किया। यह जाति-स्मरण होने पर मैंने अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त का चित्रपट लिखकर कौमुदी महोत्सव के समय कौशाम्बी नगर के चौराहे पर रखवा दिया। इसे देख एक सेठ के पुत्र पद्मदेव को भी अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। हम दोनों का प्रेम बढ़ा, किन्तु पिताने उस युवक से मेरा विवाह नही किया; क्योंकि वह पर्याप्त धनी नही था। तब हम दोनो एक रात्रि नाव मे बैठकर वहा से निकल भागे। घूमते भटकते हम एक चोरों के दल द्वारा पकड़े गये। चोरो ने कात्यायनी के सम्मुख हमारा बलिदान करना चाहा! किन्तु मेरे विलाप से द्रवित होकर चोरों के प्रधान ने हमे छुड़वा दिया। हम कौशाम्बी वापिस आये; और धूमधाम से हमारा विवाह हो गया। कुछ समय पश्चात् मैं चन्दनबाला की शिष्या बन गई, और उन्ही के साथ विहार करती हुई यहां आ पहुची। इस जीवन-वृत्तान्त से प्रभावित होकर सेठानी ने भी श्रावक-व्रत ले लिये। इस कथानक की अनेक घटनाएं सुबधु, बाण आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं से मेल खाती है। नरबलि का प्रसग तो भवभूति के मालती-माधव मे वर्णित प्रसंग से बहुत कुछ मिलता है।

हरिभद्रसूरि (८ वी शती) कृत **धूर्ताख्यान** मे ४८५ गथाएं हैं, जो पाच आख्यानों में विभाजित है। उज्जैनी के समीप एक उद्यान था, जिसमे एक बार पाच धूर्तों के दल सयोग वश आकर एकत्र हो गए। वर्षा लगातार हो रही थी, और खाने-पीने का प्रबन्ध करना कठिन प्रतीत हो रहा था। पाचो दलो के नायक एकत्र हुए, और उनमें से एक मूलदेव ने यह प्रस्ताव किया कि हम पाचों अपने-अपने अनुभव की कथा कहकर सुनाये। उसे सुनकर दूसरे अपने कथानक द्वारा उसे सम्भव सिद्ध करें। जो कोई ऐसा न कर सके, और आख्यान को असम्भव बतलावे, वही उस दिन समस्त धूर्तों के भोजन का खर्च उठावे। मूलदेव, कंडरीक, एलाषाढ़ और शश नामक धूर्तराजों ने अपने अपने असाधारण अनुभव सुनाये; जिनका समाधान पुराणों के अलौकिक वृत्तान्तों द्वारा दूसरों ने कर दिया। पाचवा वृत्तान्त खंडपाना नामकी धूर्तनी का था। उसने अपने वृत्तान्त मे नाना असम्भव घटनाओं का उल्लेख किया; जिनका समाधान क्रमशः उन धूर्तों ने पौराणिक वृत्तान्तों द्वारा कर दिया; तथापि खंडपाना ने उन्हें सलाह दी कि वे उसको अपनी स्वामिनी स्वीकार कर लें; तो वह उन्हें भोजन भी करावेगी और वे पराजय से भी बच जायेंगे। किन्तु अपनी यहां तक की विजय के उन्माद से

उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया; और उसे अपना अन्तिम आख्यान सुनाने की चुनौती दी। खंडपाना ने प्रसंग मिलाकर कहा कि उसके जो वस्त्र हवा में उड़ गये थे, व उसके चार नौकर भाग गये थे, आज उसकी पहचान में आ गये। तुम चारो वे ही मेरे सेवक हो; और मेरे उन्ही वस्त्रों को पहने हुए हो। यदि यह सत्य है, तो मेरी चाकरी स्वीकार करो; और यदि यह असत्य है, तो सबको भोजन कराओ। तब सब धूर्तों ने उसे अपनी प्रधान नायिका स्वीकार कर लिया; और उसने स्वय सब धूर्तों को भोजन कराना स्वीकार कर लिया। फिर वह श्मशान में गई और वहा से एक तत्काल मृतक बालक को लेकर नगरमे पहुची। एक धनी सेठ से उसने सहायता मागी और उसे उत्तेजित कर दिया। उसके नौकरो द्वारा ताड़ित होने पर वह चिल्ला उठी कि मेरे पुत्र को तुम लोगो ने मार डाला। सेठ ने उसे धन देकर अपना पीछा छुड़ाया। उस धन से खडपाना ने सब धूर्तों को आहार कराया। यह रचना भारतीय साहित्य में अपने ढंग की अद्वितीय है; और पुराणों की अतिरंजित घटनाओ की व्यंग्यात्मक कड़ी आलोचना है। इसी के अनुकरण पर अपभ्रंश मे हरिषेण और श्रुतकीर्ति कृत; तथा सस्कृत मे अमितगति कृत **धर्मपरीक्षा** नामक ग्रन्थो की रचना हुई। (प्रका० बम्बई, १९४४)।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य धनेश्वर सूरि कृत '**सुरसुन्दरी-चरियं**' १६ परिच्छेदों में, तथा ४००० गाथाओ मे समाप्त हुआ है। इसकी रचना चन्द्रावती नगरी में वि० सं० १०९५ में हुई थी। सुरसुंदरी कुशाग्रपुर के राजा नरवाहनदत्त की पुत्री थी। वह पढ़लिखकर बड़ी विदुषी युवती हुई। बुद्धिला नामक परिव्राजिका ने उसे नास्तिकता का पाठ पढ़ाना चाहा; किन्तु सुरसुन्दरी के तर्क से पराजित और रुष्ट होकर उसने उज्जैन के राजा शत्रुजय को उसका चित्रपट दिखाकर उभाडा। शत्रुजय ने उसके पिता से विवाह की माग की, जो अस्वीकार कर दी गई। इस कारण दोनों राजाओं मे युद्ध छिड़ गया। इसी बीच वैताढ्य पर्वत के एक खेचर ने सुरसुंदरी का अपहरण कर लिया; और उसे लेजाकर एक कदलीगृह में रक्खा। सुरसुन्दरी ने आत्मघात की इच्छा से विषफल का भक्षण किया। दैवयोग से उसी बीच उसका सच्चे प्रेमी मकरकेतु ने वहां पहुंच कर उसकी रक्षा की; तथा वहा से जाकर उसने शत्रुंजय का भी वध किया। किन्तु एक वैरी विद्याधर ने स्वय उसका अपहरण कर लिया। बड़ी कठिनाइयों और नाना घटनाओं के पश्चात् सुरसुंदरी और मकरकेतु का पुनर्मिलन और विवाह हुआ। दीर्घ काल तक राज्य भोगकर दोनों ने दीक्षा ली एवं केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। यथार्थतः नायिका का नाम व

वृत्तान्त ११ वें परिच्छेद से प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व हस्तनापुर के सेठ धनदत्त का घटनापूर्ण वृत्तान्त, और अन्ततः श्रीदत्ता से विवाह; और उसी घटनाचक्र के बीच विद्याधर चित्रवेग और कनकमाला; तथा चित्रगति और प्रियंगुमंजरी के प्रेमाख्यान समाविष्ट हैं। प्रायः समस्त रचना गाथा छंद में है; किन्तु यत्र-तत्र अन्य नाना छंदों का प्रयोग भी हुआ है। कवि प्रतिभावान् है; और समस्त रचना बड़े सरस और भावपूर्ण वर्णनो से भरी हुई है। प्राकृतिक दृश्यों, पुत्रजन्म व विवाहादि उत्सवों, प्रातः व सध्या, तथा वन एवं सरोवरो आदि के वर्णन बड़े कलापूर्ण और रोचक हैं। नृत्यादि के वर्णनो में हरिभद्र की समरादित्य कथा की छाप दिखाई देती है।

महेश्वर सूरि कृत **'णाणपंचमीकहा'** की रचना का समय ई० सन् १०१५ से पूर्व अनुमान किया जाता है। इस रचना मे स्वतंत्र १० कथाए समाविष्ट हैं, जिनके नाम हैं--(१), जयसेन, (२) नद, (३) भद्रा, (४) वीर, (५) कमल, (६) गुणानुराग, (७) विमल, (८) धरण, (९) देवी, और (१०) भविष्यदत्त। प्रथम और अन्तिम कथाए कोई पाच-पाच सौ गाथाओं मे, और शेष कोई १२५ गाथाओ मे समाप्त हुई हैं। इस प्रकार समस्त गाथाओं की संख्या लगभग २००० है। दसों कथाएं ज्ञानपंचमी व्रत का माहात्म्य दिखलाने के लिये लिखी गई हैं। कथाएं बड़ी सुन्दर, सरल और धारावाही रीति से वर्णित हैं। यथास्थान रसो और भावों एवं लोकोक्तियों का भी अच्छा समावेश किया गया है, जिनसे इस रचना को काव्य पद प्राप्त होता है।

हेमचन्द्रकृत **'कुमारपाल-चरित'** आठ सर्गों मे समाप्त हुआ है। हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ मे और स्वर्गवास सं० १२२९ में हुआ। अतएव इसी बीच प्रस्तुत काव्य का रचना-काल आता है। कुमारपाल हेमचन्द्र के समय गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश थे; और उन्ही के प्रोत्साहन से कवि ने अपनी अनेक रचनाओं का निर्माण किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक बहुत बड़ी विशेषता रखता है। हेमचन्द्र ने अपना एक महान् शब्दानुशासन लिखा है, जिसके प्रथम सात अध्यायो मे संस्कृत के, एवं अन्तिम अष्टम अध्याय में प्राकृत के व्याकरण का सूत्रों द्वारा स्वयं अपनी वृत्ति सहित निरूपण किया है। इसी व्याकरण के नियमों के उदाहरणों के लिये उन्होंने द्वयाश्रय काव्य की रचना की है, जिसमें एक ओर कुमारपाल नरेश के वंश का काव्य की रीति से वर्णन किया गया है; और साथ ही साथ अपने सम्पूर्ण व्याकरण के सूत्रों के उसी क्रम से उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे अट्ठाईस सर्ग हैं, जिनमें प्रथम २० सर्गों मे कुमारपाल के वंश व पूर्वजों का इतिहास, और संस्कृत व्याकरण के

उदाहरण हैं। शेष ८ सर्गों में राजा कुमारपाल का चरित्र, और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण हैं। यही भाग कुमारपाल-चरित के नामसे प्रसिद्ध है। इसके प्रथम ६ तथा सातवें सर्ग की ९२ वी गाथा तक प्राकृत व्याकरण के आदि से लेकर चौथे अध्याय के २५९ वें सूत्र तक प्राकृत सामान्य के उदाहरण आयेहैं। फिर आठवे सर्ग की पांचवीं गाथा तक मागधी, ११वी तक पैशाची, १३ वी तक चूलिका पैशाची, और तत्पश्चात् सर्ग के अन्तिम ८३ वें पद्य तक अपभ्रंश के उदाहरण दिये गये है। कथा की दृष्टि से प्रथम सर्ग में अनहिलपुर व राजा कुमारपाल की प्रातः क्रिया का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में राजा के व्यायाम, कुंजरारोहण, जिनमंदिरगमन, पूजन व गृहागमन का वर्णन है। तीसरे सर्ग में उद्यानक्रीडा का व चौथे मे ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। पांचवे मे वर्षा, हेमन्त और शिशिर ऋतुओ का, छठवें मे चन्द्रोदय का, सातवे मे राजा के स्वप्न व परमार्थ-चिन्तन का, तथा अष्टम सर्ग मे सरस्वती देवी द्वारा उपदेश दिये जाने का वर्णन है। इस प्रकार काव्य मे कथाभाग प्रायः नही के बराबर है; किन्तु उक्त विषयो का वर्णन विशद और सुविस्तृत है। काव्य और व्याकरण की उक्त आवश्यकताओ की एक साथ पूर्ति बड़ा दुष्कर कार्य है। इस कठिन कार्य मे कुछ कृत्रिमता और बोझलपन आजाना भी अनिवार्य है, और इसे ही हेमचन्द्र ने अपनी इस कृति मे बडी कुशलता से निबाहा है। इसकी उपमा सस्कृत साहित्य मे एक भट्टीकाव्य में पाई जाती है, जिसमें कथा के साथ पाणिनीय व्याकरण के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु उसमे वह पूर्णता और क्रम-बद्धता नही है, जो हमे हेमचन्द्र की कृति मे मिलती है। (प्रका० पूना, १९३६)

प्राकृत मे एक और कुमारपाल-चरित्त पृथ्वीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिश्चन्द्र कृत भी पाया जाता है, जो ९५४ श्लोक प्रमाण है।

वीरदेव गणि कृत 'महीवाल-कहा' लगातार १८०० गाथाओ मे पूर्ण हुई है। अन्त मे कवि ने अपना इतना परिचय मात्र दिया है कि वे चन्द्र गच्छ के देवभद्र सूरि, उनके शिष्य सिद्धसेन सूरि, उनके शिष्य मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे। उन्होने अपने को पंडिततिलक उपाधि से विभूषित किया है। इस आचार्य-परम्परा का पूरा परिचय तो कही मिलता नही, तथापि एक प्रतिमा-लेख में देवभद्र सूरि के शिष्य सिंहसेन सूरि का उल्लेखआता है, जिसमे सं० १२१३ का उल्लेख है(पट्टा०समु०पृ०२०५)।सम्भव है सिंहसेन और सिद्धसेन के पढनेमे भ्रान्ति हुई हो और वे एक ही व्यक्ति के नाम हों। इस आधार पर प्रस्तुत रचना का काल ई० १२ वी शती अनुमान किया जा सकता है। इसी ग्रन्थ का संस्कृत रूपान्तर चरित्रसुन्दर कृत संस्कृत 'महीपाल-चरित्र' में मिलता है, जिसका रचनाकाल १५ वीं शती का मध्य भाग अनुमान किया जाता है। उज्जैनी के राजा नरसिंह

ने अपने ज्ञानी और विनोदी मित्र महीपाल को देश से इस कारण निर्वासित कर दिया कि वह अपना पूरा समय राजा की सेवा में न बिताकर, कुछ काल के लिये कलाओं की उपासना के हेतु अन्यत्र चला जाता था। निर्वासित महीपाल ने नाना द्वीपो व नगरों का परिभ्रमण किया, अपने कौशल, विज्ञान व चातुर्य से नाना राजाओं व सेठो को प्रसन्न कर बहुत सा धन प्राप्त किया व अनेक विवाह किये। लौटकर आने पर पुनः वह राजा का कृपापात्र बना; और अन्त मे दोनो ने मुनि-उपदेश सुनकर वैराग्य धारण किया। सम्पूर्ण कथा गाथा छद मे वर्णित है, और महीपाल के कला व चातुर्य के उपाख्यानो से भरपूर है। कथा-प्रसग कही बहुत नही टूटने पाया। भाषा सरल, धारावाही है। सरल अलकारो व सूक्तियो का समुचित प्रयोग दिखाई देता है। (प्रका० अमदाबाद, वि० स० १९९८)

देवेन्द्रसूरि कृत 'सुदंसणाचरियं' का दूसरा नाम 'शकुनिका-विहार' भी है। कर्ता ने अपने विषय मे कहा है कि वे चित्रापालक गच्छ के भुवनचन्द्र गुरु, उनके शिष्य देवभद्र मुनि, उनके शिष्य जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। उनके एक गुरु-भ्राता विजयचन्द्र सूरि भी थे। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार उक्त देवभद्र आदि मुनि वस्तुपाल मंत्री के सम-सामयिक थे, एव वि० स० १३२३ मे देवभद्र सूरि ने विद्यानद को सूरि पद प्रदान किया था। अतएव इसी वर्ष के लगभग प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल सिद्ध है। ग्रन्थ १६ उद्देशो मे समाप्त हुआ है, जिनमे स्वय ग्र थकार के अनुसार समस्त गाथाओं की सख्या ४००२ है; और धनपाल, सुदर्शन, विजयकुमार, शीलवती, अश्वावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री, ये ८ अधिकार हैं। सुदर्शना सिहलद्वीप मे श्रीपुर नगर के राजा चन्द्रगुप्त और रानी चन्द्रलेखा की पुत्री थी। पढ़ लिखकर वह बडी विदुषी और कलावती निकली। एकबार उसने राजसभा मे ज्ञाननिधि पुरोहित के मत का खंडन किया। धर्मभावना से प्रेरित हो वह भृगुकच्छ की यात्रा पर आई, और यहाँ उसने मुनिसुव्रत तीर्थंकर का मदिर तथा शकुनिका विहार नामक जिनालय निर्माण कराये; और अपना शेष जीवन धर्म ध्यान में व्यतीत किया। सुदर्शना का यह चरित्र हिरण्यपुर के सेठ धनपाल ने रैवतक गिरि की वंदना से लौटकर अपनी पत्नी धनश्री को सुनाया था; जैसा कि उसने रैवतक गिरि में एक किन्नरी के मुख से सुना था। कथा में प्रसंगवश उक्त पुरुष-स्त्रियो तथा नाना अन्य घटनाओं के रोचक वृत्तान्त समाविष्ट हैं। दसवें उद्देश में ज्ञान व चरित्र के उदाहरण रूप मरुदेवी का तथा उनके पुत्र ऋषभप्रभु का चरित्र वर्णित है। उसी प्रकार नाना धार्मिक नियमों और उनके आदर्श दृष्टान्तों के वर्णन कथा के बीच गुंथे हुए है। यत्र-तत्र कवि ने अपना रचना-चातुर्य भी

प्रदर्शित किया है। १६ वें उद्देश में धनपाल ने नेमीश्वर की स्तुति पहले संस्कृत गद्य में की है जो समास प्रचुर है; और फिर एक ऐसे अष्टक स्तोत्र द्वारा जिसके प्रत्येक पद्य का एक चरण संस्कृत मे, और दूसरा चरण प्राकृत में रचा गया है। शिक्षात्मक उक्तियों व उपमाओं से तो समस्त रचना भरी हुई है। (प्रका० अमदाबाद, वि० सं० १९८९)।

देवेन्द्रसूरि कृत **कृष्णचरित्र** ११६३ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यथार्थतः यह रचना कर्ता के श्राद्धदिनकृत्य नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत दृष्टान्त रूप से आई है; और वहीं से उद्धृत कर स्वतंत्र रूप में प्रकाशित की गई है। (रतनपुर, मालवा, १९३८)। इसमें वसुदेव के पूर्वभवों के वर्णन से प्रारम्भ कर क्रमशः वसुदेव के जन्म, भ्रमण, कृष्ण-जन्म, कंस-वध, द्वारिका-निर्माण, प्रद्युम्न-हरण, पांडव और द्रौपदी, जरासंध-युद्ध, नेमिनाथ-चरित्र, द्रौपदी-हरण, द्वारिका-दाह, बलदेव-दीक्षा, नेमिनिर्वाण और कृष्ण के भावी तीर्थंकरत्व का वर्णन किया गया है। वसुदेव-भ्रमण के वृत्तान्त मे प्रसंगवश चारुदत्त और वसन्तसेना का उल्लेख भी आया है। समस्त कथा का आधार वसुदेव हिंडी एवं जिनसेन कृत हरिवंशपुराण है। रचना आद्यन्त कथा-प्रधान है।

रत्नशेखर सूरि कृत **श्रीपालचरित्र** मे १३४२ गाथाएं है। ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि इसका सकलन वज्रसेन गणधर के पट्ट शिष्य, व प्रभु हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया; और उनके शिष्य हेमचन्द्र साधु ने वि० सं० १४२८ में इसको लिपिबद्ध किया। यह कथा सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखी गई है। उज्जैनी की राजकुमारी मदनसुदरी ने अपने पिता की दी हुई समस्या की पूर्ति में अपना यह भाव प्रकट किया कि प्रत्येक को अपने पुण्य-पाप के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त होता है; इसमें दूसरे व्यक्तियों का कोई हाथ नही। पिता ने इसे पुत्री का अपने प्रति कृतघ्नता-भाव समझा; और क्रुद्ध होकर उसका विवाह श्रीपाल नामक कुष्टरोगी से कर दिया। मदनसुदरी ने अपनी पति-भक्ति तथा सिद्ध-चक्र पूजा के प्रभाव से उसे अच्छा कर लिया, और श्रीपाल ने नाना देशो का भ्रमण किया, तथा खूब धन और यश कमाया। ग्रन्थ के बीच बीच में अनेक अपभ्रंश पद्य भी आये हैं, व नाना गद्य छदो मे स्तुतियां निबद्ध हैं। रचना आदि से अंत तक रोचक है।

जिनमाणक्य कृत **कुम्मापुत्त-चरियं** छोटी सी कथा है जो १८५ गाथाओं में पूर्ण हुई है। कवि ने अपने गुरु का नाम हेमविमल प्रगट किया है। अतएव तपागच्छ पट्टावली के अनुसार वे १६ वी सदी मे हुए पाये जाते हैं। महावीर तीर्थंकर ने अपने उपदेश में दान, तप, शील और भावना, इन चार धर्म के भेदों में भावना धर्म का आदर्श

उदाहरण कुम्मापुत्त का दिया; तथा इन्द्रभूति के पूछने पर उसका वृत्तान्त सुनाया। पूर्व जन्म में वह दुर्लभ नाम का राजपुत्र था, जिसे एक यक्षिणी अपने पूर्व जन्म का पति पहचान कर पाताल लोक में ले गई। वह अपनी अल्पायु समझकर दुर्लभ धर्मध्यान में लग गया; और दूसरे जन्म में राजगृह का राजकुमार हुआ। शास्त्र-श्रवण द्वारा उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया, और वह संसार से विरक्त हो गया। तथापि माता-पिता को शोक न हो, इस विचार से प्रव्रजित न होकर घर में ही रहा; और भावकेवली होकर मोक्ष गया। पूर्वभव-वर्णन में मनुष्य जीवन की चिन्तामणि के समान दुर्लभता के उदाहरण रूप एक आख्यान कहा गया है, जिसमें एक रत्नपरीक्षक पुरुष ने चिन्तामणि पाकर भी अपनी असावधानी से उसे समुद्र में खो दिया। रचना सरल और सुन्दर है। (प्रका० पूना, १९३०)।

इन प्रकाशित पद्यात्मक प्राकृत कथाओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रचनाएं जैन शास्त्र भंडारो की सूचियो मे उल्लिखित पाई जाती हैं, जिनमें जिनेश्वर सूरि कृत **निर्वाण लीलावती** का उल्लेख हमें अनेक ग्रंथों में मिलता है। विशेषतः धनेश्वर कृत 'सुरसुन्दरी चरिय' (वि० सं० १०९५) मे उसे अति सुललित, प्रसन्न, श्लेषात्मक व विविधालंकार-शोभित कहा गया है। दुर्भाग्यतः इस ग्रन्थ की प्रतियां दुर्लभ हो गई हैं, किन्तु उसका संस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर ६००० श्लोको में जिनरत्न (१३ वी शती) कृत पाया जाता है; जबकि मूल ग्रन्थ के १८००० श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख मिलता है।

प्राकृत कथाएं-गद्य-पद्यात्मक—

जैन कथा-साहित्य अपनी उत्कृष्ट सीमा पर उन रचनाओं में दिखाई देता है जो मुख्यतः गद्य में, व गद्य-पद्य मिश्रित रूप मे लिखी गई हैं; अतएव जिन्हें हम चम्पू कह सकते हैं। इनमें प्राचीनतम ग्रन्थ है **वसुदेव हिंडी**, जो सौ लम्बको मे पूर्ण हुआ है। ये लम्बक दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम खंड में २९ लम्बक हैं, और वह लगभग ११००० श्लोक-प्रमाण है। इसके कर्ता संघदासगणि वाचक हैं। दूसरे खंड में ७१ लम्बक १७००० श्लोक प्रमाण हैं और इसके कर्ता धर्मसेन गणि हैं। ग्रन्थ का रचना-काल निश्चित नहीं है, तथापि जिनभद्रगणि ने अपनी विशेषणवती में इसका उल्लेख किया है; जिससे इसका रचना-काल छठवीं शती से पूर्व सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ का अभी तक केवल प्रथम खंड ही प्रकाश में आया है। इसमें भी १९ और २० वें लम्बक अनुपलब्ध हैं तथा २८ वां अपूर्ण पाया जाता है। अंधकवृष्णि के पुत्रों में जेठे समुद्र

विजय और सबसे छोटे वसुदेव थे। समुद्रविजय के राजा होने पर वसुदेव नगर में घूमा करते थे, किन्तु इनके अतिशय रूप व कला-प्रावीण्य के कारण नगर मे अनर्थ होते देख, राजा ने इनका बाहर जाना रोक दिया। इस पर वसुदेव गुप्त रूप से घर से निकलकर देश-विदेश भ्रमण करने लगे। इस भ्रमण मे उन्हे नाना प्रकार के कष्ट भी हुए व अनेक लोमहर्षक घटनाओं का सामना करना पड़ा, जिनके वैचित्र्य के वर्णन से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है। प्रसंगवश इसमें महाभारत, रामायण एव अन्य विविध आख्यान आये हैं। यह ग्रंथ लुप्त वृहत्कथा के आधार व आदर्श पर रचित अनुमान किया जाता है। भाषा, साहित्य, इतिहास आदि अनेक दृष्टियो से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है।

हरिभद्र कृत **समराइच्च कहा** (८ वी शती) मे ९ 'भव' नामक प्रकरण हैं, जिनमें क्रमशः परस्पर विरोधी दो पुरुषो के साथ साथ चलने वाले ९ जन्मातरो का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की उत्थानिका मे मगलाचरण के पश्चात् कथावस्तु को दिव्य, दिव्य-मानुष और मानुष के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है। कथा-वस्तु चार प्रकार की कथाओ द्वारा प्रस्तावित की जा सकती है- अर्थ, काम, धर्म और संकीर्ण; जिनके अधम, मध्यम और उत्तम, ये तीन प्रकार के श्रोता होते हैं। ग्रन्थ-कर्ता ने प्रस्तुत रचना को दिव्य- मानुष वस्तुगत धर्म-कथा कहा है, और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आठ चरित्र-सग्रहणी गाथाएं उद्धृत की है, जिनमे नायक-प्रतिनायक के नौ भवांतरों के नाम, उनका परस्पर संबध, उनकी निवास-नगरिया एवं उनके मरण के पश्चात् प्राप्त स्वर्ग-नरको के नाम दिये गये हैं। अन्तिम भव मे नायक समरादित्य मोक्षगामी हुआ और प्रतिनायक गिरिसेन अनन्त संसार-भ्रमण का भागी। प्रथम भव मे ही इनके परस्पर वैर उत्पन्न होने का कारण यह बतलाया गया है कि राजपुत्र गुणसेन पुरोहित-पुत्र ब्राह्मण अग्नि-शर्मा की कुरूपता की हंसी उड़ाया करता था; जिससे विरक्त होकर अग्निशर्मा ने दीक्षा ले ली; और मासोपवास संयम का पालन किया। गुणसेन राजा ने तीन बार उसे आहार के लिये आमंत्रित किया, किन्तु तीनों बार विशेष कारणों से मुनि को बिना आहार लौटना पड़ा, जिससे क्रुद्ध होकर उसने मन मे यह ठान लिया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मैं जन्म-जन्मान्तर में इस राजा को क्लेश दू। इसी निदान-बंध के कारण उसकी उत्तरोतर अधोगति हुई, जब तक कि अन्त मे उसे सम्बोधन नहीं हो गया। इन नौ ही भवों का वर्णन प्रतिभाशाली लेखक ने बड़ी उत्तम रीति से किया है, जिसमें कथा-प्रसंगों, प्राकृतिक वर्णनों व भाव-चित्रण द्वारा कथानक को श्रेष्ठ रचना का पद प्राप्त हुआ है।

उद्योतन सूरि कृत **कुवलयमाला** की रचना ग्रन्थ के उल्लेखानुसार ही शक सं० ७०० (ई० सन् ७७८) मे जावालिपुर (जालौर-राजस्थान) मे हुई थी। लेखक ने अपना विरुद् दाक्षिण्यचिन्ह भी प्रगट किया है। चरित्र-नायिका कुवलयमाला के वैचित्र्यपूर्ण जीवनचरित्र मे गुम्फित नाना प्रकार के उपाख्यान, घटनाएं, सामाजिक व वैयक्तिक चित्रण, इस कृति की अपनी विशेषताएं है, जिनकी समतौल अन्यत्र पाना कठिन है। प्राकृत भाषा के नाना देशी रूप व शैलियो के प्रचुर उदाहरण इस ग्रन्थ में मिलते हैं। लेखक का ध्येय अपनी कथाओ द्वारा क्रोधादि कषायों व दुर्भावनाओ के दुष्परिणाम चित्रित करना है। घटना-वैचित्र्य व उपाख्यानों की प्रचुरता मे यह वसुदेव-हिंडी के समान है। यथास्थान अपनी प्रौढ़ शैली मे वह सुबंधु और बाण की संस्कृत रचनाओं की समता रखती है। समरादित्य कथा का भी रचना में बहुत प्रभाव दिखाई देता है। स्वय कर्ता ने हरिभद्र को अपना सिद्धान्त व न्याय का गुरु माना है, तथा उनकी समरमियका (समरादित्य) कथा का भी उल्लेख किया है।

देवेन्द्रगणि कृत **रयणचूडरायचरियं** मे कर्ता ने अपनी गुरु-परम्परा देवसूरि से लेकर उद्योतन सूरि द्वि०तक बतलाई है, और फिर कहा है कि वे स्वयं उद्योतन सूरि के शिष्य उपाध्याय अम्बदेव के शिष्य थे, जिनका नाम नेमिचन्द्र भी था। उन्होंने यह रचना डंडिल पदनिवेश मे प्रारम्भ की थी, और चड्डावलि पुरी में समाप्त की थी। नेमिचन्द्र, अपर नाम देवेन्द्र गणि, ने अपनी उत्तराध्ययन टीका वि० सं० ११२९ में तथा महावीर-चरिय वि० स० ११४० मे लिखे थे। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इसी समय के लगभग की सिद्ध होती है। कथा में राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में गौतम गणधर ने कंचनपुर के बकुल नामक मालाकार के ऋषभ भगवान को पुष्प चढ़ाने के फलस्वरूप गजपुर मे कमलसेन राजा के पुत्र रत्नचूड़ की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनाया। रत्नचूड़ ने एक मदोन्मत्त गज का दमन किया; किन्तु वह एक विधाधर निकला, और राजकुमार का अपहरण कर ले गया। रत्नचूड़ ने नाना प्रदेशों का भ्रमण किया; विचित्र अनुभव प्राप्त किये; अनेक सुन्दरियों से विवाह किया; और ऋद्धि प्राप्त की; जिसका वर्णन बड़ा रोचक है। अन्त में वे राजधानी में लौट आये; और मुनि का उपदेश पाकर धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए मरणोपरान्त स्वर्गगामी हुए। कथा में अनेक उपाख्यानो का समावेश है। यह कथा 'नायाधम्मकहा' में सूचित देव-पूजा आदि के धर्मफल के दृष्टान्त रूप रची गई है। (प्रका० अमदाबाद, १९४२)

कालकाचार्य की कथा सबसे प्राचीन निशीथचूर्णि, आवश्यक चूर्णि, वृहत्कल्प भाष्य आदि अर्द्धमागधी आगम की टीकाओ में पाई जाती है। इस पर स्वतंत्र रचनाएं

भी बहुत लिखी गई हैं। जैन ग्रंथावलि में प्राकृत में विनयचन्द्र, भावदेव, जयानंदि सूरि, धर्मप्रभ देवकल्लोल व महेश्वर; तथा संस्कृत में कीर्तिचन्द्र और समयसुन्दर कृत कालकाचार्य कथाओ का उल्लेख किया गया है। किन्तु इन सबसे प्राचीन, और साहित्यिक दृष्टि से अधिक सुन्दर कृति देवेन्द्रसूरि कृत कथानक-प्रकरण-वृत्ति में समाविष्ट पाई जाती है। इसका रचना काल वि० सं० ११४६ है। कालक एक राजपुत्र थे; किन्तु गुणाकर मुनि के उपदेश से वे मुनि हो गये। उनकी छोटी बहन सरस्वती भी आर्यिका हो गई। उस पर उज्जैनी का राजा गर्दभिल्ल मोहित हो गया; और उसने उसे पकड़वाकर अपने अन्तःपुर में रक्खा। राजा को समझाकर अपनी बहन को छुड़ाने के प्रयन्त मे असफल होकर कालकाचार्य शक देश को गये; और गर्दभिल्ल को पकडकर देश से निर्वासित कर दिया गया। कालकाचार्य ने सरस्वती को पुनः संयम मे दीक्षित कर लिया। उज्जैन में एक राजवश स्थापित होगया; जिसका उच्छेद राजा विक्रमादित्य ने करके अपना संवत् चलाया। कथा मे आगे चलकर कालकाचार्य के भरुकच्छ और वहा से प्रतिष्ठान की ओर विहार करने का वृतान्त है। उनकी राजा सातवाहन से भेंट हुई; और उनके अनुरोध से उन्होंने भाद्रपद शुक्ला ४ से पर्यूषण मनाये जाने की अनुमति प्रदान कर दी, क्योकि भाद्रपद शुक्ला ५ को इन्द्रमहोत्सव मनाया जाता था। अपने शिष्यो का सम्बोधन करते हुए अन्त मे कालकाचार्य ने सल्लेखना विधि से स्वर्गवास प्राप्त किया। इस कथा मे शकों के आक्रमण और तत्पश्चात् उनके विक्रमादित्य द्वारा मूलोच्छेदन के वृतान्त मे बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है। (प्रका० अमदाबाद, १६४६)

सुमतिसूरि कृत **जिनदत्ताख्यान** मे कर्ता ने अपना इतना ही परिचय दिया कि पाडिच्छय गच्छ के कल्पद्रुम श्री नेमिचन्द्र सूरि हुए जिन्हें श्री सर्वदेव सूरि ने उतम पद पर स्थापित किया। उनके शिष्य सुमति गणि ने यह जिनदत महर्षि चरित्र रचा। ग्रन्थ का रचना काल निश्चित नही है; तथापि एक प्राचीन प्रति मे उसके अनहिलपाटन में सं० १२४६ मे लिखाये जाने का उल्लेख है, जिससे ग्रन्थ की रचना उससे पूर्व होनी निश्चित है। कथानायक सेठ द्यूतक्रीड़ा मे अपना सब धन खोकर विदेश यात्रा को निकल पड़ा। दधिपुर में राजकन्या श्रीमती को व्याधि-मुक्त करके उससे विवाह किया। समुद्र यात्रा मे उसे एक अन्य व्यापारी ने समुद्र में गिरा दिया; और वह एक फलक के सहारे तट पर पहुंचा। वहां से रथनूपुर चक्रवाल में पहुंकर वहां की राजकन्या से विवाह किया। अन्त मे वह पुनः चम्पानगर को लौट आया, और वहां की राजकन्या

रतिसुन्दरी से भी विवाह किया। तत्पश्चात् अनेक सुख भोगकर उसने दीक्षा धारण कर ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया। गद्य और पद्य दोनों में भाषा सुपरिमार्जित पाई जाती है; और यत्र तत्र काव्य गुण भी दिखाई देते हैं।

एक और जिनदत्ताख्यान नामक रचना पूर्वोक्त ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित हुई है (बम्बई, १९५३); जिसमें कर्ता का नाम नही मिलता। कथानक पूर्वोक्त प्रकार ही है, किन्तु उसकी अपेक्षा कुछ संक्षिप्त है। पूर्वोक्त कृति से यह प्राचीन हो, तो आश्चर्य नही। इसमे जिनदत्त का पूर्वभव अन्त में वर्णित है; प्रारम्भ मे नहीं। इसकी हस्तलिखित प्रति मे उसके चित्रकूट में मणिभद्र यति द्वारा सं० ११८६ में लिखे जाने का उल्लेख है।

रयणसेहरीकहा के कर्ता जिनहर्षगणि ने स्वयं कहा है कि वे जयचन्द्र मुनि के शिष्य थे; और उन्होंने यह कथा चित्रकूट नगर में लिखी। ग्रन्थ की पाटन भंडार की हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१२ की है; अतएव रचना उससे पूर्व की होनी निश्चित है। यह कथा सावत्सरिक, चातुर्मासिक एव चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्वानुष्ठान के दृष्टान्त रूप लिखी गई है। रतनपुर का राजा किन्नरो से रत्नावती के रूप की प्रशंसा सुनकर उसपर मोहित हो गया। इस सुन्दरी का पता लगाने उनका मंत्री निकला। एक सघन वन में पहुंचकर उसकी एक यक्ष-कन्या से भेंट हुई, जिसके निर्देश से वह एक जलते हुए धूपकुंड में कूदकर पाताल मे पहुचा और उस यक्ष-कन्या को विवाहा। यक्ष ने रत्नावली का पता बतलाया कि वह सिंहल के राजा जयसिंह की कन्या है। यक्ष ने उसे अपने विद्याबल से सिंहल मे पहुंचा भी दिया। वहां वह योगिनी के वेष में रत्नावली से मिला। रत्नावली ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब उसे अपना पूर्व मृग-जन्म का पति मिलेगा, तभी वह उससे विवाह करेगी। योगिनी ने भविष्य का विचार कर बतला दिया कि उसका वही पति उसे शीघ्र ही कामदेव के मंदिर मे द्यूतक्रीड़ा करता हुआ मिलेगा। इस प्रकार रत्नावली को तैयार कर वह उसी यक्ष-विद्या द्वारा अपने राजा के पास पहुंचा, और उसे साथ लाकर कामदेव के मंदिर में सिंहल राजकन्या से उसकी भेंट करा दी। दोनों मे विवाह हो गया। एक बार जब वे दोनों गीत काव्य कथादि विनोद में आसक्त थे, तब एक सूआ राजा के हाथ पर आ बैठा, और एक शुकी रानी के हाथ पर। सूए की वाणी से राजा ने जान लिया कि वह कोई विशेष धार्मिक प्राणी है। विद्वत्तापूर्ण वार्तालाप करते हुए शुक और शुकी दोनों मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। एक महाज्ञानी मुनि ने राजा को बतलाया कि वे उसके पूर्व पुरुष थे; जो अपना व्रत खडित करने के पाप से पक्षियोनि में उत्पन्न हुए थे। उस

पाप से मुक्त होकर अब वे धरणेन्द्र और पद्मावती रूप देव-देवी हुए हैं। राजा रत्नशेखर और रानी रत्नावली धर्मपालन मे उत्तरोत्तर दृढ़ होते हुये अन्त में मरकर स्वर्ग में देव-देवी हुए।

इस कथानक का विशेष महत्व यह है कि वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य जायसी कृत पद्मावत की कथा का मूलाधार सिद्ध होता है। यहां नायक रत्नशेखर है, तो वहां रतनसेन; नायिका दोनो में सिंहल की राजकुमारी है; परस्पर प्रेमासक्ति का प्रकार भी वही है। यहा मत्री जोगिनी बनकर सिंहल जाता है, तो वहा स्वयं नायक ही जोगी बनता है। दोनों में मिलने का स्थान देवालय है। तोता भी दोनो कथाओं में आता है; यद्यपि जायसी ने इसका उपयोग कथा के आदि से ही किया है। रत्नशेखरी के कर्ता चित्रकूट (चित्तौड़) के थे; और जायसी के नायक ही चित्तौड के राजा थे। रत्नशेखरी में राजा द्वारा कलिंगराज को जीतने का उल्लेख है, पद्मावत में कलिंग से जोगियों का जहाज रवाना होता है। दोनो कथानको का रूपक व रहस्यात्मक भाग बहुत कुछ मिलता है। पद्मावत का रचनाकाल शेरशाह सुलतान के समय मे होने से उक्त रचना से पीछे तो सिद्ध होता ही है, क्योंकि शेरशाह का राज्य ई० सन् १५४० मे प्रारम्भ हुआ था।

जम्बूसामिचरित्त उपर्युक्त समस्त प्राकृत चरित्रो से अपनी विशेषता रखता है; क्योंकि उसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्धमागधी प्राकृत मे उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमो की, यहा तक कि वर्णन के संक्षेप के लिये यहा भी तदनुसार ही 'जाव', 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है। इस पर से यह रचना वलभी वाचना काल (५वी शती) के आसपास की प्रतीत होती है, जैसा कि सम्पादक ने अपने 'प्रवेशद्वार' मे भी अनुमान किया है, (प्र० भावनगर, वि० २००४)। किन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो एक गाथा मे यह कहा गया है कि इसे विजयदया सूरीश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा है, उस पर से उसका रचनाकाल वि० सं० १७८५ से १८०६ के बीच अनुमान किया गया है, क्योंकि तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ६४ वे गुरु विजयादया सूरि का वही समय है। किन्तु सभव है यह उल्लेख ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने का हो, ग्रन्थ रचना का नही, विशेषतः जबकि ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका मे पुनः अलग से उसके लिखे जाने का काल सं० १८१४ निर्दिष्ट है। यदि आगे खोजशोध द्वारा अन्य प्राचीन प्रतियों के बल से यही रचनाकाल सिद्ध हो तो समझना चाहिये कि १८वीं शती मे आगम शैली से यह ग्रन्थ लिखकर उक्त लेखक ने एक असाधारण कार्य किया।

कथानायक जम्बूस्वामी महावीर तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य थे; और उनके

निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे । जैन आगम की परम्परा में उनका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उपलम्य द्वादशाग का बहुभाग सुधर्म स्वामी द्वारा उन्ही को उपदिष्ट किया गया है । प्रस्तुत रचनानुसार जम्बू का जन्म राजगृह में हुआ था । उनकी वैराग्य-वृति को रोकने के लिये उनके आठ विवाह किये गये; तथापि उनकी धार्मिक प्रवृति रुकी नही, बढती ही गई । उन्होंने अपनी पत्नियों का संबोधन कर, और उनकी समस्त तर्कों व युक्तियो का खंडन कर दीक्षा ले ली; यहां तक कि जो प्रभव नामक बड़ा डाकू उनके घर मे चोरी के लिये घुसा था, वह भी चुपचाप उनका उपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गया ।

एक और **जम्बूचरियं** महाराष्ट्री प्राकृत में है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ । इसके कर्ता नाइलगच्छीय गुणपाल है, जो संभवतः वे ही हैं जिनके प्राकृत **ऋषिदत्ता चरित्र** का उल्लेख जैनग्रन्थावली मे पाया जाता है, और उसका रचना काल वि० सं० १२६४ अंकित किया गया है । यह जम्बूचरित्र सोलह उद्देशो मे पूर्ण हुआ है । मुख्य कथा व अवान्तर कथाए भी प्राय· वे ही है जो पूर्वोक्त कृतिमें भी अपेक्षाकृत संक्षेप रूप मे पाई जाती है । पद्मसुन्दर कृत **जम्बूचरित** अकबर के काल मे सं० १६३२ मे रचा गया मिला है ।

गुणचन्द्र सूरि कृत **णरविक्कमचरिय** यथार्थत. ग्रन्थकार की पूर्वोक्त रचना 'महावीरचरिय' मे से उद्धृत कर पृथक् रूप से सस्कृत छाया सहित प्रकाशित हुआ है (नेमि विज्ञान ग्र० मा० २० वि०स० २००८) । छत्ता नगरी के जितशत्रु राजा के पुत्र नन्दन को उपदेश देते हुए पोट्टिल स्थाविर ने विषयासक्ति मे धर्मोपदेश द्वारा प्रवृज्या धारण करनेवाले राजा नरसिंह और उसके पुत्र नरवाहनदत्त का चरित्र वर्णन किया । कथा के गद्य और पद्य दोनो भाग रचना की दृष्टि से प्रौढ़ और काव्य गुणोंसे युक्त हैं।

इनके अतिरिक्त इसी प्रकार की अन्य अनेक प्राकृत रचायें उपलब्ध है, जो अभी तक प्रकाशित नही हुई । इनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:— विजयसिंह कृत **भुवनसुन्दरी** (१० वी शती), वर्धमान कृत **मनोरमाचरियं** (११वी शती), **ऋषिदत्ता चरित** (१३ वी शती) **प्रद्युम्नचरित, मलयसुन्दरी कथा, नर्मदासुन्दरी कथा, अन्य सुन्दरी कथा और नरदेव कथा** । (देखिये जैन ग्रन्थावली)

प्राकृत कथाकोष—

धर्मोपदेश के निमित्त लघु कथाओ का उपदेश श्रमण-परम्परा में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है । द्वादशाग आगम के णायाधम्मकहाओ में इसका एक रूप

यह देखा जाता है कि एकाध गाथा में कोई उपदेशात्मक बात कही, और उसके साथ ही उसके दृष्टान्त रूप उस नियम को अपने जीवन मे चरितार्थ करने वाले व्यक्ति के जीवन का वृत्तान्त गद्य या पद्य मे विस्तार से कह दिया। यही प्रणाली पालि की **जातक** कथाओं में भी पाई जाती है। संस्कृत के **हितोपदेश, पंचतंत्रादि** प्राचीन लघुकथात्मक ग्रन्थों की भी यही शैली है।

आगमों के पश्चात् इस शैली की स्वतंत्र प्राकृत रचना धर्मदास गणी कृत **उपदेशमाला प्रकरण** पाई जाती है। इसमे ५४४ गाथाएं हैं; जिनमे विनय, शील, व्रत, सयम, दया, ज्ञान, ध्यानादि विषयक सैंकडो पुरुष-स्त्रियो के दृष्टान्त दिये गये हैं, व उनके चरित्र विस्तार से टीकाओ मे लिखे गये है। टीकाएं १० वी शती से लेकर १८ वी शती तक अनेक लिखी गई है, और वे जैन लघु कथाओ के भडार है। कुछ टीकाकारो के नाम हैं—जयसिह और सिद्धर्षि (१० वीं शती), जिनभद्र और रत्नप्रभ (१२ वी शती) उदयप्रभ (१३ वी शती), अभयचन्द्र (१५ वी शती), जयशेखर, रामविजय, सर्वानन्द, धर्मनन्दन आदि। मूल गाथाओ का रचनाकाल निश्चित नही; किन्तु उनका मुनि-समाज मे इतना आदर और प्रचार है कि उनके कर्ता तीर्थकर महावीर के समसामयिक माने जाते हैं। तथापि गाथाओ की भाषा पर से वे ५ वी ६ वी शती से अधिक पूर्वकी प्रतीत नही होती। मूल कर्ता और उसके टीकाकारो के सन्मुख बौद्ध धम्मपद और उसकी बुद्धघोष कृत टीका का आदर्श रहा प्रतीत होता है, जिनमे क्रमश: ४२५ गाथाएं और ३१० कथानक पाये जाते हैं।

इसी शैली पर ८ वी शती मे हरिभद्र ने अपने **उपदेशपद** लिखे, जिनकी गाथा संख्या १०४० है। इस पर मुनिचन्द्रसूरि की सुखबोधनी टीका (१२ वी शती) और वर्धमान कृत वृत्ति (१३ वी शती) पाई जाती हैं।

कृष्णमुनि के शिष्य जयसिंह ने वि० सं० ९१५ मे धर्मदास की कृति के अनुकरण पर ९८ गाथाए लिखी; और उनपर स्वयं विवरण भी लिखा। उनकी पूरी रचना **धर्मोपदेश-माला-विवरण** के नाम से प्रकाशित है (बम्बई, १९४९)। इसमें १५६ कथाएं समाविष्ट है, जिनमे शील, दान, आदि सद्गुणो का माहात्म्य तथा राग-द्वेषादि दुर्भावो के दुष्परिणाम से लेकर चोर, जुवाड़ी, शराबी तक सभी स्तरों के व्यक्ति हैं, जिनसे समाज का अच्छा चित्रण सामने आता है। प्राकृतिक, भावात्मक व रसात्मक वर्णन भी सुन्दर और साहित्यिक हैं।

जयसिंह सूरि के शिष्य जयकीर्तिकृत **शीलोपदेश-माला** भी इसी प्रकार की ११६ गाथाओ की रचना है, जिसपर सोमतिलक कृत टीका (१४ वी शती) पाई

जाती है। जिनेश्वरसूरि कृत **कथाकोष-प्रकरण** (वि० सं० ११०८) में ३० गाथाओं के आधार से लगभग ४० कथाए वर्णित हैं, जिनमे सरल भाषा द्वारा जिनपूजा, सुपात्रदान आदि के सुफल बतलाये गये हैं, और साथ ही राजनीति, समाज आदि का चित्रण भी किया गया है। जिनेश्वरकृत ६० गाथात्मक **उपदेशरत्नकोष** और उस पर २५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति देवभद्रकृत भी मिलती है। देवेन्द्रगणिकृत **आख्यान मणिकोष** (११ वी शती), मलधारी हेमचन्द्र कृत **भवभावना** और **उपदेशमाला प्रकरण** (१२ वी शती) लघुकथाओं के इसी प्रकार के संग्रह हैं। सोमप्रभकृत **कुमारपाल-प्रतिबोध** (वि० स० १२४१) में प्राकृत के अतिरिक्त कुछ आख्यान संस्कृत व अपभ्रंश में भी रचे गये है। इसमें कुल पांच प्रस्ताव हैं, जिनके द्वारा ग्रन्थकार के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को जैनधर्मावलम्बी बनाया। पांचों प्रस्तावो मे सब मिलाकर ५४ कथानक हैं, जो बहुत सुन्दर और साहित्यिक हैं। मानतुग सूरि कृत **जयन्ती-प्रकरण** की रचना भगवती सूत्र के १२ वें शतक के दूसरे उद्देश के आधार से हुई है। तदनुसार श्रमणोपासिका जयन्ती कौशाम्बी के राजा शतानीक की बहिन थी। उसने तीर्थंकर महावीर से धर्म सम्बन्धी नाना प्रश्न किये थे। इसी आधार पर कर्ता ने २८ गाथाये रची है, और उनके शिष्य मलयप्रभ सूरि ने वि० सं० १२६० के लगभग उस पर वृत्ति लिखी, जिसमे अनेक कथाये वर्णित है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजा चेटक की पुत्री व राजा शतानीक की पत्नी मृगावती पर आसक्त था। इस पर तीर्थंकर महावीर ने उसे परस्त्रीत्याग का उपदेश दिया। अन्य कथाएं शील, सुपात्रदान व तप आदि गुणों का फल दिखलाने वाली है, जिनमे ऋषभदेव, भरत व बाहुबली का वृत्तान्त भी आया है।

गुणचन्द्र कृत **कथारत्नकोष** (१२ वी शती) में पचास कथानक हैं, जिनमें कही कही अपभ्रंश का उपयोग किया गया है। अन्य कथाकोषो में चन्द्रप्रभ महत्तर कृत **विजयचन्द्र केवली** (११ वी शती), जिनचन्द्रसूरि कृत **सवेग-रंगशाला** और आसाड़ कृत **विवेक-मंजरी** एवं **उपदेश-कंदली** (१२ वी शती), मुनिसुन्दर कृत **उपदेश-रत्नाकर** (१३ वी शती), सोमचन्द्र कृत **कथामहोदधि** और शुभवर्धनगणि कृत **वर्धमान-देशना** तथा **दशश्रावक-चरित्र** (१५ वी शती) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट अनेक लघुकथाएं हैं, जिनमें विशेष व्रतो के द्वारा विशिष्ट फल प्राप्त करने वाले पुरुष स्त्रियों के चरित्र वर्णित हैं; जैसे **अंजनासुन्दरी कथा, शीलवती, सर्वांग-सुन्दरी** आदि कथाएं। इस प्रकार की कोई २०-२५ प्राकृत कथाओं का उल्लेख जैन-ग्रन्थावली में किया गया है।

अपभ्रंश भाषा का विकास—

भारत मे आर्यभाषा का विकास मुख्य तीन स्तरों मे विभाजित पाया जाता है। पहले स्तर की भाषा का स्वरूप वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों व रामायण, महाभारत आदि पुराणों व काव्यो में पाया जाता है, जिसे भाषा-विकास का प्राचीन युग माना जाता है। ईसवी पूर्व छठवी शती में महावीर और बुद्ध द्वारा उन भाषाओं को अपनाया गया जो उस समय पूर्व भारत की लोक भाषायें थी; और जिनका स्वरूप हमे पालि त्रिपिटक व अर्धमागधी जैनागम में दिखाई देता है। तत्पश्चात् की जो शौरसेनी व महाराष्ट्री रचनायें मिलती हैं उनकी भाषा को मध्ययुग के द्वितीय स्तर की माना गया है, जिसका विकास-काल ईस्वी की दूसरी शती से पाचवी शती तक पाया जाता है। तत्पश्चात् मध्ययुग का जो तीसरा स्तर पाया जाता है, उसे अपभ्रश का नाम दिया गया है। भाषा के संबंध मे सर्वप्रथम अपभ्रंश का उल्लेख पातजल महाभाष्य (ई० पू० दूसरी शती) मे मिलता है; किन्तु वहा उसका अर्थ कोई विशेष भाषा न होकर, शब्द का वह रूप है जो संस्कृत से अपभृष्ट, विकृत या विकसित हुआ है, जैसे गौ का गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि देशी रूप। इसी मतानुसार दण्डी (छठी शती) ने अपने काव्यादर्श मे कहा है कि शास्त्र मे सस्कृत से अन्य सभी शब्द अपभ्रश कहलाते है, किन्तु काव्य मे आभीरो आदि की बोलियो को अपभ्रश माना गया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी के काल अर्थात् ईसा की छठी शती मे अपभ्रश काव्य-रचना प्रचलित थी। अपभ्रंश का विकास दसवी शती तक चला और उसके साथ आर्य भाषा के विकास का द्वितीय स्तर समाप्त होकर तृतीय स्तर का प्रादुर्भाव हुआ; जिसकी प्रतिनिधि हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि आधुनिक भाषाये हैं। इसप्रकार अपभ्रश एक ओर प्राचीन प्राकृतो, और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओ के बीच की कडी है। वस्तुतः अपभ्रंश से ही हिन्दी आदि भाषाओं का विकास हुआ है, और इस दृष्टि से इस भाषा के स्वरूप का बड़ा महत्व है। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश का मुख्य लक्षण यह है कि जहा अकारान्त शब्दों के कर्त्ता कारक की विभक्ति संस्कृत मे विसर्ग व प्राकृत मे ओ पाई जाती है, और कर्म कारक में अम् दोनो भाषाओं मे होता है, वहा अपभ्रश मे वह 'उ' के रूप मे परिवर्तित हो गई; जैसे संस्कृत का 'रामः वनं गतः', प्राकृत मे 'रामो वणं गओ' व अपभ्रंश मे 'रामु वणु गयउ' के रूप में दिखाई देता है। इसीलिये भरत मुनि ने इस भाषा को 'उकार-बहुल' कहा है। दूसरी विशेषता यह भी है कि अपभ्रंश में कुछ-कुछ परसर्गों का उपयोग होने लगा, जिसके प्रतीक 'तण' और 'केर' बहुतायत से दिखाई देते है। भाषा यद्यपि अभी भी प्रधानतया योगात्मक है, तथापि अयोगात्मकता

की ओर उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। कारक विभक्तियां तीन-चार ही रह गई हैं; और क्रियाओं का प्रयोग बन्द सा हो गया है। उनके स्थान पर क्रियाओं से सिद्ध विशेषणों का उपयोग होने लगा है। व्याकरण की इन विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य-रचना की बिलकुल नई प्रणालियां और नये छंदों का प्रयोग पाया जाता है। दोहा और पद्धडिया छंद अपभ्रंश काव्य की अपनी वस्तु हैं; और इन्ही से हिन्दी के दोहों व चौपाइयों का आविष्कार हुआ है। इस भाषा का प्रचुर साहित्य जैन साहित्य की अपनी विशेषता है।

अपभ्रंश पुराण—

जिसप्रकार प्राकृत मे प्रथमानुयोग काव्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है; उसी प्रकार अपभ्रंश मे भी। अबतक प्रकाश मे आये हुए अपभ्रंश कथा-साहित्य में स्वयम्भू कृत **पउमचरिउ** सर्वप्रथम है। इसमें विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर, ये पाच काड हैं, जिनके भीतर की समस्त संधियों (परिच्छेदो) की संख्या ९० है। ग्रन्थ के आदि मे कवि ने अपने पूर्ववर्ती भरत, पिगल, भामह और दंडी, एवं पांच महाकाव्य, इनका उल्लेख किया है। यह भी कहा है कि यह रामकथा रूपी नदी वर्द्धमान के मुख कुहर से निकली, और गणधर देवो ने उसे बहते हुए देखी। पश्चात् वह इन्द्रभूति आचार्य, फिर सुधर्म व कीर्तिधर द्वारा प्रवाहित होती हुई, रविषेणाचार्य के प्रसाद से कविराज (स्वयम्भू) को प्राप्त हुई। अपने वैयक्तिक परिचय मे कवि ने अपनी माता पद्मिनी और पिता मारुतदेव तथा अमृताम्बा और आदित्याम्बा, इन दो पत्नियो का उल्लेख किया है; और यह भी बतला दिया है कि वे शरीर से कृश और कुरूप थे; तथा उनकी नाक चपटी और दात विरल थे। उन्होने अपने आश्रयदाता धनंजय का भी उल्लेख किया है। पुष्पदंत कृत महापुराण मे जहां स्वयमू का उल्लेख आया है, वहा पर प्राचीन प्रति मे **'सयंभुह पद्धडिबंधकर्ता आपलीसंघीयह'** ऐसा टिप्पण पाया जाता है; जिससे अनुमान होता है कि वे यापिनीयसंघ के अनुयायी थे। कवि द्वारा उल्लिखित रविषेणाचार्य ने अपना पद्मचरित वीर नि० सं० १२०३ अर्थात् ई० सन् ६७६ में पूर्ण किया था; एवं स्वयम्भूदेव का उल्लेख सन् ९५९ ई० में प्रारम्भ किये गये अपभ्रंश महापुराण में उसके कर्ता पुष्पदंत ने किया है। अतएव पउमचरिउ की रचना इन दोनों अवधियो के मध्यकाल को सिद्ध होती है। उनकी कालावधि को और भी सीमित करने का एक आधार यह भी है कि जैसा उन्होने अपने पउमचरिउ में रविषेण का उल्लेख किया है, वैसा संस्कृत हरिवंशपुराण व उसके कर्ता जिनसेन का

नहीं किया; अतएव सम्भवतः वे संस्कृत हरिवंश के रचनाकाल, अर्थात् ई० सन् ७८३ के पूर्व ही हुए होंगे। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल ई० सन् ७०० के लगभग सिद्ध होता है। स्वयम्भूदेव ने यह रचना ८२ या ८३ वी संधि पर्यंत ही की है; और सम्भवतः वही उन्होंने अपनी रचना को पूर्ण समझा था। किन्तु उनके सुपुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने शेष रूप से सात-आठ और सर्ग रचकर उसे पद्मचरित मे वर्णित विषयों के अनुसार पूर्ण किया। समस्त ग्रन्थ का कथाभाग संस्कृत पद्मचरित के ही समान है। हा, इस रचना मे वर्णन विशेषरूप से काव्यात्मक पाये जाते हैं। स्थान-स्थान पर छंदो का वैचित्र्य, अलंकारों की छटा, रसभाव-निरूपण आदि संस्कृत काव्यशैली की उत्कृष्ट रीति के अनुसार हुआ है।

स्वयम्भू की दूसरी अपभ्रंश कृति **'रिट्ठणेमि चरिउ'** या **'हरिवंशपुराण'** है। इसकी उत्थानिका मे कवि ने भरत, पिंगल, भामह और दंडी के अतिरिक्त व्याकरण-ज्ञान के लिये इन्द्र का, घन-घन अक्षराडम्बर के लिये बाण का, तथा पद्धडिया छंद के लिये चतुर्मुख का ऋण स्वीकार किया है। अन्तमे कथा की परम्परा को महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्म, विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु से होती हुई संक्षेप मे सूत्र रूप सुनकर, उन्होने पद्धडिया बध मे मनोहरता से निबद्ध की, ऐसा कहा है। ग्रन्थ में तीन काड हैं — यादव, कुरु और युद्ध, और उनमें कुल ११२ सधिया हैं। इसकी भी प्रथम ९९ सधिया स्वयम्भूकृत है, और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभूकृत। इन अन्तिम संधियो मे से चार की पुष्पकाओ मे मुनि यशःकीर्ति का भी नाम आता है, जिससे अनुमान होता है कि उन्होने भी इस ग्रन्थ मे कुछ संशोधन, परिवर्द्धन किया होगा। ग्रन्थ का कथाभाग प्रायः वही है जो जिनसेन कृत हरिवंश में पाया जाता है। यादव कांड मे कृष्ण के जन्म, बाल--क्रीड़ा, विवाह आदि संबधी वर्णन बड़ी काव्यरीति से किया गया है। उसीप्रकार कुरु--काड मे कौरवो--पाडवो के जन्म, कुमारकाल, शिक्षण, परस्पर विरोध, द्यूतक्रीडा व बनवास का वर्णन, तथा युद्धकाड मे कौरव-पाडवों के युद्धका वर्णन रोचक व महाभारत के वर्णन से तुलनीय है।

अपभ्रंश में एक और **हरिवंशपुराण** धवल कवि कृत मिला है, जो १२२ संधियों में समाप्त हुआ है। कवि विप्र वर्ण के थे; और उनके पिता का नाम सूर, माता का केसुल्ल और गुरु का नाम अम्बसेन था। ग्रन्थ की उत्थानिका मे उन्होंने अनेक आचार्यों और उनकी ग्रन्थ-रचनाओं का उल्लेख किया है, जिनमें महासेन कृत सुलोचनाचरित, रविषेण कृत पद्मचरित, जिनसेन कृत हरिवंश, जटिलमुनि कृत

वरांगचरित, प्रसगकृत वीरचरित, जिनरक्षित श्रावक द्वारा विख्यापित जयधवल एवं चतुर्मुख और द्रोण के नाम सुपरिचित, तथा कवि के काल-निर्णय में सहायक होते हैं। उनमे काल की दृष्टि से सब से अन्तिम असग कवि हैं, जिहोंने अपना वीरचरित शक संवत् ९१०, अर्थात् ई० सन् ९८८ में समाप्त किया था। अतएव यही कवि के काल की पूर्वावधि है। उनकी उत्तरावधि निश्चित करने का कोई साधन प्राप्त नहीं है। सम्भवतः इस रचना का काल १० वी, ११ वी शती होगा। विशेष उल्लेखनीय एक बात यह है कि अपने कवि-कीर्तन मे कवि ने महान् श्वेताम्बर कवि गोविन्द और उनके सनत्कुमार चरित का उल्लेख किया है (सणकुमार जे विरइउ मणहरु, कइ-गोविंदु पवरु सेयंबरु)। अपने विषय वर्णन के लिये कवि ने जिनसेन कृत हरिवंश पुराण का आश्रय लिया है, और इस ऋण का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है (जह जिणसेणेण कय, तह विरयमि किं पि उद्देसं)। सधियो की सख्या संस्कृत हरिवंश से दुगुनी से कुछ कम है; किन्तु निर्दिष्ट प्रमाण ठीक ड्योढा है; क्योंकि संस्कृत हरिवंश का प्रमाण १२ हजार श्लोक और इसका १८००० आंका गया है। अधिक विस्तार वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा हुआ प्रतीत होता है। अपभ्रंश काव्य परम्परा-नुसार काव्य गुणों की भी इस ग्रन्थ मे अपनी विशेषता है। छंद-वैचित्र्य भी बहुता-यत से पाया जाता है।

अपभ्रंश में और भी अनेक कवियो द्वारा हरिवश पुराण की रचना की गई है। ऊपर स्वयम्भू कृत हरिवंश पुराण के परिचय मे कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ की अन्तिम सधियो मे यशःकीर्ति द्वारा भी कुछ सवर्द्धन किया गया है। यशःकीर्ति कृत एक स्वतत्र **हरिवंशपुराण** भी वि० संवत् १५०० या १५२० में रचित पाया जाता है। यह योगिनीपुर (दिल्ली) मे अग्रवाल वंशी व गर्गगोत्री दिउढा साहू की प्रेरणा से लिखा गया था। यह ग्रन्थ १३ संधियो या सर्गों मे समाप्त हुआ है। कथानक का आधार जिनसेन व स्वयंभू तथा पुष्पदंत की कृतिया प्रतीत होती हैं। एक और हरिवंश पुराण श्रुतिकीर्ति कृत मिला है; जो वि० सं० १ ५५३ मे पूर्ण हुआ है। इसमे ४४ संधियों द्वारा पूर्वोक्त कथा-वर्णन पाया जाता ।

जिस प्रकार प्राकृत मे 'चउपन्न-महापुरुषचरित' की तथा संस्कृत में त्रेसठ शलाका पुरुष चरितों की रचना हुई, उसी प्रकार अपभ्रश में महाकवि पुष्पदंत द्वारा **'तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार'** महापुराण की रचना पाई जाती है। इसकी रचना शक सं० ८८१ सिद्धार्थ संवत्सर से प्रारम्भ कर, ८८७ क्रोधन संवत्सर तक ६ वर्ष में पूर्ण हुई थी। उस समय मान्यखेटमे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (तृतीय) का राज्य था। उन्ही के मंत्री

भरत की प्रेरणा से कवि ने इस रचना में हाथ लगाया था। महापुराण की एक संधिके प्रारम्भ में कवि ने मान्यखेट पुरी को धारानाथ द्वारा जलाये जाने का उल्लेख किया है। धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' के अनुसार धारानगरी धाराधीश हर्षदेव द्वारा वि० सं० १०२९ में लूटी और जलाई गई थी। इसप्रकार इस दुर्घटना का काल महापुराण की समाप्ति के छह-सात वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। अतएव अनुमानतः संधि के प्रारम्भ में उक्त संस्कृत श्लोक ग्रन्थ-रचना के पश्चात् निबद्ध किया गया होगा। इस ग्रन्थ में तथा अपनी अन्य रचनाओं में कवि ने बहुत कुछ अपना वैयक्तिक परिचय भी दिया है, जिसके अनुसार उनके पिता का नाम केशव और माता का मुग्धा देवी था, जो प्रारम्भ में शैव थे, किन्तु पीछे जैन धर्मावलम्बी हो गये थे। कवि कहीं अन्यत्र से भटकते हुए मान्यखेट पहुचे, और वहा भरत ने उन्हे आश्रय देकर काव्य-रचना के लिये प्रेरित किया। वे शरीर से कृश और कुरूप थे; किन्तु उनकी कव्व-पिसल्ल (काव्य पिशाच) कवि कुल-तिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वती-निलय आदि उपधियां उनकी काव्य-प्रतिभा की परिचायक है, जो उनकी रचना के सौन्दर्य और सौष्ठव को देखते हुए सार्थक सिद्ध होती है। समस्त महापुराण १०२ संधियो मे पूर्ण हुआ है। प्रथम ३७ सधियो का कथाभाग उतना ही है, जितना सस्कृत आदिपुराण का; अर्थात् प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का जीवन-चरित्र। शेष सधियों मे उत्तरपुराण के समान अन्य शलाका पुरुषों का जीवनचरित्र वर्णित है। संधि ६९ से ७९ तक की ११ सधियो मे राम की कथा आई है, जिसमे उत्तरपुराण मे वर्णित कथा का अनुसरण किया गया है। किन्तु यहा आदि मे गौतम द्वारा रामायण के विषय मे वे ही शकाए उठाई गई है, जो प्राकृत पउमचरियं व संस्कृत पद्मपुराण, तथा स्वयंभूकृत पउमचरिउ मे पाई जाती है। सधि ८१ मे ९२ तक की १२ सधियो मे कृष्ण और नेमिनाथ एव कौरव-पाडवो का वृत्तान्त संस्कृत हरिवंश पुराण के अनुसार वर्णित है। किन्तु यह समस्त वर्णन कवि की असाधारण काव्य-प्रतिभा द्वारा बहुत ही सुन्दर, रोचक और मौलिक बन गया है। इसमे आये हुए नगरो, पर्वतों, नदियो, ऋतुओ, सूर्य चन्द्र के अस्त व उदय, युद्धो, विवाहो, वियोग के विलापो, विवाहादि उत्सव एव शृंगारादि रसों के वर्णन किसी भी सस्कृत व प्राकृत के उत्कृष्टतम काव्य से हीन नही उतरते। कवि ने स्वयं एक सस्कृत पद्य द्वारा अपनी इस रचना के गुण प्रगट किये हैं, वे कहते हैं—

> अत्र प्राकृत-लक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसा-
> मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः ॥

किंचान्यत्रविहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते ।
द्वावेतौ भरतेशपुण्यपुरुषौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

यहां कवि ने जो यह दावा किया है कि अन्यत्र ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो इस जैन चरित्र में न आ गई हो, वह उनके विषय और काव्य की सीमाओं को देखते हुए प्रसिद्ध प्रतीत नहीं होता है।

अपभ्रंश में तीर्थंकर-चरित्र—

पुष्पदंत कृत महापुराण के पश्चात् संस्कृत के समान अपभ्रंश में भी विविध तीर्थंकरों के चरित्र पर स्वतन्त्र काव्य लिखे गये। **'चंदप्पह-चरिउ'** यशःकीर्ति द्वारा हूंमड कुल के सिद्धपाल की प्रार्थना से ११ संधियों में रचा गया है। ये यशःकीर्ति वे ही हैं, जिनके हरिवंशपुराण का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। अतएव इसका रचना काल भी वही १५ वीं शती ई० है। **'संतिनाह-चरिउ'** की रचना महीचन्द्र द्वारा वि० सं० १५८७ में योगिनीपुर (दिल्ली) में बाबर बादशाह के राज्यकाल में हुई। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा में माथुर संघ, पुष्करगण के यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रसूरि का उल्लेख किया है; तथा अग्रवाल वंश के गर्ग-गोत्रीय भोजराज के पौत्र, व ज्ञानचन्द्र के पुत्र 'साधारण' के कुल का विस्तार से वर्णन किया है। **णेमिणाह चरिउ** की रचना हरिभद्र ने वि० १२१६ में की। इसका अभीतक केवल एक अंश **'सनत्कुमार चरित'** सुसंपादित होकर प्रकाश में आया है। एक और **णेमिणाह-चरिउ** लखमदेव (लक्ष्मणदेव) कृत पाया जाता है, जिसमें चार संधियां व ८३ कडवक हैं। कवि ने प्रारम्भ में अपने निवास-स्थान मालव देश व गोनंद नगर का वर्णन, और अपने पुरवाड वंश का उल्लेख किया है। रचनाकाल का निश्चय नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१० की मिली है, जिससे उसके रचनाकाल की उत्तरावधि सुनिश्चित हो जाती है। **पासणाह-चरिउ** की रचना पद्मकीर्ति ने वि० सं० ९९२ में १८ संधियों में पूर्ण की थी। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा में सेन संघ के चन्द्रसेन, माधवसेन और जिनसेन का उल्लेख किया है। दूसरा **पासणाह-चरिउ** १२ संधियों में कवि श्रीधर द्वारा वि०सं० ११८९ में रचा गया है। कवि के पिता का नाम गोल्ल और माता का नाम बील्हा था। वे हरियाणा से चलकर जमना पार दिल्ली आये; और वहां अग्रवाल वंशी नट्टल साहू की प्रेरणा से उन्होंने यह रचना की। तीसरा **पासणाह-चरिउ** कवि असवाल कृत पाया जाता है, जो १३ संधियों में समाप्त हुआ है। संधि के अन्त में उल्लेख मिलता है कि यह ग्रन्थ संघाधिप सोनी (सोणिग?)

के कर्णाभरणरूप अर्थात् उनकी प्रेरणा से उन्हें सुनाने के लिये रचा गया था। इसका रचनाकाल अनुमानतः १५ वी शती या उसके आसपास होगा। अंतिम तीर्थंकर पर जयमित्र हल्ल कृत **वड्ढमाण-कव्वु** मिलता है, जिसमें ११ संधियां हैं। यह काव्य देवराय के पुत्र संघाधिप होलिवर्म के लिये लिखा गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५४५ की मिली है; अतएव ग्रन्थ इससे पूर्व रचा गया है। इस काव्य की अंतिम ६ संधियों मे राजा श्रेणिक का चरित्र वर्णित है, जो अपने रूप मे पूर्ण है; और पृथक् रूप से भी मिलता है। रयधू-कृत **सम्मइणाह-चरिउ** दस सधियों में समाप्त हुआ है। इसमें कवि ने अपने गुरु का नाम यशःकीर्ति प्रकट किया है; अतएव इसका रचनाकाल वि० सं० १५०० के आसपास होना चाहिए। नरसेन कृत **वड्ढमाणकहा** वि० सं० १५१२ के लगभग लिखी गई है। जैन ग्रथावली में जिनेश्वर सूरि के शिष्य द्वारा रचित अपभ्रंश महावीर-चरित का उल्लेख है।

अपभ्रंश चरितकाव्य—

तीर्थंकरो के चरित्रों के अतिरिक्त अपभ्रंश में जो अन्य चरित्र काव्य की रीति से लिखे गये, वे निम्नप्रकार है :—

'तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार' के महाकवि पुष्यदन्त कृत अन्य रचनाएं हैं— **जसहर-चरिउ और णायकुमार-चरिउ।** यशोधर का चरित्र जैन साहित्य में हिंसा के दोष और अहिसा का प्रभाव दिखलाने के लिये बडा लोकप्रिय हुआ है, और उस पर संस्कृत मे सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू से लगाकर, १७वी शती तक लगभग ३० ग्रन्थ रचे गये पाये जाते है। इनमे काव्यकला की दृष्टि से संस्कृत में सोमदेव की कृति और अपभ्रंश में पुष्पदत कृत जसहर चरिउ सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दोनो रचनाएं १० वी शताब्दी में पाच-सात वर्ष के अन्तर से प्रायः एक ही समय की हैं। जसहरचरिउ चार संधियों में विभाजित है। यौधेय देश की राजधानी राजपुर मे मारिदत्त राजा की एक कापालिकाचार्य भैरवानंद से भेंट हुई; और उनके आदेशानुसार आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने के लिये राजा ने नरबलि यज्ञ का आयोजन किया। इसके लिये राजा के सेवक जैन मुनि सुदत्त के शिष्य अभयरुचि और उसकी बहन अभयमती को पकड़ लाये। राजा ने उनके रूप से प्रभावित होकर उनका वृत्तान्त पूछा। इस पर अभयरुचि ने अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया:— अवन्ती देश में उज्जैनी के राजा यशोबंधुर का पौत्र व यशोर्ह का पुत्र मैं यशोधर नामका राजा था (१ सं०)। यशोधर ने अपनी रानी अमृतमति को एक कुबड़े से व्यभिचार करते देखा,

और विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेने का विचार किया; किन्तु उसकी मां ने उसे रोका। अमृतमति ने दोनों को बिष देकर मार डाला। तत्पश्चात् मां-बेटों ने नाना पशु-योनियों में परिभ्रमण किया; जिनमें स्वयं उसके पुत्र जसवइ व व्यभिचारिणी पत्नी ने उनका घात किया (२ सं०)। अनेक पशुयोनियों मे दुःखभोग कर अन्त में वे दोनों जसवइ के पुत्र और पुत्री रूप से उत्पन्न हुए। एक बार जसवइ आखेट करने वन में गया था, वहां उसे सुदत्त मुनि के दर्शन हुए, और उसने उन पर अपने कुत्ते छोड़े। किन्तु मुनि के प्रभाव से कुत्ते उनके सम्मुख विनीतभाव से नमन करने लगे। एक सेठ ने राजा को मुनि का माहात्म्य समझाया, तब राजा को सम्बोधन हुआ। मुनि को अवधिज्ञानी जान राजा ने उनसे अपने पूर्वभूत माता-पिता व मातामही का वृत्तान्त पूछा। मुनि ने उनके भव-भ्रमण का सब वृत्तान्त सुनाकर बतला दिया कि उसका पिता और उसकी मातामही ही अब अभयरुचि और अभयमति के रूप मे उसके पुत्र-पुत्री हुए हैं (३ सं०)। यह वृत्तान्त सुनकर और संसार की विचित्रता एवं असारता को समझकर जसवइ ने दीक्षा ले ली। उसके पुत्र-पुत्रियो को भी अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया; और वे क्षुल्लक के व्रत लेकर सुदत्त मुनि के साथ विहार करते हुए मारिदत्त के राजपुरुषो द्वारा पकड कर वहा लाये गये। यह वृत्तान्त सुनकर राजा मारिदत्त, उनकी देवी चंडमारी व पुरोहित भैरवानद आदि सभी को वैराग्य हो गया; और उन्होंने सुदत्त मुनि से दीक्षा ले ली (सं० ४)। इस कथानक को पुष्पदंत ने बड़े काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। (कारंजा, १६३२)

णायकुमार-चरिउ में पुष्पदंत ने श्रुत-पंचमी कथा के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र ६ संधियों में वर्णन किया है। मगधदेश के कनकपुर नगर मे राजा जयंधर और रानी विशालनेत्रा के श्रीधर नामक पुत्र हुआ। पश्चात् राजा ने सौराष्ट्र देश मे गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र देख, और उस पर मोहित हो, उसे भी विवाह लिया (सं० १)। यथासमय पृथ्वीदेवी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जो शैशव में जिनमंदिर की वापिका में गिर पड़ा। वहां नागो ने उसकी रक्षा की; और उसीसे उसका नाम नागकुमार रखा गया (स० २)। नागकुमार नाना विद्याएं सीखकर यौवन को प्राप्त हुआ। उस पर मनोहरी और किन्नरी नामक नर्तकियां मोहित हो गईं; और उसने उन्हें विवाह लिया। उसकी माता और विमाता मे विद्वेष बढ़ा; और उसका सौतेला भाई श्रीधर भी उससे द्वेष करके उसे मरवा डालने का प्रयत्न करने लगा। इसीसमय एक मदोन्मत्त हाथी के आक्रमण से समस्त नगर व्याकुल हो उठा। श्रीधर उसे दमन

करने में असफल रहा; किन्तु नागकुमार ने अपने पराक्रम द्वारा उसे वश में कर लिया। इससे दोनो का विद्वेष और अधिक बढ़ा (सं० ३)। नागकुमार के पराक्रम की ख्याति बढी, और मथुरा का राजकुमार व्याल एक भविष्य वाणी सुनकर उसका अनुचर बन गया। श्रीधर ने अब नागकुमार को अपना परमशत्रु समझ मार डालने की चेष्टा की। पिता ने सकट-निवारणार्थ नागकुमार को कुछ काल के लिये देशान्तर गमन का आदेश दे दिया (स० ४)। नागकुमार राजधानी से निकलकर मथुरा पहुंचा, जहां उसने कान्यकुब्ज के राजा विनयपाल की कन्या शीलवती को वदीगृह से छुड़ाकर उसके पिता के पास भिजवा दिया। यहा से चलकर वह काश्मीर गया, जहा उसने राजा नद की पुत्री त्रिभुवनरति को वीणावाद्य मे पराजित करके विवाहा। यहा से वह रम्यक वन मे गया, और वहा कालगुफावासी भीमासुर ने उसका स्वागत किया (स० ५)। अपने पथ-प्रदर्शक शबर की सहायता से वह काचन गुफा मे पहुंचा, जहा उसने नाना विद्याए प्राप्त की, व काल-बैतालगुफा से राजा जितशत्रु द्वारा सचित विशाल धनराशि प्राप्त की। तत्पश्चात् उसकी भेट गिरिशिखर के राजा वनराज से हुई, जिसकी पुत्री लक्ष्मीमति से उसने विवाह किया। यहा मुनि श्रुतिधर से उसने सुना कि वनराज किरात नही, किन्तु पुण्ड्वर्द्धन के राजवश का है; जहा से तीन पीढी पूर्व उसके पूर्वजो को उनके एक दायाद ने निकाल भगाया था। नागकुमार के आदेश से व्याल पुण्ड्वर्द्धन गया, और वनराज पुन. वहा का राजा बना दिया गया (स० ६)। तत्पश्चात् नागकुमार ऊर्जयन्त पर्वत की ओर गया। बीच में गिरिनगर पर सिंध के राजा चडप्रद्योत के आक्रमण का समाचार पाकर वहा गया, और वहा उसने अपने मामा की शत्रु से रक्षा की, एव उसकी पुत्री गुणवती से विवाह किया। वहा से निकलकर उसने अलघनगर के अत्याचारी राजा सुकंठ का वध किया, और उसकी पुत्री रूक्मिणी को विवाहा। वहा से चलकर वह गजपुर आया, और वहा राजा अभिचन्द्र की पुत्री चन्द्रा से विवाह किया (स० ७)। महा व्याल के द्वारा उज्जैन की अद्वितीय राजकन्या का समाचार पाकर नागकुमार वहाँ आया, और उस राजकन्या से विवाह किया। वहा से वह फिर किष्किन्धमलय को गया, जहा मृदग वाद्य मे राजकन्या को पराजित कर विवाहा। वहा से वह तोयावली द्वीप को गया, और अपनी विद्याओ की सहायता से वहां की बदिनी कन्याओ को छुड़ाया (सं० ८)। पाड्य देश से निकलकर नागकुमार आन्ध्रदेश के दन्तीपुर में आया और वहाँ की राजकन्या से विवाह किया। फिर उसकी भेंट मुनि पिहिताश्रव से हुई जिनके मुख से उसने अपने व अपनी प्रिय पत्नी लक्ष्मीमति के पूर्वभव की कथा तथा

श्रुतपंचमी व्रत के उपवास के फल का वर्णन सुना। इसी समय उसके पिता का मंत्री नयंधर उसे लेने आया। उसके भ्राता श्रीधर ने दीक्षा ले ली थी। माता-पिता भी नागकुमार को राजा बनाकर दीक्षित हो गये। नागकुमार ने दीर्घकाल तक राज्य किया। अन्त मे अपने पुत्र देवकुमार को राज्य देकर उसने व्याल आदि सुभटों सहित दिगम्बरी दीक्षा ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया (सं० ६)। पुष्पदंत ने इस जटिल कथानक को नाना वर्णनों, विविध छंद-प्रयोगों एवं रसों और भावो के चित्रणों सहित अत्यन्त रोचक बनाकर उपस्थित किया है। (कारंजा, १६३३)

भविसयत्त-कहा (भविष्यदत्त कथा) के कर्त्ता धनपाल वैश्य जाति के धक्कड वंश मे उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम माएसर (महेश्वर ?) और माता का नाम धनश्री था। इनके समय का निश्चय नही, किन्तु दसवीं शती अनुमान किया जाता है। यह कथा २२ संधियो मे विभाजित है। चरित्रनायक भविष्यदत्त एक वणिक् पुत्र है। वह अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के साथ व्यापार हेतु परदेश जाता है, धन कमाता है, और विवाह भी कर लेता है। किन्तु उसका सौतेला भाई उसे बार-बार धोखा देकर दुःख पहुचाता है, यहा तक कि उसे एक द्वीप मे अकेला छोड़कर उसकी पत्नी के साथ घर लौट आता है, और उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु इसी बीच भविष्यदत्त भी एक यक्ष की सहायता से घर लौट आता है, अपना अधिकार प्राप्त करता, और राजा को प्रसन्न कर राजकन्या से विवाह करता है। अन्त में मुनि के द्वारा धर्मोपदेश व अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर, विरक्त हो, पुत्र को राज्य दे, मुनि हो जाता है। यह कथानक भी श्रुतपचमी व्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिये लिखा गया है। ग्रन्थ के अनेक प्रकरण बडे सुन्दर और रोचक हैं। बालक्रीड़ा, समुद्र-यात्रा, नौका-भग, उजाड नगर, विमान-यात्रा, आदि वर्णन पढ़ने योग्य हैं। कवि के समय मे विमान हो या न हों, किन्तु उसने विमान का वर्णन बहुत सजीव रूप में किया है। (गायकवाड़ ओरि. सीरीज, बड़ौदा)

करकंडचरिउ के कर्त्ता मुनि कनकामर ने अपना स्वयं परिचय दिया है कि वे द्विजवंशी व चन्द्रर्षि गोत्रीय थे। वे वैराग्य से दिगम्बर हो गये थे, उनके गुरु का नाम बुध मगलदेव था, तथा उन्होंने आसाई नगरी में एक राजमंत्री के अनुराग से यह चरित्र लिखा। राजमंत्री के विषय में उन्होंने यह भी कहा है कि वह विजयपाल नराधिप का स्नेहभाजन, नृपभूपाल या निजभूपाल का मनमोहक व कर्णनरेन्द्र का आशयरंजक था, उसके आहुल, रल्हु और राहुल, ये तीन पुत्र भी मुनिके चरणोंके भक्त थे। सम्भवतः मुनि द्वारा उल्लिखित कर्ण उस नामका कलचुरि वंशीय राजा व विजयपाल

उसका सम-सामयिक चंदेल वंशीय राजा था । तदनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल १०५० ई० के लगभग सिद्ध होता है । कवि ने जो स्वयम्भू और पुष्पदंत का उल्लेख किया है, उससे उनका ई० सन् ६६५ के पश्चात् होना निश्चित है । यह रचना १० संधियों मे पूर्ण हुई है । कथानायक करकंड जैन व बौद्ध परम्परा मे एक प्रत्येकबुद्ध माने गये हैं । वे अंग देश मे चंपानगरी के राजा धाड़ीवाहन और रानी पद्मावती के पुत्र थे, किन्तु एक दुष्ट हाथी द्वारा रानी के अपहरण के कारण उनका जन्म दंतीपुर के समीप श्मशान-भूमि मे हुआ था । उसका परिपालन व शिक्षण एक मातंग के द्वारा हुआ । दन्तीपुर के राजा के मरने पर दैवयोग से वह वहा का राजा बनाया गया । चपा से राजा धाडीवाहन ने उसके पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा, जिसे ठुकरा कर उसने चंपापुर पर आक्रमण किया । पिता-पुत्र के बीच जब घमासान युद्ध हो रहा था, तब उसकी माता पद्मावती ने प्रकट होकर युद्ध का निवारण और पिता-पुत्र की पहचान कराई । अब करकंडू चपापुर का राजा बन गया । उसने दक्षिण के चोड, चेर व पाड्य देशो की विजय के लिये यात्रा की । मार्ग में तेरापुर के समीप की पहाड़ी पर एक प्राचीन जैन गुफा का पता लगाया व एक दो नये लयण बनवाये । फिर उन्होने सिंहल द्वीप तक विजय की, और नाना राजकुमारियो से विवाह किया । अंत मे शीलगुप्त मुनि से धर्म श्रवण कर, तपस्या धारण की, और मोक्ष प्राप्त किया । इस कथानक मे अनेक छोटी-छोटी उपकथाए करकंडु के शिक्षण के लिये मातग द्वारा सुनाई गई है । तीन अवान्तर कथाए इतनी बड़ी बड़ी हैं कि वे पूर्ण एक एक संधि को घेरे हुए है । पाचवी संधि मे तेरापुर की प्राचीन गुफा बनने व पहाडी पर जिनमूर्ति के स्थापित किये जाने का वृत्तान्त है । छठी संधि में करकंड की प्रिय पत्नी मदनावली का एक दुष्ट हाथी द्वारा अपहरण होने पर उनकी वियोग-पीड़ा के निवारणार्थ राजा नरवाहनदत्त का आख्यान कहा गया है, एवं आठवी सधि मे करकंड की पत्नी रतिवेगा को उसके पतिवियोग मे संबोधन के लिये देवी द्वारा अरिदमन और रत्नलेखा के वियोग और पुनर्मिलन का आख्यान सुनाया गया है । ग्रन्थ में श्मशान का, गगानदी का, प्राचीन जिनमूर्ति के भूमि से निकलने का एवं रतिवेगा के विलाप आदि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है । (कारंजा,१९३४)

पउमसिरि-चरिउ (पद्मश्री चरित) के कर्ता धाहिल ने अपने विषय में इतना बतलाया है कि उनके पिता का नाम पार्श्व व माता का महासती सूराई (सूरादेवी?) था, और वे शिशुपाल काव्य के कर्ता माघ के वंश में उत्पन्न हुए थे । समय का निश्चय नही, किन्तु इस कृति की जो एक प्राचीन प्रति वि० सं० ११९१ की मिली है, उससे

इस रचना की उत्तरावधि भी निश्चित हो जाती है। यह रचना चार संधियों में पूर्ण हुई है। नायिका पदमश्री अपने पूर्व जन्म में एक सेठ की पुत्री थी, जो बाल विधवा होकर अपना जीवन अपने दो भाइयों और उनकी पत्नियो के बीच एक ओर ईर्ष्या और सन्ताप, तथा दूसरी ओर धर्मसाधना में बिताती रही। दूसरे जन्म मे पूर्व पुण्य के फल से वह राजकुमारी हुई। किन्तु जो पापकर्म शेष रहा था, उसके फलस्वरूप उसे पति द्वारा परित्याग का दुख भोगना पड़ा। तथापि संयम और तपस्या के बल से अन्त मे उसने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया। काव्य में देशों व नगरों का वर्णन, हृदय की दाह का चित्रण, सन्ध्या व चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णन बहुत सुन्दर हैं। (सिंघी जैन सीरीज, बम्बई)

सणकुमार-चरिउ (सनत्कुमार चरित) के कर्ता हरिभद्र श्रीचन्द्र के शिष्य व जिनचन्द्र के प्रशिष्य थे, और उन्होने अपने णेमिणाह-चरिउ की रचना वि० सं० १२१६ मे समाप्त की थी। प्रस्तुत रचना उसी के ४४३ से ७८५ तक के ३४३ रड्डा छंदात्मक पद्यो का काव्य है, जो पृथक्रूप से सुसंपादित और प्रकाशित हुआ है। कथा-नायक सनत्कुमार गजपुर नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। वे एक बार मदनोत्सव के समय वेगवान् अश्व पर सवार होकर विदेश मे जा भटके। राजधानी में हाहाकार मच गया। उनके मित्र खोज मे निकले और मानसरोवर पर पहुंचे। वहा एक किन्नरी के मुख से अपने मित्र का गुणगान सुनकर उन्होने उनका पता लगा लिया। इसी बीच सनत्कुमार ने अनेक सुन्दर कन्याओं से विवाह कर लिया था। मित्र के मुख से माता पिता के शोक-संताप का समाचार पाकर वे गजपुर लौट आये। पिता ने उन्हें राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। सनत्कुमार ने अपने पराक्रम और विजय द्वारा चक्रवर्तीपद प्राप्त किया व अन्त में तपस्या धारण कर ली। इसी सामान्य कथानक को कर्ता ने अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा खूब चमकाया है। यहां ऋतुओं आदि का वर्णन बहुत अच्छा हुआ है। (डॉ. जैकोबी द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, जर्मनी)

इन प्रकाशित चरित्रो के अतिरिक्त अनेक अपभ्रंश चरित ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में नाना जैन शास्त्रभंडारों मे सुरक्षित पाये जाते हैं, और संपादन प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं। इनमे कुछ विशेष रचनाएं इसप्रकार हैं। वीर कृत **जंबूस्वामि-चरिउ** (वि० सं० १०७६), नयनंदि कृत **'सुदंसण-चरिउ'** (वि सं० ११००), श्रीधर कृत **सुकुमाल-चरिउ** (वि० सं० १२०८), देवसेन गणि कृत **सुलोचना-चरित**, सिंह (या सिद्ध) कृत **पज्जुण्ण-चरिउ** (१२वी-१३वीशती), लक्ष्मणकृत **जिनदत्त-चरिउ** (वि० सं० १२७५), धनपाल कृत **बाहुबलि-चरिउ** (वि० सं० १४५४), रयधू कृत

सुकोसल-चरिउ, धनकुमार-चरिउ, मेहेसर-चरिउ और **श्रीपाल-चरिउ** (१५ वी शती), नरसेन कृत **सिरिवाल-चरिउ** (व० सं० १५७६) व **णायकुमार च०** (वि०सं० १५७९), तथा भगवतीदास कृत **ससिलेहा** या **मृगांकलेखा-चरिउ** (वि० सं० १७००) उल्लेखनीय हैं। हरिदेव कृत **मयण-पराजय** और जिनप्रभसूरि कृत **मोहराज-विजय** ऐसी कविताएं हैं, जिनमें तप, संयम आदि भावो को मूर्तिमान् पात्रो का रूप देकर मोहराज और जिनराज के बीच युद्ध का चित्रण किया गया है।

अपभ्रंश लघुकथाए—

जैसा पहले कहा जा चुका है, ये चरित्र-काव्य किसी न किसी जैन व्रत के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं। इसी उद्देश्य से अनेक लघु कथाएं भी लिखी गई हैं। विशेष लघुकथा-लेखक और उनकी रचनाए ये हैं:—नयनदि कृत **'सकलविधिविधानकहा'** (वि० स० ११००), श्रीचन्द्र कृत **कथाकोष** और **रत्नकरंड-शास्त्र** (वि० सं० ११२३), अमरकीर्ति कृत **छक्कम्मोवएसु** (वि० स० १२४७), लक्ष्मण कृत **अणुवय-रयण-पईउ** (वि० स० १३१३), तथा रयधू कृत **पुण्णासवकहाकोसो** (१५ वी शती)। इनके अतिरिक्त अनेक व्रतकथाए स्फुट रूप से भी मिलती हैं: जैसे बालचन्द्र कृत **सुगंधदहमीकहा** एव **णिद्दहसत्तमीकहा**, विनयचन्द्र कृत **णिज्झरपंचमी कहा**, यशःकीर्ति कृत **जिणरत्तिविहाणकहा** व **रविवतकहा**, तथा अमरकीर्ति कृत **पुरंदरविहाणकहा**, इत्यादि। इनमे से कुछ, जैसे विनयचन्द्र कृत णिज्झर-पचमी-कहा, अपभ्रंश मे गीतिकाव्य के बहुत सरस और सुन्दर उदाहरण है।

एक अन्य प्रकार की अपभ्रंश कथाए भी उल्लेखनीय है। हरिभद्र ने प्राकृत मे **धूर्ताख्यान** नामसे जो कथाए लिखी है, उनमे अनेक पौराणिक अतिरंजित बातो पर व्यंगात्मक आख्यान लिखे हैं। इसके अनुकरण पर अपभ्रंश मे हरिषेण ने **धम्मपरिक्खा** नामक ग्रन्थ ११ सधियो मे लिखा है, जिसकी रचना वि० सं० १०४४ मे हुई है। इसी के अनुसार श्रुतकीर्ति ने भी **धम्मपरिक्खा** नामक रचना १५ वी शती मे की।

प्रथमानुयोग-सस्कृत—

जिसप्रकार प्राकृत मे कथात्मक साहित्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है, उसीप्रकार संस्कृत मे भी पाया जाता है। रविषेण कृत **पद्मचरित** की रचना स्वयं ग्रन्थ के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण के १२०३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् ६७६ मे हुई। यह ग्रन्थ विमलसूरि कृत 'पउमचरियं' को सम्मुख रखकर रचा गया प्रतीत होता

है। इसकी रचना प्रायः अनुष्टुप् श्लोकों में हुई है। विषय और वर्णन प्रायः ज्यों का त्यों अध्याय-प्रतिअध्याय और बहुतायत से पद्य-प्रतिपद्य मिलता जाता है। हां, वर्णन-विस्तार कहीं कहीं पद्मचरित में अधिक दिखाई देता है, जिससे उसका प्रमाण प्राकृत पउमचरियं से ड्यौढ़े से भी अधिक हो गया है। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

पद्मचरित के पश्चात् संस्कृत मे दूसरी पौराणिक रचना जिनसेन कृत **हरिवंश पुराण** है, जो शक सं० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ में समाप्त हुई थी, जबकि उत्तर भारत मे इन्द्रायुध, दक्षिण मे कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व मे अवन्ति नृप तथा पश्चिम मे वत्सराज, एवं सौरमंडल में वीरवराह राजाओं का राज्य था। इसमें ६६ सर्ग हैं, जिनका कुल प्रमाण १२००० श्लोक है। यहा भी सामन्यतः अनुष्टुप छंद का प्रयोग हुआ है। किन्तु कुछ सर्गों के अन्त मे द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शार्दूल-विक्रीडित आदि छंदो का प्रयोग भी हुआ है। ग्रन्थ का मुख्य विषय हरिवंश में उत्पन्न हुए २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करना है। किन्तु इसके प्रस्तावना रूप से ग्रन्थमे अन्य सभी शलाका पुरुषो का कीर्तन किया गया है, तथा त्रैलोक्य व जीवादि द्रव्यों का वर्णन भी आया है। हरिवश की एक शाखा यादवो की थी। इस वंश मे शौरीपुर के एक राजा वसुदेव की रोहिणी और देवकी नामक दो पत्नियों से क्रमशः बलदेव और कृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव के भ्राता समुद्रविजय की शिवा नामक भार्या ने अरिष्टनेमि को जन्म दिया। युवक होने पर इनका विवाह-सम्बन्ध राजीमती नामक कन्या से निश्चित हुआ। विवाह के समय यादवों के मास भोजन के लिये एकत्र किये गये पशुओं को देखकर करुणा से नेमिनाथ का हृदय विह्वल और संसार से विरक्त हो गया, और बिना विवाह कराये ही उन्होने प्रवृज्या धारण कर ली। ये ही केवलज्ञान प्राप्त करके २२ वे तीर्थंकर हुए। प्रसगवश कौरवो और पाण्डवों का, तथा बलराम और कृष्ण के वंशजों का भी वृत्तान्त आया है। ग्रंथ में वसुदेव के भ्रमण का वृत्तान्त विस्तार से आया है, जो वसुदेव-हिडी का स्मरण कराता है। किन्तु नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन इससे पूर्व अन्यत्र कही स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप मे दिखाई नही देता। उत्तरा-ध्ययन सूत्र के 'रहनेमिज्जं' नामक २२ वें अध्ययन में अवश्य यह चरित्र वर्णित पाया जाता है, किन्तु वह अति संक्षिप्त केवल ४९ गाथाओं मे है। विमलसूरि कृत पउमचरियं के परिचय मे ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवतः उसी ग्रंथकार की एक रचना 'हरिवंश चरित्र' भी थी, जो अब अप्राप्य है। यदि वह रही हो तो प्रस्तुत रचना उस पर आधारित अनुमान की जा सकती है। ग्रंथ में जो चारुदत्त और वसन्तसेना का

वृत्तान्त विस्तार से आया है, आश्चर्य नहीं, वही मृच्छकटिक नाटक का आधार रहा हो। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

सकलकीर्ति (वि० सं० १४५०-१५१०) कृत **हरिवंश पुराण** ३९ सर्गों में समाप्त हुआ है। इसके १५ से अन्त तक के सर्ग उनके शिष्य जिनदास द्वारा लिखे गये हैं। इसमें रविषेण और जिनसेन का उल्लेख है, और उन्ही की कृतियों के आधार से यह ग्रंथ-रचना हुई प्रतीत होती है। शुभचन्द्र कृत **पाण्डवपुराण** (१५५१ ई०) जैन महाभारत भी कहलाता है, और उसमे जिनसेन व गुणभद्र कृत पुराणो के आधार से कथा वर्णन की गई है।

मलधारी देवप्रभसूरि कृत **पाण्डव-चरित्र** (ई० १२०० के लगभग) मे १८ सर्ग हैं, और उनमे महाभारत के १८ पर्वो का कथानक सक्षेप मे वर्णित है। छठे सर्ग मे द्यूत-क्रीडा का वर्णन है, और यहा विदुर द्वारा द्यूत के दुष्परिणाम के उदाहरण रूप नल-कूबर (नल-दमयन्ती) की कथा कही गई है। कूबर नल का भाई था। १६ वे सर्ग मे अरिष्टनेमि तीर्थकर का चरित्र आया है, और १८वे मे उनके व पाण्डवो के निर्वाण तथा बलदेव के स्वर्ग-गमन का वृत्तान्त है। इस पुराण का गद्यात्मक रूपान्तर राजविजय सूरि के शिष्य देवविजय गणी (१६०३ ई०) कृत पाया जाता है। इसमे यत्र-तत्र देवप्रभ की कृति से तथा अन्यत्र से कुछ पद्य भी उद्धत किये गये हैं।

सस्कृत मे तीसरी महत्वपूर्ण पौराणिक रचना **महापुराण** है। इसके दो भाग हैं—एक **आदिपुराण** और दूसरा **उत्तरपुराण**। आदिपुराण मे ४७ पर्व या अध्याय हैं, जो समस्त १२००० श्लोक प्रमाण है। इनमे के ४२ पर्व और ४३ वे पर्व का कुछ भाग जिनसेन कृत है, और शेष आदि पुराण तथा उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र द्वारा की गई है। यह समस्त रचना शक सवत् ८२० से पूर्व समाप्त हो चुकी थी। आदिपुराण की उत्थानिका मे पूर्वगामी सिद्धसेन,समन्तभद्र, श्रीदत्त, प्रभाचन्द्र, शिवकोटि, जटाचार्य, काणभिक्षु, देव (देवनंदि पूज्यपाद) भट्टाकलक, श्रीपाल, पात्रकेसरि, वादीभसिह, वीरसेन, जयसेन और कवि परमेश्वर, इन आचार्यों की स्तुति की गई है। गुणाढ्य कृत वृहत्कथा का भी उल्लेख आया है। आदिपुराण पूरा ही प्रथम तीर्थंकर आदि-नाथ के चरित्र-वर्णन में ही समाप्त हो गया है। इसमे समस्त वर्णन बड़े विस्तार से हुए हैं, तथा भाषा और शैली के सौष्ठव एवं अलकारादि काव्य गुणों से परिपूर्ण है। जैनधर्म सबंधी प्रायः समस्त जानकारी यहा निबद्ध कर दी गई है, जिसके कारण ग्रंथ एक ज्ञानकोष ही बन गया है। शेष तेईस तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषो का चरित्र उत्तरपुराण मे अपेक्षाकृत संक्षेप से वर्णित है। इस प्रकार सर्वप्रथम

इस ग्रंथ में त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र विधिवत् एक साथ वर्णित पाया जाता है। उत्तर पुराण के ६८ वें पर्व में राम का चरित्र आया है, जो विमलसूरि कृत पउमचरियं के वर्णन से बहुत बातो मे भिन्न है। **उत्तरपुराण** के अनुसार राजा दशरथ काशी देश में वाराणसी के राजा थे, और वही राम का जन्म रानी सुबाला से तथा लक्ष्मण का जन्म कैकेयी के गर्भ से हुआ था। सीता मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, किन्तु उसे अनिष्टकारिणी जान रावण ने मंजूषा में रख कर मरीचि के द्वारा मिथिला में जमीन के भीतर गड़वा दिया, जहां से वह जनक को प्राप्त हुई। दशरथ ने पीछे अपनी राजधानी अयोध्या मे स्थापित कर ली थी। जनक ने यज्ञ मे निमंत्रित करके राम के साथ सीता का विवाह कर दिया। राम के बनवास का यहां कोई उल्लेख नही। राम अपने पूर्व पुरुषों की भूमि बनारस को देखने के लिये सीता सहित वहा आये, और वहा के चित्रकूट वन से रावण ने सीता का अपहरण किया। यहा सीता के आठ पुत्रों का उल्लेख है,किन्तु उनमे लव-कुश का कही नाम नही। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से पीडित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए, तब राम ने उन्ही के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजा तथा अपने पुत्र अजितजय को युवराज बनाकर सीतासहित जिन दीक्षा धारण कर ली। इसप्रकार इस कथा का स्रोत पउमचरिय से सर्वथा भिन्न पाया जाता है। इसकी कुछ बाते बौद्ध व वैदिक परम्परा की रामकथाओ से मेल खाती हैं; जैसे पालि की दशरथ जातक मे भी दशरथ को वाराणसी का राजा कहा गया है। अद्‌भुत रामायण के अनुसार भी सीता का जन्म मंदोदरी के गर्भ से हुआ था। किन्तु यह गर्भ उसे रावण की अनुपस्थिति में उत्पन्न होने के कारण, छुपाने के लिये वह विमान मे बैठकर कुरुक्षेत्र गई, और उस गर्भ को वहां जमीन मे गडवा दिया। वही से वह जनक को प्राप्त हुई। उत्तरपुराण की अन्य विशेष बातों के स्रोतो का पता लगाना कठिन है। इस रचना में संभव जितने महापुरुषों के नाम वैदिक पुराणो के अनुसार ही हैं, और नाना संस्कारों की व्यवस्था पर भी उस परम्परा की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। जयधवला की प्रशस्ति मे जिनसेन ने अपना बडा सुन्दर वर्णन दिया है। उनका कर्णं-छेदन ज्ञान की शलाका से हुआ था। वे शरीर से कृश थे, किन्तु तप से नहीं। वे आकार से बहुत सुन्दर नही थे, तो भी सरस्वती उनके पीछे पड़ी थी, जैसे उसे अन्यत्र कही आश्रय न मिलता हो। उनका समय निरन्तर ज्ञान की आराधना मे व्यतीत होता था, और तत्वदर्शी उन्हे ज्ञान का पिंड कहते थे। इत्यादि। (हिन्दी अनुवाद सहित,भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, से प्रकाशित)

इसके पश्चात् हेमचन्द्र द्वारा **त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष-चरित** नामक पुराण-काव्य

की रचना हुई। यह गुजरात नरेश कुमारपाल की प्रार्थना से लिखा गया था, और ई० सन् ११६० व ११७२ के बीच पूर्ण हुआ। इसमें दस पर्व हैं, जिनमें उक्त चौबीस तीर्थंकरादि त्रेसठ महापुरुषो का चरित्र वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के सातवें पर्व में राम-कथा वर्णित है, जिसमें प्राकृत 'पउमचरिय' तथा संस्कृत पद्मपुराण का अनुसरण किया गया है। दसवें पर्व मे महावीर तीर्थंकर का जीवन चरित्र वर्णित है, जो स्वतंत्र प्रतियों के रूप मे भी पाया जाता है। इसमे सामान्यतः आचाराग व कल्पसूत्र में वर्णित वृत्तान्त समाविष्ट किया गया है। हां, मूल घटनाओं का विस्तार व काव्यत्व हेमचन्द्र का अपना है। यहा महावीर के मुख से वीर निर्वाण से १६६९ वर्ष पश्चात् होनेवाले आदर्श नरेश कुमारपाल के सबध की भविष्य वाणी कराई गई है। इसमें राजा श्रेणिक, युवराज अभय एवं रौहिणेय चोर आदि की उपकथाएं भी अनेक आई हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम भाग परिशिष्ट पर्व यथार्थतः एक स्वतत्र ही रचना है, और वह ऐतिहासिक दृष्टि से बडी महत्वपूर्ण है। इसमे महावीर के पश्चात् उनके केवली शिष्यों तथा दशपूर्वी आचार्यो की परम्परा पाई जाती है। इस भाग को 'स्थविरावली चरित' भी कहते है। यह केवल आचार्यों की नामावली मात्र नही है, किन्तु यहाँ उनसे सबद्ध नाना लम्बी लम्बी कथाए भी कही गई हैं, जो उनसे पूर्व आगमो की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि टीकाओ से, और कुछ सम्भवतः मौखिक परम्परा पर से संकलित की गई है। इनमे स्थूलभद्र और कोषा वेश्या का उपाख्यान, कुवेरसेना नामक गणिका के कुवेरदत्त और कुवेरदत्ता नामक पुत्र-पुत्रियो मे परस्पर प्रेम की कथा, आर्य स्वयम्भव द्वारा अपने पुत्र मनक के लिये दशवैकालिक सूत्र की रचना का वृत्तान्त, तथा आगम के संकलन से सबध रखनेवाले उपाख्यान, नद राजवश संबधी कथानक. एव चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा उस राजवश के मूलोच्छेद का वृत्तान्त आदि अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थकर्ता ने अपने इस पुराण को महाकाव्य कहा है। यद्यपि रचना का बहुभाग कथात्मक है, और पुराणो की स्वाभाविक सरल शैली का अनुसरण करता है, तथापि उसमे अनेक स्थलो पर रस, भाव व अलकारो का ऐसा समावेश है, जिससे उसका महाकाव्य पद भी प्रमाणित होता है।

तेरहवी शती मे मालवा के सुप्रसिद्ध लेखक पडित आशाधर कृत '**त्रिषष्ठि-स्मृति-शास्त्र**' में भी उपर्युक्त ६३ शलाका पुरुषों का चरित्र अपेक्षाकृत सक्षेप से वर्णन किया गया है, जिसमे प्रधानतः जिनसेन और गुणभद्र कृत महापुराण का अनुसरण पाया जाता है।

वायडगच्छीय जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत **चतुर्विंशति-जिनचरित**

(१३ वीं शती) में १८०२ श्लोक २४ अध्यायों में विभाजित है, और उनमें क्रमशः २४ तीर्थंकारों का चरित्र वर्णन किया गया है। अमरचन्द्र की एक और रचना बालभारत भी है (प्र० बम्बई, १६२६) ।

मेरुतुग कृत **महापुराण-चरित** के पांच सर्गो मे **ऋषभ, शांति, नेमि, पार्श्व** और **वर्द्धमान**, इन पांच तीर्थंकरों का चरित्र वर्णित है। इस पर एक टीका भी है, जो सम्भवतः स्वोपज्ञ है और उसमे उक्त कृति को **'काव्योपदेश शतक' व 'धर्मोपदेश शतक'** भी कहा गया है। मेरुतुग की एक अन्य रचना **प्रबन्ध-चिन्तामणि** १३०६ ई० मे पूर्ण हुई थी, अतएव वर्तमान रचना भी उसी समय के आसपास लिखी गई होगी। पद्मसुन्दर कृत **रायमल्लाभ्युदय** (वि० स० १६१५) अकबर के काल में चौधरी रायमल्ल की प्रेरणा से लिखा गया है, और उसमे २४ तीर्थंकरों का चरित्र वर्णित है। एक दामनन्दि कृत **पुराणसार-संग्रह** भी अभी दो भागों में प्रकाशित हुआ है, जिसमें शलाका पुरुषो का चरित्र अतिसक्षेप मे संस्कृत पद्यो मे कहा गया है। तीर्थंकरों के जीवन-चरित सबधी कुछ पृथक्-पृथक् संस्कृत काव्य इस प्रकार हैं :—प्रथम तीर्थंकर **आदिनाथ** का जीवनचरित्र **चतुर्विंशति-जिनचरित** के कर्ता अमरचन्द्र ने अपने **पद्मानद काव्य** मे १६ सर्गों मे लिखा है। काव्य को उक्त नाम देने का कारण यह है कि वह पद्म नामक मंत्री की प्रार्थना से लिखा गया था। काव्य मे कुल ६२८१ श्लोक है। (प्र० बड़ौदा, १६३२) आठवे तीर्थंकर **चन्द्रप्रभ** पर वीरनंदि, **वासुपूज्य** पर वर्द्धमान सूरि, और **विमलनाथ** पर कृष्णदास रचित काव्य मिलते हैं। १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ पर हरिचन्द्र कृत **'धर्मशर्माभ्युदय'** एक उत्कृष्ट संस्कृत काव्य है, जो सुप्रसिद्ध संस्कृत काव्य माघकृत 'शिशुपाल वध' का अनुकरण करता प्रतीत होता है, तथा उस पर प्राकृत काव्य 'गउडवहो' एव सस्कृत 'नैषधीय चरित' का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह रचना ११ वी-१२ वी शती की अनुमान की जाती है। **१६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ** का चरित्र असग कृत (१० वी शती), देवसूरि (१२८२ ई०) के प्रशिष्य अजितप्रभ कृत, माणिक्यचंद्र कृत (१३ वीं शती) सकलकीर्ति कृत (१५ वी शती), तथा श्रीभूषण कृत (वि० स० १६५६) उपलब्ध हैं। विनयचन्द्र कृत **मल्लिनाथ चरित** ४००० से अधिक श्लोकप्रमाण पाया जाता है। २२ वें तीर्थंकर **नेमिनाथ का चरित्र** सूराचार्य कृत (११ वी शती) और मलधारी हेमचंद्र कृत (१३ वीं शती) पाये जाते हैं। वाग्भट्ट कृत **नेमि-निर्वाण काव्य** (१२ वीं शती) एक उत्कृष्ट रचना है, जो १५ सर्गों में समाप्त हुई है। संगन के पुत्र विक्रम कृत **नेमिदूतकाव्य** एक विशेष कलाकृति है, जिसमें राजीमती के विलाप का वर्णन किया

गया है। यह एक समस्यापूर्ति काव्य है, जिसमें कालिदास कृत मेघदूत की पंक्तियाँ प्रत्येक पद्य के अन्तचरण मे निबद्ध कर ली गई हैं। पार्श्वनाथ पर प्राचीन संस्कृत काव्य जिनसेन कृत (६ वी शती) **पार्श्वाभ्युदय** है। इसमे उत्तम काव्य रीति से समस्त मेघदूत के एक-एक या दो-दो चरण प्रत्येक पद्य मे समाविष्ट कर लिये गये हैं। पार्श्वनाथ का पूर्ण चरित्र वादिराजकृत (१०२५ ई०) **पार्श्वनाथ चरित** में पाया जाता है। इसी चरित्र पर १३ वी व १४ वी शती मे दो काव्य लिखे गये, एक माणिक्यचन्द्र द्वारा (१२१६ ई०) और दूसरा भावदेव सूरि द्वारा (१३५५ ई०)। भावदेव कृत चरित का अनुवाद अंग्रेजी मे भी हुआ है। १५ वी शती मे सकलकीर्ति ने व १६ वी शती मे पद्मसुन्दर और हेमविजय ने सस्कृत मे पार्श्वनाथ चरित्र बनाये। १६ वी शती मे ही श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने पार्श्वपुराण की रचना की। विनयचन्द्र और उदयवीरगणी कृत पार्श्वनाथ चरित्र मिलते है। इनमे से उदयवीर की रचना सस्कृत गद्य मे हुई है। **महावीर के चरित्र** पर १८ सर्गों का सुन्दर सस्कृत काव्य **वर्धमान चरित्र** (शक ६१०) असग कृत पाया जाता है। गुणभद्र कृत उत्तरपुराण मे तथा हेमचन्द्र कृत त्रिषष्ठि शलाका पुरुष च० के दशवे पर्व मे जो महावीर चरित्र वर्णित है, वह स्वतत्र प्रतियो मे भी पाया और पढा जाता है। सकलकीर्ति कृत **वर्धमान पुराण** (वि० स० १५१८) १९ सर्गों मे है। पद्मनन्दि, केशव और वाणीवल्लभ कृत वर्धमान पुराण भी पाये जाते है।

जैन तीर्थंकरो के उपर्युक्त चरित्रो में से अधिकाश सस्कृत महाकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी विषयात्मक रूप-रेखा का विवरण उनके प्राकृत चरित्रो के प्रकरण मे दिया जा चुका है। भाव और शैली मे वे उन सब गुणो से सयुक्त पाये जाते हैं, जो कालिदास, भारवि, माघ, आदि महाकवियों की कृतियो में पाये जाते हैं, तथा जिनका निरूपण काव्यादर्श आदि साहित्य-शास्त्रो मे किया गया है, जैसे, उनका सर्ग-बन्ध होना, आशी', नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश पूर्वक उनका प्रारम्भ किया जाना, तथा उनमें नगर, वन, पर्वत, नदियो तथा ऋतुओ आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, जन्म विवाहादि सामाजिक उत्सवों एव रसो, शृंगारात्मक हाव, भाव, विलासो, तथा संपत्ति-विपत्ति में व्यक्ति के सुख-दुःखो के चढ़ाव-उतार का कलात्मक हृदयग्राही चित्रण का समावेश किया जाना। विशेषता इन काव्यो मे इतनी और है कि उनमे यथास्थान धार्मिक उपदेश का भी समावेश किया गया है। तीर्थंकरो के चरित्रो के अतिरिक्त नाना अन्य सामाजिक महापुरुषो व स्त्रियों को चरित्र-चित्रण के नायक-नायिका बनाकर व यथासंभव भाषा, शैली व भावों में काव्यत्व की रक्षा करते हुए जो अनेक

रचनायें जैन साहित्य में पाई जाती हैं, वे कुछ पूर्णरूप से पद्यात्मकहैं, कुछ गद्य और पद्य दोनों के उपयोग सहित चम्पू की शैली के हैं, और कुछ बहुलता से गद्यात्मक हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

सोमदेव सूरि कृत **यशस्तिलक चम्पू** (शक ८८१) उत्कृष्ट संस्कृत गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसका कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण से लिया गया है, और पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश-जसहर चरिउ के परिचय मे दिया जा चुका है। अन्तिम तीन अध्यायों में गृहस्थ धर्म का सविस्तर निरूपण है, और उपासकाध्ययन के नाम से एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। इसी कथानक पर वादिराज सूरि कृत **यशोधर चरित** (१०वीं शती) चार सर्गात्मक काव्य, तथा वासवसेन (१३वी शती) सकलकीर्ति (१५वीं शती) सोमकीर्ति (१५वी शती) और पद्मनाभ (१६-१७वी शती) कृत काव्य पाये जाते है। माणिक्यसूरि (१४वी शती) ने भी यशोधर-चरित संस्कृत पद्य में रचा है, और अपनी कथा का आधार हरिभद्र कृत कथा को बतलाया है। क्षमाकल्याण ने यशोधर-चरित की कथा को सस्कृत गद्य मे सवत् १८३९ मे लिखा और स्पष्ट कहा है कि यद्यपि इस चारित्र को हरिभद्र मुनीन्द्र ने प्राकृत मे तथा दूसरो ने सस्कृत पद्य मे लिखा है, किन्तु उनमे जो विषमत्व है, वह न रहे; इसलिये मैं यह रचना गद्य मे करता हूं। हरिभद्र कृत प्राकृत यशोधर चरित के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि कर्ता के सम्मुख वह रचना थी, किन्तु आज वह अनुपलभ्य है। हरिचन्द्र कृत **जीवंधर चम्पू** (१५वी शती) मे वही कथा काव्यात्मक संस्कृत गद्य-पद्य मे वर्णित है, जो गुणभद्र कृत उत्तरपुराण (पर्व ७५), पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश पुराण(सधि ९८), तथा ओडेयदेव वादीभसिह कृत **गद्यचिन्तामणि** एवं वादीभसिह कृत **क्षत्रचूडामणि** मे पाई जाती है। इस अन्तिम काव्य के अनेक श्लोक प्रस्तुत रचना मे प्रायः ज्यो के त्यो भी पाये जाते हैं। अन्य बातों मे भी इस पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। क्षत्रचूडा-मणि और गद्यचिन्तामणि के कर्ता दोनो वादीभसिह एक ही व्यक्ति है या भिन्न, यह अभी तक निश्चयतः नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे कुछ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमे कर्ता के नाम के साथ ओडेयदेव का व गुरुपुष्पसेन का उल्लेख नही है। रचनाशैली व शब्द-योजना भी दोनो ग्रंथों की भिन्न है। गद्यचिन्तामणि की भाषा ओजपूर्ण है, जबकि क्षत्र चूडामणि की बहुत सरल, प्रसादगुणयुक्त है; और प्रायः प्रत्येक श्लोक के अर्धभाग में कथानक और द्वितीयार्ध मे नीति का उपदेश रहता है।

विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र कृत **जीवंधर-चरित्र** (वि० सं० १५९६) पाया

जाता है। देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्रीचन्द्र सूरि कृत **सनत्कुमार-चरित्र** (वि० सं० १२१४) में उन्ही चक्रवर्ती का चरित्र वर्णित है, जिनका उल्लेख उक्त नाम की प्राकृत रचना के सम्बन्ध में किया जा चुका है। इसी नाम का एक और संस्कृत काव्य जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य तथा जिनपतिसूरि के शिष्य जिनपाल कृत प्रकाश में आ चुका है। मलधारी देवप्रभ कृत **मृगावती-चरित्र** (१२वी शती) संस्कृत पद्यात्मक रचना है और उसमें उदयन-वासवदत्ता का कथानक वर्णित है। मृगावती उदयन की माता, राजा चेटक की पुत्री थी, और महावीर तीर्थंकर की उपासिका थी। उसकी ननद जयन्ती ने तो महावीर से नाना प्रश्न किये थे और अन्त मे प्रवृज्या ले ली थी। जिसका वृत्तान्त भगवती के १२ वे शतक के दूसरे उद्देश मे पाया जाता है उक्त कथा के आश्रय से प्रस्तुत ग्रथ मे नाना उपकथाएँ वर्णित है। मलधारी देवप्रभ **पाण्डव-चरित्र** के भी कर्ता हैं। जिनपति के शिष्य पूर्णभद्र कृत **धन्य-शालिभद्र चरित्र** (वि० सं० १२८५) ६ परिच्छेदो व १४६० श्लोको मे समाप्त हुआ है। इस रचना मे कवि को सर्वदेवसूरि ने सहायता की थी। इस काव्य मे धन्य और शालिभद्र के चरित्रो का वर्णन किया गया है। धन्य-शालि चरित्र भद्रगुप्त कृत (वि० सं० १४२८), जिन-कीर्ति कृत (१५वी शती) व दयावर्द्धन कृत (१५वी शती) भी पाये जाते हैं। धर्म-कुमार कृत **शालिभद्र-चरित** (१२७७ ई०) मे ७ सर्ग हैं। कथानक हेमचन्द्र के महावीरचरित मे से लिया गया है, और काव्य की रीति मे छन्द व अलंकारो के वैशिष्टय सहित वर्णित है। लेखक की कृति को प्रद्युम्न सूरि ने सशोधित करके उसके काव्य-गुणो को और भी अधिक चमका दिया है। शालिभद्र महावीर तीर्थंकर के समय का राजगृह-निवासी धनी गृहस्थ था, जो प्रत्येक बुद्ध हुआ। चन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि कृत **वसन्त-विलास** (वि० स० १२९६) १४ सर्गों मे समाप्त हुआ है, और इसमे गुजरात नरेश वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल का चरित्र वर्णन किया गया है (बडौदा, १९१७)। इसी के साथ श्रीतिलकसूरि के शिष्य राजशेखर कृत **वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध** भी प्रकाशित है। वस्तुपाल मन्त्री और उनके भ्राता तेजपाल ने आबू के मन्दिर बनवा कर, तथा अन्य अनेक जैनधर्म के उत्थान सम्बन्धी कार्यों द्वारा अपना नाम जैन सम्प्रदाय मे अमर बना लिया है। उक्त रचनाओं के द्वारा उनके चरित्र पर जयचन्द्र के शिष्य जिनहर्ष गणि कृत (वि० सं० १४९७, प्रका० भावनगर, १९७४) तथा वर्धमान, सिंहकवि, कीर्तिविजय आदि कृत रचनाएँ भी मिलती हैं। इनके अतिरिक्त उनकी संस्कृत प्रशस्तियां जयसिंह, बालचन्द्र, नरेन्द्रप्रभ आदि द्वारा रचित मिलती हैं।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य चन्द्रतिलक कृत **अभयकुमार-चरित्र** (वि० सं० १३१२) नौ सर्गों में समाप्त हुआ है। कवि के उल्लेखानुसार उन्हें सूरप्रभ ने विद्यानन्द व्याकरण पढ़ाया था। (प्र० भावनगर, १९१७)।

सकलकीर्ति कृत **अभयकुमार-चरित** का भी उल्लेख मिलता है। धनप्रभ सूरि के शिष्य सर्वानन्द सूरि कृत **जगडू-चरित्र** (१३वी शती) ७ सर्गों का काव्य है, जिसमे कुल ३८८ पद्य हैं। इस काव्य का विशेष महत्व यह है कि उसमे बीसलदेव राजा का उल्लेख है, तथा वि० सं० १३१२-१५ के गुजरात के भीषण दुर्भिक्ष का वर्णन किया गया है। रचना उस काल के समीप ही निर्मित हुई प्रतीत होती है।

कृष्णर्षि गच्छीय महेन्द्रसूरि के शिष्य जयसिंहसूरि कृत (वि० सं० १४२२) **कुमारपाल-चरित्र** १० सर्गों मे समाप्त हुआ है, और उसमे उन्ही गुजरात के राजा कुमारपाल का चरित्र व धार्मिक कृत्यो का वर्णन किया गया है, जिन पर हेमचन्द्र ने अपना कुमारपाल चरित नामक द्वयाश्रय प्राकृत काव्य लिखा। संस्कृत मे अन्य कुमारपाल चरित रत्नसिह सूरि के शिष्य चारित्रसुन्दर गरिण कृत (वि० सं० १४८७), धनरत्नकृत (वि० सं० १५३७) तथा सोमविमल कृत और सोमचन्द्र गरिण कृत भी पाये जाते है। मेरुतुंग के शिष्य माणिक्यसुन्दर कृत **महीपाल-चरित्र** (१५ वी शती) एक १५ सर्गात्मक काव्य है जिसमे वीरदेवगणी कृत प्राकृत **महिवालकहा** के आधार पर उस ज्ञानी और कलाकुशल महीपाल का चरित्र वर्णन किया गया है, जिसने उज्जैनी से निर्वासित होकर नाना प्रदेशो मे अपनी रत्न-परीक्षा, वस्त्र-परीक्षा व पुरुष-परीक्षा मे निपुणता के चमत्कार दिखा कर धन और यश प्राप्त किया। वृत्तान्त रोचक और शैली सरल, सुन्दर और कलापूर्ण है।

भक्तिलाभ के शिष्य चारुचंद कृत **उत्तमकुमार-चरित्र** ६८६ पद्यों का काव्य है, जिसमे एक धार्मिक राजकुमार की नाना साहसपूर्ण घटनाओं और अनेक अवान्तर कथानको का वर्णन है। इसके रचना-काल का निश्चय नही हो सका। इसी विषय की दो और पद्यात्मक रचनायें मिलती हैं। एक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जिनकीर्ति कृत और दुसरी सोमसुन्दर के प्रशिष्य व रत्नशेखर के शिष्य सोममंडन गणी कृत। ये आचार्य तपागच्छ के थे। पट्टावली के अनुसार सोमसुन्दर को वि० सं० १४५७ में सूरिपद प्राप्त हुआ था। एक और इसी विषय की काव्यरचना शुभशीलगणी कृत पाई जाती है। चारुचन्द्र कृत **उत्तमकुमार-कथा** का एक गद्यात्मक रूपान्तर भी है। वेबर ने इसका सम्पादन व जर्मन भाषा में अनुवाद सन् १८८४ में किया है।

कृष्णर्षि गच्छ के जयसिंहसूरि की शिष्य-परम्परा के नयचन्द्रसूरि (१५ वीं

शती) कृत **हम्मीर-काव्य** १४ सर्गों में समाप्त हुआ है, और उसमें उस हम्मीर वीर का चरित्र वर्णन किया गया है, जो सुलतान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ सन् १३०१ में वीरगति को प्राप्त हुआ। काव्य लिखने का कारण स्वयं कवि ने यह बतलाया है कि तोमर वीरम की सभा में यह कहा गया था कि प्राचीन कवियों के समान काव्य-रचना की शक्ति अब किसी मे नही है। इसी बात के खंडन के लिये कवि ने शृंगार, वीर और अद्भुत रसो से पूर्ण तथा अमरचन्द्र के सदृश लालित्य व श्रीहर्ष की वक्रिमा से युक्त यह काव्य लिखा। जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि कृत **चतुर्विंशति-जिन-चरित, पद्मानन्द-काव्य** और **बाल-भारत** का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

ब्रम्हनेमिदत्त कृत **श्रीपाल-चरित** (सन् १५२८ ई०) में ६ सर्गों मे राजकुमारी मदनसुन्दरी के कुष्ट व्याधि से पीड़ित श्रीपाल के साथ विवाह, और सिद्धचक्र विधान के माहात्म्य से उसके निरोग होने की कथा है, जिसका परिचय उसी नामके प्राकृत काव्य के सबध में दिया जा चुका है। श्रीपाल का कथानक जैन समाज में इतना लोकप्रिय हुआ है कि उस पर प्राकृत, अपभ्रश और संस्कृत की कोई ३०-४० रचनाये मिलती है। (देखिये जिनरत्नकोश - डॉ वेलंकर कृत)

नागेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरि के शिष्य उदयप्रभ कृत **धर्माभ्युदय** चौदह सर्गों का महाकाव्य है, जिसमे गुजरात के राजा वीरधवल के सुप्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल के चरित्र का सुन्दरता से वर्णन किया गया है। सिद्धर्षि कृत **उपमितिभव-प्रपंचकथा** (९०६ ई०) संस्कृत गद्य की एक अनुपम रचना है, जिसमे भावात्मक संज्ञाओ को मूर्तिमान् स्वरूप देकर धर्मकथा व नाना अवान्तर कथाएं कही गई है। उदाहरण के लिये-यहा नगर अनन्तपुर व निर्वृतिपुर है; राजा कर्मपरिणाम; रानी काल-परिणति; साधु सदागम; व अन्य व्यक्ति संसारी निष्पुण्यक आदि। इसे पढते हुए अंग्रेजी की जॉन बनयन कृत 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' का स्मरण हो आताहै, जिसमे रूपक की रीति से धर्मवृद्धि, और उसमे आनेवाली विघ्न-बाधाओं की कथा कही गई है। इस कृति का जैन संसार मे बड़ा आदर व प्रचार हुआ, और उसके सार रूप अनेक रचनाए निर्मित हुई, जैसे वर्धमानसूरि कृत **उपमिति-भवप्रपंचा-सार-समुच्चय** (११ वीं शती) देवेन्द्रकृत **उ० सारोद्धार** (१३ वी शती), हंसरत्नसूरि कृत **सारोद्धार** आदि।

संस्कृत गद्यात्मक आख्यानों मे **धनपाल कृत तिलकमंजरी** (९७० ई०) की भाषा व शैली बड़ी ओजस्विनी है। **अमरसुन्दर कृत अंबडचरित्र** बड़ी विलक्षण कथा है। कथानायक अंबड शैवधर्मी है और मंत्र-तंत्र के बल से गोरखा देवी द्वारा

निर्दिष्ट सात दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिखाता, ३२ सुन्दरियों से विवाह करता और अपार धन व राज्य पाता है। अंततः उपदेश पाकर वह जैन धर्म में दीक्षित और प्रवृजित होकर सल्लेखना विधि से मरण करता है। अंबड नाम के तांत्रिक का नाम ओवाइय उपांग में आता है, किन्तु उक्त कथानक इसी कर्ता की कल्पना है। अमरसुन्दर का नाम वि० सं० १४५७ मे सूरिपद प्राप्त करनेवाले सोमसुन्दर गणी के शिष्यो में आता है, और वहां उन्हें 'संस्कृत-जल्प-पटु' कहा गया है। इस कथानक का जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। यही कथा हर्ष समुद्र वाचक (१६ वीं शती) व जयमेरु कृत भी मिलती है।

ज्ञानसागर सूरि कृत रत्नचूड कथा (१५ वी शती) का यद्यपि देवेन्द्रसूरि कृत प्राकृत कथा से नामसाम्य है, तथापि यह कथा उससे सर्वथा भिन्न है। यहां अनीतपुर के अन्यायी राजा और दुर्बुद्धि मंत्री का वृत्तान्त है। उस नगरी में चोरों और धूर्तों के सिवाय कोई धार्मिक व्यक्ति नही रहते। कथा मे नाना उपकथानक भरे हैं। रोहक अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा जैसे दुष्कर कार्य करके दिखलाता है, उनसे पालि की महा-उम्मग्ग जातक मे वर्णित महोसध नामक पुरुष के अद्भुत कारनामों का स्मरण हो आता है। रत्नचूड के विदेश के लिये प्रस्थान करते समय उसके पिता के द्वारा दिये गये उपदेशो मे एक ओर व्यवहारिक चातुरी, और दूसरी ओर अन्धविश्वासों का मिश्रण है। महापुरुष के ३२ चिह्न भी इसमें गिनाये गये हैं।

अघटकुमार-कथा में जिनकीर्ति कृत चम्पक-श्रेष्ठि-कथानक के सदृश पत्र-विनिमय द्वारा नायक के मृत्यु से बचने की घटना आई है। इसका जर्मन अनुवाद चार्लौस क्राउस ने किया है। इसके दो पद्यात्मक संस्करण भी मिलते है, किन्तु किसी के भी कर्ता का नाम नही मिलता, और रचना काल भी अनिश्चित है। यह अनुमानतः १५-१६ वी शती की रचना है।

जिनकीर्ति कृत **चम्पकश्रेष्ठिकथानक** (१५ वी शती) का आख्यान सुप्रसिद्ध है। इसमें ठीक समय पर पत्र मिल जाने से सौभाग्यशाली नायक मृत्यु के मुख में से बच जाता है। कथा के भीतर तीन और सुन्दर उपाख्यान हैं। यह कथा मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि व अन्य कथाकोषों मे भी मिलती है। इसका सम्पादन व प्रकाशन अंग्रेजी में हर्टेल द्वारा हुआ है। जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जिनकीर्ति की इसीप्रकार की दूसरी रचना **पाल-गोपालकथानक** है, जिसमें उक्त नाम के दो भ्राताओं के परिभ्रमण व नानाप्रकार के साहसों व प्रलोभनों को पार कर, अन्त में धार्मिक जीवन व्यतीत करने का रोचक वृत्तान्त है। माणिक्यसुन्दर कृत

महाबल-मलयसुन्दरी कथा (१५ वी शती) संस्कृत गद्य में लिखी गई है और उपाख्यानों का भंडार है।

जयविजय के शिष्य मानविजय कृत **पापबुद्धि-धर्मबुद्धि-कथा** का दूसरा नाम कामघट कथा है। इस सस्कृत गद्यात्मक कथानक के रचयिता हीरविजय सूरि द्वारा स्थापित विजयशाखा मे हुए प्रतीत होते हैं, अतएव उनका काल १६-१७ वीं शती अनुमान किया जा सकता है। इसके कथानायक सिद्धर्षिकृत उपमिति भव प्रपंचा कथा के अनुसार भावात्मक व कल्पित है। वे क्रमशः राजा और मत्री हैं। राजा धन और ऐश्वर्य को ही सब कुछ समझता है, और मंत्री धर्म को। अन्ततः मुनि के उपदेश से वे सम्बोधित और प्रवृजित होते है। यह कथानक यथार्थतः कर्ता की बडी रचना धर्म-परीक्षा का एक खडमात्र है। इसका सम्पादन व इटैलियन अनुवाद लोवरिनी ने किया है।

कुछ रचनाए पृथक उल्लेखनीय है क्योकि उनमे तीर्थ आदि स्थानो व पुरुषो के सम्बन्ध मे कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त भी पाया जाता है जो प्राचीन इतिहास-निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐसी कुछ कृतिया निम्नप्रकार है .—

धनेश्वरसूरि कृत **शत्रुंजय-माहात्म्य** (७-८ वी शती) स्वय कर्ता के अनुसार सौराष्ट्र नरेश शीलादित्य के अनुरोध से वलभी मे लिखा गया था। इसमे १४ सर्ग हैं, और वैदिक परम्परा के पुराणो की शैली पर शत्रुजय तीर्थ का माहात्म्य वर्णन किया गया है। लोक-वर्णन के पश्चात् तीर्थकर ऋषभ व उनके भरत और बाहुवली पुत्रो का तथा भरत द्वारा मन्दिरो की स्थापना का वृत्तान्त है। ९ वे सर्ग मे रामकथा व १० से १२ वे सर्ग तक पाडवो, कृष्ण और नेमिनाथ का चरित्र, और १४ वे मे पार्श्व और महावीर का चरित्र आया है। यहां भीमसेन के संबंध का बहुत सा वृत्तान्त ऐसा है, जो महाभारत से सर्वथा भिन्न और नवीन है।

प्रभाचन्द्र कृत **प्रभावक-चरित्र** (१२७७ ई०) में २२ जैन आचार्यों व कवियों के चरित्र वर्णित हैं, जिनमे हरिभद्र, सिद्धर्षि, बप्पभट्टि, मानतुग, शान्तिसूरि और हेमचन्द्र भी सम्मिलित है। इस प्रकार यह हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व की पूरक रचना कही जा सकती है, और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। इस का भी सशोधन प्रद्युम्न सूरि द्वारा किया गया था।

प्रभाचन्द्र के प्रभावक-चरित्र की परम्परा को मेरुतुग ने अपने **प्रबन्ध-चिन्तामणि** (१३०६ ई०) तथा राजशेखर ने **प्रबन्धकोष** (१३४९ ई०) द्वारा प्रचलित रखा। इनमें बहुभाग तो काल्पनिक है, तथापि कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बातें भी पाई

जाती हैं, विशेषतः लेखकों के समीपवर्ती काल की। राजशेखर की कृति में २४ व्यक्तियों के चरित्र वर्णित हैं, जिनमें राजा श्रीहर्ष और आचार्य हेमचन्द्र भी हैं। जिसप्रकार प्रभाचन्द्र, मेरुतुंग और राजशेखर के प्रबन्धों में हमें ऐतिहासिक पुरुषों का चरित्र मिलता है, उसी प्रकार जिनप्रभसूरि कृत **तीर्थकल्प** या **कल्पप्रदीप और राज-प्रासाद** (लगभग १३३० ई०) में जैन तीर्थों के निर्माण, उनके निर्माता व दानदाताओं आदि का वृत्तान्त मिलता है। रचना में संस्कृत व प्राकृत का मिश्रण है।

जैन लघुकथाओं का संग्रह बहुलता से कथा-कोषों में पाया जाता है, और उनमे पद्य, गद्य या मिश्ररूप से किसी पुरुष-स्त्री का चरित्र संक्षेप से वर्णित कर, उसके सासारिक सुख-दुखो का कारण उसके स्वयं कृत पुण्य-पापों का परिणाम सिद्ध किया गया है। ऐसे कुछ कथाकोष ये हैं :—

हरिषेण कृत **कथाकोष** (शक ८५३) संस्कृत पद्यों मे रचा गया है, और उपलभ्य समस्त कथाकोषो मे प्राचीन सिद्ध होता है। इसमे १५७ कथाये हैं जिनमें चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि, स्वामि कार्तिकेय आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इस कथा के अनुसार भद्रबाहु उज्जैनी के समीप भाद्रपद (भदावर ?) मे ही रहे थे, और उनके दीक्षित शिष्य राजा चन्द्रगुप्त, अपरनाम विशाखाचार्य, संघ सहित दक्षिण के पुन्नाट देश को गये थे। कथाओं मे कुछ नाम व शब्द, जैसे मेदज्ज (मेतार्य), विज्जदाढ़ (विद्युद्दंष्ट्र) प्राकृत रूप मे प्रयुक्त हुए है, जिससे अनुमान होता है कि रचयिता कथाओं को किसी प्राकृत कृति के आधार से लिख रहा है। उन्होंने स्वयं अपने कथाकोष को 'आराधनोद्धृत' कहा है, जिससे अनुमानतः भगवती-आराधना का अभिप्राय हो। हरिषेण उसी पुन्नाट गच्छ के थे, जिसके आचार्य जिनसेन; और उन्होंने उसी वर्धमानपुर मे अपनी ग्रंथ-रचना की थी, जहां हरिवंशपुराण की रचना जिनसेन ने शक ७०५ में की थी। इससे सिद्ध होता है कि वहां पुन्नाट संघ का आठवीं शताब्दी तक अच्छा केन्द्र रहा। यह कथाकोष बृहत्कथाकोष के नाम से प्रसिद्ध है। अनुमानतः उसके पीछे रचे जानेवाले कथाकोषों से पृथक् करने के लिये यह विशेषण जोड़ा गया है।

अमितगति कृत **धर्मपरीक्षा** की शैली का मूल स्रोत यद्यपि हरिभद्र कृत प्राकृत धूर्ताख्यान है, तथापि यहां अनेक छोटे-बड़े कथानक सर्वथा स्वतंत्र व मौलिक हैं। ग्रंथ का मूल उद्देश्य अन्य धर्मों की पौराणिक कथाओं की असत्यता को उनसे अधिक कृत्रिम, असंभव व ऊटपटांग आख्यान कह कर सिद्ध करके, सच्चा धार्मिक श्रद्धान उत्पन्न करना है। इनमे धूर्तता और मूर्खता की कथाओं का बाहुल्य है।

प्रभाचन्द्र कृत **कथाकोष** (१३ वी शती) संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसमें भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त समन्तभद्र और अकलंक के चरित्र भी वर्णित हैं। नेमिदत्त कृत **आराधना कथाकोष** (१६ वी शती) पद्यात्मक है और प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष का कुछ विस्तृत रूपान्तर है। इसी प्रकार का एक अन्य संग्रह रामचन्द्र मुमुक्षु, कृत **पुण्याश्रव कथाकोष** है।

राजशेखर कृत अन्तर्कथा-संग्रह (१४ वी शती) की कथाओं का संकलन आगम की टीकाओं पर से किया गया है। इसकी ८ कथाएं पुल्ले द्वारा इटालियन भाषा में अनुवादित हुई है। इसकी एक कथा का 'जजमेंट आफ सोलोमन' नाम से टेसीटोरी ने अंग्रेजी अनुवाद किया है। (इ० एन्टी० ४२)। उसके साथ नन्दिसूत्र की मलयगिरि टीका की कथा भी है, और वतलाया है कि उक्त कथा का ही यूरोप की कथाओं मे रूपान्तर हुआ है।

लक्ष्मीसागर के शिष्य शुभशीलगरणी (१५ वी शती) कृत **पंचशती प्रबोध-सम्बन्ध** मे लगभग ६०० धार्मिक कथाए है, जिनमे नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि ऐतिहासिक पुरुषो के चरित्र भी है। इसी कर्ता का एक अन्य कथाकोष '**भरतादिकथा**' नामक है।

जिनकीर्ति कृत **दानकल्पद्रुम** (१५ वी शती) मे दान की महिमा बतलाने वाली रोचक और विनोदपूर्ण अनेक लघु कथाओं का सस्कृत पद्यो मे सग्रह है। उदय धर्म कृत **धर्मकल्पद्रुम** (१५ वी शती) मे पद्यात्मक कथाएं हैं।

सम्यक्त्व-कौमुदी लघु कथाओ का एक कोष है। अर्हद्दास सेठ, अपनी आठ पत्नियो को सुनाता है कि उसे किसप्रकार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, और वे फिर पति को अपने अनुभव सुनाती हैं। इस चौखट्टे के भीतर बहुत से कथानक गूथे गये हैं। सम्यक्त्व-कौमुदी नामकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं, जैसे जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष गरणी कृत (वि० स० १४८७), गुणाकरसूरि कृत (वि० सं० १५०४) मल्लिभूषण कृत (वि० सं० १५४४ के लगभग) सिंहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि कृत (वि० स० १५७३) शुभचन्द्र कृत (वि० सं० १६८० के लगभग), एवं अज्ञात समय की वत्सराज, धर्मकीर्ति, मंगरस, यशः कीर्ति व वादिभूषण कृत।

हेमविजय कृत कथा-रत्नाकर (१६०० ई०) में २५८ कथानक हैं जिनमे अधिकांश उत्तम गद्य मे, और कुछ थोड़े से पद्य में वर्णित हैं। यत्र-तत्र प्राकृत और अपभ्रंश पद्य भी पाये जाते हैं। इस रचना की विशेषता यह है कि प्रायः आदि अन्त में धार्मिक उपदेश की कड़ी जोड़नेवाले पद्यों के अतिरिक्त कथाओं में जैनत्व

का उल्लेख नहीं पाया जाता। कथाएं व नीति वाक्य पंचतंत्र के ढांचे के हैं।

नाटक—

जैन मुनियों के लिये नाटक आदि विनोदों में भाग लेना निषिद्ध है, और यही कारण है कि जैन साहित्य में नाटक की कृतियां बहुत प्राचीन नहीं मिलतीं। पश्चात् जब उक्त मुनि-चर्या का बंधन उतना दृढ़ नहीं रहा, अथवा गृहस्थ भी साहित्य-रचना में भाग लेने लगे, तब १३ वीं शती से कुछ संस्कृत नाटकों का सर्जन हुआ, जिनका कुछ परिचय निम्नप्रकार है :—

रामचन्द्रसूरि (१३ वीं शती) हेमचन्द्र के शिष्य थे। कहा जाता है कि उन्होंने १०० प्रकरणों (नाटकों) की रचना की, जिनमें से **निर्भय-भीम-व्यायोग, नलविलास,** और **कौमुदी-मित्रानन्द** प्रकाशित हो चुके हैं। **रघुविलास** नाटक की प्रतियां मिली हैं, तथा **रोहिणीमृगांक** व **वनमाला** के उल्लेख कर्ता की एक अन्य रचना **नाट्यदर्पण** में मिलते हैं। **निर्भय-भीम-व्यायोग** एक ही अंक का है, और इसमें भीम द्वारा बक के वध की कथा है। **नलविलास** १० अंकों का प्रकरण है, जिसमें नल-दमयन्ती का चरित्र-चित्रण किया गया है। तीसरे नाटक में नायिका कौमुदी और उसके पति मित्रानन्द सेठ के साहसपूर्ण भ्रमण का कथानक है। यह मालती-माधव के जोड़ का प्रकरण है।

हस्तिमल्ल कृत (१३वीं शती) चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं—**विक्रान्तकौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण,** और **अंजनापवनंजय**। कवि ने प्रस्तावना में अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पिता गोविन्द, समन्तभद्र कृत देवागमस्तोत्र (आप्तमीमासा) के प्रभाव से, जैनधर्मी हो गये थे। कवि ने अपने समय के पाण्ड्य राजा का उल्लेख किया है, पर नाम नहीं दिया। इतना ही कहा है कि वे कर्नाटक पर शासन करते थे। प्रथम दो नाटक महाभारत और शेष दो रामायण पर आधारित है, तथा कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के चरित्रानुसार है। हस्तिमल्ल के **उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज** और **मेघेश्वर**, इन चार अन्य नाटकों के उल्लेख मिलते है।

जिनप्रभ सूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वीं शती) द्वारा रचित **प्रबुद्ध-रौहिणेय** के छह अंकों में नायक की चौर-वृत्ति व उपदेश पाकर धर्म में दीक्षित होने का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। यह नाटक चाहमान (चौहान) नरेश समरसिंह द्वारा निर्मापित ऋषभ जिनालय में उत्सव के समय खेला गया था।

यशःपाल कृत **मोहराज-पराजय** (१३ वीं शती) में भावात्मक पात्रों के

अतिरिक्त राजा कुमारपाल भी आते हैं। राजा धर्मपरिवर्तन द्वारा जैन धर्म में दीक्षित व कृपासुन्दरी से विवाहित होकर राज्य में अहिंसा की घोषणा, तथा निस्संतान व्यक्तियों के मरने पर उनके धन के अपहरण का निषेध कर देता है। राजा का विवाह करानेवाले पुरोहित हेमचन्द्र हैं। यह नाटक शाकंबरी के चौहान राजा अजयदेव के समय में रचा गया है।

वीरसूरि के शिष्य जयसिंह सूरि कृत **हम्मीरमदमर्दन** के पांच अंकों में राजा वीरधवल द्वारा म्लेच्छ राजा हम्मीर (अमीर-शिकार-सुल्तान समसुद्दुनिया) की पराजय का, और साथ ही वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रियो के चरित्र का वर्णन है। इसमें राजनीति का घटनाचक्र मुद्राराक्षस जैसा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १२८६ की मिली है, अतः रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का सिद्ध होता है।

पद्मचन्द्र के शिष्य यशश्चन्द्र कृत **मुद्रित-कुमुदचन्द्र** नाटक में पाच अक हैं, जिनमें अणहिलपुर मे जयसिंह चालुक्य की सभा मे (वि० स० ११८१) श्वेताम्बराचार्य देवसूरि व दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ कराया गया है। वाद के अन्त मे कुमुदचन्द्र का मुख मुद्रित हो गया। रचनाकाल का निश्चय नही। संभवतः कर्ता के गुरु वे ही पद्मचन्द्र हैं, जिनका नाम लघु पट्टावली (पट्टावली-समुच्चय, पृ० २०४) मे आया है, और जिनका समय अनुमानतः १४-१५ वी शती है।

मुनिसुन्दर के शिष्य रत्नशेखर सूरि कृत **प्रबोध-चन्द्रोदय** नाटक मे भावात्मक पात्रों द्वारा चित्रण किया गया है। यह इसी नामके कृष्ण मिश्र रचित नाटक (११ वी शती) का अनुकरण प्रतीत होता है इसमे प्रबोध, विद्या, विवेक आदि नामक पात्र उपस्थित किये गये हैं।

मेघप्रभाचार्य कृत **धर्माभ्युदय** स्वयं कर्ता के उल्लेखानुसार एक छाया नाट्य-प्रबन्ध है, जो पार्श्वनाथ जिनालय मे महोत्सव के समय खेला गया था। इसमे दर्शनभद्र मुनि का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। इसका जर्मन भाषा मे भी अनुवाद हुआ है।

हरिभद्र के शिष्य बालचन्द्र कृत **करुणावज्रायुध** नाटक मे वज्रायुध नृप द्वारा श्येन को अपने शरीर का मांस देकर कपोत की रक्षा करने की कथा चित्रित है, जैसा कि हिन्दू पुराणों मे राजा शिवि की कथा मे पाया जाता है।

साहित्य-शास्त्र —

साहित्य के आनुषंगिक शास्त्र हैं व्याकरण, छंद और कोश। जैन परम्परा मे इन शास्त्रो पर भी महत्वपूर्ण रचनाए पाई जाती है।

व्याकरण-प्राकृत —

महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य मे यह प्रश्न उठाया है कि जब लोक-प्रचलित भाषा का ज्ञान लोक से स्वयं प्राप्त हो जाता है, तब उसके लिये शब्दानुशासन लिखने की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होने बतलाया है कि बिना शब्दानुशासन के शब्द और अपशब्द में भेद स्पष्टतः समझ में नही आता, और इसके लिये शब्दानुशासन शास्त्र की आवश्यकता है। जैन साहित्य का निर्माण आदितः जन-भाषा में हुआ, और बहुत काल तक उसके अनुशासन के लिये स्वभावतः किसी व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत नही हुई। साहित्य में वचन-प्रयोगों के लिये इतना ही पर्याप्त था कि वैसे प्रयोग लोक मे प्रचलित हो। धीरे-धीरे जब एक ओर बहुतसा साहित्य निर्माण हो गया, और दूसरी ओर नाना देशों मे प्रचलित नाना प्रकार के प्रयोग सम्मुख आये, तथा कालानुक्रम से भी प्रयोगो मे भेद पड़ता दिखाई देने लगा, तब उसके अनुशासन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्राकृत के उपलम्य व्याकरणों मे चड (चन्द्र) कृत **प्राकृत-लक्षण** सर्व-प्राचीन सिद्ध होता है। इसका सम्पादन रॉडल्फ हार्नले साहब ने करके विवलिओथिका-इंडिका मे १८८० ई० मे छपाया था, और उसे एक जैन लेखक की कृति सिद्ध किया था। तथापि कुछ लोगो ने इसके सूत्रो को बाल्मीकि कृत माना है, जो स्पष्टतः असम्भव है। ग्रन्थ के आदि मे जो वीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम किया गया है, व वृत्तिगत उदाहरणो मे अर्हन्त (सू० ४६ व २४), जिनवर (सू० ४८), का उल्लेख आया है; उससे यह निःसंदेह जैन कृति सिद्ध होती है। ग्रन्थ के सूत्रकार और वृत्तिकार अलग-अलग हैं, इसके कोई प्रमाण नही। मंगलाचरण मे जो वृद्धमत के आश्रय से प्राकृत व्याकरण के निर्माण की सूचना दी गई है, उससे यह अभिप्राय निकालना कि सूत्रकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न हैं, सर्वथा निराधार है। अधिक से अधिक उसका इतना ही अभिप्राय प्रतीत होता है कि प्रस्तुत रचना के समय भी सूत्रकार के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे, जिनमे से कर्ता ने अपने नियमो मे प्राचीनतम प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि **प्राकृत-लक्षण** के रचना-काल संबंधी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि ग्रंथ के अन्तःपरीक्षण से उसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें कुल सूत्रों की संख्या ९९ या १०३ है, और इस प्रकार यह उपलम्य व्याकरणों में संक्षिप्ततम है। प्राकृत सामान्य का जो निरूपण यहां पाया जाता है, वह अशोक की धर्मलिपियों की भाषा और वररुचि द्वारा 'प्राकृत-प्रकाश' में वर्णित प्राकृत के बीच का

प्रतीत होता है। वह अधिकांश अश्वघोष व अल्पांश भास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों से मिलता हुआ पाया जाता है, क्योंकि इसमे मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनो की बहुलता से रक्षा की गई है, और उनमे से प्रथम वर्णों मे केवल क, व तृतीय वर्णों में ग के लोप का एक सूत्र में विधान किया गया है, और इस प्रकार च ट त प वर्णों की, शब्द के मध्य में भी, रक्षा की प्रवृत्ति सूचित की गई है। इस आधार पर प्राकृतलक्षण का रचना-काल ईसा की दूसरी-तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नही।

प्राकृत-लक्षण ४ पादो मे विभक्त है। आदि में प्राकृत शब्दों के तीन रूप सूचित किये गये हैं तद्भव, तत्सम और देशी, तथा सस्कृतवत् तीनो लिंगो और विभक्तियो का विधान किया गया है। तत्पश्चात् इनमे क्वचिद् व्यत्यय की चौथे सूत्र मे सूचना करके, प्रथम पाद के अन्तिम ३५ वे सूत्र तक संज्ञाओ और सर्वनामो के विभक्ति रूपो का विधान किया गया है। इनमे यद् और इदम् के षष्ठी का रूप 'से' और अहम् का कर्ता कारक 'हउं' ध्यान देने योग्य है। जैसा कि हम जानते है, हउं अपभ्रंश भाषा का विशेष रूप माना जाता है, किन्तु सूत्रकार के समय मे उसका प्रयोग तो प्रचलित हो गया था, फिर भी वह अभी तक अपभ्रंश का विशेष लक्षण नही बना था। द्वितीय पाद के २९ सूत्रो मे प्राकृत मे स्वर-परिवर्तनो, शब्दादेशो व अव्ययों का वर्णन किया गया है। यहा गो का गावी आदेश व पूर्वकालिक रूपो के लिये केवल तु, त्ता, च्च, ट्ट, तु, तूण, ओ और प्पि विभक्तियो का विधान किया गया है। दूण, उण, व य का यहा निर्देश नही है। तीसरे पाद के ३५ सूत्रों मे व्यजनो के विपरिवर्तनों का विधान है। इनमे ध्यान देने योग्य नियम है—प्रथम वर्ण के स्थान मे तृतीय का आदेश, जैसे एक=एग, पिशाची=विसाजी, कृत=कदं, प्रतिषिद्धं=पदिसिद्ध। पाद के अन्तिम सूत्र मे कह दिया गया है कि **शिष्टप्रयोगाद् व्यवस्था** अर्थात् शेष व्यवस्थाएं शिष्ट प्रयोगानुसार समझनी चाहिये। इस पाद के अन्त मे सूत्रो की सख्या ९९ पूर्ण हो जाती है, और हार्नले साहब द्वारा निरीक्षित एक प्राचीन प्रति के आदि मे ग्रन्थ में ९९ सूत्रों की ही सूचना मिलती है। सम्भव है मूल व्याकरण यही समाप्त हुआ हो। किन्तु अन्य प्रतियो में ४ सूत्रात्मक चतुर्थ पाद भी मिलता है, जिसके एक-एक सूत्र में क्रमशः अपभ्रंश का लक्षण अधोरेफ का लोप न होना, पैशाची मे र् और स् के स्थान पर ल् और न् का आदेश, मागधिका मे र् और स् के स्थान पर ल् और श् आदेश, तथा शौरसैनी मे त् के स्थान पर विकल्प से द् का आदेश बतलाया गया है। प्राकृत-लक्षण का पूर्वोक्त स्वरूप निश्चयतः उसके विस्तार, रचना व भाषा-स्वरूप की दृष्टि से उसे उपलभ्य समस्त प्राकृत व्याकरणो मे प्राचीनतम सिद्ध

करता है। इस व्याकरण का आगामी समस्त प्राकृत व्याकरणों पर बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा है, और रचनाशैली व विषयानुक्रम में वहां इसी का अनुसरण किया गया है। चंड ने प्राकृत व्याकरणकारो के लिये मानो एक आदर्श उपस्थित कर दिया। वररुचि, हेमचन्द्र आदि व्याकरणकारो ने जो संस्कृतभाषा मे प्राकृत व्याकरण लिखे, आदि में प्राकृत के सामान्य लक्षण दिये, और अन्त में शौरसैनी आदि विशेष प्राकृतों के एक-एक के विशेष लक्षण बतलाये, वह सब चंड का ही अनुकरण है। हेमचन्द्र ने तो चंड के ही अनुसार अपने व्याकरण को चार पादों मे ही विभक्त किया है, और चूलिका पैशाची को छोड शेष उन्ही चार प्राकृतों का व्याख्यान किया है, जिनका चड ने किया, और चंड के समान स्वयं सूत्रो की वृत्ति भी लिखी।

प्राकृत-लक्षण के पश्चात् दीर्घकाल तक का कोई जैन प्राकृत व्याकरण नहीं मिलता। समन्तभद्र कृत प्राकृत व्याकरण का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हो सका। समन्तभद्र की एक व्याकरणात्मक रचना का उल्लेख देवनंदि पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण मे भी पाया जाता है, जिससे उनके किसी संस्कृत व्याकरण का अस्तित्व सिद्ध होता है। आश्चर्य नही जो समन्तभद्र ने ऐसा कोई व्याकरण लिखा हो, जिसमे क्रमशः सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ का अनुशासन किया गया हो, जैसा कि आगे चलकर हेमचन्द्र की कृति मे पाया जाता है।

हेमचन्द्र (१२ वी शती) ने **शब्दानुशासन** नामक व्याकरण लिखा, जिसके प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत, तथा आठवे अध्याय मे प्राकृत व्याकरण का निरूपण किया गया है। यह व्याकरण उपलभ्य समस्त प्राकृत व्याकरणो में सबसे अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित स्वीकार किया गया है। इसके चार पाद है। प्रथम पाद के २७१ सूत्रों मे संधि, व्यजनान्त शब्द, अनुस्वार, लिग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यंजन-व्यत्यय; इनका क्रमसे निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद के २१८ सूत्रों मे संयुक्त व्यंजनो के विपरिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-विपर्यय, शब्दादेश तद्धित, निपात और अव्यय, एवं तृतीय पाद के १८२ सूत्रों में कारक-विभक्तियों तथा क्रिया-रचना संबधी नियम बतलाये गये हैं। चौथे पाद मे ४४८ सूत्र हैं, जिनमे से प्रथम २५९ सूत्रों मे धात्वादेश और फिर शेष मे क्रमशः शौरसैनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। अन्त के २ सूत्रों मे यह भी कह दिया गया है कि प्राकृतों में उक्त लक्षणों का व्यत्यय भी पाया जाता है; तथा जो बात यहां नही बतलाई गई, वह संस्कृतवत् सिद्ध समझनी चाहिये। सूत्रों के अतिरिक्त उसकी वृत्ति भी स्वयं हेमचन्द्र कृत ही है, और इसके द्वारा उन्होंने सूत्रगत लक्षणों को

बड़ी विशदता से उदाहरण दे-देकर समझाया है। आदि के प्रास्ताविक सूत्र **अथ प्राकृतम्** की वृत्ति विशेष महत्वपूर्ण है। इसमे ग्रन्थकार ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति यह दी है कि प्रकृति संस्कृत है, और उससे उत्पन्न व आगत प्राकृत। स्पष्टतः यहां उनका अभिप्राय यह है कि प्राकृत शब्दों का अनुशासन संस्कृत के रूपो को आदर्श मानकर किया गया है। उन्होंने यहा प्राकृत के तत्सम, तद्भव व देशी, इन तीन प्रकार के शब्दो को भी सूचित किया है, और उनमें से संस्कृत और देश्य को छोड़कर तद्भव शब्दों की सिद्धि इस व्याकरण के द्वारा बतलाने की प्रतिज्ञा की है। उन्होंने तृतीय सूत्र में व अन्य अनेक सूत्रो की वृत्ति मे आर्ष प्राकृत का उल्लेख किया है और उसके उदाहरण भी दिये हैं। आर्ष से उनका अभिप्राय उस अर्द्धमागधी प्राकृत से है, जिसमे जैन आगम लिखे गये हैं।

हेमचन्द्र से पूर्वकालीन चंडकृत प्राकृत-लक्षण और वररुचि कृत प्राकृत-प्रकाश नामक व्याकरणो से हेमव्याकरण का मिलान करने पर दोनो की रचनाशैली व विषयक्रम प्रायः एकसा ही पाया जाता है। तथापि 'हैम' व्याकरण मे प्रायः सभी प्रक्रियाएं अधिक विस्तार से बतलाई गई है, और उनमे अनेक नई विधियो का समावेश किया गया है, जो स्वाभाविक है, क्योकि हेमचन्द्र के सम्मुख वररुचि की अपेक्षा लगभग पाच-छह शतियों का भाषात्मक विकास और साहित्य उपस्थित था, जिसका उन्होंने पूरा उपयोग किया है। चूलिका-पैशाची और अपभ्रश का उल्लेख वररुचि ने नही किया। हेमचन्द्र ने इन प्राकृतो के भी लक्षण बतलाये है, तथा अपभ्रंश भाषा का निरूपण अन्तिम ११८ सूत्रो मे बडे विस्तार से किया है, और इससे भी बडी विशेषता यह है कि इन नियमो के उदाहरणो मे उन्होने अपभ्रश के पूरे पद्य उद्धृत किये हैं, जिनसे उस काल तक के अपभ्रश साहित्य का भी अनुमान किया जा सकता है।

हेमचन्द्र के पश्चात् त्रिविक्रम, श्रुतसागर और शुभचन्द्र द्वारा लिखित **प्राकृत व्याकरण** पाये जाते हैं। किन्तु ये सब रचना, शैली व विषय की अपेक्षा हेमचन्द्र से आगे नही बढ़ सके। अपभ्रश का निरूपण तो उतनी पूर्णता से कोई भी नही कर पाया। हा, उदाहरणो की अपेक्षा त्रिविक्रम कृत व्याकरण में कुछ मौलिकता पाई जाती है।

व्याकरण-सस्कृत—

जैन साहित्य मे उपलम्य संस्कृत व्याकरणों मे सबसे अधिक प्राचीन **जैनेन्द्र व्याकरण है**, जिसके कर्ता देवनन्दि पूज्यपाद कदम्बवंशी राजा दुर्विनीत के समकालीन,

अतएव ५ वीं-६ वीं शती में हुए सिद्ध होते हैं। यह व्याकरण पांच अध्यायों में विभक्त है, और इस कारण पंचाध्यायी भी कहलाता है। इसमें एकशेष प्रकरण न होने के कारण, कुछ लेखकों ने उसका **अनेकशेष व्याकरण** नाम से भी उल्लेख किया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि, अकलंककृत तत्वार्थ राजवार्तिक और विद्यानन्दि-कृत श्लोकवार्तिक मे इस व्याकरण के सूत्र उल्लिखित पाये जाते हैं। प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलाकर ३००० सूत्र पाये जाते हैं। इसकी रचना-शैली और विषयक्रम पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण के ही समान है। जिस प्रकार पाणिनि ने **पूर्वत्रासिद्धम्** सूत्र द्वारा अपने व्याकरण को सपाद-सप्ताध्यायी और त्रिपादी, इन दो भागो मे विभक्त किया है, उसी प्रकार उसी सूत्र (५-३-२७) के द्वारा यह व्याकरण भी **सार्धद्विपाद-चतुराध्यायी** और **सार्धेकपादी** में विभाजित पाई जाती है। तथापि इस व्याकरण मे अपनी भी अनेक विशेषताएं हैं। इसमें वैदिकी और स्वर प्रकिया इन दो प्रकरणो को छोड़ दिया गया है। परन्तु पाणिनि के सूत्रों में जो अपूर्णता थी, और जिसकी पूर्ति कात्यायन व पतंजलि ने वार्तिकों व भाष्य द्वारा की थी उसकी यहा सूत्रपाठ मे पूर्ति कर दी गई है। अनेक संज्ञाएं भी नयी प्रविष्ट की गई है; जैसे पाणिनीय व्याकरण की प्रथमा, द्वितीया आदि कारक-विभक्तियों के लिये यहा वा, इप् आदि; निष्ठा के लिये त, आत्मनेपद के लिये द, प्रगृह्यके लिये दि, उत्तरपद के लिये द्यु आदि एक ध्वन्यात्मक नाम नियत किये गये हैं। इन बीजाक्षरों द्वारा सूत्रो मे अल्पाक्षरता तो अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही उनके समझने मे कठिनाई भी बढ़गई है।

जैनेन्द्र व्याकरण पर स्वभावत. बहुत सा **टीका-साहित्य** रचा गया। श्रुतकीर्ति कृत **पंचवस्तु-प्रक्रिया** (१३ वी शती) के अनुसार यह व्याकरण रूपी प्रासाद सूत्ररूपी स्तंभो पर खडा है; **न्यास** इसकी रत्नमय भूमि है; **वृत्ति** रूप उसके कपाट हैं; **भाष्य** इसका शय्यातल हैं, और **टीकायें** इसके माले (मंजिले) हैं; जिनपर चढ़ने के लिये यह पंचवस्तुक रूपी सोपन-पथ निर्मित किया जाता है। पंचवस्तु-प्रक्रिया के अतिरिक्त इस व्याकरण पर अभयनन्दि कृत **महावृत्ति** (८ वी शती), प्रभचन्द कृत **शब्दाम्भोज-भास्कर** न्यास (११ वी शती), और नेमिचन्द्रकृत **प्रक्रियावतार** पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त और कोई टीका-ग्रंथ इस पर नही मिलते, किन्तु भाष्य और प्राचीन टीकाएं होना अवश्य चाहिये। महाचन्द्रकृत **लघुजैनेन्द्र**, वंशीधर कृत **जैनेन्द्र-प्रक्रिया** व पं० राजकुमार कृत **जैनेन्द्रलघुवृत्ति** हाल ही की कृतियां हैं। उपलभ्य टीकाओं में अभय-नन्दि कृत **महावृत्ति** बारह हजार श्लोक-प्रमाण हैं, और बहुत महत्वपूर्ण हैं। उसमें

अनेक नये उदाहरण पाये जाते है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इनमें शालिभद्र, समन्तभद्र, सिंहनन्दि सिद्धसेन, अभयकुमार, श्रेणिक आदि नामों का समावेश करके ग्रन्थ मे जैन वातावरण निर्माण कर दिया गया है। उन्होने श्रीदत्त का नाम, जो सूत्र मे भी आया है, वारंवार इस प्रकार लिया है जिससे वे उनसे पूर्व के कोई महान् और सुविख्यात वैयाकरण प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दि ने अपने तत्वार्थ-श्लोक-वार्तिक मे श्रीदत्त कृत **जल्पनिर्णय** का उल्लेख किया है, जिसमे जल्पके दो प्रकार बतलाये गये थे। जिनसेन ने आदिपुराण में भी उन्हे 'तपःश्रीदीप्तमूर्ति' व 'वादीभकण्ठीरव' कहकर नमस्कार किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण का परिवर्धित रूप गुणनन्दि कृत **शब्दार्णव** में पाया जाता है, जिसमें ३७०० सूत्र अर्थात् मूल से ७०० अधिक सूत्र है। जैनेन्द्र सूत्रो मे जो अनेक कमिया थी, उनकी पूर्ति अभयनन्दि ने अपनी महावृत्ति के वार्तिको द्वारा की। गुणनन्दि ने अपने सस्करण मे उन सब के भी सूत्र बनाकर जैनेन्द्र व्याकरण को अपने काल तक के लिये अपने-आप मे पूर्ण कर दिया है। यहा वह एकशेष प्रकरण भी जोड दिया गया है, जिसके अभाव के कारण चन्द्रिका टीका के कर्ता ने मूल ग्रथ को 'अनेकशेष व्याकरण' कहा है। यद्यपि गुणनन्दि नाम के बहुत से मुनि हुए है; तथापि शब्दार्णव के कर्ता वे ही गुणनन्दि प्रतीत होते है, जो श्रवण बेल्गोल के अनेक शिलालेखो के अनुसार बलाकपिच्छ के शिष्य, तथा गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे, एवं तर्क, व्याकरण और साहित्य के महान् विद्वान थे। वादिराजसूरि ने अपने पार्श्व-चरित मे इनका स्मरण किया है। आदिपंप के गुरु देवेन्द्र इनके शिष्य थे। इनका समय **कर्नाटक-कवि-चरित** के अनुसार वि० सं० ६५७ ठीक प्रतीत होता है।

शब्दार्णव की अभी तक दो टीकायें प्राप्त हुई हैं--एक सोमदेव मुनि कृत शब्दार्णव-चन्द्रिका है जो शक सं० ११२७ मे शिलाहार वंशीय राजा भोजदेव द्वि० के काल के खर्जुरिका नामक ग्राम के जिन मन्दिर मे लिखी गई थी। लेखक के कथानानुसार उन्होंने इसे मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यति के लिये रचा था।

दूसरी टीका **शब्दार्णव-प्रक्रिया** है, जो भ्रम-वश जैनेन्द्रप्रक्रिया के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमे कर्ता ने अपना नाम प्रकट नही किया; किन्तु अपने को श्रुतकीर्तिदेव का शिष्य सूचित किया है। अनुमानतः ये श्रुतकीर्ति वे ही हैं, जिनकी श्रवेणबेल्गोला के १०८ वें शिलालेख मे बडी प्रशंसा की गई है, और जिनका समय वि० सं० ११८० माना गया है। अनुमानतः इनके शिष्य चारुकीर्ति पंडिताचार्य ही शब्दार्णव-प्रक्रिया के

कर्ता हैं। उपर्युक्त पंचवस्तुप्रक्रिया के कर्ता श्रुतकीर्ति भी इस कर्ता के गुरु हो सकते हैं। इसमें पं० नाथूराम जी प्रेमी ने केवल यह आपत्ति प्रकट की है कि प्रस्तुत प्रक्रिया के कर्ता ने अपने गुरु को कविपति बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं। किन्तु यह कोई बड़ी आपत्ति नहीं।

देवनन्दि के पश्चात् दूसरे संस्कृत के महान् जैन वैयाकरण शाकटायन हुए जिन्होंने **शब्दानुशासन** की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के समय में की, और जिसका रचना-काल शक सं० ७३६ व ७८६ के बीच सिद्ध होता है। एक टीकाकार तथा पार्श्वनाथचरित के कर्ता वादिचन्द्र ने इस व्याकरण के कर्ता का पाल्यकीर्ति नाम भी सूचित किया है। यह नाम उन्होंने संभवतः इस कारण लिया जिससे पाणिनि द्वारा स्मृत प्राचीन वैयाकरण शाकटायन से भ्रान्ति न हो। इस शब्दानुशासन में कर्ता ने उन सब कमियों व त्रुटियों की पूर्ति कर दी है, जो मूल जैनेन्द्रव्याकरण में पाई जाती थी। अनेक बातें यहां मौलिक भी हैं। उदाहरणार्थ, आदि में ही इसके प्रत्याहार सूत्र पाणिनीय-परम्परा से कुछ भिन्न हैं। ऋलृक् के स्थान पर केवल ऋक् पाठ है, क्योंकि ऋ और लृ में अभेद स्वीकार किया गया है। हयवरट् और लण् को मिलाकर, व ट् को हटाकर यहां एक सूत्र बना दिया गया है, तथा उपान्त्य सूत्र श ष स र् में विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का भी समावेश कर दिया गया है, इत्यादि। जैनेन्द्र-सूत्र व महावृत्ति में 'प्रत्याहार' सूत्र पाणिनीय ही स्वीकार करके चला गया है; किन्तु जैनेन्द्र परम्परा की शब्दार्णवचन्द्रिका में ये शाकटायन 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकार किये गये हैं। जैनेन्द्र का टीकासाहित्य शाकटायन की कृति से बहुत उपकृत हुआ पाया जाता है; और जान पड़ता है इस अधिक पूर्ण व्याकरण के होते हुए भी उन्होंने जैनेन्द्र की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के हेतु उसे इस आधार से अपने कालतक संपूर्ण बनाना आवश्यक समझा है।

शाकटायन ने स्वयं अपने सूत्रों पर वृत्ति भी लिखी है, जिसे उन्होंने अपने समकालीन अमोघवर्ष के नामसे **अमोघवृत्ति** कहा है। इस वृत्ति का प्रमाण १८००० श्लोक माना गया है। इसका ६००० श्लोक प्रमाण संक्षिप्त रूप यक्षवर्मा कृत **चिन्तामणि** नामक लघीयसीवृत्ति में मिलता है। इसके विषय में कर्ता ने स्वयं यह दावा किया है कि इन्द्र, चन्द्रादि शाब्दों ने जो भी शब्द का लक्षण कहा है, वह सब इसमें है, और जो यहां नहीं है, वह कहीं भी नहीं। इसमें गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन, उणादि आदि निःशेष प्रकरण हैं। इस निःशेष विशेषण द्वारा संभवतः उन्होंने अनेकशेष जैनेन्द्र व्याकरण की अपूर्णता की ओर संकेत किया है। यक्षवर्मा का यह भी दावा है कि

उनकी इस **वृत्ति** के अभ्यास से बालक व अबला जन भी निश्चय से एक वर्ष में समस्त वाङ्‌मय के वेत्ता बन सकते है। इस चिन्तामणि वृत्ति पर अजितसेन कृत **मणिप्रकाशिका** नामक टीका है । मूल सूत्रो पर लघुकौमुदी के समान एक छोटी टीका दयापाल मुनि कृत **रूपसिद्धि** है । कर्ता के गुरु मतिसागर पार्श्वनाथ-चरित के कर्ता वादिराज सूरि के समसामयिक होने से ११ वी शती के सिद्ध होते हैं । एक सिद्धान्त कौमुदी के ढग की **'प्रक्रिया-सग्रह'** अभयचन्द्र कृत प्रकाश मे आ चुकी है (बम्बई, १९०७) । एक और टीका है वादिपर्वतवज्र भावसेन त्रैविद्यदेवकृत **शाकटायन टीका** । इसके कर्ता अनुमानतः वे ही हैं जिन्होने **कातंत्र की रूपमाला** नामक टीका लिखी है; तथा जिनका एक **विश्वतत्वप्रकाश** नामक ग्रन्थ भी पाया जाता है। अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्र कृत **न्यास** भी है, किन्तु अभी तक इसके केवल दो अध्याय प्राप्त हुए हैं । **माधवीय धातुवृत्ति** में इसके तथा समन्तभद्रकृत **चिन्तामणि-विषमपद-टीका** के अवतरण मिलते है । एक और मगरसकृत **प्रतिपद** नामक टीका के भी उल्लेख मिलते हैं ।

एक तीसरी व्याकरण-परम्परा सर्ववर्माकृत **कातंत्र व्याकरण** सूत्र से प्रारंभ हुई पाई जाती है । इसके रचनाकाल का निश्चय नही । किन्तु है वह अति प्राचीन और शाकटायन से भी पूर्व की है, क्योकि इसकी **टीकाओं की परम्परा** दुर्गसिह से प्रारंभ होती है, जो लगभग ८०० ई० मे हुए माने जाते हैं । काच्चायन पालि-व्याकरण की रचना मे कातत्र का उपयोग किया गया है । इसकी रचना में नाना विशेषताएं हैं, और परिभाषाओ मे भी यह पाणिनि से बहुत कुछ स्वतंत्र है। इसकी सूत्र-सख्या १४०० से कुछ अधिक है । दुर्गसिह की **वृत्ति** पर त्रिलोचनदास कृत **वृत्ति-विवरण-पंजिका**, और उस पर जिनेश्वर के शिष्य जिनप्रबोध कृत **'वृत्तिविवरणपंजिका-दुर्गपद-प्रबोध'** (वि० सं० १३६१ से पूर्व) पाये जाते हैं । अन्य उपलभ्य टीकाये है ढुढक के पुत्र महादेव कृत **शब्दसिद्धि** वृत्ति (वि० स० १३४० से पूर्व), महेन्द्रप्रभ के शिष्य मेरुतुगसूरि कृत **बालबोध** (वि० स० १४४४), वर्धमान कृत **विस्तार** (वि० सं० १४५८ से पूर्व), भावसेन त्रैविद्यकृत **रूपमाला-वृत्ति**, गाल्हणकृत **चतुष्कवृत्ति**, मोक्षेश्वर कृत **आख्यात-वृत्ति** व पृथ्वीचन्द्रसूरि कृत **वृत्ति** । एक **'कालापक-विशेष-व्याख्यान'** भी मिलता है, जिससे मूलग्रन्थ का नाम कालापक भी प्रतीत होता है। एक पद्यात्मक टीका ३१०० श्लोक-प्रमाण **कौमार-सम्मुच्चय** नाम की भी है। **कातंत्र-संभ्रम** और विद्यानन्दसूरिकृत **कातन्त्रोत्तर** नामक टीकाये भी पाई गई हैं, और कुछ अन्य भी, जिनमें कर्ता का नाम नही । इन कृतियों में कुछ के कर्ता अजैन विद्वान् भी प्रतीत होते हैं । इन सब रचनाओ से इस व्याकरण का अच्छा प्रचार रहा सिद्ध होता है । इसका

एक कारण यह भी है कि यह जैनेन्द्र व शाकटायन की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त है।

चौथे महान् जैन वैयाकरण हैं हेमचन्द्र, जिनका **शब्दानुशासन** अपनी सर्वांग परिपूर्णता व नाना विशेषताओं की दृष्टि से अद्वितीय पाया जाता है। इसकी रचना उन्होंने गुजरात के चालुक्यवंशी राजा सिद्धराज जयसिंह के प्रोत्साहन से की थी; और उसी के उपलक्ष्य मे उन्होने उसका नाम **सिद्ध-हैम-शब्दानुशासन** रखा। सिद्धराज का राज्यकाल वि० सं० ११५१ से ११९९ तक पाया जाता है, और यही इस रचना की कालावधि है। हैम शब्दानुशासन पाणिनि के अष्टाध्यायी के समान ४-४ पादों वाले आठ अध्यायों मे लिखा गया है। आठवा अध्याय प्राकृत-व्याकरण विषयक है, जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत व्याकरण संबंधी ३५६६ सूत्र है, जिनमे क्रमशः सज्ञा, संधि, कारक, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित का प्ररूपण किया गया है। सूत्रो के साथ अपने गणपाठ, धातुपाठ, उणादि और लिगानुशासन भी जुडे हुए है, जिससे यह व्याकरण पचागपूर्ण है। सूत्र-रचना में शाकटायन का विशेष अनुकरण प्रतीत होता है। यो उसपर अपने से पूर्व की प्रायः सभी जैन व अजैन व्याकरणो की कुछ न कुछ छाप है। इस पर कर्ता ने स्वय छह हजार श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति** लिखी है, जो प्रारंभिक अध्येताओ के बड़े काम की है; और दूसरी अठारह हजार श्लोकप्रमाण **बृहद्-वृत्ति** भी लिखी है, जो विद्वानो के लिये हैं। इसमे अनेक प्राचीन वैयाकरणो के नाम लेकर उनके मतों का विवेचन भी किया है। इन पूर्व वैयाकरणो मे देवनन्दि (जैनेन्द्र) शाकटायन व दुर्गसिंह (कातंत्रवृत्तिकार) भी हैं; और यास्क, गार्ग्य, पाणिनि, पतंजलि, भर्तृहरि, वामन, जयादित्य, क्षीरस्वामी भोज आदि भी। उदाहरणों में भी बहुत कुछ मौलिकता पाई जाती है। विधि-विधानों मे कर्ता ने इसमे अपने काल तक के भाषात्मक विकास का समावेश करने का प्रयत्न किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बडा महत्वपूर्ण है। उणादि सूत्रो पर भी कर्ता का **स्वोपज्ञ विवरण** है, और लिंगानुशासन की पद्यात्मक रचना पर भी। कर्ता ने स्वयं एक लघु और दूसरा बृहत् **न्यास** भी लिखे थे, जिनकी भी प्रतियां मिलती हैं। **बृहत्-न्यास** का प्रमाण नौ हजार श्लोक कहा जाता है। किन्तु वर्तमान में यह केवल भिन्न-भिन्न ८-९ पादो पर ३४०० श्लोक प्रमाण मिलता है। यह समस्त व्याकरण सवा लाख श्लोक प्रमाण आंका जाता है। बीसों अन्य महाकाय ग्रंथों के रचयिता की एक इतनी विशाल रचना को देखकर हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों की बुद्धि चकित हुए बिना नही रहती; और यही इस व्याकरण-सामग्री की समाप्ति नही होती। हेमचन्द्र ने अपने **द्वयाश्रयकाव्य** के प्रथम बीस सर्गों मे इस व्याकरण के क्रमबद्ध उदाहरण भी

उपस्थित किये हैं। ऐसी रचना पर अन्य लेखकों द्वारा टीका-टिप्पणी के लिये अवकाश शेष नहीं रहता। फिर भी इसपर मुनिशेखरसूरि कृत **लघुवृत्तिढुंढिका**, कनकप्रभकृत लघुन्यास पर **दुर्गपदव्याख्या**, विद्याकरकृत **बृहद-वृत्तिदीपिका**, धनचन्द्र कृत **लघुवृत्ति-अवचूरि**, अभयचन्द्र कृत **बृहद्वृत्ति-अवचूरि** एवं जिनसागर कृत **दीपिका** आदि कोई दो दर्जन नाना प्रकरणों की टीकायें उपलब्ध हैं, जिनसे इस कृति की रचना के प्रति विद्वानों का आदर व लोकप्रचार और प्रसिद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक सस्कृत व्याकरण लिखे गये है, जैसे मलयगिरि कृत **शब्दानुशासन** अपर नाम **मुष्टिव्याकरण** स्वोपज्ञ टीका सहित, दानविजय कृत **शब्दभूषण**, आदि। किन्तु उनमे पूर्वोक्त ग्रन्थो का ही अनुकरण किया गया है, और कोई रचना या विषय संबंधी मौलिकता नही पाई जाती।

छद:शास्त्र-प्राकृत—

जैन परम्परा मे उपलम्य छंद.शास्त्र विषयक रचनाओ में नन्दिताढ्य कृत **गाथा-लक्षण**, प्राकृत व्याकरण में चण्डकृत प्राकृत-लक्षण के समान, सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। ग्रन्थ मे कर्ता के नाम के अतिरिक्त समयादि संबंधी कोई सूचना नही पाई जाती, और न अभी तक किसी पिछले लेखको द्वारा उनका नामोल्लेख सम्मुख आया, जिससे उनकी कालावधि का कुछ अनुमान किया जा सके। तथापि कर्ता के नाम, उनकी प्राकृत भाषा, ग्रन्थ के विषय व रचना शैली परसे वे अति प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। आरंभ मे गाथा के मात्रा, अश आदि सामान्य गुणो का विधान किया गया है, जिसमे शर आदि सज्ञाओ का प्रयोग पिगल, विरहाक आदि छदःशास्त्रियो से भिन्न पाया जाता है। तत्पश्चात् गाथा के पथ्या, विपुला और चपला, तथा चपला के तीन प्रभेद और फिर उनके उदाहरण दिये गये हैं। फिर एक अन्य प्रकार से वर्णों के ह्रस्वदीर्घत्व के आधार पर गाथा के विप्रा, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, ये चार भेद और उनके उदाहरण बतलाये हैं। इसके पश्चात् अक्षर-सख्यानुसार गाथा के छब्बीस भेदों के कमला आदि नाम गिनाकर फिर उनके लक्षण दिये गये हैं, और गाथा के लघु-गुरुत्व तौल, प्रस्तार, सख्या, नक्षत्र-ग्रह आदि प्रत्यय बतलाये गये हैं। अन्त मे गाथा मे मात्राओ की कमीबढ़ी से उत्पन्न होने वाले उसके गाथा, विगाथा, उग्दाथा, गाथिनी और स्कंधक, इन प्रभेदों को समझाया गया है। ये प्रथम तीन नाम हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रयुक्त उपगीति, उग्दीति और गीति नामों की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

ग्रन्थ का इतना विषय उसका अभिन्न और मौलिक अंश प्रतीत होता है जो लगभग ७० गाथाओं में पूरा आ गया है। किन्तु डा० वेलंकर द्वारा सम्पादित पाठ में ६६ गाथाएं हैं। अधिक गाथाओं में गाथा के कुछ उदाहरण, तथा ७५ वी गाथा से आगे के पद्धडिया आदि अपभ्रंश छंदो के लक्षण और उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें विद्वान् सम्पादक ने मूल ग्रन्थ के अंश न मानकर, सकारण पीछे जोड़े गये सिद्ध किया है। किन्तु उन्होंने जिन दो गाथाओ को मौलिक मानकर उन पर कुछ आश्चर्य किया है, उनका यहा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। ३८ वे पद्य मे गाथा के दश भेद गिनाये गये हैं; किन्तु यथार्थ मे उपर्युक्त भेद तो नौ ही होते हैं। दसवा मिश्र नामका भेद वहा बनता ही नही है। उसका जो उदाहरण दिया गया है, वह मिश्र का कोई उदाहरण नही, और उसे सम्पादक ने ठीक ही प्रक्षिप्त अनुमान किया है। मेरे मतानुसार दस भेदो को गिनाने वाली गाथा भी प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। जब ऊपर नौ भेद लक्षणो और उदाहरणो द्वारा समझाये जा चुके, तब यहा उन्हे पुनः गिनाने की और उनमे भी एक अप्रासंगिक भेद जोड देने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। कर्ता की संक्षेप रचना-शैली मे उसके लिये कोई अवकाश भी नही रह जाता। उक्त भेदो का मिश्र रूप भी कुछ होता ही होगा, इस भ्रान्त धारणा से किसी पाठक ने उसे जोड़ कर ग्रन्थ को पूरा कर देना उचित समझा, और उसका मनचाहा, भले ही अयुक्त, वह उदाहरण दे दिया होगा।

गाथा ३१ मे कहा गया है कि जैसे वैश्याओ के स्नेह, और कामीजनों के सत्य नही होता; वैसे ही नन्दिताढ्य द्वारा उक्त प्राकृत मे जिह, किह, तिह, नहीं हैं। स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अपने ऊपर ही इस अनुचित उपमा पर डा० वेलंकर ने स्वभावतः आश्चर्य प्रकट किया है, तथापि उसे ग्रन्थ का मौलिक भाग मानकर अनुमान किया है कि ग्रन्थकार जैन यति होता हुआ आगमोक्त गाथा छद का पक्षपाती था, और अपभ्रंश भाषा व छदो की ओर तिरस्कार दृष्टि रखता था। किन्तु मेरा अनुमान है कि यह गाथा भी ग्रन्थ का मूलाश नही, और वह अपभ्रश का तिरस्कार करने वाले द्वारा नही, किन्तु उसके किसी विशेष पक्षपाती द्वारा जोड़ी गई है, जिसे अपने काल के लोकप्रिय और वास्तविक अपभ्रंश रूपों का इस रचना मे अभाव खटका, और उसने कर्ता पर यह व्यंग मार दिया कि उनका प्राकृत एक वेश्या व कामुक के सदृश उक्त प्रयोगों की प्रियता और सत्यता से हीन पाया जाता है। इस प्रकार उक्त पद्य का अनौचित्य दोष पुष्टार्थता गुण में परिवर्तित हो जाता है, और ग्रन्थकर्ता अपभ्रंश के प्रति अनुचित और अप्रासंगिक विद्वेष के अपराध से बच जाते हैं। इस ग्रन्थ की दो टीकाएं मिली हैं, एक

रत्नचन्द्रकृत और दूसरी अज्ञातकर्तृक अवचूरि। इन दोनों मे समस्त प्रक्षिप्त अनुमान की जाने वाली गाथाएं स्वीकार की गई हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे उनसे पूर्व समाविष्ट हो गई थी। अन्य प्राचीन प्रतियो की बडी आवश्यकता है।

प्राकृत में छद.शास्त्र का कुछ सर्वांगीरण निरूपण करने वाले सुप्राचीन कवि स्वयंभू पाये जाते हैं, जिनके पउमचरिउ और हरिवशचरिउ नामक अपभ्रश पुराणो का परिचय पहले कराया जा चुका है, और जिसके अनुसार उनका रचनाकाल ७-८ वी शती सिद्ध होता है। स्वयंभूछंदस् का पता हाल ही मे चला है, और उस एक मात्र हस्तलिखित प्रति मे आदि के २२ पत्र न मिल सकने से ग्रन्थ का उतना भाग अनुपलब्ध है। यह ग्रन्थ मुख्यतः दो भागो मे विभाजित है, एक प्राकृत और दूसरा अपभ्रंश विषयक। प्राकृत छदो का निरूपण तीन परिच्छेदो मे किया गया है आदिविधि, अर्धसम और विसमवृत्त, तथा अपभ्रश का निरूपण उच्छाहादि छप्पअजाति, चउप्पअ, दुवअ, शेष द्विपदी और उत्थक्क आदि। इस प्रकार इसमे कुल ६ परिच्छेद है। प्राकृत छदों मे प्रथम परिच्छेद के भीतर शक्वरी आदि १३ प्रकार के ६३ छदो का निरूपण किया गया है, जिनमे १४ अक्षरो से लेकर २६ अक्षरो तक के चार चरण होते हैं। १ से १३ अक्षरों तक के वृत्तो का स्वरूप अप्राप्त अश मे रहा होगा। इससे अधिक अक्षरो के वृत्त दण्डक कहे गये है। दूसरे परिच्छेद मे वेगवती आदि अर्धसम वृत्तो का निरूपण किया गया है,जिनके प्रथम और द्वितीय चरण परस्पर भिन्न व तीसरे और चौथे के सदृश होते हैं। तीसरे परिच्छेद मे उद्गतादि विषम वृत्तो का वर्णन है, जिनके चारों चरण परस्पर भिन्न होते हैं। अपभ्रश छंदो मे पहले उत्साह, दोहा और उसके भेद, मात्रा, रड्डा आदि १२ वृत्तों का, फिर पाचवे परिच्छेद मे छह पदो वाले ध्रुवक, जाति, उपजाति आदि २४ छदो का, छठे मे सौ अर्धसम और आठ सर्वसम, ऐसे १२ चतुष्पदी ध्रुवक छंदो का, सातवें मे ४० प्रकार की द्विपदी का, आठवें मे चार से दस मात्राओं तक की शेष दश द्विपदियों का, और अन्त मे उत्थवक, ध्रुवक, छड्डनिका और घत्ता आदि वृत्तो का निरूपण किया गया है।

स्वयभू-छदस् की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। एक तो उसकी समस्त रचना और समस्त उदाहरण प्राकृत-अपभ्रशात्मक हैं। दूसरे,उन्होने मात्रा गणों के लिये अपनी मौलिक संज्ञाएं जैसे द, त, च आदि प्रयुक्त की हैं। तीसरे, उन्होंने अक्षर और मात्रा गणों में कोई भेद नहीं किया; तथा संस्कृत के अक्षर-गण वृत्तों को भी प्राकृत के व मात्रा-गण के रूप मे दर्शाया है। चौथे, स्वयभू ने पाद के बीच यति के सम्बन्ध में दो परम्पराओं का उल्लेख किया है, जिनमें से मांडव्य, भरत, कश्यप, और सैतव ने यति

नहीं मानी । स्वयंभू ने अपने को इसी परम्परा का प्रकट किया है । और पाचवें, उन्होने जो उदाहरण दिये हैं, वे उनके समय के प्राकृत लोक-साहित्य में से, बिना किसी धार्मिक व साम्प्रदायिक भेद भाव के लिये हैं, और अधिकाश के साथ उनके कर्ताओं का भी उल्लेख कर दिया है । कुल उदाहरणात्मक पद्यो कीं संख्या २०६ है, जिनमें से १२८ प्राकृत के, और शेष अपभ्रंश के हैं । उल्लिखित कवियो की संख्या ५८ है, जिनमें सबसे अधिक पद्यो के कर्ता सुद्धसहाव (शुद्धस्वभाव) और सुद्धसील पाये जाते हैं । आश्चर्य नही, वे दोनों एक ही हो । शेष में कुछ परिचित नाम हैं—कालिदास, गोविन्द, चउमुह, मयूर, वेताल, हाल आदि । दो स्त्री कवियो के नाम राहा और विज्जा ध्यान देने योग्य है । अपभ्रश के उदाहरणो मे गोविन्द और चतुर्मुख की कृतियो की प्रधानता है, और उन पर से उनकी क्रमश. हरिवंश और रामायण विषयक रचनाओं की संभावना होती है । उपर्युक्त प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम पद्य मे स्वयभू ने अपनी रचना को **पंचंससारभूतं** कहा है, जिससे उनका अभिप्राय है कि उन्होने अपनी इस रचना में गणो का विधान द्विमात्रिक से लेकर छह मात्रिक तक पाच प्रकार से किया है ।

कविदर्पण नामक प्राकृत छद-शास्त्र के कर्ता का नाम अज्ञात है । इसका सम्पादन एक मात्र ताडपत्र प्रति पर से किया गया है, जिसके आदि और अन्त के पत्र अप्राप्त होने से दोनों ओर का कुछ भाग अज्ञात है । कर्ता का भी प्राप्त अंश से कोई पता नही चलता । साथ मे सस्कृत टीका भी मिली है, किन्तु उसके भी कर्ता का कोई पता नही । तथापि नन्दिषेणकृत अजित-शान्तिस्तव के टीकाकार जिनप्रभ सूरि ने इस ग्रन्थ का जो नामोल्लेख व उसके ३४ पद्य उद्धृत किये हैं, उस पर से इतना निश्चित है कि उसका रचनाकाल वि० स० १३६५ से पूर्व है । ग्रन्थ मे रत्नावली के कर्ता हर्षदेव, हेमचन्द्र, सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल आदि के नाम आये हैं, जिनसे ग्रन्थ की पूर्वावधि १३ वीं शती निश्चित हो जाती है । अर्थात् यह ग्रन्थ ईस्वी सन् ११७२ और १३०८ के बीच कभी लिखा गया है । ग्रन्थ में छह उद्देश हैं । प्रथम उद्देश मे मात्रा और वर्ण गणो का, दूसरे मे मात्रा छंदों का, तीसरे में वर्ण-वृत्तों का, चौथे मे २६ जातियों का, पांचवें मे वैतालीय आदि ११ उभयछंदों का और छठे में छह प्रत्ययों का वर्णन किया गया है । इस प्रकार कुल मिलाकर २४ सम, १५ अर्धसम और १३ मिश्र अर्थात् ५२ प्राकृत छंदो का यहां निरूपण है, जो स्पष्ट ही अपूर्ण है; विशेषत. जब कि इसकी रचना स्वयंभू और हेमचन्द्र की कृतियो के पश्चात् हुई है । तथापि लेखक का उद्देश्य संपूर्ण छंदों का नहीं, किन्तु उनके कुछ सुप्रचलित रूपों मात्र का प्ररूपण करना प्रतीत होते हैं । उदाहरणों की संख्या ६६ है, जो सभी स्वयं ग्रन्थकार

के स्वनिर्मित प्रतीत होते हैं। टीका में अन्य ६१ उदाहरण पाये जाते हैं, जो अन्यत्र से उद्धृत हैं। द्वितीय उद्देश अन्तर्गत मात्रावृत्तो का निरूपण बहुत कुछ तो हेमचन्द्र के अनुसार है, किन्तु कहीं कहीं कुछ मौलिकता पाई जाती है।

छंद कोश के कर्ता रत्नशेखर नागपुरीय तपागच्छ के हेमतिलकसूरि के शिष्य थे, जिनका जन्म, पट्टावली के अनुसार, वि० सं० १३७२ मे हुआ था, तथा जिनकी अन्य दो रचनाये श्रीपालचरित्र (वि० स० १४२८) और गुणस्थान-क्रमारोह (वि० सं० १४४७) प्रकाशित हो चुकी है। ग्रन्थ मे कुल ७४ प्राकृत व अपभ्रंश पद्य है और इनमें क्रमश. लघु-गुरु अक्षरो व अक्षर गणो का, आठ वर्णवृत्तो का, ३० मात्रा-वृत्तो का, और अन्त मे गाथा व उसके भेदप्रभेदो का निरूपण किया गया है। **प्राकृत-पिंगल** मे जो ४० मात्रावृत्त पाये जाते हैं, उनसे प्रस्तुत ग्रन्थ के १५ वृत्त सर्वथा नवीन हैं। इनके लक्षण व उदाहरण सब अपभ्रंश मे हैं, व एक ही पद्य मे दोनो का समावेश किया गया है। गाथाओ के लक्षण आदि प्राकृत गाथाओ मे है। अपभ्रंश छदो के निरूपक पद्यो मे बहुत से पद्य अन्यत्र से उद्‌धृत किये हुए प्रतीत होते हैं, क्योकि इनके साथ उनके कर्ताओ के नाम, जैसे गुल्ह, अर्जुन, पिंगल आदि जुडे हुए है। इनमे पिंगल के नाम पर से सहज ही अनुमान होता है कि छद कोश के कर्ता ने वे पद्य उपलभ्य प्राकृतपिंगल मे से लिये होगे, किन्तु बात ऐसी नही है। वे पद्य इस प्राकृत पिंगल मे नही मिलते। कुछ पद्य ऐसे भी है जो यहा गुल्ह कवि कृत या बिना किसी कर्ता के नाम के पाये जाते है, और वे ही पद्य प्राकृत पिंगल मे पिंगल के नाम-निर्देश सहित विद्यमान है। इससे विद्वान् सम्पादक डा० वेलनकर ने यह ठीक ही अनुमान किया है कि यथार्थत. दोनो ने ही उन्हें अन्यत्र से लिया है; किन्तु रत्न-शेखर ने उन्हे सचाई से ज्यो का त्यो रहने दिया है, और पिंगल ने पूर्व कर्ता का नाम हटाकर अपना नाम समाविष्ट कर दिया है। पिंगल की वर्तमान रचना मे से रत्न-शेखर द्वारा अवतरण लिये जाने की यो भी संभावना नही रहती, क्योकि पिंगल मे रत्नशेखर से पश्चात्कालीन घटनाओ का भी उल्लेख पाया जाता है। अतएव सिद्ध होता है कि पिंगल की जिस रचना का छन्दःकोश मे उपयोग किया गया है, वह वर्तमान प्राकृत पिंगल से पूर्व की कोई भिन्न ही रचना होगी, जैसा कि अन्य अनेक पिंगल सम्बन्धी उल्लेखो से भी प्रमाणित होता है।

संस्कृत मे रचित हेमचन्द्र कृत **छंदोनुशासन** (१२ वी शती) का उल्लेख **छंद चूड़ामणि** नाम से भी आता है। यह रचना आठ अध्यायों में विभक्त हैं और उसपर स्वोपज्ञ टीका भी है। इस रचना मे हेमचन्द्र ने, जैसा उन्होंने अपने व्याकरणादि ग्रन्थो

में किया है, यथाशक्ति अपने समय तक आविष्कृत तथा पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित समस्त संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश छंदों का समावेश कर देने का प्रयत्न किया है, भले ही वे उनके समय मे प्रचार मे रहे हों या नही। भरत और पिंगल के साथ उन्होने स्वयभू का भी आदर से स्मरण किया है। माण्डव्य, भरत, काश्यप, सैतव, जयदेव, आदि प्राचीन छदःशास्त्र प्रणेताओ के उल्लेख भी किये है। उन्होने छंदों के लक्षण तो सस्कृत में लिखे हैं, किन्तु उनके उदाहरण उनके प्रयोगानुसार संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रश मे दिये हैं। उदाहरण उनके स्वनिर्मित हैं; कही से उद्धृत किये हुए नही। हेमचन्द्र ने अनेक ऐसे प्राकृत छदों के नाम, लक्षण और उदाहरण भी दिये हैं, जो स्वयभू-छदस् मे नही पाये जाते। स्वयभू ने जहा १ से २६ अक्षरों तक के वृत्तों के लगभग १०० भेद किये हैं, वहा हेमचन्द्र ने उनके २८६ भेद-प्रभेद बतलाये है, जिनमे दण्डक सम्मिलित नही है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के समस्त प्रकार के छंदो के शास्त्रीय लक्षणो व उदाहरणो के लिये यह रचना एक महाकोष है।

छद:शास्त्र-सस्कृत—

सस्कृत मे अन्य भी अनेक छद विषयक ग्रन्थ पाये जाते है, जैसे नेमि के पुत्र वाग्भट्ट कृत ५ अध्यायात्मक **छंदोनुशासन**, जिसका उल्लेख काव्यानुशान में पाया जाता है; जयकीर्ति कृत **छंदोनुशासन** जो वि० स० ११९२ की रचना है। जिनदत्त के शिष्य अमरचन्द्र कृत **छंदो-रत्नावली, रत्नमंजूषा** अपरनाम **छंदों-विचिति** के कुल १२ अध्यायो मे आठ अध्यायो पर **टीका** भी मिलती है, आदि। इन रचनाओं मे भी अपनी कुछ विशेताए है, तथापि शास्त्रीय दृष्टि से उनके सम्पूर्ण विषय का प्ररूपण पूर्वोक्त ग्रथो मे समाविष्ट पाया जाता है।

कोश-प्राकृत —

प्राकृत कोषों में सर्वप्राचीन रचना धनपाल कृत **पाइयलच्छी-नाममाला** है, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार कर्ता ने अपनी कनिष्ठ भगिनी सुन्दरी के लिये धारा-नगरी मे वि० सं० १०२९ मे लिखी थी, जबकि मालव नरेन्द्र द्वारा मान्यखेट लूटा गया था। यह घटना अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो से भी सिद्ध होती है। धारानरेश हर्षदेव के एक शिलालेख मे उल्लेख है कि उसने राष्ट्रकूट राजा खोटिगदेव की लक्ष्मी का अपहरण किया था। इस कोष में अमरकोष की रीति से प्राकृत पद्यो मे लगभग १००० प्राकृत शब्दो के पर्यायवाची शब्द कोई २५० गाथाओ मे दिये गये हैं। प्रारंभ मे कमलासनादि

१८ नाम-पर्याय एक-एक गाथा मे, फिर लोकाग्र आदि १६७ तक नाम आधी-आधी गाथा में, तत्पश्चात् ५९७ तक एक-एक चरण मे, और शेष छिन्न अर्थात् एक गाथा में कहीं चार, कही पाच और कही छह नाम कहे गये हैं। ग्रन्थ के ये ही चार परिच्छेद कहे जा सकते हैं। अधिकाश नाम और उनके पर्याय तद्भव है। सच्चे देशी शब्द अधिक से अधिक पचमाश होगे।

दूसरा प्राकृत कोष हेमचन्द्र कृत **देशी-नाम-माला** है। यथार्थतः इस ग्रन्थ का नाम स्वय कर्ता ने कृति के आदि व अन्त मे स्पष्टत: **देशी-शब्द-सग्रह** सूचित किया है, तथा अन्त की गाथा मे उसे रत्नावली नाम से कहा है। किन्तु ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक डा० पिशैल ने कुछ हस्तलिखित प्रतियो के आधार से उक्त नाम ही अधिक सार्थक समझकर स्वीकार किया है, और पीछे प्रकाशित समस्त सस्करणो मे इसका यही नाम पाया जाता है। इस कोष मे अपने ढग की एक परिपूर्ण क्रम-व्यवस्था का पालन किया गया है। कुल गाथाओ की सख्या ७८३ है, जो आठ वर्गों मे विभाजित है, और उनमे क्रमश स्वरादि, कवर्गादि, चवर्गादि, टवर्गादि, तवर्गादि, पवर्गादि, यकारादि और सकारादि शब्दो को ग्रहण किया गया है। सातवें वर्ग के आदि मे कोषकार ने कहा है कि इस प्रकार की नाम-व्यवस्था व्याकरण मे प्रसिद्ध नही है, किन्तु ज्योतिष शास्त्र मे प्रसिद्ध है; और उसी का यहा आदर किया गया है। इन वर्गों के भीतर शब्द पुन: उनकी अक्षर-सख्या अर्थात् दो, तीन, चार, व पाच अक्षरो वाले शब्दो के क्रम से रखे गये हैं, और उक्त सख्यात्मक शब्दो के भीतर भी अकारादि वर्णानुक्रम का पालन किया गया है। इस क्रम से एकार्थवाची शब्दो का आख्यान हो जाने पर फिर उन्ही अकारादि खडो के ही भीतर इसी क्रम से अनेकार्थवाची शब्दो का आख्यान किया गया है। इस क्रमपद्धति को पूर्णता से समझने के लिये प्रथम वर्ग का उदाहरण लीजिये। इसमे आदि की छठी गाथा तक दो, १९ तक तीन, ३७ तक चार और ४९ वी गाथा तक पाच अक्षरो वाले अकारादि शब्द कहे गये है। फिर ६० तक अकारादि, शब्दो के दो अक्षरादि क्रम से उनके अनेकार्थ शब्द संग्रहीत है। फिर ७२ तक एकार्थवाची और ७६ तक अनेकार्थवाची आकारादि शब्द हैं। फिर इसी प्रकार ८३ तक इकारादि, ८४ मे ईकारादि, १३९ तक उकारादि, १४३ मे ऊकारादि, १४८ तक एकारादि, और अन्तिम १७४ वी गाथा तक ओकारादि शब्दों के क्रम से एकार्थ व अनेकार्थवाची शब्दो का चयन किया गया है। यही क्रम शेष सब वर्गों मे भी पाया जाता है। स्फुट-पत्रक प्रणाली (कार्डिंग सिस्टेम) के बिना यह क्रम-परिपालन असभव सा प्रतीत होता है, अतएव यह पद्धति ज्योतिष शास्त्रियो और हेमचन्द्र व उनकी प्रणाली के पालक

व्याकरणों में अवश्य प्रचलित रही होगी।

देशीनाममाला मे शब्दो का चयन भी एक विशेष सिद्धान्तानुसार किया गया है। कर्ता ने आदि मे कहा है कि—

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउडलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥३॥

अर्थात् जो शब्द न तो उनके संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के नियमों द्वारा सिद्ध होते, न संस्कृत कोषो मे मिलते, और न अलंकार-शास्त्र-प्रसिद्ध गौडी लक्षणा शक्ति से अभीष्ट अर्थ देते, उन्हे ही देशी मानकर इस कोष मे निबद्ध किया है। इस पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देश-देश की नाना भाषाओ में प्रचलित व उक्त श्रेणियो मे न आने वाले समस्त शब्दो के संग्रह करने की यहा प्रतिज्ञा की गई है? इसका उत्तर अगली गाथा मे ग्रन्थकार ने दिया है कि—

देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति।
तम्हा अणाइ-पाइय-पयट्ट-भासाविसेसओ देसी ॥४॥

अर्थात् भिन्न भिन्न देशो मे प्रसिद्ध शब्दो के आख्यान मे लग जायं, तब तो वे शब्द अनन्त पाये जाते हैं। अतएव यहा केवल उन्ही शब्दो को देशी मानकर ग्रहण किया गया है जो अनादिकाल से प्रचलित व विशेषरूप से प्राकृत कहलाने वाली भाषा मे पाये जाते हैं। इससे कोषकार का देशी से अभिप्राय स्पष्टतः उन शब्दों से है जो प्राकृत साहित्य की भाषा और उसकी बोलियो मे प्रचलित है, तथापि न तो व्याकरणो से या अलकार की रीति से सिद्ध होते, और न सस्कृत के कोषों मे पाये जाते हैं। इस महान् कार्य मे उद्यत होने की प्रेरणा उन्हे कहा से मिली, उसका भी कर्ता ने दूसरी गाथा और उसकी स्वोपज्ञ टीका मे स्पष्टीकरण कर दिया है। जब उन्होने उपलभ्य निःशेष देशी शास्त्रो का परिशीलन किया, तब उन्हे ज्ञात हुआ कि कोई शब्द है तो साहित्य का, किन्तु उसका प्रचार मे कुछ और ही अर्थ हो रहा है, किसी शब्द मे वर्णों का अनुक्रम निश्चित नही है; किसी के प्राचीन और वर्तमान देश-प्रचलित अर्थ में विसंवाद (विरोध) है, तथा कही गतानुगति से कुछ का कुछ अर्थ होने लगा है। तब आचार्य को यह आकुलता उत्पन्न हुई कि अरे, ऐसे अपभ्रष्ट शब्दो की कीचड़ में फंसे हुए लोगों का किस प्रकार उद्धार किया जाय? बस, इसी कुतूहलवश वे इस देशी शब्द-संग्रह के कार्य में प्रवृत्त हो गये।

देशी शब्दों के संबंध की इन सीमाओं का कोषकार ने बड़ी सावधानी से पालन किया है; जिसका कुछ अनुमान हमें उनकी स्वयं बनाई हुई टीका के अवलोकन

पर से होता है। उदाहरणार्थ; ग्रन्थ के प्रारंभ मे ही 'अज्ज' शब्द ग्रहण किया है और उसका प्रयोग 'जिन' के अर्थ में बतलाया है। टीका मे प्रश्न उठाया है कि 'अज्ज' तो स्वामी का पर्यायवाची आर्य शब्द से सिद्ध हो जाता है? इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि उसे यहा ग्रन्थ के आदि मे मंगलवाची समझकर ग्रहण कर लिया है। १८ वी गाथा में 'अविणयवर' शब्द जार के अर्थ मे ग्रहण किया गया है। टीका मे कहा है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अविनय-वर' से होते हुए भी सस्कृत मे उसका यह अर्थ प्रसिद्ध नही है, और इसलिये उसे यहा देशी माना गया है। ६७ वी गाथा मे 'आरणाल' का अर्थ कमल बतलाया गया है। टीका मे कहा गया है कि उसका वाचिक अर्थ यहा इसलिये नही ग्रहण किया क्योकि वह सस्कृतोद्भव है। 'आसियअ' लोहे के घड़े के अर्थ मे बतलाकर टीका मे कहा है कि कुछ लोग इसे अयस् से उत्पन्न आयसिक का अपभ्रंश रूप भी मानते है, इत्यादि। इन टिप्पणो पर से कोषकार के अपने पूर्वोक्त सिद्धान्त के पालन करने की निरन्तर चिन्ता का आभास मिल जाता है। उनकी सस्कृत टीका मे इस प्रकार से शब्दो के स्पष्टीकरण व विवेचन के अतिरिक्त गाथाओ के द्वारा उक्त देशी शब्दो के प्रयोग के उदाहरण भी दिये है। ऐसी कुल गाथाओ की सख्या ६३४ पाई जाती है। इनमे ७५ प्रतिशत गाथाए शृंगारात्मक है। लगभग ६५ गाथाए कुमारपाल की प्रशसा विषयक है, और शेष अन्य। ये सब स्वय हेमचन्द्र की बनाई हुई प्रतीत होती है। शब्द विवेचन के सबध मे अभिमानचिन्ह, अवन्तिसुन्दरी, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल, पाठोदूखल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक, शाम्ब, शीलाक और सातवाहन, इन १२ शास्त्रकारो तथा सारतरदेशी और अभिमानचिन्ह, इन दो देशी शब्दो के सूत्र-पाठों के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देशी शब्दों के अनेक कोष ग्रन्थकार के सम्मुख उपस्थित थे। आदि की दूसरी गाथा की टीका मे लेखक ने बतलाया है कि पादलिप्ताचार्य आदि द्वारा विरचित देशी शास्त्रो के होते हुए भी उन्होने किस प्रयोजन से यह ग्रन्थ लिखा। उपर्युक्त नामो मे से धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' कोष तो मिलता है, किन्तु शेष का कोई पता नही चलता। टीका में कुछ अवतरण ऐसे भी हैं जो धनपाल कृत कहे गये है, किन्तु वे उनकी उपलभ्य कृति मे नही मिलते। मृच्छकटिक के टीकाकार लाला दीक्षित ने 'देशी-प्रकाश' नामक देशी कोष का अवतरण दिया है, तथा क्रमदीश्वर ने अपने संक्षिप्त-सार मे 'देशीसार' नामक देशी कोष का उल्लेख किया है। किन्तु दुर्भाग्यतः ये सब महत्वपूर्ण ग्रन्थ अब नही मिलते। देशी-नाममाला के प्रथम सम्पादक डा० पिशल ने इस कोष की उदाहरणात्मक गाथाओ के भ्रष्ट पाठों की बड़ी शिकायत की थी। प्रो० मुरलीधर बनर्जी ने अपने सस्करण में पाठो का

बहुत कुछ संशोधित रूप उपस्थित किया है, किन्तु अनेक गाथाओं के संशोधन की अभी भी आवश्यकता है। कोष में संग्रहीत नामों की संख्या प्रोफे० बनर्जी के अनुसार ३९७८ है, जिनमें वे यथार्थ देशी केवल १५०० मानते हैं। शेष में १०० तत्सम, १८५० तद्भव और ५२८ सशयात्मक तद्भव शब्द बतलाते है। उक्त देशी शब्दो में उनके मतानुसार ८०० शब्द तो भारतीय आर्य भाषाओ मे किसी न किसी रूप मे पाये जाते हैं, किन्तु शेष ७०० के स्रोत का कोई पता नही चलता।

कोश-सस्कृत—

सस्कृत के प्राचीनतम जैन कोषकार धनंजय पाये जाते है। इनकी दो रचनाएं उपलब्ध है एक **नाममाला** और दूसरी **अनेकार्थनाममाला**। इनकी बनाई हुई नाममाला के अन्त मे कवि ने अकलक का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण (व्याकरण) और द्विसधान कर्ता अर्थात् स्वय का काव्य, इस रत्नत्रय को अपूर्व कहा है। इस उल्लेख पर से कोष के रचनाकाल की पूर्वावधि आठवी शती निश्चित हो जाती है। अनेकार्थ नाममाला का 'हेतावेव प्रकारादि' श्लोक वीरसेन कृत धवला टीका मे उद्धृत पाया जाता है, जिसका रचनाकाल शक स० ७३८ है। इस प्रकार इन कोषो का रचनाकाल ई० सन् ७८०-८१६ के बीच सिद्ध होता है। नाममाला मे २०६ श्लोक हैं, और इनमें संग्रहीत एकार्थवाची शब्दो की सख्या लगभग २००० है। कोषकार ने अपनी सरल और सुन्दर शैली द्वारा यथासम्भव अनेक शब्द-समूहो की सूचना थोड़े से शब्दों द्वारा कर दी है। उदाहरणार्थ, श्लोक ५ और ६ मे भूमि आदि पृथ्वी के २७ पर्यायवाची नाम गिनाये है, और फिर सातवे श्लोक मे कहा है—

तत्पर्यायधरः शैलः तत्पर्यायपतिर्नृपः।
तत्पर्यायरुहो वृक्षः शब्दमन्यच्च योजयेत् ॥

इस प्रकार इस एक श्लोक द्वारा कोषकार ने पर्वत, राजा, और वृक्ष, इनके २७-२७ पर्यायवाची ८१ नामो की सूचना एक छोटे से श्लोक द्वारा कर दी है। इसी प्रकार १५वें श्लोक में जल के १८ पर्यायवाची नाम गिनाकर १६वें श्लोक मे उक्त नामों के साथ चर जोड़कर मत्स्य, द जोड़कर धन, ज जोड़कर पद्म और धर जोड़कर समुद्र, इनके १८-१८ नाम बना लेने की सूचना कर दी है। अनेकार्थ-नाममाला में कुल ४६ श्लोक हैं, जिनमें लगभग ६० शब्दो के अनेक अर्थों का निरूपण किया गया है।

जैन साहित्य के इस संक्षिप्त परिचय से ही स्पष्ट हो जायगा कि उसके द्वारा

भारतीय साहित्य की किस प्रकार परिपुष्टि हुई है। उसका शेष भारतीय धारा से मेल भी है, और भाषा, विषय व शैली संबंधी अपना महान् वैशिष्ट्य भी है जिसको जाने बिना हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैन साहित्य अभी भी न तो पूरा-पूरा प्रकाश में आया और न अवगत हुआ। शास्त्र-भंडारो मे सैकड़ो, आश्चर्य नही सहस्रों, ग्रंथ अभी भी ऐसे पड़े हैं जो प्रकाशित नही हुए, व जिनके नाम का भी पता नही है। प्रकाशित साहित्य के भी आलोचनात्मक अध्ययन, अनुवादादि के क्षेत्र मे विद्वानो के प्रयास के लिये पर्याप्त अवकाश है।

जिन प्राकृत भाषाओं—अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश-का उल्लेख जैन साहित्य के परिचय मे यथास्थान किया व स्वरूप समझाया गया है उनके कुछ साहित्यिक अवतरण अनुवाद सहित यहा प्रस्तुत किये जाते हैं।

अवतरण—१

अर्धमागधी प्राकृत

पुच्छिसु णं समणा माहणा य अगारिणो य परतित्थिया य।
से केइ नेगन्तहियं धम्ममाहु अणेलिस साहु समिक्खयाए ॥१॥
कह च नाण कह दंसण से सीलं कह नायसुयस्स आसि।
जाणासि ण भिक्खु जहातहेण अहासुय बूहि जहा निसतं ॥२॥
खेयन्नए से कुसलासुपन्ने अनन्तनाणी य अनन्तदसी।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स जाणाहि धम्म च धिइं च पेहि ॥३॥
उड्ड अहे य तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा।
से निच्चनिच्चेहि समिक्ख पन्ने दीवे व धम्म समियं उदाहु ॥४॥
से सव्वदसी अभिभूयनाणी निरामगंधे धिइम ठियप्पा।
अणुत्तरे सव्वजगसि विज्जं गथा अईए अभए अणाऊ ॥५॥
से भूइपन्ने अणिएअचारी ओहतरे धीरे अणतचक्खू।
अणुत्तरं तप्पइ सूरिए वा वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥६॥
(सूयगडं, १, ६, १-६)

(अनुवाद)

श्रमण, ब्राह्मण, गृहस्थ तथा अन्यधर्मावलबियो ने (गणधर स्वामी से) पूछा— वे कौन हैं जिन्होने सुन्दर समीक्षा पूर्वक इस सम्पूर्ण हितकारी असाधारण धर्म का उपदेश दिया है ? इस धर्म के उपदेष्टा ज्ञातपुत्र (महावीर) का कैसा ज्ञान था, कैसा दर्शन और कैसा शील था ? हे भिक्षु, तुम यथार्थ रूप से जानते हो । जैसा सुना हो, और जैसा धारण किया हो, वैसा कहो । इसपर गणधर स्वामी ने कहा–वे भगवान् महावीर क्षेत्रज्ञ (अर्थात् आत्मा और विश्व को जानने वाले) थे, कुशल आशुप्रज्ञ, अनंतज्ञानी व अनत-दर्शी थे । उन यशस्वी, साक्षात् अरहत अवस्था मे स्थित, भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म और धृति (सयम मे रति) को देख लो और जान लो । ऊर्ध्व, अध. एव उत्तर-दक्षिण आदि तिर्यक् दिशाओ मे जो भी त्रस या स्थावर जीव है, उन सबके नित्य-अनित्य गुणधर्मों की समीक्षा करके उन ज्ञानी भगवान् ने सम्यक् प्रकार से दीपक के समान् धर्म को प्रकट किया है । वे भगवान् सर्वदर्शी, ज्ञानी, निरामगध (निष्पाप), धृतिमान् स्थितात्मा, सर्व जगत् मे अद्वितीय विद्वान्, ग्रथातीत (अर्थात् परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ), अभय और अनायु (पुनर्जन्म रहित) थे । वे भूतिप्रज्ञ (द्रव्य-स्वभाव को जानने वाले), अनिकेतचारी (गृहत्याग कर विहार करने वाले), ससार समुद्र के तरने वाले, धीर, अनंतचक्षु (अनतदर्शी) असाधारण रूप से उसी प्रकार तप्तायमान व अधकार मे प्रकाश वाले है, जैसे सूर्य, वैरोचन (अग्नि) व इन्द्र ।

अवतरण—२

अर्धमागधी–प्राकृत

कम्मसगेहि सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणसासु जोणीसु विणिहम्मति पाणिणो ॥१॥
कम्माण तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययति मणुस्सयं ॥२॥
माणुस्स विग्गहं लद्धु सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
ज सोच्चा पडिवज्जति तव खतिमहिंसय ॥३॥
आहच्च सवण लद्धु सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउस मग्ग बहवे परिभस्सई ॥४॥

सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि नो य जं पडिवज्जए ॥५॥
माणुसत्तम्मि आयाउ जो धम्म सोच्च सद्दहे ।
तपस्सी वीरिय लद्धुं सवुडे निद्धुणे रय ॥६॥
सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।
निव्वाण परम जाइ घयसित्ति व्व पावए ॥७॥
(उत्तराध्ययन, ३-६-१२)

(अनुवाद)

कर्मों के संसर्ग से मोहित हुए प्राणी दुखी व बहुत वेदनाओ से युक्त होते हुए अमानुषिक (पशु-पक्षी आदि तिर्यंच) योनियो मे पडते हैं। कदाचित् अनुपूर्वी से कर्मो की क्षीणता होने पर जीव शुद्धि प्राप्त कर मनुष्यत्व ग्रहण करते है। मनुष्य शरीर पाकर भी ऐसा धर्म-श्रवण पाना दुर्लभ है, जिसको सुनकर (जीव) क्षमा,अहिंसा व तप का ग्रहण करते है। यदि किसी प्रकार धर्म-श्रवण मिल भी गया, तो उसमे श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, और इसलिए बहुत से लोग उद्धार करने वाले मार्ग (धर्म) को सुनकर भी भ्रष्ट हो जाते हैं। धर्म-श्रवण पाकर व श्रद्धा प्राप्त होने पर भी वीर्य (धर्माचरण में पुरुषार्थ) दुर्लभ है। बहुत से जीव रुचि (श्रद्धा) रखते हुए भी सदाचरण नही करते। मनुष्य-योनि मे आकर जो धर्म का श्रवण करता है और श्रद्धान रखता है, एवं तपस्वी हो पुरुषार्थ लाभ करके आत्म-संवृत्त होता है, वह कर्म-रज को झडा देता है। सरल-स्वभावी प्राणी को ही शुद्धि प्राप्त होती है और शुद्ध प्राणी के ही धर्म स्थिर होता है। वही परम निर्वाण को जाता है, जैसे घृत से सीची जाने पर अग्नि (ऊपर को जाता है)।

अवतरण—३

शौरसेनी प्राकृत

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥१॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२॥
णागफणीए मूलं णाइणि-तोएण गब्भणागेण ।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंत भच्छवाएण ॥३॥
कम्म हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरण परमोसहमिदि वियाणाहि ॥४॥
झाण हवेइ अग्गी तवयरण भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोह धमियव्वो परमजोईहि ॥५॥
भुज्जतस्स वि दव्वे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे ।
सखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो कादु ॥६॥
तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुज्जतस्स वि णाण णवि सक्कदि रागदो(णाणदो)णेदु ॥७॥
(कुन्दकुन्दः समयसार २२९-२३५)

(अनुवाद)

ज्ञानी सब द्रव्यो के राग को छोड़कर कर्मो के मध्य में रहते हुए भी कर्मरज से लिप्त नही होता, जैसे कर्दम के बीच सुवर्ण। किन्तु अज्ञानी समस्त द्रव्यो मे रक्त हुआ कर्मों के मध्य पहुच कर कर्म-रज से लिप्त होता है, जैसे कर्दम मे पड़ा लोहा। नागफणी का मूल,नागिनी तोय गर्भनागसे मिश्रित कर(लोहे को)भस्त्रिका की धोकसे अग्नि मे तपाने पर शुद्ध सुवर्ण बन जाता है। कर्म कीट है, और रागादि विभाव उसकी कालिमा। इनको दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही परम औषधि जानना चाहिये। ध्यान अग्नि है, तपश्चरण धौंकनी (भस्त्रिका) कहा गया है। जीव लोहा है जो परम योगियो द्वारा धौंका जाता है, (और इस प्रकार परमात्मा रूपी सुवर्ण–बना लिया जाता है)। सचित्त, अचित्त, व मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों के सयोग से भी शख की सफेदी काली नही की जा सकती। उसी प्रकार ज्ञानी के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप विविध द्रव्यो का उपभोग करने पर भी राग द्वारा उसके ज्ञान स्वभाव का अपहरण नही किया जा सकता (अर्थात् ज्ञान को अज्ञान रूप परिणत नही किया जा सकता)।

अवतरण—४

शौरसेनी प्राकृत

जीवो णाणसहावो जह अग्गी उण्हवो सहावेण ।
अत्थतर-भूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ।।१।।
जदि जीवादो भिण्णं सव्व-पयारेण हवदि त णाण ।
गुण-गुणि-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे दुण्ह ।।२।।
जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुण-भावेण कीरए भेओ ।
जं जाणदि त णाण एव भेओ कह होदि ।।३।।
णाण भूय-वियार जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो ।
जीवेण विणा णाण कि केण वि दीसदे कत्थ ।।४।।
सच्चेयण-पच्चक्ख जो जीव णेव मण्णदे मूढो ।
सो जीव ण मुणंतो जीवाभाव कह कुणदि ।।५।।
जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि ।
इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ।।६।।
सकप्प-मओ जीवो मुह-दुक्खमय हवेइ सकप्पो ।
तं चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ।।७।।
देह-मिलिदो हि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा ।
तम्हा पवट्टमाणो एयत्त बुज्झदे दोण्हं ।।८।।
(कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८-१८५)

(अनुवाद)

जीव ज्ञान स्वभावी है, जैसे अग्नि स्वभाव से ही उष्ण है । ऐसा नही है कि किसी पदार्थान्तर रूप ज्ञान के सयोग से जीव ज्ञानी बना हो । यदि ज्ञान सर्वप्रकार से जीव से भिन्न है, तो उन दोनों का गुणगुणी भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है (अर्थात् उनके बीच गुण और गुणी का संबंध नही बन सकता) । जीव और ज्ञान के बीच यदि गुणी और गुण के भाव से भेद किया जाय, तो जब जो जानता है वही ज्ञान है, यह ज्ञान का स्वरूप होने पर दोनों में भेद कैसे बनेगा ? जो ज्ञान को भूत-विकार (जड़तत्त्व का

रूपान्तर) मानता है, वह स्वयं भूत-गृहीत (पिशाच से आविष्ट) है, ऐसा समझना चाहिये। क्या किसी ने कही जीव के विना ज्ञान को देखा है? जीव के स्वचेतन (स्वसंवेदन) प्रत्यक्ष होने पर भी जो मूर्ख उसे नही मानता, वह जीव नही है, ऐसा विचार करता हुआ, जीव का अभाव कैसे स्थापित कर सकता है? (अर्थात् वस्तु के सद्भाव या अभाव का विचार करना, यही तो जीव का स्वभाव है)। यदि जीव नही तो सुख और दु.ख का वेदन कौन करता है, एव समस्त इन्द्रियो के विषयो को विशेष रूप से कौन जानता है? जीव सकल्पमय है, और सकल्प सुख-दु.ख मय है। उसी को सर्वत्र देह से मिला हुआ जीव वेदन करता है। क्योंकि देह से मिला हुआ जीव ही समस्त कर्म करता है, इसीकारण दोनो मे प्रवर्त्तमान एकत्व दिखाई देता है।

अवतरण—५

महाराष्ट्री प्राकृत

एए रिवू महाजस, जिणमि अह न एत्थ सदेहो।
वच्च तुम अइतुरिओ, कन्तापरिरक्खण कुणसु ॥१॥
एव भणिओ णियत्तो, तूरन्तो पाविओ तमुद्देसं।
न य पेच्छइ जणयसुय, सहसा ओमुच्छिओ रामो ॥२॥
पुणरवि य समासत्थो,दिट्ठी निक्खिवइ तत्थ तरुगहणे।
घणपेम्माउलहियओ, भणइ तओ राहवो वयणं ॥३॥
एहेहि इओ सुन्दरि, वाया मे देहि, मा चिरावेहि।
दिट्ठा सि रुक्खगहणे, कि परिहास चिर कुणसि ॥४॥
कन्ताविओगदुहिओ, त रण्ण राहवो गवेसन्तो।
पेच्छइ तओ जडागि, केकायन्तं महि पडिय ॥५॥
पक्खिस्स कण्णजाव, देइ मरन्तस्स सुहयजोएणं।
मोत्तूण पूइदेह, तत्थ जडाऊ सुरो जाओ ॥६॥
पुणरवि सरिऊण पियं, मुच्छा गन्तूण तत्थ आसत्थो।
परिभमइ गवेसन्तो, सीयासीयाकउल्लावो ॥७॥

भो भो मत्त महागय, एत्थारण्णे तुमे भमन्तेणं ।
महिला सोमसहावा, जइ दिट्ठा कि न साहेहि ॥८॥
तरुवर तुम पि वच्चसि, दूरुन्नयवियडपत्तलच्छाय ।
एत्थ अपुव्वविलया, कह ते नो लक्खिया रण्णे ॥९॥
सोऊण चक्कवाई, वाहरमाणी सरस्स मज्झत्था ।
महिलासकाभिमुहो, पुणो वि जाओ च्चिय निरासो ॥१०॥

(पउमचरिय, ४४, ५०-५९)

(अनुवाद)

(रावण के सिंहनाद को लक्ष्मण का समझकर जब राम खरदूषण की युद्ध भूमि मे पहुंचे, तब उन्हे देख लक्ष्मण ने कहा)—हे महायश, इन शत्रुओं को जीतने के लिये तो मैं ही पर्याप्त हू, इसमे सदेह नही, आप अतिशीघ्र लौट जाइये और सीता का परिरक्षण कीजिये । लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर राम वहा से लौटे, और जल्दी-जल्दी अपनी कुटी पर आये; किन्तु उन्हे वहा जनक-सुता दिखाई न दी । तब वे सहसा मूर्च्छित हो गये । फिर चेतना जागृत होने पर वे वृक्षो के वन मे अपनी दृष्टि फेकने लगे, और सघन प्रेम से व्याकुल हृदय हो कहने लगे—हे सुदरी, जल्दी यहा आओ, मुझसे बोलो, देर मत करो, मैने तुम्हे वृक्षो की वीहड़ मे देख लिया है, अब देर तक परिहास क्यो कर रही हो ? कान्ता के वियोग मे दुखी राघव ने उस अरण्य मे ढूढ़ते-ढूढते जटायु को देखा, जो पृथ्वी पर पड़ा तडफडा रहा था । राम ने उस मरते हुए पक्षी के कान मे णमोकार मत्र का जाप सुनाया । उस शुभयोग से जटायु अपने उस अशुचि देह को छोडकर देव हुआ । राम फिर भी प्रिया का स्मरण कर मूर्च्छित हो गये, व आश्वस्त होने पर—हाय सीता, हाय सीता, ऐसा प्रलाप करते हुए उनकी खोज मे परिभ्रमण करने लगे । हाथी को देखकर वे कहते हैं—हे मत्त महागज, तुमने इस अरण्य मे भ्रमण करते हुए एक सौम्य-स्वभाव महिला को यदि देखा है, तो मुझे बतलाते क्यो नही ? हे तरुवर, तुम तो खूब उन्नत हो, विकट हो और पत्रों की छाया युक्त हो; तुमने यहा कही एक अपूर्व स्त्री को देखा हो तो मुझे कहो ? राम ने सरोवर के मध्य से चकवी की ध्वनि सुनी, वे वहा अपनी पत्नी की शंका (आशा) से उस ओर बढे, किन्तु फिर भी वे निराश ही हुए ।

अवतरण—६

महाराष्ट्री प्राकृत

जत्थ चुलुक्क--निवाण परिमल-जम्मो जसो कुसुम-दाम ।
नहमिव सव्व-गओ दिस-रमणीण सिराइँ सुरहेइ ॥१॥
सव्व-वयाण मज्झिम-वय व सुमणाण जाइ-सुमण व ।
सम्माण मुत्ति-सम्मं व पुहइ-नयराण ज सेय ॥२॥
चम्म जाण न अच्छी णाण अच्छीइँ ताण वि मुणीण ।
विअसन्ति जत्थ नयणा कि पुण अन्नाण नयणाइ ॥३॥
गुरुणो वयणा वयणाइ ताव माहप्पमवि य माहप्पो ।
ताव गुणाइ पि गुणा जाव न जस्सि बुहे निअइ ॥४॥
हरि-हर-विहिणो देवा जत्थन्नाइँ वसन्ति देवाइ ।
एयाए महिमाए हरिओ महिमा सुर-पुरीए ॥५॥
जत्थञ्जलिणा कणय रयणाइँ वि अञ्जलीइ देइ जणो ।
कणय-निही अक्खीणो रयण-निही अक्खया तह वि ॥६॥
तत्थ सिरि-कुमारवालो बाहाए सव्वओ वि धरिअ-धरो ।
सुपरिट्ठ-परीवारो सुपइट्ठो आसि राइन्दो ॥७॥
(कुमारपाल-चरित, १, २२-२८)

(अनुवाद)

उस अणहिलपुर नगर मे चालुक्य-वंशी राजाओ का यश आकाश की समस्त दिशाओ मे ऐसा फैल रहा था, जैसे मानो दिशा रूपी रमणियो के मस्तको को उनके जूड़े की पुष्पमाला का परिमल सुगंधित कर रहा हो। जैसे सब वयो मे मध्यम-वय (यौवन), पुष्पो मे चमेली का पुष्प व सुखो मे मोक्ष का सुख श्रेष्ठ माना गया, उसी प्रकार पृथ्वी भर के नगरो में अणहिलपुर श्रेष्ठ था। जिनके चर्म चक्षु नहीं हैं, केवल ज्ञान रूपी आखे हैं, ऐसे मुनियो के नेत्र भी उस नगर को देखने के लिये विकसित हो उठते थे, दूसरो के नेत्रो की तो बात ही क्या ? गुरु (बृहस्पति) के वचन तभी तक वचन थे, माहात्म्य भी तभीतक माहात्म्य था, और गुण भी तभी तक गुण थे, जब तक किसी ने इस नगरी के विद्वानों को नही देखा। यहा विष्णु, महादेव, ब्रम्हा एवं

अन्य भी अनेक देवता निवास करते थे,जिससे इसकी महिमा ने (एकमात्र इन्द्रदेव वाली) सुर-पुरी की महिमा को तिरस्कृत किया था। यहां लोग अंजलि भरभर कर सुवर्ण और रत्न दान करते थे, तो भी उनके सुवर्ण और रत्नों की निधियां अक्षय बनी हुई थी। ऐसे उस अनहिलपुर नगर में अपने बाहु पर समस्त धरा को धारण किये हुए सुप्रतिष्ठ परिवार सहित राजेन्द्र श्री कुमारपाल सुप्रतिष्ठित थे।

अवतरण—७

अपभ्रंश

सहु दोहि मि गेहरिणहि तुरगें सहु वीरेण तेण मायगे।
गउ झसचिंधु णवर कस्सीरहो कस्सीरय-परिमिलियसमीरहो।
कस्सीरउ पट्टणु सपाइउ चामरछत्तभिच्चरह - राइउ।
णदु राउ सवडमुहु आइउ णरिहे पेम्मजरुल्लउ लाइउ।
का वि कत झूरवइ दुचित्ती का वि अणगपलोयणे रत्ती।
पाए पडइ मूढ जामायहो धोयइ पाय घए घरु आयहो।
घिवइ तेल्लु पारिणउ मण्णेप्पिणु कुट्टु देइ छूडु दारु भणेप्पिणु।
अइ अण्णमरण डिंभु चिंतेप्पिणु गय मज्जारयपिल्लउ लेप्पिणु।
धूवइ खीरु का वि जलु मंथइ का वि असुत्तउ मालउ गुंथइ।
ढोयइ सुहयहो मुहइं जणेरी भासइ हउ पिय दासि तुहारी।
(णायकुमारचरिउ-५, ८, ६-१५)

(अनुवाद)

नागकुमार अपनी दोनों गृहिणियो, घोडे, और उस व्याल नामक वीर के साथ उस काश्मीर देश को गया जहां का पवन केशर की गंध से मिश्रित था। काश्मीर-पट्टण मे पहुचने पर वहा का राजा नंद चंवर,छत्र, सेवक व रथादि से विराजमान स्वागत के लिए सम्मुख आया। उधर नगर-नारियों को प्रेम का ज्वर चढ़ा। कोई कान्ता दुविधा में पड़ी झूरने लगी, और कोई उस कामदेव के अवतार नागकुमार के दर्शन मे तल्लीन हो गई। कोई मूढ़ अवस्था में अपने घर आये हुए जामाता के पांव पड़कर उन्हें घृत से धोने लगी। पानी के धोखे पीने के लिये तेल ले आई, और पान में कत्थे

की जगह लकड़ी का बुरादा डाल दिया। कोई अति अन्यमनरका बालक समझकर बिल्ली के पिल्ले को उठाकर ले चली। कोई मठ्ठा समझकर दूध को ही धूमायित करती थी। कोई जल को ही दूध समझकर मथने लगी, और कोई बिना सूत के माला गूथने लगी। कोई सुभग नागकुमार के पास जाकर सुख की इच्छा से कहने लगी—हे प्रिय, मैं तुम्हारी दासी हूं।

अवतरण—८

अपभ्रंश

त तेहउ धणकचणपउरु दिट्ठु कुमारि वरणयरु।
सियवतु वियणु विच्छायछवि ण विणु णीरि कमलसरु ॥
त पुर पविस्समाणएण तेण दिट्ठय।
त ण तित्थु कि पि ज ण लोयणाण इट्ठय ॥१॥
वाविकूवसुप्पहूवसुप्पसण्णवण्णय ।
मढ़विहारदेहुरेहि सुट्ठु त रवण्णय ॥२॥
देवमदिरेसु तेसु अतर णियच्छए।
सो ण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए ॥३॥
सुरहिगधपरिमल पसूअएहि फसए।
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए ॥४॥
पिक्कसालिघण्णय पणट्ठयम्मि ताणए।
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि त पराणए ॥५॥
सरवरम्मि पकयाइ भमिरभमरकंदिरे।
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइ मदिरे ॥६॥
हृत्थगिज्झवरफलाइ विभएण पिक्खए।
केण कारणेण को वि तोडिउं ण भक्खए ॥७॥
पिच्छिऊण परधणाइं लुब्भए ण लुब्भए।
अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए सुचितए ॥८॥
(भविसयत्तकहा-४, ७,)

(अनुवाद)

भविष्यदत्त कुमार ने उस धनकंचन से पूर्ण समृद्ध नगर को निर्जन होने के कारण ऐसा शोभाहीन देखा, जैसे मानों जलरहित कमल-सरोवर हो। कुमार ने नगर में प्रवेश किया, और देखा कि वहा ऐसी कोई वस्तु नही है जो लोचनों को इष्ट न हो। वापी और कूप वहा खूब स्वच्छ जल से पूर्ण थे। मठों, विहारों व देवगृहों से नगर खूब रमणीक था। उसने देवालयों में प्रवेश किया, किन्तु वहां उसे ऐसा कोई नहीं दिखाई दिया जो पूजा करना चाहता हो। फूलों की खूब सुगध आ रही थी; किन्तु वहां ऐसा कोई नही था,जो उन्हे हाथसे तोड़कर सूघना चाहे। पकाहुआ शालिधान्य खेतोंमेंही नष्ट हो रहा था, कोई उन्हे बचाकर घर ले जाने वाला वहा नहीं था। सरोवर मे भौंरों के भ्रमण और गुजार से युक्त कमल विद्यमान थे, किन्तु वहा कोई ऐसा नही था, जो उन्हे तोडकर मंदिर मे ले जावे। उसने विस्मय से देखा कि वहा उत्तम फल लगे हैं, जो हाथ से ही तोडे जा सकते हैं; किन्तु न जाने किस कारण से कोई उन्हे तोड़कर नही खाता। वहा पराये धन को देखकर क्षुब्ध या लुब्ध होने वाला कोई नहीं था। नगर की ऐसी निर्जन अवस्था देखकर कुमार अपने आप मे विकल्प और चिन्तन करने लगा।

व्याख्यान - ३

जैन दर्शन

व्याख्यान—३

जैन दर्शन

तत्व-ज्ञान—

समस्त जैनदर्शन का परिचय सक्षेप मे इस प्रकार दिया जा सकता है। विश्व के मूल मे जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्व है। इनका परस्पर संपर्क पाया जाता है, और इस सपर्क के द्वारा ऐसे बन्धनो या शक्तियो का निर्माण होता है, जिनके कारण जीव को नाना प्रकार की दशाओ का अनुभव होता है। यदि यह संपर्क की धारा रोक दी जाय, और उत्पन्न हुए बन्धनो को जर्जरित या विनष्ट कर दिया जाय, तो जीव अपनी शुद्ध, बुद्ध व मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ये ही जैन दर्शन के सात तत्व है, जिनके नाम है-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव, इन दो प्रकार के तत्वों का निरूपण जैन तत्वज्ञान का विषय है। आस्रव और बध का विवेचन जैन कर्म-सिद्धान्त में आता है, और वही उसका मनोविज्ञान-शास्त्र है। सवर और निर्जरा चारित्र विषयक हैं, और यही जैन धर्म गत आचार-शास्त्र कहा जा सकता है, तथा मोक्ष जैन-धर्मानुसार जीवन की वह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रिया व आचरण का अन्तिम ध्येय है। यहा जैन दर्शन की इन्ही मुख्य शाखाओ का क्रमशः परिचय व विवेचन करने का प्रयत्न किया जाता है।

जीव तत्व—

ससार मे नाना प्रकार की वस्तुओ और उनकी अगणित अवस्थाओं का दर्शन होता है। दृश्यमान समस्त पदार्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता

है —चेतन और अचेतन। पदार्थों की चेतनता का कारण उनमे व्याप्त, किन्तु इन्द्रियों के अगोचर, वह तत्व है, जिसे जीव या आत्मा कहा गया है। प्राणियों के अचेतन तत्व से निर्मित शरीर के भीतर, उससे स्वतत्र इस आत्मतत्व के अस्तित्व की मान्यता यथार्थतः भारतीय तत्वज्ञान की अत्यन्त प्राचीन और मौलिक शोध है, जो प्राय: समस्त वैदिक व अवैदिक दर्शनों मे स्वीकार की गई है, और यह मान्यता समस्त भारतीय संस्कृति मे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सुप्रतिष्ठित पाई जाती है। केवल एकमात्र चार्वाक या बार्हस्पत्य दर्शन ऐसा मिलता है जिसमे जीव या आत्मा की शारीरात्मक भौतिक तत्वो से पृथक् सत्ता नही मानी गई। इस दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, जैसे जड पदार्थों के संयोग-विशेष से ही वह शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे चैतन्य कहा जाता है। यथार्थत. प्राणियो मे इन जड तत्वो के सिवाय और कोई ऐसी वस्तु नही है, जो कोई अपनी पृथक् सत्ता रखती हो, प्राणियो की उत्पत्ति के समय कही अन्यत्र से आती हो, अथवा शरीरात्मक भौतिक सतुलन के बिगडने से उत्पन्न होनेवाली अचेतनात्मक मरणावस्था के समय शरीर से निकलकर कही अन्यत्र जाती हो। इस दर्शन के अनुसार जगत् मे केवल एकमात्र अजीव तत्व ही है। किन्तु भारतवर्ष मे इस जडवाद की परम्परा कभी पनप नही सकी। इसका पूर्णरूप से प्रतिपादन करनेवाला कोई प्राचीन ग्रन्थ भी प्राप्त नहीं हुआ। केवल उसके नाना अवतरण व उल्लेख हमे आत्मवादी दार्शनिकों की कृतियो मे खंडन के लिये ग्रहण किये गये प्राप्त होते है, तथा तत्वोपप्लवसिह जैसे कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें इस अनात्मदर्शन की पुष्टि की गई है।

बौद्धदर्शन आत्मवादी है या अनात्मवादी, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। बुद्ध के वचनो से लेकर पिछले बौद्धाचार्यों की रचनाओ तक मे दोनो प्रकार की विचार-धाराओ के पोषक विचार प्राप्त होते है। इसमे एक ओर आत्मवाद अर्थात् जीव की सत्ता की स्वीकृति को मिथ्यादृष्टि कहा गया है, जीवन की प्रधारा को नदी की धारा के समान घटना-प्रवाह रूप बतलाया गया है; एव निर्वाण की अवस्था को दीपक की उस लौ की अवस्था द्वारा समझाया गया है, जो आकाश या पाताल तथा किसी दिशा-विदिशा मे न जाकर केवल बुझकर समाप्त हो जाती है।

यथा—दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवो तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया पाया जाता है कि जीवन में ऐसा भी कोई तत्व है जो जन्म-जन्मान्तरो में से होता हुआ चला आता है; जो शरीररूपी घर का निर्माण करता है; शरीर-धारण को दुःखमय पाता है, और उससे छूटने का उपाय सोचता और प्रयत्न करता है; चित्त को संस्कार रहित बनाता और तृष्णा का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करता है; यथा—

> अनेक-जाति-संसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
> गहकारकं गवेसंतो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
> गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहिसि।
> सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं।
> विसंखारगतं चित्तं तण्हा मे खयमज्झगा॥ (धम्मपद, १५३-५४)

यहा स्पष्टत भौतिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा जैसे किसी अन्य अनादि अनन्त तत्व की स्वीकृति का प्रमाण मिलता है।

जैन दर्शन में जीव तत्त्व—

जैन सिद्धान्त मे जीव का मुख्य लक्षण उपयोग माना गया है। उपयोग के दो भेद है—दर्शन और ज्ञान। दर्शन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जाता है। सामान्य भाषा मे दर्शन का अर्थ होता है—किसी पदार्थ को नेत्रो द्वारा देखने की क्रिया। शास्त्रीय दृष्टि से दर्शन का अर्थ है—जीवन व प्रकृति सम्बन्धी व्यवस्थित ज्ञान, जैसे साख्य, वेदान्त या जैन व बौद्ध दर्शन। किन्तु जैन सिद्धान्त में जीव के दर्शन रूप गुण का अर्थ होता है—आत्म-चेतना। प्रत्येक जीव मे अपनी सत्ता के अनुभवन की शक्ति का नाम दर्शन है, व बाह्य पदार्थों को जानने समझने की शक्ति का नाम है ज्ञान। जीव के इन्ही दो अर्थात् दर्शन और ज्ञान, अथवा स्वसवेदन व पर-संवेदन रूप गुणो को उपयोग कहा गया है। जिन पदार्थों मे यह उपयोग-शक्ति है, वहां जीव व आत्मा विद्यमान है, और जहा इस उपयोग गुण का सर्वथा अभाव है, वहा जीव का अस्तित्व नही माना गया। इस प्रकार जीव का निश्चित लक्षण चैतन्य है। इस चैतन्य-युक्त जीव की पहचान व्यवहार मे पाच इन्द्रियो, मन, वचन व काय रूप तीन बलो, तथा श्वासोच्छ्वास और आयु, इन दस प्राण रूप लक्षणों की हीनाधिक सत्ता के द्वारा की जा सकती है—

> पंच वि इंदियपाणा मनवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।
> आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा॥ (गो० जी० १२६)

जीव के और भी अनेक गुण हैं। उसमें कर्तृत्व-शक्ति है, और उपभोग का सामर्थ्य भी। वह अमूर्त है; और जिस शरीर में वह रहता है उसके समस्त अंग-प्रत्यंगों को व्याप्त किये रहता है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥

(द्रव्यसंग्रह, गा०-२)

संसार मे इसप्रकार के जीवो की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर मे विद्यमान जीव अपना स्वतत्र अस्तित्व रखता है, और उस अस्तित्व का कभी ससार मे या मोक्ष में विनाश नही होता। इस प्रकार जीव के सबध मे जैन विचारधारा वेदान्त दर्शन से भिन्न है, जिसके अनुसार ब्रह्म एक है, और उसका दृश्यमान अनेकत्व सत्य नही, माया-जाल है।

जैन दर्शन मे ससारवर्ती अनन्त जीवो को दो भागो मे विभाजित किया गया है—**साधारण और प्रत्येक**। प्रत्येक जीव वे है, जो एक-एक शरीर मे एक-एक रहते है, और वे इन्द्रियो के भेदानुसार पाच प्रकार के है—एकेन्द्रिय जीव वे है जिनके एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। इनके पाच भेद है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। स्पर्श और रसना जिन जीवों के होता है, वे द्वीन्द्रिय हैं, जैसे लट आदि। इसी प्रकार चीटी वर्ग के स्पर्श, रसना और घ्राण युक्त प्राणी त्रीन्द्रिय, भ्रमरवर्ग के नेत्र सहित चतुरिन्द्रिय, एव शेष पशु, पक्षी व मनुष्य वर्गो के श्रोत्रेन्द्रिय सहित जीव पंचेन्द्रिय कहलाते है। एकेन्द्रिय जीवो को **स्थावर** और द्वीन्द्रियादि इतर सब जीवो को **त्रस** सज्ञा दी गई है। इन एक-एक शरीर-धारी वृक्षादि समस्त प्राणियो के शरीरो मे ऐसे **साधारण** जीवो की सत्ता मानी गई है, जिनकी आहार, श्वासोच्छ्वास आदि जीवन-क्रियाए सामान्य अर्थात् एक साथ होती है। उन के इस सामान्य शरीर को **निगोद** कहते हैं, और प्रत्येक निगोद मे एक साथ जीने व मरने वाले जीवो की सख्या अनन्त मानी गई है—

एग-निगोद-सरीरे जीवा दव्वप्पमाणवो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अनन्तगुणा, सव्वेण वितीदकालेण॥

(गो० जी० १६४)

इन निगोदवर्ती जीवों का आयु-प्रमाण अत्यल्प माना गया है; यहा तक कि एक श्वासोच्छ्वास काल मे उनका अठारह बार जीवन व मरण हो जाता है। यही वह जीवो की अनन्त राशि है जिसमे से क्रमशः जीव ऊपर की योनियो मे आते रहते

व मुक्त जीवों के संसार से निकलते जाने पर भी संसारी जीवनधारा को अनन्त बनाये रखते हैं। इस प्रकार के साधारण जीवों की मान्यता जैन सिद्धान्त की अपनी विशेषता है। अन्य दर्शनों मे इस प्रकार की कोई मान्यता नही पाई जाती। वर्तमान वैज्ञानिक मान्यतानुसार एक मिलीमीटर ($\frac{१}{२६}$") प्रमाण रक्त मे कोई ५० लाख जीवकोष (सेल्स) गिने जा चुके हैं। आश्चर्य नही जो जैन दृष्टाओं ने इसी प्रकार के कुछ ज्ञान के आधार पर उक्त निगोद जीवो का प्ररूपण किया हो। उक्त समस्त जीवों के शरीरो को भी दो प्रकार का माना गया है—**सूक्ष्म और बादर**। सूक्ष्म शरीर वह है जो अन्य किसी भी द्रव्य से बाधित नही होता, और जो बाधित होता है, वह बादर (स्थूल) शरीर कहा गया है। पूर्वोक्त पचेन्द्रिय जीवो के पुन: दो भेद किये गये हैं—एक **संज्ञी** अर्थात् मन सहित, और दूसरे **असंज्ञी** अर्थात मनरहित।

इन समस्त ससारी जीवो की दृश्यमान दो गतियां मानी गई हैं—एक **मनुष्यगति** और दूसरी पशु-पक्षि आदि सब इतर प्राणियो की **तिर्यंचगति**। इनके अतिरिक्त दो और गतियां मानी गयी हैं—एक **देवगति** और दूसरी **नरकगति**। मनुष्य और तिर्यंच गति-वाले पुण्यवान् जीव अपने सत्कर्मों का सुफल भोगने के लिये देवगति प्राप्त करते है, और पापी जीव अपने दुष्कर्मों का दड भोगने के लिये नरक गति मे जाते हैं। जो जीव पुण्य और पाप दोनो से रहित होकर वीतराग भाव और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे संसार की इन चारो गतियो से निकल कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ससारी जीवों की शरीर-रचना मे भी विशेषता है। मनुष्य और तिर्यंचो का शरीर **औदारिक** अर्थात् स्थूल होता है, जिसमें उसी जीवन के भीतर कोई विपरिवर्तन सभव नही। किन्तु देवो और नरकवासी जीवो का शरीर **वैक्रियिक** होता है, अर्थात् उसमे नाना प्रकार की विक्रिया या विपरिवर्तन सभव है। इन शरीरों के अतिरिक्त ससारी जीवो के दो और शरीर माने गये है—**तैजस और कार्मण**। ये दोनो शरीर समस्त प्राणियों के सदैव विद्यमान रहते हैं। मरण के पश्चात् दूसरी गति मे जाते समय भी जीव से इनका संग नही छूटता। **तैजस** शरीर जीव और पुद्गल प्रदेशोमे संयोग स्थापित किये रहता है, तथा कार्मण शरीर उन पुद्गल परमाणुओ का पुज होता है, जिन्हे जीव निरन्तर अपने मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा सचित करता रहता है। इन दो शरीरों को हम जीव का सूक्ष्म शरीर कह सकते हैं। इन चार शरीरों के अतिरिक्त एक और विशेष प्रकार का शरीर माना गया है, जिसे **आहारक** शरीर कहते हैं। इसका निर्माण ऋद्धिधारी मुनि अपनी शंकाओं के निवारणार्थ दुर्गम प्रदेशों में विशेष ज्ञानियो के पास जाने के लिये अथवा तीर्थवन्दना के हेतु करते है।

शरीरधारी संसारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लिंगधारी होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंच एवं नारकी जीव नियम से नपुंसक होते हैं। पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच पुरुष-वेदी, स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी तीनों प्रकार के होते हैं। देवों में नपुंसक नही होते। उनके केवल देव और देवियां, ये दो ही भेद हैं।

जीवों का शरीरधारण रूप जन्म भी नानाप्रकार से होता है। मनुष्य व तिर्यंच जीवों का जन्म दो प्रकार से होता है—गर्भ से या सम्मूर्छन से। जो प्राणी माता के गर्भ से जरायु-युक्त अथवा अंडे या पोत (जरायु रहित अवस्था) रूप मे उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज है, और जो गर्भ के बिना बाह्य संयोगो द्वारा शीत उष्ण आदि अवस्थाओं में जीवों की उत्पत्ति होती है, उसे समूर्छन जन्म कहते हैं। देव और नारकी जीवो की उत्पत्ति उक्त दोनो प्रकारो से भिन्न उपपाद रूप बतलाई गई है।

अजीव तत्व—

अजीव द्रव्यों के पाच भेद हैं—**पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल**। इनमे रूपवान् द्रव्य **पुद्गल** है, और शेष सब अरूपी हैं। जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ विश्व में दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य के ही नाना रूप हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चारो तत्व, तथा वृक्षो, पशु-पक्षी आदि जीवो व मनुष्यो के शरीर, ये सब पुद्गल के ही रूप है। पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप **परमाणु** है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नही होता। अनेक परमाणुओं के सयोग से उनमे परिमाण उत्पन्न होता है, और उनमे स्पर्श, रस, गध व वर्ण—ये चार गुण प्रकट होते है, तभी वह पुद्गल-स्कन्ध (समूह) इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। शब्द, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, अन्धकार, छाया, व प्रकाश, ये सब पुद्गल द्रव्य के ही विकार माने गये हैं। पुद्गलो का स्थूलतम रूप महान् पर्वतो व पृथिवियो के रूप मे दिखाई देता है। इनसे लेकर सूक्ष्मतम कर्म-परमाणुओंतक पुद्गल द्रव्य के असख्यात भेद और रूप पाये जाते है। पुद्गल स्कन्धो का भेद और संघात निरन्तर होता रहता है। और इसी पूरण व गलन के कारण इनका पुद्गल नाम सार्थक होता है। पुद्गल शब्द का उपयोग जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों मे भी पाया जाता है, किन्तु वहा उसका अर्थ केवल शरीरी जीवो से है। अचेतन जड पदार्थों के लिये वहां पुद्गल शब्द का प्रयोग नही पाया जाता।

धर्म-द्रव्य—

दूसरा अजीवद्रव्य धर्म है। यह अरूपी है, और समस्त लोक मे व्याप्त है। इसी

द्रव्य की व्याप्ति के कारण जीवों व पुद्गलों का एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन सम्भव होता है, जिसप्रकार कि जल मछली के गमनागमन का माध्यम बनता है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द का यह प्रयोग शास्त्रीय है, और उसकी नैतिक आचरण आदि अर्थवाचक 'धर्म' से भ्रान्ति नही करनी चाहिये।

अधर्म-द्रव्य—

जिसप्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों के स्थानान्तरण रूप गमनागमन का माध्यम है, उसीप्रकार अधर्म-द्रव्य चलायमान पदार्थ के रुकने मे सहायक होता है, जिसप्रकार कि वृक्ष की छाया श्रान्त पथिक को रुकने मे निमित्त होती है।

आकाश-द्रव्य—

चौथा अजीवद्रव्य आकाश है, और उसका गुण है—जीवादि अन्य सब द्रव्यों को अवकाश प्रदान करना। आकाश अनन्त है; किन्तु जितने आकाश मे जीवादि अन्य द्रव्यो की सत्ता पाई जाती है वह **लोकाकाश** कहलाता है, और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे **अलोकाकाश** कहा गया है। उसमें अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व न है, और न हो सकता; क्योंकि वहा गमनागमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दर्शनो तथा आधुनिक विज्ञान को भी मान्य है। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यो की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। द्रव्य की आकाश में स्थिति होती है, गमन होता है और रुकावट भी होती है। सामान्यतः ये तीनो अर्थक्रियाएं आकाश गुण द्वारा ही सम्भव मानी जाती है। किन्तु सूक्ष्म विचारानुसार एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्ध रूप में एक ही प्रकार की क्रिया सम्भव मानी जा सकती है। विशेषतः जब वे क्रियाएं परस्पर कुछ विभिन्नता को लिये हुए हों, तब हमें यह मानना ही पडेगा कि उनके कारण व साधनभूत द्रव्य भिन्न भिन्न होगे। इसी विचारधारानुसार लोकाकाश में उक्त तीन अर्थ-क्रियाओ के साधनरूप तीन पृथक्-पृथक् द्रव्य अर्थात् आकाश, धर्म और अधर्म की कल्पना की गई है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिको का एक ऐसा भी मत है कि आकाश में जहांतक भौतिक तत्वों की सत्ता पाई जाती है, उसके परे उनके गमन में वह आकाश रुकावट उत्पन्न करता है। जैन सिद्धान्तानुसार यह परिस्थिति इस कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि उस अलोकाकाश में गमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है।

काल-द्रव्य—

पांचवां अजीव द्रव्य काल है, जिसका स्वरूप दो प्रकार से निरूपण किया गया है—एक **निश्चयकाल** और दूसरा **व्यवहारकाल**। निश्चयकाल अपनी द्रव्यात्मक सत्ता रखता है, और वह धर्म और अधर्म द्रव्यो के समान समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। तथापि उक्त समस्त द्रव्यो से उसकी अपनी एक विशेषता यह है कि वह उनके समान अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी नही है, उसके एक-एक प्रदेश एकत्र रहते हुए भी अपने-अपने रूप मे पृथक् हैं, जिसप्रकार कि एक रत्नो की राशि, अथवा बालुकापुंज, जिसका एक-एक कण पृथक्-पृथक् ही रहता है, और जल या वायु के समान एक काय निर्माण नही करता। ये एक-एक काल-प्रदेश समस्त पदार्थों मे व्याप्त है, और उनमे परिणमन अर्थात् पर्याय-परिवर्तन किया करते है। पदार्थों मे कालकृत सूक्ष्मतम विपरिवर्तन होने मे अथवा पुद्गल के एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे जाने के लिये जितना अध्वान या अवकाश लगता है, वह व्यवहार काल का एक **समय** है। ऐसे असख्यात समयो की एक **आवलि**, सख्यात आवलियो का एक **उच्छ्वास**, सात उच्छ्वासो का एक **स्तोक**, सात स्तोको का एक **लव**, ३८½ लवो की एक **नाली**, २ नालियो का एक **मुहूर्त** और ३० मूहूर्त का एक **अहोरात्र** होता है। अहोरात्र को २४ घंटे का मानकर उक्त क्रम से १ उच्छ्वास का प्रमाण एक सेकंड का २८८०/३७७३ वा अश अर्थात् लगभग ३/४ सेकड होता है। इसके अनुसार एक मिनट मे उच्छ्वासों की संख्या ७८ ६ आती है, जो आधुनिक वैज्ञानिक व प्रायोगिक मान्यता के अनुसार ही है। आवलि व समय का प्रमाण सेकन्ड से बहुत अधिक सूक्ष्म सिद्ध होता है। अहोरात्र से अधिक की कालगणना -**पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत** आदि कम से **अचलप्स** तक की गई है जो ८४ को ८४ से ३१ वार गुणा करने के बराबर आती है। ये सब **संख्यात-काल** के भेद हैं, जिसका उत्कृष्ट प्रमाण इससे कई गुणा बड़ा है। तत्पश्चात् **असंख्यात-काल** प्रारम्भ होता है, और उसके भी **जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट** भेद बतलाये गये हैं। उसके ऊपर **अनन्तकाल** का प्ररूपण किया गया है, और उसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद बतलाये गये हैं। जिसप्रकार यह व्यवहार-काल का प्रमाण उत्कृष्ट अनन्त (**अनन्तानन्त**) तक कहा गया है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशों का, समस्त द्रव्यों के अविभागी **प्रतिच्छेदों** का, एवं केवल ज्ञानी के ज्ञान का प्रमाण भी अनन्तानन्त कहा गया है।

द्रव्यों के सामान्य लक्षण—

जैन दर्शनानुसार ये ही जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल नामक छह मूलद्रव्य हैं, जिनसे विश्व के समस्त सत्तात्मक पदार्थों का निर्माण हुआ है। इस निर्माण मे जो वैचित्र्य दिखलाई देता है वह द्रव्य की अपनी एक विशेषता के कारण सम्भव है। द्रव्य वह है जो अपनी सत्ता रखता है (सद् द्रव्य-लक्षणम्)। किन्तु जैन सिद्धान्त में सत् का लक्षण वेदान्त के समान कूटस्थ-नित्यता नही माना गया। यहां सत्का स्वरूप यह बतलाया गया है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनों लक्षणों से युक्त हो (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्)। तदनुसार उक्त सत्तात्मक द्रव्यो मे प्रतिक्षण कुछ न कुछ नवीनता आती रहती है, कुछ न कुछ क्षीणता होती रहती है, और इस पर भी एक ऐसी स्थिरता भी बनी रहती है जिसके कारण वह द्रव्य अपने द्रव्य-स्वरूप से च्युत नही हो पाता। द्रव्य की यह विशेषता उसके दो प्रकार के धर्मों के कारण सम्भव है। प्रत्येक द्रव्य गुणो और पर्यायो से युक्त है (गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्) गुण वस्तु का वह धर्म है, जो उससे कभी पृथक् नही होता, और उसकी ध्रुवता को सुरक्षित रखता है। किन्तु पर्याय द्रव्य का एक ऐसा धर्म है जो निरन्तर बदलता है, और जिसके कारण उसके स्वरूप में सदैव कुछ नवीनता और कुछ क्षीणता रूप परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ—सुवर्ण धातु के जो विशेष गुरुत्व आदि गुण हैं, वे कभी उससे पृथक् नही होते। किन्तु उसके मुद्रा, कुंडल, कंकण आदि आकार व सस्थान रूप पर्याय बदलते रहते हैं। इसप्रकार दृश्यमान जगत् के समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिपूर्ण निरूपण जैन दर्शन में पाया जाता है; और उसमे अन्य दर्शनो मे निरूपित द्रव्य के आंशिक स्वरूप का भी समावेश हो जाता है। जैसे, बौद्ध दर्शन मे समस्त वस्तुओ को क्षणध्वंसी माना गया हैं, जो जैन दर्शनानुसार द्रव्य मे निरन्तर होनेवाले उत्पाद-व्यय रूप धर्मों के कारण है; तथा वेदान्त मे जो सत् को कूटस्थ नित्य माना गया है, वह द्रव्य की ध्रौव्य गुणात्मकता के कारण है।

आस्रव-तत्त्व—

जैन सिद्धान्त के सात तत्त्वों में प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अब यहां तीसरे और चौथे आस्रव व बंध नामक तत्त्वों की व्याख्या की जाती है। यह विषय जैन कर्म-सिद्धान्त का है, जिसे हम आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में जैन मनोविज्ञान (साइकोलौजी) कह सकते हैं। सचेतन

जीव संसार मे किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण किये हुए पाया जाता है। इस शरीर के दो प्रकार के अंग-उपांग हैं, एक हाथ पैर आदि; और दूसरे जिह्वा, नासिका नेत्रादि। इन्हे क्रमशः **कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां** कहा गया है, और इन्ही के द्वारा जीव नानाप्रकार की क्रियाएं करता रहता है। विकसित प्राणियों में इन क्रियाओ का संचालन भीतर से एक अन्य शक्ति द्वारा होता है' जिसे **मन** कहते हैं, और जिसे **नो-इन्द्रिय** नाम दिया गया है। जिह्वा द्वारा, रसना के अतिरिक्त, शब्द या वाणी के उच्चारण का काम भी लिया जाता है। इस प्रकार जीव की क्रियाओ में काय,वाक् और मन, ये विशेषरूप से प्रबल साधन सिद्ध होते हैं, और इनकी ही क्रिया को जैन सिद्धान्त में **योग** कहा गया है। इनके अर्थात् **काययोग, वाग्योग** और **मनोयोग** के द्वारा आत्मा के प्रदेशो मे एक परिस्पदन होता है, जिसके कारण आत्मा मे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमे उसके आसपास भरे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परमाणु आत्मा से आ चिपटते हैं। इसी आत्मा और पुद्गल परमाणुओं के सपर्क का नाम **आस्रव** है; एवं सपर्क मे आनेवाले परमाणु ही कर्म कहलाते हैं, क्योकि उनका आगमन उपर्युक्त काय, वाक् व मन के कर्म द्वारा होता है। इसप्रकार आत्मा के ससर्ग मे आनेवाले उन पुद्गल परमाणुओ की **कर्म** संज्ञा लाक्षणिक है।

काय आदि योगो रूप आत्म-प्रदेशो मे उत्पन्न होने वाला उपर्युक्त परिस्पदन दो प्रकार का हो सकता है—एक तो किसी क्रोध, मान आदि तीव्र मानसिक विकार से रहित साधारण क्रियाओ के रूप मे, और दूसरा क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार तीव्र मनोविकार रूप **कषायों** के वेग से प्रेरित। प्रथम प्रकार का कर्मास्रव **ईर्या-पथिक** अर्थात् मार्गगामी कहा गया है, क्योकि उसके द्वारा आत्म और कर्मप्रदेशो का कोई स्थिर बध उत्पन्न नही होता। वह आया और चला गया, जिस प्रकार कि किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर बैठी धूल शीघ्र ही झड जाती है; देर तक वस्त्र से चिपटी नही रहती। इस प्रकार का कर्मास्रव समस्त ससारी जीवो मे निरन्तर हुआ करता है, क्योकि उनके किसी न किसी प्रकार की मानसिक, शारीरिक या वाचिक क्रिया सदैव हुआ ही करती है। किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम आत्मा पर नही पडता। परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएं कषायो से युक्त होती हैं, तब आत्म-प्रदेशो मे एक ऐसी परपदार्थग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसके संपर्क मे आने वाले कर्मपरमाणु उससे शीघ्र पृथक् नही होते। यथार्थतः क्रोधादि विकारों की इसी शक्ति के कारण उन्हे कषाय कहा गया है। सामान्यतः वटवृक्ष के दूध के समान चेप-वाले द्रव पदार्थों को कषाय कहते है, क्योकि उनमें चिपकाने की शक्ति होती है। उसी

प्रकार क्रोध, मान आदि मनोविकार जीव में कर्मपरमाणुओं का आश्लेष कराने में कारणीभूत होने के कारण **कषाय** कहलाते है। इस सकषाय अवस्था मे उत्पन्न हुआ कर्मास्रव **साम्परायिक** कहलाता है, क्योंकि उसकी आत्मा मे सम्पराय चलती है, और वह अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाये बिना आत्मा से पृथक् नही होता।

बन्ध तत्व—

उक्त प्रकार जीव की सकषाय अवस्था मे आये हुए कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशो के साथ सबध हो जाने को ही कर्मबध कहा जाता है। यह बध चार प्रकार का होता है—**प्रकृति, स्थिति, अनुभाग** और **प्रदेश**। प्रकृति वस्तु के शील या स्वभाव को कहते हैं, अतएव कर्म परमाणुओ मे जिस प्रकार की परिणाम-उत्पादक शक्तिया आती है, उन्हे **कर्मप्रकृति** कहते है। कर्मो मे जितने काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे **कर्म-स्थिति** कहते है। उनकी तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्ति का नाम **अनुभाग** है, तथा आत्मप्रदेशो के साथ कितने कर्म-परमाणुओ का बध हुआ, इसे **प्रदेश बंध** कहते है। इस चार प्रकार की बंध-व्यवस्था के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त में कर्मो के **सत्व, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, निधत्ति** और **निकाचना** का भी विचार किया जाता है। बधादि ये ही दश कर्मो के **करण** अर्थात् अवस्थाएं कहलाती है। **बंध** के चार प्रकारो का उल्लेख किया ही जा चुका है। बंध होने के पश्चात् कर्म किस अवस्था मे आत्मा के साथ रहते है, इसका विचार सत्व के भीतर किया जाता है। अपनी सत्ता मे विद्यमान कर्म जब अपनी स्थिति को पूरा कर फल देने लगता है, तब उसे कर्मो का **उदय** कहते हैं। कभी कभी आत्मा अपने भावों की तीव्रता के द्वारा कर्मो की स्थिति पूरी होने से पूर्व ही उन्हे फलोन्मुख बना देता है, इसे **उदीरणा** कहते है। जिस प्रकार कच्चे फलो को विशेष ताप द्वारा उनके पकने के समय से पूर्व ही पका लिया जाता है, उसी प्रकार यह कर्मो की उदीरणा होती है। कर्मों के स्थिति-काल व अनुभाग (फलदायिनी शक्ति) मे विशेष भावो द्वारा वृद्धि करने का नाम **उत्कर्षण** है। उसी प्रकार उसके स्थिति-काल व अनुभाग को घटाने का नाम **अपकर्षण** है। कर्मप्रकृतियो के उपभेदो का एक से दूसरे रूप परिवर्तन किये जाने का नाम **संक्रमण** है। कर्मों को उदय में आने से रोक देना **उपशम** है। कर्मों को उदय में आने से, तथा अन्य प्रकृति रूप संक्रमण होने से भी रोक देना **निधत्तिकरण** है; और कर्मो की ऐसी अवस्था में ले जाना कि जिससे उनका उदय, उदीरणा, सक्रमण, उत्कर्षण या अपकर्षण, ये कोई विपरिवर्तन न हो सकें, उसे **निकाचन** कहते हैं।

कर्मों के इन दश करणो के स्वरूप से स्पष्ट है कि जैन कर्म-सिद्धान्त **नियति-वादी** नही है, और सर्वथा **स्वच्छन्दवादी** भी नही है। जीव के प्रत्येक कर्म द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नही रहती; और साथ ही जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नही होता कि वह अपने कर्मो की दशाओ मे सुधार-वधार करने मे सर्वथा असमर्थ हो जाय। इस प्रकार जैन सिद्धान्त मे मनुष्य के अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियो को बदल डालने की शक्ति, इन दोनो का भली-भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्म-प्रकृतिया—

(ज्ञानावरणकर्म)

बधे हुए कर्मो मे उत्पन्न होनेवाली प्रकृतिया दो प्रकार की है—**मूल और उत्तर**। मूल प्रकृतिया आठ है—**ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम** और **गोत्र**। इन आठ मूल प्रकृतियो की अपनी-अपनी भेदरूप विविध उत्तर प्रकृतिया बतलाई गई है। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण ससारावस्था मे उसका पूर्ण विकास नही होने पाता, जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड जाता है। इसकी ज्ञानो के भेदानुसार पाच उत्तर प्रकृतिया हैं, जिससे क्रमशः जीव का **मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्यय ज्ञान** व **केवलज्ञान** आवृत होता है।

दर्शनावरणकर्म—

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि; तथा चक्षुदर्शना-वरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय, ये नौ उत्तर प्रकृतिया हैं। **निद्रा** कर्मोदय से जीव को निद्रा आती है। उसकी गाढ़तर अवस्था अथवा पुनः पुन वृत्ति को **निद्रा-निद्रा** कहते हैं। **प्रचला** कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है कि वह सोते-सोते चलने-फिरने अथवा नाना इन्द्रिय व्यापार करने लगता है। **प्रचला-प्रचला** इसी का गाढतर रूप है, जिसमे उक्त क्रियाएं बार-बार व अधिक तीव्रता से होती है। **स्त्यानगृद्धि** कर्मोदय के कारण जीव स्वप्नावस्था मे ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर डालता है। **चक्षुदर्शनावरणीय** कर्म के कारण

नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है। अचक्षुदर्शनावरणीय से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पडती है; तथा अवधि व केवल दर्शनावरणीयों द्वारा उन-उन दर्शनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। उक्त भिन्न-भिन्न ज्ञानो व दर्शनों के स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा।

मोहनीय कर्म—

मोहनीय कर्म जीव के मोह अर्थात् उसकी रुचि व चारित्र मे अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य भेद दो है—एक **दर्शन-मोहनीय** और दूसरा **चारित्र-मोहनीय**, जो क्रमश दर्शन व चारित्र मे उक्त प्रकार दूषण उत्पन्न करते है। दर्शन मोहनीय की उत्तरप्रकृतिया तीन है—**मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व**। चारित्र-मोहनीय के चार भेद है—**क्रोध, मान, माया और लोभ**। ये चारों ही प्रत्येक **अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान** और **संज्वलन** के भेदानुसार चार-चार प्रकार के होते है, जिनकी कुल मिलाकर सोलह उत्तरप्रकृतिया होती हैं। इनमें **हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि** एव **पुरुष, स्त्री व नपुंसक वेद**— ये ९ **नोकषाय** मिलाने से मोहनीय कर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियो की सख्या अट्ठाइस हो जाती है। मोहनीय कर्म सब से अधिक प्रबल व प्रभावशाली पाया जाता है, और प्रत्येक प्राणी के मानसिक जीवन मे अत्यन्त व्यापक व उसके लोक-चारित्र के निर्माण मे समर्थ सिद्ध होता है। जीवन की क्रियाओ का आदि स्रोत जीव की मनोवृत्ति है। विशुद्ध मनोवृत्ति व दृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इस दर्शन की, विकार की तरतमतानुसार, अगणित अवस्थाएं होती है, जिन्हे मुख्यतः तीन भागो मे विभाजित किया गया है। एक सर्वथा वह मूढ अवस्था जिसमे वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा नही होती, एवं वस्तु को विपरीत भाव से ग्रहण करने की सभावना होती है; यह दर्शन-मोहनीय कर्म की **मिथ्यात्व** प्रकृति है। दूसरे, जहा इस मिथ्यात्व प्रकृति की जटिलता क्षीण होकर, उसमे सम्यग्दृष्टि का भी प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसे दर्शन-मोहनीय की मिश्र वा **सम्यग्मिथ्यात्व** प्रकृति कहा जाता है। और तीसरी, जहा मिथ्यात्व क्षीण होकर दृष्टि शुद्ध हो जाती है, यद्यपि उसमे कुछ चाचल्य, मालिन्य व अगाढत्व बना रहता है, तब उसे **सम्यक्त्व** प्रकृति कहा जाता है। धार्मिक जीवन को समझने के लिये इन तीन मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान बडा आवश्यक है, क्योकि मूलतः ये ही अवस्थाएं चारित्र को सदोष व निर्दोष बनाती है। चारित्र मे स्पष्ट विकार उत्पन्न करने वाले मानसिक भाव अनन्त है। किन्तु उन्हे हम दो सुस्पष्ट वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—एक **राग**

जो पर पदार्थ की ओर मनको आकर्षित व आसक्त करता है। इसे शास्त्र मे **पेज्ज** (सं० प्रेयस्) कहा गया है; और दूसरा **द्वेष** जो भिन्न पदार्थों से घृणा उत्पन्न करता है। यथार्थत: ये ही दो मूलकषाय या कषाय-भाव है, और इन्ही के प्रभेद रूप क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय माने गये है। इनमें से प्रत्येक की तीव्रता और मन्दतानुसार अगणित भेद हो सकने है, किन्तु सुविधा के लिये चार भेद माने गये है, जो भौतिक दृष्टान्तो द्वारा स्पष्ट समझे जा सकते है। **अनन्तानुबन्धी** क्रोध पाषाण की रेखा के समान बहुत स्थायी होता है। उसका **अप्रत्याख्यान** रूप पृथ्वी की रेखा के सदृश, **प्रत्याख्यान** रूप धूलि की रेखा के समान, और **सज्वलन,** जल की रेखा के समान क्रमश: तीव्रतम से लेकर मन्दतम होता है। इसीप्रकार मान की चार अवस्थाए, उसकी कठोरता व लचीलेपन के अनुसार, पाषाण, अस्थि, काष्ठ और वेत्र के समान, माया की, उसकी वक्रता की जटिलता व हीनता के अनुसार, बास की जड, मेढे के सीग, गोमूत्र तथा खुरपे के सदृश, एव लोभ कषाय की कृमिराग, कीट (ओंगन), शरीमल और हलदी के समान तीव्रता से मन्दता की ओर उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार चार अवस्थाए होती हैं।

'नो' का अर्थ होता है—ईषत् या अल्प। तदनुसार नोकषाय वे मानसिक विकार कहे गये हैं, जो उक्त कषायो के प्रभेद रूप होते हुए भी अपनी विशेषता व जीवन मे स्पष्ट पृथक् स्वरूप के कारण अलग से गिनाये गये हैं। इन नोकषायो का स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। इसप्रकार मोहनीय कर्म की उन अट्ठाइस उत्तर प्रकृतियो के भीतर अपनी एक विशेष व्यवस्थानुसार उन सब मानसिक अवस्थाओ का अन्तर्भाव हो जाता है, जो अन्यत्र रस व भावो के नाम से सक्षेप या विस्तार से वर्णित पाई जाती हैं। इन्ही मोहनीय कर्मो की तीव्र व मन्द अवस्थाओ के अनुसार वे आध्यात्मिक भूमिकाएं विकसित होती है जिन्हे गुणस्थान कहते है जिनका वर्णन आगे किया जावेगा।

अन्तरायकर्म—

जो कर्म जीव के बाह्य पदार्थो के आदान-प्रदान और भोगोपभोग तथा स्वकीय पराक्रम के विकास मे विघ्न-बाधा उत्पन्न करता है, वह **अन्तराय कर्म** कहा गया है। उसकी पांच उत्तर प्रकृतिया है—**दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।** ये क्रमश. जीव के दान करने, लाभ लेने, भोज्य व भोग्य पदार्थों का एक बार मे, अथवा अनेक बार मे, सुख लेने, एव किसी भी परिस्थिति का सामना करने योग्य सामर्थ्य रूप गुणो के विकास मे बाधक होते हैं।

वेदनीय कर्म—

जो कर्म जीव को सुख या दुःख रूप वेदन उत्पन्न करता है, उसे **वेदनीय** कहते है। इसकी उत्तर प्रकृतिया दो हैं—**साता वेदनीय**, जो जीव को सुख का अनुभव कराता है; और **असाता वेदनीय**, जो दुःख का अनुभव कराता है। यहा अन्तराय कर्म की भोग और उपभोग प्रकृतिया, तथा वेदनीय की साता-असाता प्रकृतियो के फलोदय मे भेद करना आवश्यक है। किसी मनुष्य को भोजन, वस्त्र, गृह आदि की प्राप्ति नही हो रही, इसे उसके लाभान्तराय कर्म का उदय कहा जायेगा। इनका लाभ होने पर भी यदि किसी परिस्थितिवश वह उनका भोग या उपभोग नही कर पाता, तो वह उसके भोग-उपभोगान्तराय कर्म का उदय माना जायेगा, और यदि उक्त वस्तुओ की प्राप्ति और उनका उपयोग होने पर भी उसे सुख का अनुभव न होकर, दुःख ही होता है, तो यह उसके असाता वेदनीय कर्म का फल है। सम्भव है किसी व्यक्ति के लाभान्तराय कर्म के उपशमन से उसे भोग्य वस्तुओ का प्राप्ति हो गई हो, पर वह उनका सुख तभी पा सकेगा जब साथ ही उससे साता-वेदनीय कर्म का उदय हो। यदि असाता-वेदनीय कर्म का उदय है, तो उन वस्तुओ से भी उसे दुःख ही होगा।

आयु कर्म—

जिस कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य या तिर्यच गति मे आयु का निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है, और उसकी ये ही चार अर्थात् **देवायु**, **नरकायु**, **मनुष्यायु** व **तिर्यचायु**, उत्तर प्रकृतिया है।

गोत्र कर्म—

लोकव्यवहार सबधी आचरण को **गोत्र** माना गया है। जिस कुल मे लोकपूजित आचरण की परम्परा है, उसे **उच्चगोत्र**, और जिसमे लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे **नीचगोत्र** नाम दिया गया है। इन कुलो मे जन्म दिलानेवाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है, और उसकी तदनुसार उच्चगोत्र व नीचगोत्र, ये दो ही उत्तर प्रकृतिया है। यद्यपि गोत्र शब्द का वैदिक परम्परा मे भी प्रयोग पाया जाता है, तथापि जैन कर्म सिद्धान्त मे उसकी उच्चता और नीचता मे आचरण की प्रधानता स्वीकार की गई है।

नाम कर्म—

जिसप्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा विशेषरूप से प्राणियो के मानसिक गुणो व

विकारो का निर्माण होता है, उसीप्रकार उसके शारीरिक गुणो के निर्माण मे नामकर्म **विशेष समर्थ** कहा गया है । नामकर्म के **मुख्यभेद** ४२, तथा उनके उपभेदो की अपेक्षा **६३ उत्तर प्रकृतिया** मानी गई है, जो इसप्रकार है :—

(१) चार गति (नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव), (२) पाच जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय), (३) पाच शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण), (४-५) औदारिकादि पाचो शरीरो के पाच बन्धन व उन्ही के पाच सघात, (६) छह शरीर सस्थान (समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्ड), (७) तीन शरीरागोपाग (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक), (८) छह सहनन (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलित, और असप्राप्तासृपाटिका), (९) पाच वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, हरित और शुक्ल), (१०) दो गध (सुगन्ध और दुर्गन्ध), (११) पाच रस (तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर), (१२) आठ स्पर्श (कठोर, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण), (१३) चार आनुपूर्वी (नरकगतियोग्य, तिर्यगतियोग्य, मनुष्यगतियोग्य और देवगतियोग्य), (१४) अगुरुलघु, (१५) उपघात, (१६) परघात, (१७) उच्छ्वास, (१८) आतप, (१९) उद्योत, (२०) दो विहायोगति (प्रशस्त और अप्रशस्त), (२१) त्रस, (२२) स्थावर, (२३) बादर, (२४) सूक्ष्म, (२५) पर्याप्त, (२६) अपर्याप्त, (२७) प्रत्येक शरीर, (२८) साधारण शरीर, (२९) स्थिर, (३०) अस्थिर, (३१) शुभ, (३२) अशुभ, (३३) सुभग, (३४) दुर्भग, (३५) सुस्वर, (३६) दुःस्वर, (३७) आदेय, (३८) अनादेय, (३९) यश कीर्ति, (४०) अयश कीर्ति, (४१) निर्माण और (४२) तीर्थंकर ।

उपर्युक्त कर्म प्रकृतियो मे से अधिकाश का स्वरूप उनके नामो पर से अथवा पूर्वोक्त उल्लेखो से स्पष्ट हो जाता है । शेष का स्वरूप इस प्रकार है—पाच प्रकार के शरीरो के जो पाच प्रकार के **बन्धन** बतलाये गये है, उनका कर्त्तव्य यह है कि वे शरीर नामकर्म के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणुओ मे परस्पर बन्धन व सश्लेष उत्पन्न करते हैं, जिसके अभाव मे वह परमाणुपुज रत्नराशिवत् विरल (पृथक्) रह जायगा । बन्धन प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए सश्लिष्ट शरीर मे **संघात** अर्थात् निश्छिद्र ठोसपन लाना सघात प्रकृति का कार्य है । **संस्थान** नामकर्म का कार्य शरीर की आकृति का निर्माण करना है । जिस शरीर के समस्त भाग उचित प्रमाण से निर्माण होते हैं, वह **समचतुरस्र** कहलाता है । जिस शरीर का नाभि से ऊपर का भाग अति स्थूल, और नीचे का भाग अति लघु हो, उसे **न्यग्रोधपरिमण्डल** (अर्थात् वटवृक्षाकार) संस्थान कहा

जाता है। इससे विपरीत, अर्थात् ऊपर का भाग अत्यन्त लघु और नीचे का अत्यन्त विशाल हो, वह **स्वाति** (अर्थात् वल्मीक के आकार का) संस्थान कहलाता है। कुबड़े शरीर को **कुब्ज**, सर्वांग ह्रस्व शरीर को **वामन**, तथा सर्व अंगोपांगों मे विषमाकार (टेढेमेढे) शरीर को **हुण्ड** सस्थान कहते हैं। इन्ही छह भिन्न शरीर-आकृतियो का निर्माण कराने वाली छह संस्थान प्रकृतिया मानी गई है। उपर्युक्त औदारिकादि पाच शरीर-प्रकृतियो मे से तैजस और कार्मण, इन दो प्रकृतियो द्वारा किन्ही भिन्न शरीरों व अंगोपागो का निर्माण नही होता। इसलिये उन दो को छोड़कर **अंगोपांग** नामकर्म की शेष तीन ही प्रकृतिया कही गई है। **वृषभ** का अर्थ अस्थि, और **नाराच** का अर्थ कील होता है। अतएव जिस शरीर की अस्थिया व उन्हे जोडनेवाली कीले वज्र के समान दृढ होती है, वह शरीर **वज्र-वृषभ-नाराच** सहनन कहलाता है। जिस शरीर की केवल नाराच अर्थात् कीले वज्रवत् होती हैं, उसे **वज्र-नाराच** सहनन कहा जाता है। **नाराच** सहनन मे कीले तो होती है, किन्तु वज्र समान दृढ नही। **अर्द्धनाराच** संहनन वाले शरीर मे कील पूरी नही, किन्तु आधी रहती है। जिस शरीर मे अस्थियो के जोड़ो के स्थानो मे दोनो ओर अल्प कीले लगी हो, वह **कीलक** सहनन है, और जहा अस्थियो का बन्ध,कीलो से नही, किन्तु स्नायु, मास आदि से लपेट कर संघटित हो, वह **असंप्राप्तासृपाटिका** सहनन कहा गया है। इन्ही छह प्रकार के शरीर-संहननो के निर्माण के लिये उक्त छह प्रकृतिया ग्रहण की गई है। मृत्युकाल मे जीव के पूर्व शरीराकार का विनाश हुए बिना उसकी नवीन गति की ओर ले जाने वाली शक्ति को देने वाली प्रकृति का नाम **आनुपूर्वी** है, जिसके गतियो के अनुसार चार भेद है। शरीर के अग-प्रत्यगो की ऐसी रचना जो स्वय उसी देहधारी जीव को क्लेशदायक हो, उसे **उपघात**; और जिसमे दूसरो को क्लेश पहुंचाया जा सके, उसे **परघात** कहते है। इन प्रवृत्तियो को उत्पन्न करनेवाली प्रकृतियो के नाम भी क्रमश उपघात और परघात हैं। बडे सीग, लम्बे स्तन, विशाल तोद एव वात, पित्त, कफ आदि दूषण उपघात कर्मोदय के, तथा सर्प की डाढ व बिच्छू के डक का विष, सिह व्याघ्रादि के नख और दत आदि परघात कर्मोदय के उदाहरण है। **आतप** का अर्थ है उष्णता सहित, तथा **उद्योत** का अर्थ है उष्णता रहित प्रकाश, जैसा कि सूर्य और चन्द्र में पाया जाता है। जीव-शरीरो मे इन धर्मों को प्रकट करने वाली प्रकृतियो को आतप व उपघात कहा है, जैसा कि क्रमशः सूर्यमण्डलवर्ती पृथ्वीकायिक शरीर व खद्योत। स्थानान्तरण का नाम गति है, जो विहायस् अर्थात् आकाश-अवकाश मे होती है। किन्ही जीवो की गति **प्रशस्त** अर्थात् सुन्दर व उत्तम मानी गई है, जैसे हाथी, हस आदि की; और कितनों की **अप्रशस्त**,

जैसे गधा, ऊंट आदि की। इन्ही दो प्रकार की गतियो की विधायक प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति नामक कर्म-प्रकृतिया मानी गई हैं। **पर्याप्त शरीर** वह है जिसकी इन्द्रिय आदि पुद्गल-रचना पूर्ण हो गई है या होनेवाली है। **अपर्याप्त शरीर** वह है जिसकी पुद्गल-रचना पूर्ण होने के पूर्व ही उसका मरण अवश्यम्भावी है। इन्ही दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो की विधायक पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो प्रकृतिया मानी गई है। जिस कर्म के उदय से शरीर मे रस, रुधिर, मास, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र, इन धातुओं मे स्थिरता उत्पन्न होती है उसे **स्थिर**, और जिसके द्वारा उन्ही धातुओ का क्रमश. विपरिवर्तन होता है उसका नाम **अस्थिर** प्रकृति है। रक्त व प्राण वायु का जो शरीर मे निरन्तर सचालन होता रहता है उसे **अस्थिर** प्रकृति का, तथा अस्थि आदि धातुओ मे जो स्थिरता पाई जाती है उसे स्थिर प्रकृति का, कार्य कहा जा सकता है। शरीर के अगोपागो के शुभ-लक्षण, **शुभ-प्रकृति** एव अशुभ-लक्षण, **अशुभप्रकृति** के कारण होते है। उसी प्रकार उनके सौन्दर्य व कुरूपता के कारण **सुभग** व **दुर्भग** प्रकृतिया है। जिस कर्म के उदय से जीव के आदेयता अर्थात बहुमान्यता उत्पन्न होती है वह **आदेय**, और उससे विपरीत भाव प्रकृति **अनादेय** कही गई है। जिस कर्म के उदय से लोक मे जीव के गुणो की ख्याति होती है वह **यशः कीर्ति**, और जिससे कुख्याति होती है वह **अयश कीर्ति** प्रकृति है। जिस कर्म के द्वारा शरीर के अगोपागो के प्रमाण व यथोचित स्थान का नियन्त्रण होता है, उसे **निर्माण** नाम कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से जीव को त्रिलोक-पूज्य तीर्थकर पर्याय प्राप्त होती है, वह **तीर्थकर प्रकृति** है। इस प्रकार नामकर्म की इन विविध प्रकृतियो द्वारा जीवो के शरीर, अंगोपागो व धातु-उपधातुओ की रचना और उनके कार्य-वैचित्र्य का निर्धारण व नियमन किया गया है।

प्रकृतिबन्ध के कारण—

ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मबन्ध का कारण सामान्य रूप से जीव की कषायात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तिया है। कौन सी कषायात्मक प्रवृत्तिया किन कर्म-प्रकृतियो को जन्म देती है, इसका भी सूक्ष्म विचार किया गया है, जो सक्षेप मे इसप्रकार है — तत्वज्ञान मोक्ष का साधन है। इस साधना की बाधक प्रवृत्तिया है—इस तत्वज्ञान को दूसरो से छुपाना, या जानबूझकर उसे विकृत रूप मे प्रस्तुत करना, ज्ञान के विषय मे किसी से मात्सर्य भाव रखना; उनके ज्ञानार्जन मे बाधा उपस्थित करना, या उसे अर्जन से रोकना, व सच्चे ज्ञान मे दूषण उत्पन्न करना। ये कुटिल वृत्तिया जब सम्यग्दर्शन के संबध मे उपस्थित होती है, तब **दर्शनावरण**; व ज्ञान के सबध मे उत्पन्न होने पर **ज्ञानावरण**

कर्म-प्रकृति का बंध कराती हैं, व भाव-वैचित्र्य के अनुसार इन कर्मों की उत्तर प्रकृतियां बंधती है। उसी प्रकार परम ज्ञानियो, उत्तम शास्त्र, सच्चे धर्मनिष्ठ व्यक्तियों, धर्माचरणों व सच्चे देव के सबध मे निदा और अपमान फैलाना, **दर्शन-मोहनीय** कर्म के कारण हैं; तथा क्रोधादि कषायो से जो भावो की तीव्रता उत्पन्न होती है, उससे **चारित्र-मोहनीय** कर्म बधता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग व शक्ति (वीर्य) उपार्जन जीवन को सुखी बनाने की सामान्य प्रवृत्तिया है। इनमे कुटिलभाव मे विघ्न उपस्थित करने के कारण **अन्तराय** कर्म की विविध प्रकृतियो का बध होता है। ये चारो कर्म जीव के गुणो के विकास में बाधक होते है, अर्थात् उनकी सत्ता विद्यमान रहने पर जीव अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणो को पूर्ण रूप से विकसित नही कर पाता, इसकारण इन कर्मों को **घाति** एवं पाप-कर्म कहा गया है। शेष जो चार वेदनीय, आयु, गोत्र व नाम कर्म हैं, उनका अस्तित्व रहते हुए भी जीव के केवलज्ञान की प्राप्ति रूप पूर्ण आध्यात्मिक विकास मे बाधा नही पडती। इसलिये इन कर्मो को **अघाति** कर्म माना गया है। स्वयं को या दूसरों को दु ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध आदि रूप पीडा देने से **असाता-वेदनीय** कर्म का बध होता है; तथा जीवो के प्रति दयाभाव, व्रती व सयमी पुरुषो के प्रति अनुकम्पा व दान, तथा ससार से छूटने की इच्छा से स्वयं व्रत-सयम के अभ्यास से **साता-वेदनीय** कर्म का बध होता है। इसप्रकार वेदनीय कर्म दो प्रकार का सिद्ध हुआ—एक दु खदायी, दूसरा सुखदायी, और इसलिये एक को **पाप** व दूसरे को **पुण्य** कहा गया है।

यहा यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पुण्य और पाप, ये दोनो ही प्रवृत्तिया कर्मबध उत्पन्न करती है। हा, उनमे से प्रथम प्रकार का कर्मबध जीव के अनुभवन मे अनुकूल व सुखदायी, और दूसरा प्रतिकूल व दु खदायी सिद्ध होता है। इसीलिये पुण्य और पाप दोनो को शरीर को बाधने वाली बेडियो की उपमा दी गई है। पाप रूप बेडिया लोहे की है, और पुण्य रूप बेडिया सुवर्ण की, जो अलंकारो का रूप धारणकर प्रिय लगती है। जीव के इन पुण्य और पाप रूप परिणामो को **शुभ** व **अशुभ** भी कहा गया है। ये दोनो ही ससार-भ्रमण के कारणीभूत हैं, भले ही पुण्य जीव को स्वर्गादि शुभ गतियो मे ले जाकर सुखानुभव कराये, अथवा पाप नरकादि व पशु योनियो मे ले जाकर दु खदायी हो। इन दोनो शुभाशुभ परिणामो से पृथक् जो जीव की **शुद्धावस्था** मानी गई है, वही कर्मबध से छुडाकर मोक्ष गति को प्राप्त कराने वाली है।

सासारिक कार्यों मे अति आसक्ति व अति परिग्रह **नरकायु** बध का कारण कहा गया है। मायाचार **तिर्यंच आयु** का, अल्पारभ, अल्प परिग्रह, व स्वभाव की मृदुता

मनुष्य आयु का, तथा संयम व तप **देवायु** का बंध कराते हैं। इनमे देव **और मनुष्य आयु** का बंध शुभ, व नरक और तिर्यंच आयु का बध अशुभ कहा गया है। पर-निंदा, आत्म-प्रशंसा, सद्भूतगुणों का आच्छादन तथा असद्भूत गुणो का उद्भावन, ये **नीचगोत्र; तथा** इनसे विपरीत प्रवृत्ति, एव मान का अभाव और विनय, ये **उच्चगोत्र** बध के कारण है। यहा पर स्पष्टत उच्चगोत्र का बध शुभ व नीच गोत्र का बध अशुभ होता है। नामकर्म की जितनी उत्तर प्रकृतिया बतलाई गई है, वे उनके स्वरूप से ही स्पष्टत: दो प्रकार की है—**शुभ** व **अशुभ**। इनमे अशुभ नामकर्म-बध का कारण सामान्य से मन-वचन-काय योगो की वक्रता व कुत्सित क्रियाए, और साथ-साथ मिथ्याभाव, पैशुन्य, चित्त की चचलता, झूठे नाप-तौल रखकर दूसरो को ठगने की वृत्ति आदि रूप बुरा आचरण है, और इनसे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म के बध का कारण है। नामकर्म के भीतर **तीर्थंकर प्रकृति** बतलाई गई है, जो जीव के शुभतम परिणामो से उत्पन्न होती है। ऐसे १६ उत्तम परिणाम विशेष रूप से तीर्थकर गोत्र के कारण बतलाये गये है, जो इसप्रकार है—

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, विनय-सपन्नता, शीलो और व्रतो का निर्दोष परिपालन, निरन्तर ज्ञान-साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति, शक्ति अनुसार त्याग और तप, भले प्रकार समाधि, साधु जनो का सेवा-सत्कार, पूज्य आचार्य विशेष विद्वान व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्मकार्यो का निरन्तर परिपालन, धार्मिक-प्रोत्साहन व धर्मीजनो के प्रति वात्सल्य-भाव।

स्थितिबन्ध—

ये कर्म-प्रकृतिया जब बध को प्राप्त होती हैं, तभी उनमे जीव के कषायो की मंदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वे कितने काल तक सत्ता मे रहेगे, और फिर अपना फल देकर झड जायेगे। इसे ही कर्मो का **स्थितिबंध** कहते है। यह स्थिति जीव के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती है जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, व अन्तराय, इन तीन कर्मों की **जघन्य** अर्थात् कम कम से स्थिति अन्तर्मुहूर्त और **उत्कृष्ट** अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोडाकोडी सागर की होती है। वेदनीय की जघन्यस्थिति बारह मूहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडाकोडी सागर की। मोहनीय कर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर की। आयुकर्म की क्रमश: अन्तर्मुहूर्त और ३३ सागर की; तथा नाम और गोत्र इन दोनों की आठ अन्तर्मुहूर्त

और २० कोडाकोड़ी सागर की कही गई है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की समस्त स्थितियां मध्यम कहलाती हैं। एक मुहूर्तकाल का प्रमाण आधुनिक कालगणनानुसार ४८ मिनट होता है। एक मूहूर्त मे एक समय हीन काल को भिन्नमुहूर्त और भिन्नमुहूर्त से एक समय हीन काल से लेकर एक आवलि तक के काल को **अन्तर्मुहूर्त** कहते है। १ आवलि १ सेकेन्ड के अल्पाश के बराबर होता है। सागर अथवा **सागरोपम** एक उपमा प्रमाण है, जिसकी सख्या नही की जा सकती, अर्थात् सख्यातीत वर्षों के काल को सागर कहते हैं। **कोड़ाकोड़ी** का अर्थ है १ करोड़ का वर्ग (१ करोड × १ करोड)। इस प्रकार कर्मो की **उत्कृष्ट स्थिति** जो २०,३०,३३ या ७० कोडाकोडी सागरोपम की बतलाई गई है, वह हमे केवल उनकी परस्पर दीर्घता वा अल्पता का बोध मात्र कराती है। सामान्यत सभी कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियां **अप्रशस्त** मानी गई है, क्योंकि उनका बध सक्लेश रूप परिणामो से होता है। सक्लेश मे जितनी मात्रा मे हीनता और विशुद्धि की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से स्थिति-बध हीन होता जाता है, और जघन्यस्थिति का बध उत्कृष्ट विशुद्धि की अवस्था मे होता है। विशुद्धि और सक्लेश का लक्षण धवलाकार ने बतलाया है कि साता-वेदनीय कर्म के बध योग्य परिणाम को **विशुद्धि**, और असाता-वेदनीय के बंध योग्य परिणाम को **संक्लेश** मानना चाहिये।

अनुभाग बध—

कर्मप्रकृतियो मे स्थिति-बन्ध के साथ-साथ जो उनमे तीव्र या मन्द रसदायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है, उसी शक्ति का नाम **अनुभाग** बन्ध है; जिसप्रकार कि किसी फल मे उसके मिठास व खटास की तीव्रता व मन्दता भी पाई जाती है। यह अनुभाग बन्ध भी बन्धक जीवो के भावानुसार उत्पन्न होता है। विशुद्ध परिणामो द्वारा साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो का **उत्कृष्ट** अनुभाग बन्ध होता है, और असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियो का **जघन्य**। तथा सक्लिष्ट परिणामो से असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है, व साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो का जघन्य। इसप्रकार स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का परस्पर यह सबध पाया जाता है कि जहा स्थिति बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता क्रमशः सक्लेश और विशुद्धि के अधीन है, वहा अनुभाग बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता,प्रशस्त व अप्रशस्त प्रकृतियो मे भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती है। **प्रशस्त** प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग विशुद्धि के अधीन है, और **अप्रशस्त** का सक्लेश के, एवं जघन्यता इसके विपरीत।

कर्मों की यह अनुभाग रूप फलदायिनी शक्ति उदाहरणों द्वारा समझायी जा सकती है। जिस प्रकार लता, काष्ठ, अस्थि और पाषाण में कोमलता से कठोरता की ओर उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मों का अनुभाग मन्दता से तीव्रता की ओर बढता जाता है। लता भाग से लेकर काष्ठ के कुछ अंश तक घातिया कर्मों की शक्ति देशघाती कहलाती है, क्योंकि इस अवस्था मे वह जीव के गुणो का आंशिक रूप से घात या आवरण करती है। और काष्ठ से आगे पाषाण तक की शक्ति सर्वघाति होती है—अर्थात् उस अनुभाग के उदय मे आने पर आत्मा के गुण पूर्णता से ढक जाते है। अघातिया कर्मों मे से प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग गुड, खाड, मिश्री और अमृत के समान, तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का नीम, काजी, विष और हालाहल के समान कहा गया है, जिसका बध उपर्युक्त विशुद्धि व सक्लेश की व्यवस्थानुसार उत्तरोत्तर तीव्र व मद होता है।

प्रदेशबन्ध—

पहले कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा जीव आत्म-प्रदेशों के सपर्क मे कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं को ले आता है, और उनमें विविध प्रकार की कर्मशक्तिया उत्पन्न करता है। इसप्रकार पुद्गल परमाणुओं का जीव-प्रदेशो के साथ सबध होना ही **प्रदेश-बन्ध** है। जिन पुद्गल परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, वे अत्यन्त सूक्ष्म माने गये है, और प्रतिसमय बधनेवाले परमाणुओं की संख्या अनन्त मानी गयी है। जितना कर्मद्रव्य बंध को प्राप्त होती है उसका **बटवारा** जीव के परिणामानुसार आठ मूल प्रकृतियों मे हो जाता है। इनमे आयु कर्म का भाग सब से अल्प, उसमें अधिक नाम और गोत्र का परस्पर समान, उससे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, इन तीन घातिया कर्मो का परस्पर में समान, उससे अधिक मोहनीय का, और उससे अधिक वेदनीयका भाग होता है। इस **अनुपात का कारण** इस प्रकार प्रतीत होता है—आयुकर्म जीवन मे केवल एक बार बधता है, और सामान्यत उसमे घटा-बढी न होकर जीवन भर क्रमश क्षरण होता रहता है, इसलिये उसका द्रव्यपुज सब से अल्प माना गया है। नाम और गोत्र कर्मो की घटा-बढी जीवन मे आयुकर्म की अपेक्षा कुछ अधिक होती है, किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की अपेक्षा उस द्रव्य का हानिलाभ कम ही होता है। मोहनीयकर्म सबंधी कषायो का उदय, उत्कर्ष और अपकर्ष उक्त कर्मों की अपेक्षा अधिक होता है, और उससे भी अधिक सुख-दुःख अनुभवन रूप वेदनीय कर्म का कार्य पाया जाता है। इसी

कारण इन कर्मों के भाग का द्रव्य उक्त क्रम से हीनाधिक कहा गया है। जिसप्रकार प्रतिसमय अनन्त परमाणुओं का पुद्गल-पुंज बंध को प्राप्त होता है, उसीप्रकार पूर्व संचित कर्म-द्रव्य अपनी-अपनी स्थिति पूरी कर उदय में आता रहता है, और अपनी अपनी प्रकृति अनुसार जीव को नानाप्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव कराता रहता है। इसप्रकार इस कर्म-सिद्धान्तानुसार जीव की नानादशाओं का मूल कारण उसका अपने द्वारा उत्पादित पूर्व कर्म-बन्ध है। तात्कालिक भिन्न-भिन्न द्रव्यात्मक व भावात्मक परिस्थितियां कर्मों की फलदायिनी शक्ति में कुछ उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि विशेषताएं अवश्य उत्पन्न किया करती है, किन्तु सामान्य रूप से कर्मफल-भोग की धारा अविच्छिन्न रूप से चला करती है, और यह गीतानुसार भगवान् कृष्ण के शब्दों में पुकार कर कहती रहती है कि —

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ॥ (भ०गी० ६, ५)

कर्मसिद्धान्त की विशेषता—

यह है संक्षेप में जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त। **'जैसी करनी, तैसी भरनी'** **'जो जस करहि तो तस फल चाखा'** (As you sow, so you reap) एक अति प्राचीन कहावत है। प्राय सभ्यता के विकास के आदिकाल में ही मानव ने प्रकृति के कार्य-कारण संबंध को जान लिया था, क्योंकि वह देखता था कि प्राय प्रत्येक कार्य किसी कारण के आधार से ही उत्पन्न होता है, और वह कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है। जहां उसे किसी घटना के लिये कोई स्पष्ट कारण दिखाई नहीं दिया, वहां उसने किसी अदृष्ट कारण की कल्पना की, और घटना जितनी अद्भुत व असाधारण सी दिखाई दी, उतना ही अद्भुत व असाधारण उसका कारण कल्पित करना पड़ा। इसी छुपे हुए रहस्यमय कारण ने कहीं भूत-प्रेत का रूप धारण किया, कहीं ईश्वर या ईश्वरेच्छा का, कहीं प्रकृति का; और कहीं, यदि वह घटना मनुष्य से सम्बद्ध हुई तो, उसके भाग्य अथवा पूर्वकृत अदृष्ट कर्मों का। जैन दर्शन में इस अन्तिम कारण को आधारभूत मानकर अपने कर्म-सिद्धान्त में उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य अधिकांश धर्मों में ईश्वर को यह कर्तृत्व सौंपा गया है, जिसके कारण उनमें कर्म-सिद्धान्त जैसी मान्यता या तो उत्पन्न ही नहीं हुई, या उत्पन्न होकर भी विशेष विकसित नहीं हो पाई। वेदान्त दर्शन में ईश्वर को मानकर भी उसके कर्तृत्व के संबंध में कुछ दोष उत्पन्न होते हुए दिखाई दिये। बादरायण के सूत्रों में और उनके शंकराचार्य कृत भाष्य (२,१,३४) में स्पष्ट कहा

गया है कि यदि ईश्वर को मनुष्य के सुख-दुःखों का कर्ता माना जाय तो वह पक्षपात और क्रूरता का दोषी ठहरता है, क्योंकि वह कुछ मनुष्यो को अत्यन्त सुखी बनाता है, और दूसरो को अत्यन्त दुःखी। इस बात का विवेचन कर अन्ततः इसी मत पर पहुचा गया है कि ईश्वर मनुष्य के विषय मे जो कुछ करता है, वह उस-उस व्यक्ति के पूर्व कर्मानुसार ही करता है। किन्तु ऐसी परिस्थिति मे ईश्वर का कोई कर्तृत्व-स्वातन्त्र्य नही ठहरता। जैन कर्म सिद्धान्त मे मनुष्य के कर्मो को फलदायक बनाने के लिये किसी एक पृथक् शक्ति की आवश्यकता नही समझी गई, और उसने अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके गुण, आचरण व सुख-दुखात्मक अनुभवन को उत्पन्न करनेवाली कर्मशक्तियो का एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इसके द्वारा जैनदार्शनिकों ने अपने परमात्मा या ईश्वर को, उसके कर्तृत्व में उपस्थित होनेवाले दोषो से मुक्त रखा है, और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण के सबंध मे पूर्णतः उत्तरदायी बनाया है। जैन कर्म-सिद्धान्त की यह बात भगवद्गीता के उन वाक्यों मे ध्वनित हुई पाई जाती है, जहा कहा गया है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म-फल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न पुण्यं कस्यचित् विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (भ०गी० ५, १४-१५)

जीव और कर्मबध सादि है या अनादि ?

कर्म सिद्धान्त के विवेचन मे देखा जा चुका है कि जीव किसप्रकार अपने मन-वचन-काय की क्रियाओ एव रागद्वेषात्मक भावनाओ के द्वारा अपने अन्तरग मे ऐसी शक्तिया उत्पन्न करता है जिनके कारण उसे नानाप्रकार के सुखदुख रूप अनुभवन हुआ करते हैं, और उसका ससारचक्र में परिभ्रमण चलता रहता है। प्रश्न यह है कि क्या जीव का यह ससार-परिभ्रमण, जिसप्रकार वह अनादि है, उसी प्रकार उसका अनन्त तक चलते रहना अनिवार्य है ? यदि यह अनिवार्य नही है, तो क्या उसका अन्त किया जाना वाछनीय है ? और यदि वाछनीय है, तो उसका उपाय क्या है ? इन विषयो पर भिन्न-भिन्न धर्मों व दर्शनो के नाना मतमतान्तर पाये जाते है। विज्ञान ने जहा प्रकृति के अन्य गुणधर्मों की जानकारी में अपना असाधारण सामर्थ्य बढा लिया है, वहा वह जीव के भूत व भविष्य के सबंध मे कुछ भी निश्चय-पूर्वक कह सकने मे अपने को असमर्थ पाता है। अतएव इस विषय पर विचार हमे धार्मिक दर्शनो की सीमाओ के

भीतर ही करना पड़ता है। जो दर्शन जीवन की धारा को सादि अर्थात् अनादि न होकर किसी एक काल मे प्रारम्भ हुई मानते है, उनके सम्मुख यह प्रश्न खड़ा होता है कि जीवन का प्रारम्भ कब और क्यो हुआ ? कब का तो कोई उत्तर नही दे पाता; किन्तु क्यो का एक यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर की इच्छा से जीव की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि जीव जैसे चेतन द्रव्य की उत्पत्ति के लिये एक और ईश्वर जैसे महान् चेतन द्रव्य की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है, और इस महान् चेतन द्रव्य की सत्ता को अनादि मानना भी अनिवार्य होता है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, जैन धर्म मे इस दोहरी कल्पना के स्थान पर सीधे जीव के अनादि काल से संसार मे विद्यमान होने की मान्यता को उचित समझा गया है। किन्तु अधिकाश जीवो के लिये इस संसार-भ्रमण का अन्त कर, अपने शुद्ध रूप मे आनन्त्य प्राप्त करना सम्भव माना है। इस प्रकार जिन जीवो मे ससार से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है, वे जीव **भव्य** अर्थात् होने योग्य (होनहार) माने गये है, और जिनमे यह सामर्थ्य नही है, उन्हे **अभव्य** कहा गया है।

चार पुरुषार्थ—

जीव के द्वारा अपने ससारानुभवन का अन्त किया जाना वाछनीय है या नही; इस सम्बन्ध मे भी स्वभावत बहुत मतभेद पाया जाता है। इस विषय मे प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है ? भारतीय परम्परा मे जीवन का ध्येय व पुरुषार्थ चार प्रकार का माना गया है—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इन पर समुचित विचार करने से स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि ये चार पुरुषार्थ यथार्थत: दो भागो मे विभाजित करने योग्य है—एक ओर धर्म और अर्थ, व दूसरी ओर काम और मोक्ष। इनमे यथार्थत. पुरुषार्थ अन्तिम दो ही है—काम और मोक्ष। **काम** का अर्थ है—सासारिक सुख, और **मोक्ष** का अर्थ है—सासारिक सुख, दुख व बधनो से मुक्ति। इन दो परस्पर विरोधी पुरुषार्थो के साधन है—अर्थ और धर्म। अर्थ से धन-दौलत आदि सासारिक परिग्रह का तात्पर्य है जिसके द्वारा भौतिक सुख सिद्ध होते है; और धर्म से तात्पर्य है उन शारीरिक और आध्यात्मिक साधनाओ का जिनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। भारतीय दर्शनो मे केवल एक चार्वाक मत ही ऐसा माना गया है, जिसने अर्थ द्वारा काम पुरुषार्थ की सिद्धि को ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना है, क्योंकि उस मत के अनुसार शरीर से भिन्न जीव जैसा कोई पृथक् तत्व ही नही है जो शरीर के भस्म होने पर अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हो। इसलिये

इस मत को नास्तिक कहा गया है। शेष वेदान्तादि वैदिक व जैन, बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्व स्वीकार किया है, और इसीलिये ये मत आस्तिक कहे गये हैं, तथा इन मतो के अनुसार जीव का अन्तिम पुरुषार्थ काम न होकर मोक्ष है, जिसका साधन धर्म स्वीकार किया गया है। धर्म की इसी श्रेष्ठता के उपलक्ष्य मे उसे चार पुरुषार्थो मे प्रथम स्थान दिया गया है, और मोक्ष की चरम पुरुषार्थता को सूचित करने के लिये उसे अन्त मे रखा गया है। अर्थ और काम ये दोनों साधन, साध्य-जीवन के मध्य की अवस्थाए है, इसीलिये इनका स्थान पुरुषार्थों के मध्य मे पाया जाता है।

मोक्ष सच्चा सुख—

इस प्रकार जैनधर्मानुसार जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सासारिक सुख को न मानकर मोक्ष को माना गया है। स्वभावत. प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थो व प्रवृत्तियो का महत्व न देकर मोक्ष रूप परोक्ष सुख पर इतना भार दिये जाने का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि तत्वज्ञानियो को सासारिक सुख सच्चा सुख नही, किन्तु सुखाभास मात्र प्रतीत हुआ है। वह चिरस्थायी न होकर अल्पकालीन होता है, और बहुधा एक सुख की तृप्ति उत्तरोत्तर अनेक नई लालसाओ को जन्म देनेवाली पाई जाती है। और जब हम इन सुखो के साधनो अर्थात् सासारिक सुख-सामग्री के प्रमाण पर विचार करते है, तो वह असख्य प्राणियो की लालसाओ को तृप्त करने के लिये पर्याप्त तो क्या होगी, एक जीवकी अभिलाषा को तृप्त करने के योग्य भी नही। इसीलिये एक आचार्य ने कहा है कि—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषता ॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बडा है कि उसमे विश्वभर की सम्पदा एक अणु के समान न कुछ के बराबर है। तब फिर सबकी आशाओ की पूर्ति कैसे, किसे, कितना देकर, की जा सकती है। अतएव सासारिक विषयो की वासना सर्वथा व्यर्थ है। वह बाह्य वस्तुओ के अधीन होने के कारण भी उसकी प्राप्ति अनिश्चित है, और उसके लिये प्रयत्न भी आकुलता और विपत्ति से परिपूर्ण पाया जाता है। उस ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी की कभी प्यास नही बुझ सकती, और न उसे स्थायी सुख-शान्ति मिल सकती। इसीलिये सच्चे स्थायी सुख के लिये मनुष्य को अर्थसंचय रूप प्रवृत्ति-परायणता से मुड़कर धर्मसाधन रूप विरक्ति-परायणता का

अभ्यास करना चाहिये, जिसके द्वारा सांसारिक तृष्णा से मुक्ति रूप आत्माधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। आचार्यों ने दुःख और सुख की परिभाषा भी यही की है कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः॥ (मनु. ४,१६०)

जो कुछ पराधीन है वह सब अन्ततः दुखदायी है, और जो कुछ स्वाधीन है वही सच्चा सुखदायी सिद्ध होता है।'

मोक्ष का मार्ग—

जैनधर्म मे मोक्ष की प्राप्ति का उपाय शुद्ध दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बतलाया गया है। तत्वार्थशास्त्र का प्रथम सूत्र है—**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** इन्ही तीन को रत्नत्रय माना गया है, और धर्म का स्वरूप इसी रत्नत्रय के भीतर गर्भित है। धर्म के ये तीन अग अन्तत: वैदिक परम्परा मे भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मनुस्मृति मे वही धर्म प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गई है जिसका सेवन व अनुज्ञापन सच्चे (सम्यग्दृष्टि) विद्वान् (ज्ञानी) राग-द्वेष-रहित (सच्चारित्रवान्) महापुरुषो ने किया है। भगवद्गीता मे भी स्वीकार किया गया है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता और तत्पश्चात् ही वह संयमी बनता है। यथा—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥ (मनु २, १)
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः (भ. गी. ४, ३६)

दर्शन के अनेक अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्त होने के लिये जो पहला पग सम्यग्दर्शन कहा गया है, उसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरूप में सच्चा श्रद्धान उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा की शरीर से पृथक् सत्ता का भान। जब तक यह भान नही होता, तब तक जीव मिथ्यात्वी है। इस मिथ्यात्व से छूटकर आत्मबोध रूप सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव, जीव का **ग्रन्थि-भेद** कहा गया है, जो सांसारिक प्रवाह में कभी किसी समय विविध कारणों से सिद्ध हो जाता है। किन्हीं जीवों को यह अकस्मात् **घर्षण-घोलन-न्याय** से प्राप्त हो जाता है; जिस प्रकार कि प्रवाह-पतित पाषाण खंडों को परस्पर घिसते-पिसते रहने से नाना विशेष आकार, यहां तक कि देवमूर्ति का स्वरूप भी, प्राप्त हो जाता है। किन्हीं जीवों को किसी विशेष

अवस्था मे **पूर्व जन्म का स्मरण** हो आता है, और उससे उन्हे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। कभी **तीव्र-दुःख-वेदन** के कारण, और कही **धर्मोपदेश** सुनकर अथवा **धर्मोत्सव के दर्शन** से सम्यक्त्व जागृत हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर उसमे दृढता तब आती है जब वह कुछ दोषो से मुक्त, और गुणो से सयुक्त हो जाय। धार्मिक श्रद्धान के सबध मे **शंकाओ** का बना रहना या उसकी साधना से अपनी सासारिक **आकांक्षाओं** की पूर्ति करने की भावना रखना, धर्मोपदेश या धार्मिक प्रवृत्तियो के सबंध मे **सन्देह या घृणा** का भाव रखना, एव **कुत्सित** देव, शास्त्र व गुरुओ मे आस्था रखना, ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष है। इन चारो को दूर कर धर्म की निंदा से रक्षा करना, धर्मीजनो को सत्प्रवृत्ति मे दृढ करना, उनसे सद्भावपूर्ण व्यवहार करना, और धर्म का माहात्म्य प्रगट करने का प्रयत्न करना, इन चार गुणो के जागृत होने से **अष्टांग सम्यक्त्व** की पूर्णता होती है।

सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि पुरुष—

प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी मनुष्य के चारित्र मे दृश्यमान भेद क्या है ? मिथ्यात्व के पाच लक्षण बतलाये गये है—**विपरीत, एकान्त, संशय, विनय और अज्ञान**। मिथ्यात्वी मनुष्य की विपरीतता यह है कि वह असत् को सत्, बुराई को अच्छाई व पाप को पुण्य मानकर चलता है। उसमे हठग्राहिता पाई जाती है, अर्थात् उसका दृष्टिकोण ऐसा सकुचित होता है कि वह अपनी धारणा बदलने व दूसरो के विचारो मे उसका मेल बैठाने मे सर्वथा असमर्थ होता है। उसमे उदार दृष्टि का अभाव रहता है, यही उसकी **एकान्तता** है। सशयशील वृत्ति भी मिथ्यात्व का लक्षण है। अच्छी से अच्छी बात मे मिथ्यात्वी को पूर्ण विश्वास नही होता, एवं प्रबलतम तर्क और प्रमाण उसके **संशय** को दूर नही कर पाते। विनय का अर्थ है नियम-परिपालन, किन्तु यदि बिना विवेक के किसी भी प्रकार के अच्छे-बुरे नियम का पालन करना ही कोई श्रेष्ठ धर्म समझ बैठे तो वह **विनय** मिथ्यात्व का दोषी है। जब तक किसी क्रिया रूप साधन का सम्बन्ध उसके आत्मशुद्धि आदि साध्य के साथ स्पष्टता से दृष्टि मे न रखा जाय, तबतक विनयात्मक क्रिया फलहीन व कभी-कभी अनर्थकारी भी होती है। तत्व और अतत्व के सम्बन्ध मे जानकारी या सूझ-बूझ के अभाव का नाम **अज्ञान** है। इन पाच दोषो के कारण मनुष्य के मानसिक व्यापार, वचनालाप तथा आचार-विचार मे सच्चाई, यथार्थता व स्व-पर की भलाई नही होती। इस कारण वह मिथ्यात्वी कहा गया है। इसके विपरीत उपर्युक्त आत्म-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व

का उदय होने से मनुष्य के चारित्र में जो सद्भाव उत्पन्न होता है उसके मुख्य चार लक्षण हैं—**प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य**। सम्यक्त्वी की चित्तवृत्ति रागद्वेषात्मक भावो से विशेष विचलित नही होती; और उसकी प्रवृत्ति में **शांत भाव** दिखाई देता है। शारीरिक व मानसिक आकुलताओ को उत्पन्न करनेवाली सासारिक वृत्तियों को सम्यक्त्वी अहितकर समझकर उनसे विरक्त व बन्ध-मुक्त होने का इच्छुक हो जाता है, यही सम्यक्त्व का **संवेग** गुण है। वह जीवमात्र मे आत्मतत्व की सत्ता में विश्वास करता हुआ उनके दु.ख से दु:खी, और सुख से सुखी होता हुआ, उनके दु:खो का निवारण करने की ओर प्रयत्नशील होता है, यह सम्यक्त्व का **अनुकम्पा** गुण है। सम्यक्त्व का अन्तिम लक्षण है **आस्तिक्य**। वह इस लोक के परे भी आत्मा के शाश्वतपने में विश्वास करता है व परमात्मत्व की ओर बढने मे भरोसा रखता हुआ, सच्चे देवशास्त्र व सच्चे गुरु के प्रति श्रद्धा करता है। इस प्रकार मिथ्यात्व को छोड़ सम्यक्त्व के ग्रहण का अर्थ है अधार्मिकता से धार्मिकता मे आना, अथवा असम्यता के क्षेत्र से निकलकर सम्यता व सामाजिकता के क्षेत्र मे प्रवेश करना। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीवन के परिष्कार व उसमे क्रान्ति का दिग्दर्शन मनुस्मृति (६,७४) मे भी उत्तमता से किया गया है—

> सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
> दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

सम्यग्ज्ञान—

उपर्युक्त प्रकार से सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्ष मार्ग पर बढने के लिये दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्वो मे श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान मे सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरंग, और ज्ञान का क्षेत्र है बहिरग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है, और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। दोनों मे परस्पर सम्बन्ध कारण और कार्य का है। जबतक आत्मावधान नही होगा, तबतक बाह्य पदार्थों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर भी बोध नही हो सकता। अतएव दर्शन की जो **सामान्यग्रहण** रूप परिभाषा की गई है उसका तात्पर्य आत्म-चैतन्य की उस अवस्था से है, जिसके होने पर मन के द्वारा वस्तुओ का ज्ञान रूप ग्रहण सम्भव है। यह चैतन्य व अवधान पर-पदार्थ-ग्रहण के लिये जिन विशेष इन्द्रियो, मानसिक व आध्यात्मिक वृत्तियो को जागृत करता है,

उनके अनुसार इसके चार भेद हैं—चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल-दर्शन। चक्षु इन्द्रिय पर-पदार्थ के साक्षात् स्पर्श किये बिना निर्दिष्ट दूरी से पदार्थ को ग्रहण करती है। अतएव इस इन्द्रिय-ग्रहण को जागृत करने वाली **चक्षुदर्शन** रूप वृत्ति उन शेष **अचक्षुदर्शन** से उद्बुद्ध होनेवाली इन्द्रिय-वृत्तियो से भिन्न है, जो वस्तुओ का श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा व स्पर्श इन्द्रियो से अविरल सन्निकर्ष होने पर होता है। इन्द्रियों के अगोचर, सूक्ष्म, तिरोहित या दूरस्थ पदार्थो का बोध कराने वाले अवधि ज्ञान के उद्भावक आत्म-चैतन्य का नाम **अवधिदर्शन** है, और जिस आत्मावधान के द्वारा समस्त ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति जागृत होती है, उस स्वावधान का नाम **केवल दर्शन** है।

मतिज्ञान—

इसप्रकार आत्मावधान रूप दर्शन के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के पाच भेद हैं—**मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल**। ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय- विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है वह **मतिज्ञान** है। पदार्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन की सचेत अवस्था मे जो आदिनम 'कुछ है' ऐसा बोध होता है, वह **अवग्रह** कहलाता है। उस अस्पप्ट वस्तुबोध के सम्बन्ध मे विशेष जानने की इच्छा का नाम **ईहा** है। उसके फलस्वरूप वस्तु का जो विशेष बोध होता है वह **अवाय**, और उसके कालान्तर मे स्मरण करने रूप सस्कार का नाम **धारणा** है। इसप्रकार मतिज्ञान के ये चार भेद है। ज्ञेय पदार्थ सख्या मे **एक** भी हो सकता है, या एक ही प्रकार के **अनेक**। प्रकार की अपेक्षा से वे **बहुत** अर्थात् विविध प्रकार के एक-एक हो, या **बहुविध**; अर्थात् अनेक प्रकार के अनेक। उनका आदि-ग्रहण **शीघ्र** भी हो सकता है या **देर** से। वस्तु का **सर्वांग-ग्रहण** भी हो सकता है, या **एकांग**। **उक्त** का ग्रहण हो या **अनुक्त** का, एवं ग्रहण ध्रुव रूप भी हो सकता है, व हीनाधिक **अध्रुव** रूप भी। इसप्रकार गृहीत पदार्थ की अपेक्षा से अवग्रहादि चारो भेदों के १२-१२ भेद होने से मतिज्ञान के ४८ भेद हो जाते हैं। ग्रहण करने वाली पाचो इन्द्रियों और एक मन, इन छह की अपेक्षा से उक्त ४८ भेद ६ गुणित होकर २८८ (४८×६) हो जाते हैं। ये भेद ज्ञेय-पदार्थ और ग्राहक-इन्द्रियो की अपेक्षा से हैं। किन्तु जब पदार्थ का ग्रहण **अव्यक्त** प्रणाली से क्रमशः होता है, तब जिसप्रकार कि मिट्टी का कोरा पात्र जलकणों से सिक्त होकर पूर्ण रूप से गीला क्रमशः हो पाता है, तब उस प्रक्रिया को **व्यंजनावग्रह** कहते हैं। इसके ईहादि तीन भेद न होकर, तथा चक्षु

और मन की अपेक्षा सम्भव न होने से उसके केवल १ × १२ × ४ = ४८ भेद होते हैं। इन्हें पूर्वोक्त २८८ भेदों में मिलाकर मतिज्ञान ३३६ प्रकार का बतलाया गया है। इसप्रकार जैन सिद्धान्त में यहा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का बड़ा सूक्ष्म चिन्तन और विवेचन पाया जाता है; जिसे पूर्णतः समझने के लिये पदार्थभेद, इन्द्रिय-व्यापार व मनोविज्ञान के गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

श्रुतज्ञान—

मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह **श्रुतज्ञान** है। इसप्रकार धुए को देखकर अग्नि के अस्तित्व की, हाथ को देखकर या शब्द को सुनकर मनुष्य की, यात्री के मुख से यात्रा का वर्णन सुनकर विदेश की जानकारी, व शास्त्र को पढकर तत्वो की, इस लोक-परलोक को, व आत्मा-परमात्मा आदि की जानकारी; यह सब श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के इन सब प्रकारो मे सब से अधिक विशाल, प्रभावशाली और हितकारी वह लिखित साहित्य है, जिसमे हमारे पूर्वजो के चिन्तन और अनुभव का वर्णन व विवेचन संगृहीत है; इसीकारण इसे ही विशेष रूप से श्रुतज्ञान माना गया है। जैनधर्म की दृष्टि से उस श्रुतज्ञान को प्रधानता दी गई है जिसमे अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर के धर्मोपदेशो का संग्रह किया गया है। इस श्रुतसाहित्य के मुख्य दो भेद है— **अंगप्रविष्ट** और **अंग-बाह्य**। अग प्रविष्ट मे उन आचारागादि १२ श्रुतागो का समावेश होता है, जो भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यो द्वारा रचे गये थे, व जिनके विषयादि का परिचय इससे पूर्व साहित्य के व्याख्यान मे कराया जा चुका है। अग बाह्य मे वे दश-वैकालिक, उत्तराध्ययनादि उत्तरकालीन आचार्यों की रचनाए आती है, जो श्रुतांगों के आश्रय से समय समय पर विशेष प्रकार के श्रोताओ के हित की दृष्टि से विशेष विशेष विषयो पर प्रयोजनानुसार सक्षेप व विस्तार से रची गई है, और जिनका परिचय भी साहित्य-खंड मे कराया का चुका है। ये दोनो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान **परोक्ष** माने गये है, क्योंकि वे आत्मा के द्वारा साक्षात् रूप से न होकर, इन्द्रियो व मन के माध्यम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। तथापि पश्चात्कालीन जैन न्याय की परम्परामे मतिज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होनेकी अपेक्षा **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष** माना गया है।

अवधिज्ञान—

आत्मा में एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियो के अगोचर

अतिसूक्ष्म, तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को **अवधिज्ञान** कहा गया है; क्योंकि यह देश की मर्यादा को लिये हुए होता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक **भव-प्रत्यय** और दूसरा **गुण-प्रत्यय**। देवो और नारकी जीवो मे स्वभावतः ही इस ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है, अतएव वह भव-प्रत्यय है। मनुष्यो और पशुओं मे यह ज्ञान विशेष गुण या ऋद्धि के प्रभाव से ही प्रकट होता है, और इस कारण इसे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है। इसके ६ भेद है—अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित। **अनुगामी** अवधिज्ञान जहा भी ज्ञाता जाय, वही उसके साथ जाता है, किन्तु **अननुगामी** अवधिज्ञान स्थान-विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। **वर्द्धमान** अवधि एक बार उत्पन्न होकर क्रमश बढता जाता है, और इसके विपरीत **हीयमान** घटता जाता है। सदैव एकरूप रहनेवाला ज्ञान **अवस्थित**, एवं अक्रम से कभी घटने व कभी बढ़ने वाला **अनवस्थित** अवधिज्ञान कहलाता है। विस्तार की अपेक्षा अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—**देशावधि, परमावधि और सर्वावधि**। इनमे ज्ञेय-क्षेत्र व पदार्थों की पर्यायो के ज्ञान मे उत्तरोत्तर अधिक विस्तार व विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इसकारण वह **प्रतिपाती** है। किन्तु परमावधि व सर्वावधि अवधिज्ञान उत्पन्न होकर फिर कभी छूटते नही, जबतक कि उनका केवलज्ञान मे लय न हो जाय।

मन·पर्ययज्ञान—

मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरेके मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इसके दो भेद हैं—**ऋजुमति और विपुलमति**। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन·पर्यय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है, किन्तु विपुलमति ज्ञान **अप्रतिपाती** है, अर्थात् एक बार होकर फिर कभी छूटता नही।

केवलज्ञान—

केवलज्ञान के द्वारा विश्वमात्र के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यो और उनकी त्रिकाल-वर्ती पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है। ये अवधि आदि तीनों ज्ञान **प्रत्यक्ष** माने गये हैं; क्योंकि वे साक्षात् आत्मा द्वारा विना इन्द्रिय व मन की सहायता के उत्पन्न होते हैं। मति और श्रुतज्ञान से रहित जीव कभी नही होता, क्योकि यदि जीव इनके सूक्ष्मतमांश से भी वंचित हो जाय, तो वह जीवत्व से ही च्युत हो जावेगा, और जड़

पदार्थ का रूप धारण कर लेगा। किन्तु यह होना असम्भव है; क्योंकि कोई भी मूल द्रव्य द्रव्यान्तर में परिणत नही हो सकता। मति और श्रुतज्ञान का अनुभव सभी मनुष्यो को होता है। अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के भी कही कुछ उदाहरण देखने सुनने में आते हैं; किन्तु वे हैं ऋद्धि-विशेष के परिणाम। केवलज्ञान योगि-गम्य है; और जैन मान्यतानुसार इस काल व इस क्षेत्र मे किसी को उसका उत्पन्न होना असम्भव है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्यात्व अवस्था मे भी हो सकते हैं; और तब उन ज्ञानों को **कुमति, कुश्रु** और **कुअवधि** कहा गया है, क्योकि उस अवस्था में अर्थ-बोध ठीक होने पर भी वह ज्ञान धार्मिक दृष्टि से स्व-पर हितकारी नही होता; उसमे हित की अपेक्षा अहित की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसप्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद कहे गये है।

ज्ञान के साधन—

न्याय दर्शन मे प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** और **शब्द**। ये भेद उत्तरकालीन जैन न्याय मे भी स्वीकार किये गये हैं, किन्तु इनका उपर्युक्त पाच प्रकार के ज्ञानो से कोई विरोध या वैषम्य उपस्थित नही होता। यहा प्रत्यक्ष से तात्पर्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से है, जिसे उपर्युक्त प्रमाण-भेदो में परोक्ष कहा गया है, तथापि उसे जैन नैयायिको ने **सांव्यवहारिक** प्रत्यक्ष की संज्ञा दी है। इसप्रकार वह मतिज्ञान का भेद सिद्ध हो जाता है। शेष जो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण है, उनका समावेश श्रुतज्ञान मे होता है।

प्रमाण व नय—

पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—प्रमाणो से और नयो से (**प्रमाणनयैरधिगमः** । त० सू० १, ६) अभी जो पाच प्रकार के ज्ञानों का वर्णन किया गया वह सब प्रमाण की अपेक्षा से। इन प्रमाणभूत ज्ञानो के द्वारा द्रव्यों का उनके समग्ररूप मे बोध होता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी एकात्मक सत्ता रखता हुआ भी अनन्तगुणात्मक और अनन्तपर्यायात्मक हुआ करता है। इन अनन्त गुण-पर्यायों में से व्यवहार मे प्रायः किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है। जब हम कहते हैं उस मोटी पुस्तक को ले आओ, तो इससे हमारा काम चल जाता है, और हमारी अभीष्ट पुस्तक हमारे सम्मुख आ जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस पुस्तक मे मोटाई के अतिरिक्त अन्य कोई गुण-धर्म नही है। अतएव ज्ञान की

दृष्टि से यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि हमारा वचनालाप, जिसके द्वारा हम दूसरो को ज्ञान प्रदान करते हैं, ऐसा न हो कि जिससे दूसरे के हृदय में वस्तु की अनेक-गुणात्मकता के स्थान पर एकान्तिकता की छाप बैठा जाय। इसीलिये एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है, और सिद्धान्त के प्रतिपादन मे ऐसी वचनशैली के उपयोग का प्रतिपादन किया गया है, जिससे वक्ता का एक-गुणोल्लेखात्मक अभिप्राय भी प्रगट हो जाय; और साथ ही यह भी स्पष्ट बना रहे कि वह गुण अन्य-गुण-सापेक्ष है। जैन दर्शन की यही विचार और वचनशैली **अनेकान्त** व **स्याद्वाद** कहलाती है। वक्ता के अभिप्रायानुसार एक ही वस्तु है भी कही जा सकती है, और नहीं भी। दोनों अभि-प्रायो के मेल से हा-ना एक मिश्रित वचनभग भी हो सकता है, और इसी कारण उसे **अवक्तव्य** भी कह सकते है। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तुस्वरूप है भी और फिर भी अवक्तव्य है, नही है, और फिर भी अवक्तव्य है, अथवा है भी, नही भी है, और फिर भी अवक्तव्य है। इन्ही सात सम्भावनात्मक विचारो के अनुसार सात प्रमाणभगिया मानी गयी है— स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अवक्तव्यम्, स्याद् अस्ति-अवक्तव्यम्, स्याद्-नास्ति-अवक्तव्यम् और स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यम्। सम्भवत एक उदाहरण के द्वारा इस स्याद्वाद शैली की सार्थकता अधिक स्पष्ट की जा सकती है। किसी ने पूछा क्या आप ज्ञानी है? इसके उत्तर मे इस भाव से कि मै कुछ न कुछ तो अवश्य जानता ही हू—मै कह सकता हू कि "मै स्याद् ज्ञानी हू।" सम्भव है मुझे अपने ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का भान अधिक हो और उस अपेक्षा से मै कहू कि "मै स्याद् अज्ञानी हू।" कितनी बातो का ज्ञान है, और कितनी का नही है, अतएव यदि मै कहू कि "मै स्याद् ज्ञानी हू भी और नही भी," तो भी अनुचित न होगा, और यदि इसी दुविधा के कारण इतना ही कहू कि "मै कह नही सकता कि मै ज्ञानी हू या नही" तो भी मेरा वचन असत्य न होगा। इन्ही आधारो पर मै सत्यता के साथ यह भी कह सकता हू कि "मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नही सकता कि आप जो बात मुझसे जानना चाहते है, उस पर मै प्रकाश डाल सकता हू या नही।" इसी बात को दूसरे प्रकार से यो भी कह सकता हू कि "मै ज्ञानी तो नही हू, फिर भी सम्भव है कि आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकू", अथवा इस प्रकार भी कह सकता हू कि "मै कुछ ज्ञानी हू भी, कुछ नही भी हू; अतएव कहा नही जा सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नही।" ये समस्त वचन-प्रणालिया अपनी-अपनी सार्थकता रखती है, तथापि पृथक्-पृथक् रूप मे वस्तु-स्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती है; उसके पूर्ण स्वरूप को नही। इसीलिये जैन

न्याय इस बात पर जोर देता है कि पूर्वोक्त में से अपने अभिप्रायानुसार वक्ता चाहे जिस वचन-प्रणाली का उपयोग करे, किन्तु उसके साथ स्यात् पद अवश्य जोड़ दे, जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता रहे कि वस्तुस्थिति मे अन्य सम्भावनाए भी हैं; अतः उसकी बात सापेक्ष रूप से ही समझी जाय। इस प्रकार यह स्याद्वाद प्रणाली कोई अद्वितीय वस्तु नही है, क्योंकि व्यवहार मे हम बिना स्यात् शब्द का प्रयोग किये भी कुछ उस सापेक्ष-भाव का ध्यान रखते ही हैं। तथापि शास्त्रार्थ में कभी-कभी किसी बात की सापेक्षता की ओर ध्यान न दिये जाने से बड़े-बड़े विरोध और मतभेद उपस्थित हो जाते हैं, जिनमे सामजस्य बैठाना कठिन प्रतीत होने लगता है। जैन स्याद्वाद प्रणाली द्वारा ऐसे विरोधो और मतभेदो को अवकाश न देने का प्रयत्न किया गया है, और जहां विरोध दिखाई दे जाय, वहा इस स्यात् पद मे उसे सुलझाने और सामजस्य बैठाने की कुजी भी साथ ही लगा दी गई है। व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार स्यात् अस् धातु का विधिलिंग अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है; जिसका अर्थ होता है 'ऐसा हो' 'एक सम्भावना यह भी है'। जैन न्याय मे इस पद को सापेक्ष-विधान का वाचक अव्यय बनाकर अपनी अनेकान्त विचारशैली को प्रकट करने का साधन बनाया गया है। इसे अनिश्चय-बोधक समझना कदापि युक्तिसगत नही है।

नय—

पदार्थों के अनन्त गुण और पर्यायो मे से प्रयोजनानुसार किसी एक गुण-धर्म सम्बन्धी ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है, और नयो द्वारा ही वस्तु के नाना गुणधर्मों का विवेचन सम्भव है। वाणी मे भी एक समय मे किसी एक ही गुण-धर्म का उल्लेख सम्भव है, जिसका यथोचित प्रसग नयविचार के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि जितने प्रकार के वचन सम्भव है, उतने ही प्रकार के नय कहे जा सकते है। तथापि वर्गीकरण की सुविधा के लिये नयो की सख्या सात स्थिर की गयी है, जिनके नाम है—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। नैगम का अर्थ है—**न एकः गमः** अर्थात् एक ही बात नही। जब सामान्यत. किसी वस्तु की भूत, भविष्यत्, वर्तमान पर्यायो को मिलाजुलाकर बात कही जाती है, तब वक्ता का अभिप्राय नैगम-नयात्मक होता है। जो व्यक्ति आग जला रहा है, वह यदि पूछने पर उत्तर दे कि मैं रोटी बना रहा हू, तो उसकी बात नैगम नयकी अपेक्षा सच मानी जा सकती है, क्योंकि उसका अभिप्राय यह है कि आग का जलाना उसे प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी, उसके पूछने का अभिप्राय यही था कि अग्नि किसलिये जलाई जा रही है।

यहां यदि नैगम नय के आश्रय से प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के अभिप्राय को न समझा जाय, तो प्रश्न और उत्तर में हमे कोई सगति प्रतीत नही होगी । इसी प्रकार जब चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को कहा जाता है कि आज महावीर तीर्थंकर का जन्म-दिवस है, तब उस हजारों वर्ष पुरानी भूतकाल की घटना की आज के इस दिन से सगति नैगम नय के द्वारा ही बैठाकर बतलाई जा सकती है । संग्रहनय के द्वारा हम उत्तरोत्तर वस्तुओं को विशाल दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते है । जब हम कहते है कि यहा के सभी प्रदेशों के वासी, सभी जातियो के, और सभी पथो के चालीस करोड मनुष्य भारतवासी होने की अपेक्षा एक है, अथवा भारतवासी और चीनी दोनो एशियाई होने के कारण एक हैं, अथवा सभी देशो के समस्त ससारवासी जन एक ही मनुष्य जाति के हैं, तब ये सभी बाते सग्रहनय की अपेक्षा सत्य है । इसके विपरीत जब हम मनुष्य जाति को महाद्वीपो की अपेक्षा एशियाई, यूरोपीय, अमेरिकन आदि भेदो मे विभाजित करते हैं, तथा इनका पुन अवान्तर प्रदेशो एव प्रान्तीय, राजनैतिक, धार्मिक, जातीय आदि उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर वर्गो मे विभाजन करते है, तब हमारा अभिप्राय **व्यवहार** नयात्मक होता है । इस प्रकार संग्रह और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष है, और विस्तार व सकोचात्मक दृष्टियो को प्रकट करनेवाले है । दोनो सत्य है, और दोनो अपनी-अपनी सार्थकता रखते है । उनमे परस्पर विरोध नही, किन्तु वे एक दूसरे के परिपूरक है, क्योंकि हमे अभेददृष्टि से सग्रह नय का, व भेद दृष्टि से व्यवहार नय का आश्रय लेना पडता है । ये नैगमादि तीनो नय **द्रव्यार्थिक** माने गये है, क्योकि इनमे प्रतिपाद्य वस्तु की द्रव्यात्मकता का ग्रहण कर विचार किया जाता है, और उसकी पर्याय गौण रहता है । ऋजुसूत्रादि अगले चार नय **पर्यायार्थिक** कहे गये हैं, क्योंकि उनमे पदार्थों की पर्याय-विशेष का ही विचार किया जाता है ।

यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम कौन हो, और मै उत्तर दू कि मै प्रवक्ता हू, तो यह उत्तर **ऋजुसूत्र** नय से सत्य ठहरेगा; क्योकि मै उस उत्तर द्वारा अपनी एक पर्याय या अवस्था-विशेष को प्रकट कर रहा हू, जो एक काल-मर्यादा के लिये निश्चित हो गई है । इस प्रकार वर्तमान पर्यायमात्र को विषय करनेवाला नय ऋजुसूत्र कहलाता है । अगले शब्दादि तीन नय विशेषरूप से सम्बन्ध शब्द-प्रयोग से रखते हैं । जो एक शब्द का एक वाच्यार्थ मान लिया गया है, उसका लिंग या वचन भी निश्चित है, वह **शब्दनय** से यथोचित माना जाता है । जब हम संस्कृत मे स्त्री के लिये कलत्र शब्द का नपुसक लिंग मे, अथवा दारा शब्द का पुलिग और बहुवचन में प्रयोग करते हैं, एव देव और देवी शब्द का इनके वाच्यार्थ स्वर्गलोक के प्राणियो के लिये ही करते हैं, तब यह सब

शब्दनय की अपेक्षा से उपयुक्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्नार्थक शब्दों को जब हम रूढ़ि द्वारा एकार्थवाची बनाकर प्रयोग करते हैं, तब यह बात **समभिरूढ़** नय की अपेक्षा उचित सिद्ध होती है। जैसे—देवराज के लिये इन्द्र, पुरन्दर या शक्र, अथवा घोड़े के लिये अश्व, अर्व, गन्धर्व, सैन्धव आदि शब्दों का प्रयोग। इन शब्दों का अपना-अपना पृथक् अर्थ है; तथापि रूढ़िवशात् वे पर्यायवाची बन गये हैं। यही समभिरूढ नय है। **एवम्भूतनय** की अपेक्षा वस्तु की जिस समय जो पर्याय हो, उस समय उसी पर्याय के वाची शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे किसी मनुष्य को पढाते समय पाठक, पूजा करते समय पुजारी, एवं युद्ध करते समय योद्धा कहना।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय—

इन नयो के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार जैन सिद्धान्त मे इन नयो के द्वारा किसी भी वक्ता के वचन को सुनकर उसके अभिप्राय की सुसगति यथोचित वस्तुस्थिति के साथ दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त सात नय तो यथार्थत. प्रमुख रूप से दृष्टान्त मात्र हैं, किन्तु नयो की सख्या तो अपरिमित है; क्योकि द्रव्य-व्यवस्था के सम्बन्ध मे जितने प्रकार के विचार व वचन हो सकते हैं, उतने ही उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करनेवाले नय कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, जैन तत्वज्ञान मे छह द्रव्य माने गये हैं, किन्तु यदि कोई कहे कि द्रव्य तो यथार्थतः एक ही है, तब नयवाद के अनुसार इसे **सत्तामात्र-ग्राही शुद्धद्रव्यार्थिक नय** की अपेक्षा से सत्य स्वीकार किया जा सकता है। सिद्धि व मुक्ति जीव की परमात्मावस्था को माना गया है; किन्तु यदि कोई कहे कि जीव तो सर्वत्र और सर्वदा सिद्ध-मुक्त है, तो इसे भी जैनी यह समझकर स्वीकार कर लेगा कि यह बात **कर्मोपाधि-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक** नय से कही गई है। गुण और गुणी, द्रव्य और पर्याय, इनमे यथार्थतः भावात्मक भेद है, तथापि यदि कोई कहे कि ज्ञान ही आत्मा है, मनुष्य अमर है, ककण ही सुवर्ण है; तो इसे **भेदविकल्प-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक** नय से सच माना जा सकता है। सिद्धान्तानुसार ज्ञान-दर्शन ही आत्मा के गुण है, और रागद्वेष आदि उसके कर्मजन्य विभाव हैं, तथापि यदि कोई कहे कि जीव रागी-द्वेषी है, तो यह बात **कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय** से मानी जाने योग्य है। चीटी से लेकर मनुष्य तक ससारी जीवो की जातिया हैं; और जीव परमात्मा तब बनता है, जब वह विशुद्ध होकर इन समस्त सासारिक गतियो से मुक्त हो जाय, तथापि यदि कोई कहे कि चीटी भी परमात्मा है, तो इस बात को भी **परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक**

नय से ठीक समझना चाहिये । सभी द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा चिरस्थायी हैं; किन्तु जब कोई कहता है कि ससार की समस्त वस्तुएं क्षणभगुर हैं, तब समझना चाहिये कि यह बात वस्तुओ की सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय गुणात्मक **अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय** से कही गई है । किसी वस्तु, का दृश्य या मनुष्य का चित्र उस वस्तु आदि से सर्वथा पृथक् है; तथापि जब कोई चित्र देखकर कहता है—यह नारंगी है, यह हिमालय है, ये रामचन्द्र है, तब जैन न्याय की दृष्टि अनुसार उक्त बात **स्व-जाति असद्भूत-उपनय** से ठीक है । यद्यपि कोई भी व्यक्ति अपने पुत्र कलत्रादि बन्धुवर्ग से, व घरद्वारादि सम्पत्ति से सर्वथा पृथक् है, तथापि जब कोई कहता है कि मै और ये एक है, ये मेरे है, और मै इनका हूं, तो यह बात **असद्भूत उपचार नय** से यथार्थ मानी जा सकती है ।

इस प्रकार नयो के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, जिनमे इस न्याय के प्रतिपादक आचार्यों का यह प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है कि मनुष्य के जब, जहा, जिस प्रकार के अनुभव व विचार उत्पन्न हुए, और उन्होने उन्हे वचनबद्ध किया, उन सब मे कुछ न कुछ सत्याश अवश्य विद्यमान है, और प्रत्येक ज्ञानी का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह उस बात का सुनकर, उसमे अपने निर्धारित मत से कुछ विरोध दिखाई देने पर, उसके खडन मे प्रवृत्त न हो जाय, किन्तु यह जानने का प्रयत्न करे कि वह बात किस अपेक्षा से कहा तक सत्य हो सकती है, तथा उसका अपन निश्चित मत से किस प्रकार सामजस्य बैठाया जा सकता है । जैन स्याद्वाद, अनेकान्त या नयवाद का दावा तो यह है कि वह अपनी न्यायशैली द्वारा समस्त विरुद्ध दिखाई देनेवाले मतो और विचारो मे वक्ताओ के दृष्टिकोण का पता लगाकर उनके विरोध का परिहार कर सकता है, तथा विरोधी को अपने स्पष्टीकरण द्वारा उसके मत की सीमाओ का बोध कराकर, उन्हे अपने ज्ञान का अग बना ले सकता है ।

चार-निक्षेप—

जैन न्याय की इस अनेकान्त-प्रणाली से प्रेरित होकर ही जैनाचार्यो ने प्रकृति के तत्वो की खोज और प्रतिपादन मे यह सावधानी रखने का प्रयत्न किया है कि उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे भ्रान्ति उत्पन्न न होने पावे । इसी सावधानी के परिणामस्वरूप हमे चार प्रकार के निक्षेपो और उनके नाना भेद-प्रभेदो का व्याख्यान मिलता है । द्रव्य का स्वरूप नाना प्रकार का है, और उसको समझने-समझाने के लिये हम जिन पद्धतियो का उपयोग करते है, वे **निक्षेप** कहलाती हैं । व्याख्यान मे हम वस्तुओं का

उल्लेख विविध नामों व संज्ञाओं के द्वारा करते हैं, जो कहीं अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा, व कहीं रूढ़ि के द्वारा उनकी वाच्य वस्तु को प्रगट करते हैं। इस प्रकार पुस्तक, घोडा व मनुष्य, ये ध्वनिया स्वयं वे-वे वस्तुएं नही हैं, किन्तु उन वस्तुओं के **नाम निक्षेप** हैं, जिनके द्वारा लोक-व्यवहार चलता है। इसी प्रकार यह स्पष्ट समझ कर चलना चाहिये कि मन्दिरो में जो मूर्त्तिया स्थापित हैं वे देवता नही, किन्तु उन देवो की **साकार स्थापना रूप** हैं, जिस प्रकार कि शतरंज के मोहरे, हाथी नही, किन्तु उनकी साकार या **निराकार स्थापना** मात्र हैं; भले ही हम उनमे पूज्य या अपूज्य बुद्धि स्थापित कर ले। यह **स्थापना** निक्षेप का स्वरूप है। इसी प्रकार **द्रव्य-निक्षेप** द्वारा हम वस्तु की भूत व भविष्यकालीन पर्यायों या अवस्थाओं को प्रकट किया करते हैं। जैसे, जो पहले कभी राजा थे, उन्हे उनके राजा न रहने पर अब भी, राजा कहते है, या डाक्टरी पढनेवाले विद्यार्थी को भी डाक्टर कहने लगते है। इनके विपरीत जब हम जो वस्तु जिस समय, जिम रूप मे है, उसे, उस समय, उसी अर्थबोधक शब्द द्वारा प्रकट करते है, तब यह **भावनिक्षेप** कहलाता है, जैसे व्याख्यान देते समय ही व्यक्ति को व्याख्याता कहना, और ध्यान करते समय ध्यानी। इसो प्रकार वस्तुविवेचन मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सम्बन्ध मे सतर्कता रखने का, वस्तु को उसकी सत्ता, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्व के अनुसार ममझने, तथा उनके निर्देश स्वामित्व, माधन, अधिकरण, स्थिति और विधान की ओर भी ध्यान देते रहने का आदेश दिया गया है, और इस प्रकार जैन शास्त्र के अध्येता को **एकान्त दृष्टि से** बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

सम्यक् चारित्र—

सम्यक्त्व और ज्ञान की साधना के अतिरिक्त कर्मों के संवर व निर्जरा द्वारा मोक्ष सिद्धि के लिये चारित्र की अवश्यकता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन मे धार्मिकता किसप्रकार उत्पन्न होती है। अधार्मिकता के क्षेत्र से निकाल कर धार्मिक क्षेत्र मे लानेवाली वस्तु है सम्यक्त्व जिससे व्यक्ति को एक नई चेतना मिलती है कि मै केवल अपने शरीर के साथ जीने-मरनेवाला नही हूं; किन्तु एक अविनाशी तत्व हूं। यही नही, किन्तु इस चेतना के साथ क्रमशः उसे संसार के अन्य तत्वों का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे उसका अपने जीवन की ओर तथा अपने आसपास के जीवजगत् की ओर दृष्टिकोण बदल जाता है। जहां मिथ्यात्व की अवस्था में अपना स्वार्थ, अपना पोषण व दूसरों के प्रति द्वेष और

ईर्ष्या भाव प्रधान था, वहां अब सम्यक्त्वी को अपने आसपास के जीवों में भी अपने समान आत्मतत्व के दर्शन होने से, उनके प्रति स्नेह, कारुण्य व सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो जाती है; और जिन वृत्तियो के कारण जीवो मे संघर्ष पाया जाता है, उनसे उसे विरक्ति होने लगती है। उसकी दृष्टि मे अब एक ओर जीवन का अनुपम माहात्म्य, और दूसरी ओर जीवो की घोर दु:ख उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तिया स्पष्टत: सम्मुख आ जाती है। इस नई दृष्टि के फलस्वरूप उसकी अपनी वृत्ति मे जो सम्यक्त्व के उपर्युक्त चार लक्षण-प्रशम, संवेग, अनुकपा और आस्तिक्य प्रगट होते हैं, उससे उसकी जीवनधारा मे एक नया मोड आ जाता है, और वह दुराचरण छोड़कर सदाचारी बन जाता है। इस सदाचार की मूल प्रेरक भावना होती है—अपना और पराया हित व कल्याण। आत्महित से परहित का मेल बैठाने मे जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह है विचारो की विषमता और क्रिया-स्वातत्र्य। विचारो की विषमता दूर करने मे सम्यग्ज्ञानी को सहायता मिलती है स्याद्वाद व अनेकान्त की सामजस्यकारी विचार-शैली के द्वारा, और आचरण की शुद्धि के लिये जो सिद्धान्त उसके हाथ आता है, वह है अपने समान दूसरे की रक्षा का विचार अर्थात् अहिसा।

अहिंसा—

जीव-जगत् मे एक मर्यादा तक अहिंसा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। पशु-पक्षी और उनसे भी निम्न स्तर के जीव-जन्तुओ मे अपनी जाति के जीवो को मारने व खाने की प्रवृत्ति प्रायः नही पाई जाती। सिह, व्याघ्रादि हिंस्र प्राणी भी अपनी सन्तति की तो रक्षा ही करते है, और अन्य जाति के जीवो को भी केवल तभी मारते है, जब उन्हें भूख की वेदना सताती है। प्राणिमात्र मे प्रकृति की अहिंसोन्मुख वृत्ति की परिचायक कुछ स्वाभाविक चेतनाए पाई जाती हैं, जिनमे मैथुन, सतानपालन, सामूहिक जीवन आदि प्रवृत्तिया प्रधान है। प्रकृति मे यह भी देखा जाता है कि जो प्राणी जितनी मात्रा मे अहिसकवृत्ति का होता है, वह उतना ही अधिक शिक्षा के योग्य व उपयोगी सिद्ध हुआ है। बकरी, गाय, भैंस, घोडा, ऊंट, हाथी आदि पशु मासभक्षी नही हैं, और इसीलिये वे मनुष्य के व्यापारो मे उपयोगी सिद्ध हो सके हैं। यथार्थत: उन्ही मे प्रकृति की शीतोष्ण आदि द्वन्द्वात्मक शक्तियो को सहने और परिश्रम करने की शक्ति विशेष रूप मे पाई जाती है। वे हिंस्र पशुओ से अपनी रक्षा करने के लिये दल बाध कर सामूहिक शक्ति का उपयोग भी करते हुए पाये जाते हैं। मनुष्य तो सामाजिक प्राणी ही है, और समाज तबतक बन ही नही सकता जबतक व्यक्तियो में

हिंसात्मक वृत्ति का परित्याग न हो। यही नहीं,समाज बनने के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियों में परस्पर रक्षा और सहायता करने की भावना भी हो। यही कारण है कि मनुष्य-समाज मे जितने धर्म स्थापित हुए है, उनमे, कुछ मर्यादाओ के भीतर, अहिंसा का उपदेश पाया ही जाता है; भले ही वह कुटुब, जाति, धर्म या मनुष्य मात्र तक ही सीमित हो। भारतीय सामाजिक जीवन मे आदितःजो श्रमण-परम्परा का वैदिक परम्परा से विरोध रहा, वह इस अहिंसा की नीति को लेकर। धार्मिक विधियो मे नरबलि का प्रचार तो बहुत पहिले उत्तरोत्तर मन्द पड गया था, किन्तु पशुबलि यज्ञक्रियाओ का एक सामान्य अग बना रहा। इसका श्रमण साधु सदैव विरोध करते रहे। आगे चलकर श्रमणों के जो दो विभाग हुए, जैन और बौद्ध, उन दोनो मे अहिसा के सिद्धान्त पर जोर दिया गया जो अभी तक चला आता है। तथापि बौद्धधर्म मे अहिसा का चिन्तन, विवेचन व पालन बहुत कुछ परिमित रहा। परन्तु यह सिद्धान्त जैनधर्म मे समस्त सदाचार की नीव ही नही, किन्तु धर्म का सर्वोत्कृष्ट अग बन गया। **अहिंसा परमो धर्म**' वाक्य को हम दो प्रकार से पढ सकते है—तीनो शब्दो को यदि पृथक्-पृथक् पढे तो उसका अर्थ होता है कि अहिसा ही परम धर्म है, और यदि **अहिंसा-परमो** को एक समास पद माने, तो वह वाक्य धर्म की परिभाषा बन जाता है, जिसका अर्थ होता है कि धर्म वही है जिसमे अहिसा को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो। समस्त जैनाचार इसी अहिसा के सिद्धान्त पर अवलम्बित है, और जितने भी आचार संम्बधी व्रत-नियमादि निर्दिष्ट किये गये है, वे सब अहिंसा के ही सर्वांग परिपालन के लिये है। इसी तथ्य को मनुस्मृति (२, १५६) की इस एक ही पंक्ति मे भले प्रकार स्वीकार किया गया है—**अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्**।

श्रावक-धर्म—

मुख्य व्रत पांच है—**अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह**। इसका अर्थ है हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, और परिग्रह मत रखो। इन व्रतो के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन व्रतो के द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियो का नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज मे मुख्य रूप से वैर-विरोध की जनक हुआ करती हैं। दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमो के द्वारा ही किया जा सकता है। व्यक्ति जो क्रियाएं करता है, वे मूलतः उसके स्वार्थ से प्रेरित होती हैं। उन क्रियाओं में कौन अच्छी है, और कौन

बुरी, यह किसी मापदंड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है। हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह, ये सामाजिक पाप ही तो हैं। जितने ही अंश में व्यक्ति इनका परित्याग करेगा, उतना ही वह सभ्य और समाज-हितैषी माना जायगा, और जितने व्यक्ति इन व्रतो का पालन करे, उतना ही समाज शुद्ध, सुखी और प्रगतिशील बनेगा। इन व्रतो पर जैन शास्त्रो मे बहुत अधिक भार दिया गया है, और उनका सूक्ष्म एव सुविस्तृत विवेचन किया गया है; जिसमे जैन शास्त्रकारो के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन के प्रयत्न का पता चलता है। उन्होने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सब के लिये सब अवस्थाओ मे इन व्रतो का एकसा परिपालन सम्भव नही है, अतएव उन्होने इन व्रतो के दो स्तर स्थापित किये-अणु और महत् अर्थात् एकाश और सर्वांश। गृहस्थो की आवश्यकता और अनिवार्यता का ध्यान रखकर उन्हे इनका आशिक **अणुव्रत** रूप से पालन करने का उपदेश किया, और त्यागी मुनियो को परिपूर्ण **महाव्रत** रूप से। इन व्रतो के द्वारा जिस प्रकार पापो के निराकरण का उपदेश दिया गया है, उसका स्वरूप सक्षेप मे निम्न प्रकार है।

अहिंसाणुव्रत—

प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना **हिंसा** है। प्रमाद का अर्थ है-मन को रागद्वेषात्मक कषायो से अछूता रखने मे शिथिलता, और प्राण-घात से तात्पर्य है, न केवल दूसरे जीवो को मार डालना, किन्तु उन्हे किसी प्रकार की भी पीडा पहुचाना। इस हिंसा के दो भेद है—**द्रव्यहिंसा** और **भावहिंसा**। अपनी शारीरिक-क्रिया द्वारा किसी जीव के शरीर को प्राणहीन कर डालना, या वध-बन्धन आदि द्वारा उसे पीड़ा पहुचाना द्रव्यहिंसा है, और अपने मन मे किसी जीव की हिंसा का विचार करना भावहिंसा है। यथार्थ पाप मुख्यत इस भाव हिंसा मे ही है, क्योकि उसके द्वारा दूसरे प्राणी की हिंसा हो या न हो चिन्तक के स्वय विशुद्ध अतरग का घात तो होता ही है। इसीलिये कहा है —

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा ना वधः॥ (सर्वार्थसिद्धि सू० ७,१३)

अर्थात् प्रमादी मनुष्य अपने हिंसात्मक भाव के द्वारा आप ही अपने की हिंसा पहले ही कर डालता है, तत्पश्चात् दूसरे प्राणियों का उसके द्वारा वध हो या न हो। इसके विपरीत यदि व्यक्ति अपनी भावना शुद्ध रखता हुआ शक्ति भर जीव-रक्षा का प्रयत्न करता है, तो द्रव्यहिंसा हो जाने पर भी वह पाप का भागी नही होता। इस

सम्बन्ध में दो प्राचीन गाथाएं उल्लेखनीय हैं—

उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाए।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।
जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति णिद्दिट्ठा ॥२॥

अर्थात् गमन सम्बन्धी नियमो का सावधानी से पालन करनेवाले संयमी ने जब अपना पैर उठाकर रखा, तभी उसके नीचे कोई जीव-जन्तु चपेट मे आकर मर गया। किन्तु इससे शास्त्रानुसार उस संयमी को लेशमात्र भी कर्मबन्धन नही हुआ, क्योकि सयमी ने प्रमाद नही किया; और हिसा तो प्रमाद से ही होती है। भावहिसा कितनी बुरी मानी गयी है, यह इस गाथा से प्रकट है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे, जो अपने आचरण मे यत्नशील नही हैं, वह भाव-मात्र से हिसा का दोषी अवश्य होता है; और इसके विपरीत, यदि कोई संयमी अपने आचरण मे सतर्क है, तो द्रव्यहिसा मात्र से वह कर्मबन्ध का भागी नही होता। इससे स्पष्ट है कि अहिसा के उपदेश मे भार यथार्थत मनुष्य की मानसिक शुद्धि पर है।

गृहस्थ और मुनि को जो अहिसा व्रत क्रमश अणु व महत् रूप मे पालन करने का उपदेश दिया गया है वह जैन व्यवहार दृष्टि का परिणाम है। मुनि तो सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्री से लगाकर किसी भी जीव की जानबूझकर कभी हिंसा नही करेगा, चाहे उसे जीवरक्षा के लिये स्वय कितना ही क्लेश क्यो न भोगना पड़े। किन्तु गृहस्थ की सीमाओं का ध्यान रखकर उसकी सुविधा के लिये वनस्पति आदि स्थावर हिंसा के त्याग पर उतना भार नही दिया गया। द्वीन्द्रियादि त्रस जीवो के सम्बन्ध में हिंसा के चार भेद किये गये हैं—**आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी** हिंसा। चलने-फिरने से लेकर झाड़ना बुहारना व चूल्हा-चक्की आदि गृहस्थी संबंधी क्रियाएं आरम्भ कहलाती हैं, जिसमें अनिवार्यतः होनेवाली हिंसा आरम्भी है। कृषि, दुकानदारी, व्यापार, वाणिज्य, उद्योगधन्धे आदि मे होनेवाली हिंसा उद्योगी हिंसा है। अपने स्वजनों व परिजनो के, तथा धर्म, देश व समाज की रक्षा के निमित्त जो हिंसा अपरिहार्य हो वह विरोधी हिसा है; एवं विनोद मात्र के लिये, वैर का बदला चुकाने के लिये, अपना पौरुष दिखाने के लिये, अथवा अन्य किसी कुत्सित स्वार्थभाव से जान-बूझकर जो हिंसा की जाती है, वह संकल्पी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से गृहस्थ, व्रतरूप

से तो केवल संकल्पी हिंसा का ही त्यागी हो सकता है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं में उसे स्वय अपनी परिस्थिति और विवेकानुसार सयम रखने का उपदेश दिया गया है।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार—

प्राणघात के अतिरिक्त अन्यप्रकार पीडा देकर हिंसा करने के अनेक प्रकार हो सकते है, जिनसे बचते रहने की व्रती को आवश्यकता है। विशेषतः परिजनो व पशुओं के साथ पांच प्रकार की क्रूरता को **अतिचार** (अतिक्रमण) कहकर उनका निषेध किया गया है—उन्हे बाधकर रखना, डंडो, कोडो आदि से पीटना, नाक-कान आदि छेदना-काटना, उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादना, व समय पर अन्न-पान न देना। इन अतिचारो से बचने के अतिरिक्त, अहिंसा के भाव को दृढ करने के लिये **पांच भावनाओं** का उपदेश दिया गया है—अपने मन के विचारो, वचन-प्रयोगो, गमनागमन, वस्तुओ को उठाने रखने तथा भोजन-पान की क्रियाओ मे जागरूक रहना। इस प्रकार जैन-शास्त्र-प्रणीत हिंसा के स्वरूप तथा अहिंसा व्रत के विवेचन से स्पष्ट है कि इस व्रत का विधान व्यक्ति को सुशील, सुसभ्य व समाजहितैषी बनाने, और उसे अनिष्टकारी प्रवृत्तियो से रोकने के लिये किया है, और इस सयम की आज भी ससार मे अत्यधिक आवश्यकता है। जिस प्रकार यह व्रत व्यक्ति के आचरण का शोधन करता है, उसी प्रकार वह देश और समाज की नीति का अग बनकर संसार मे सुख और शान्ति की स्थापना कराने मे भी सहायक हो सकता है। अहिंसा के इसी सद्गुण के कारण ही यह सिद्धान्त जैन व बौद्ध धर्मों तक ही सीमित नही रहा, किन्तु वह वैदिक परम्परा मे भी आज से शताब्दियो पूर्व प्रविष्ट हो चुका है, तथा एक प्रकार से समस्त देश पर छा गया है; और इसीलिये हमारे देश ने अपनी राजनीति के लिये अहिंसा को आधारभूत सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है।

सत्याणुव्रत व उसके अतिचार—

असद् वचन बोलना–अनृत, असत्य, मृषा या झूठ कहलाता है। असत् का अर्थ है जो सत् अर्थात् वस्तुस्थिति के अनुकूल एवं हितकारी नही है। इसीलिये शास्त्र मे कहा गया है कि **सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्**। अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, सत्य को इस प्रकार मत बोलो कि वह दूसरे को अप्रिय हो जाय। इस प्रकार सत्य-भाषण व्रत की मूल भावना आत्म-परिणामों की शुद्धि तथा स्व व परकीय पीडा व अहित रूप हिंसा का निवारण ही है। इसके पालन मे गृहस्थ के

अणुव्रत की सीमा यह है कि यदि स्नेह या मोहवश तथा स्व-पर-रक्षा निमित्त असत्य भाषण करने का अवसर आ जाय, तो वह उससे विशेष पाप का भागी नहीं होता, क्योंकि उसकी भावना मूलतः दूषित नहीं है; और पाप-पुण्य विचार में द्रव्यक्रिया से भावक्रिया का महत्व अधिक है। किन्तु झूठा उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना, झूठे लेख तैयार करना, किसी की धरोहर को रखकर भूल जाना या उसे कम बतलाना, अथवा किसी की अंग-चेष्टाओं व इशारों आदि से समझकर उसके मन्त्र के भेद को खोल देना, ये पाच इस व्रत के अतिचार हैं, जो स्पष्टतः सामाजिक जीवन मे बहुत हानिकर है। सत्यव्रत के परिपालन के लिये जिन पांच भावनाओं का विधान किया गया है वे हैं—क्रोध, लोभ, भीरुता, और हंसी-मजाक इन चार का परित्याग, तथा भाषण मे औचित्य रखने का अभ्यास।

अस्तेयाणुव्रत व उसके अतिचार—

विना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना अदत्तादान रूप स्तेय या चोरी है। अणुव्रती गृहस्थ के लिये आवश्यक मात्रा मे जल-मृत्तिका जैसी उन वस्तुओं को लेने का निषेध नही, जिन पर किसी दूसरे का स्पष्ट अधिकार व रोक न हो। महाव्रती मुनि को तिल-तुष मात्र भी बिना दिये लेने का निषेध है। स्वयं चोरी न कर दूसरे के द्वारा चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओं के बाहर वस्तुओ का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के बाट नियत परिमाण से हीनाधिक रखना, और नकली वस्तुओ को असली के बदले मे चलाना—ये पांच अचौर्य अणुव्रत के अतिचार है, जिनका गृहस्थ को परित्याग करना चाहिये। मुनि के लिये तो यहा तक विधान किया गया है कि उन्हे केवल पर्वतो की गुफाओं मे व वृक्षकोटर या परित्यक्त घरो में ही निवास करना चाहिये। ऐसे स्थान का ग्रहण भी न करना चाहिये जिससे किसी दूसरे के निस्तार में बाधा पहुंचे। भिक्षा द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न मे यहा तक शुद्धि का विचार रखना चाहिये कि वह आवश्यक मात्रा से अधिक न हो। मुनि अपने सहधर्मी साधुओ के साथ मेरे-तेरे के विवाद में न पड़े। इस प्रकार इस व्रत द्वारा व्यापार मे सचाई और ईमानदारी तथा साधु-समाज में पूर्ण निस्पृहता की स्थापना का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत व उसके अतिचार—

स्त्री-अनुराग व कामक्रीडा के परित्याग का नाम अव्यभिचार या ब्रह्मचर्य व्रत

है। अणुव्रती श्रावक या श्राविका अपने पति-पत्नी के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्री-पुरुषों से माता, बहन, पुत्री अथवा पिता, भाई व पुत्र सदृश शुद्ध व्यवहार रखें और महाव्रती तो सर्वथा ही काम-क्रीडा का परित्याग करें। दूसरे का विवाह कराना, गृहीत या वेश्या गणिका के साथ गमन, अप्राकृतिक रूप से कामक्रीडा करना, और काम की तीव्र अभिलाषा होना, ये पाच इस व्रत के अतिचार है। शृंगारात्मक कथावार्ता सुनना, स्त्री-पुरुष के मनोहर अंगो का निरीक्षण, पहले की काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण, काम-पोषक रस औषधि आदि का सेवन, तथा शरीर-शृंगार, इन पाचों प्रवृत्तियो का परित्याग करना इस व्रत को दृढ़ करनेवाली पाच भावनाएं हैं। इस प्रकार इस व्रत के द्वारा व्यक्ति की काम-वासना को मर्यादित तथा समाज से तत्सम्बन्धी दोषो का परिहार करने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार—

पशु, परिजन आदि सजीव, एव घर-द्वार, धन-धान्य आदि निर्जीव वस्तुओ मे ममत्व बुद्धि रखना परिग्रह है। इस परिग्रह रूप लोभ का पारावार नही, और इसी लोभ के कारण समाज मे बडी आर्थिक विषामताए तथा वैर-विरोध व सघर्ष उत्पन्न होते है। इसलिये इस वृत्ति के निवारण व नियंत्रण पर विशेष जोर दिया गया है। राज्य-नियमो के द्वारा परिग्रहवृत्ति को सीमित करने के प्रयत्न सर्वथा असफल होते हैं; क्योकि उनसे जनता की मनोवृत्ति तो शुद्ध होती नही, और इसलिये बाह्य नियमन से उनकी मानसिक वृत्ति छल-कपट अनाचार की ओर बढ़ने लगती है। इसीलिये धर्म मे परिग्रहवृत्ति को मनुष्य की आम्यन्तर चेतना द्वारा नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। महाव्रती मुनियो को तो तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखने का निषेध है। किन्तु गृहस्थों के कुटुम्ब-परिपालनादि कर्तव्यो का विचार कर उनसे स्वयं अपने लिये परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेने का अनुरोध किया गया है। एक तो उन्हें उस सीमा से बाहर धन-धान्य का संचय करना ही नहीं चाहिये, और यदि अनायास ही उसकी आमद हो जावे, तो उसे औषधि, शास्त्र, अभय और आहार, अर्थात् औषधि-वितरण व औषध-शालाओं की स्थापना, शास्त्रदान या विद्यालयों की स्थापना, जीव-रक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओ मे, तथा अन्न-वस्त्रादि दान मे उस द्रव्य का उपयोग कर देना चाहिये। नियत किये हुए भूमि, घरद्वार, सोना-चादी, धन-धान्य, दास-दासी तथा बर्तन-भाड़ों के प्रमाण का अतिक्रमण करना इस व्रत के अतिचार हैं। इस परिग्रह-परिमाण व्रत को दृढ़ कराने वाली पाच भावनाएं हैं—पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी मनोज्ञ वस्तुओं के प्रति

राग व अमनोज्ञ के प्रति द्वेष-भाव का परित्याग, क्योंकि इसके बिना मानसिक परिग्रह-त्याग नही हो सकता ।

मैत्री आदि चार भावनाए—

उपर्युक्त व्रतो के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिये ऐसी भावनाओं का भी विधान किया गया है, जिनसे उक्त पापो के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो। व्रती को बारम्बार यह विचार करते रहना चाहिये कि हिंसादिक पाप इस लोक और परलोक में दु:खदायी हैं; और उनसे जीवन में बडे अनर्थ उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण अन्तत: वे सब सुख की अपेक्षा दु:ख का ही अधिक निर्माण करते हैं। उक्त पापों के प्रलोभन का निवारण करने के लिये संसार के व शरीर के गुणधर्मों की क्षणभंगुरता की ओर भी ध्यान देते रहना चाहिये, जिससे विषयो के प्रति आसक्ति न हो और सदाचारी जीवन की ओर आकर्षण उत्पन्न हो । जीवमात्र के प्रति मैत्री भावना, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दीन-दुखियो के प्रति कारुण्य, तथा विरोधियो के प्रति रागद्वेष व पक्षपात के भाव से रहित माध्यस्थ-भाव, इन चार वृत्तियो का मन को अभ्यास कराते रहना चाहिये, जिससे तीव्र रागद्वेषात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाएं जागृत न होने पावे । इन समस्त व्रतो का मन से, वचन से, काय से परिपालन करने का अनुरोध किया गया है और उनके द्वारा त्यागे जाने वाले पापो को केवल स्वय न करने की प्रतिज्ञा मात्र नही, किन्तु अन्य किसी से उन्हे कराने व किये जाने पर उस कुकृत्य का अनुमोदन करने के विरुद्ध भी प्रतिज्ञा अर्थात् उनका कृत, कारित व अनुमोदित तीनो रूपों मे परित्याग करने पर जोर दिया गया है । इस प्रकार इस नैतिक सदाचार द्वारा जीवन को शुद्ध और समाज को सुसस्कृत बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है ।

तीन गुणव्रत—

उक्त पाच मूलव्रतो के अतिरिक्त गृहस्थ के लिये कुछ अन्य ऐसे व्रतों का विधान भी किया गया है कि जिनमे उसकी तृष्णा व सचयवृत्ति का नियत्रण हो, इन्द्रिय-लिप्सा का दमन हो, और दानशीलता जागृत हो । उसे चारों दिशाओं मे गमनागमन, आयात-निर्यातादि की सीमा बाध लेनी चाहिये—यह **दिग्व्रत** कहा गया है । अल्पकाल मर्यादा सहित दिग्व्रत के भीतर समुद्र, नदी, पर्वत, पहाड़ी, ग्राम व दूरी प्रमाण के अनुसार सीमाए बाधकर अपना व्यापार चलाना चाहिये, यह उसका **देशव्रत** होगा । पापात्मक चिन्तन व उपदेश, तथा दूसरों को अस्त्र-शस्त्र, विष, बन्धन आदि ऐसी वस्तुओं का

दान, जिनका वह स्वय उपयोग नही करना चाहता, **अनर्थदण्ड** कहा गया है, जिनका गृहस्थ को त्याग करना चाहिये। इन तीन व्रतो के अभ्यास से मूलव्रतों के गुणों की वृद्धि होती है; और इसीलिये इन्हे गुणव्रत कहा गया है।

चार शिक्षाव्रत—

गृहस्थ को सामायिक का भी अभ्यास करना चाहिये। **सामायिक** का अर्थ है—समताभाव का ग्रह्‌वान । मनकी साम्यावस्था वह है जिसमे हिसादि समस्त पाप-वृत्तियो का शमन हो जाय। इसीलिये सामायिक की अपेक्षा समस्त व्रत एक ही कहे गये हैं, और इसी पर महावीर से पूर्व के तीर्थकरो द्वारा जोर दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस भावना के अभ्यास के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात, मध्याह्न सायकाल आदि किसी भी समय कम से कम एक बार एकान्त मे शान्त और शुद्ध वातावरण मे बैठकर, अपने मन को सासारिक चिन्तन से निवृत्त करके, शुद्ध ध्यान अथवा धर्म-चिन्तन मे लगाने का आदेश दिया गया है। इसे ही व्यवहार मे जैन लोग **सन्ध्या** कहते है। खान-पान व गृह-व्यापारादि का त्यागकर देव-वन्दन पूजन तथा जप व शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओ मे ही दिन व्यतीत करना **प्रोषधोपवास** कहलाता है। इसे गृहस्थ यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी-चतुर्दशी को करे, जिससे उसे भूख प्यास की वेदना पर विजय प्राप्त हो। प्रतिदिन के आहार मे से विशेष प्रकार खट्टे-मीठे रसो का, फल-अन्नादि वस्तुओ का तथा वस्त्राभूषण शयनासन व वाहनादि के उपयोग का त्याग करना व सीमा बाधना **भोगोपभोगपरिमाण** व्रत है। अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि साधुजनो को सत्कार पूर्वक आहार औषधि आदि दान देना **अतिथिसंविभाग** व्रत है। ये चारो शिक्षाव्रत कहलाते है, क्योकि इनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। सामान्य रूप से ये सातो व्रत सप्तशील या सप्त शिक्षापद भी कहे गये है। इन समस्त व्रतो के द्वारा जीवन का परिशोधन करके गृहस्थ को मरण भी धार्मिक रीति से करना सिखाया गया है।

सल्लेखना—

महान् संकट, दुर्भिक्ष, असाध्य रोग, व वृद्धत्व की अवस्था मे जब साधक को यह प्रतीत हो कि वह उस विपत्ति से बच नही सकता, तब उसे कराह-कराह कर व्याकुलता पूर्वक मरने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि वह क्रमशः अपना आहारपान इस विधि से घटाता जावे जिससे उसके चित्त मे क्लेश व व्याकुलता उत्पन्न न हो;

और वह शान्तभाव से अपने शरीर का उसी प्रकार त्याग कर सके; जैसे कोई धर्मी पुरुष अपने गृह को सुख का साधन समझता हुआ भी उसमे आग लगने पर स्वयं सुरक्षित निकल आने मे ही अपना कल्याण समझता है। इसे **सल्लेखना या समाधिमरण** कहा गया है। इसे आत्मघात नही समझना चाहिये; क्योंकि आत्मघात तीव्र रागद्वेष-वृत्ति का परिणाम है; और वह शस्त्र व विषके प्रयोग, भृगुपात आदि घातक क्रियाओं द्वारा किया जाता है, जिनका कि सल्लेखना मे सर्वथा अभाव है। इस प्रकार यह योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण, जीवन संबधी सुयोजना का एक अंग है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए—

पूर्वोक्त गृहस्थ धर्म के व्रतों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि वह धर्म सब व्यक्तियो के लिये, सब काल मे, पूर्णत: पालन करना सम्भव नही है। इसीलिये परिस्थितियों, सुविधाओं तथा व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक वृत्तियों के अनुसार श्रावकधर्म के ग्यारह दर्जे नियत किये गये है जिन्हे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं कहते है। गृहस्थ की **प्रथम** प्रतिमा उस **सम्यग्दृष्टि (दर्शन)** की प्राप्ति के साथ आरम्भ हो जाती है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक किसी भी व्रत का विधिवत् पालन नही करता। सम्भव है वह चाण्डाल कर्म करता हो, तथापि आत्म और पर की सत्ता का भान हो जाने से उसकी दृष्टि शुद्ध हुई मानी गई है, जिसके प्रभाव से वह पशु व नरक योनि मे जाने से बच जाता है। तात्पर्य यह है कि भले ही परिस्थिति वश वह अहिंसादि व्रतो का पालन न कर सके; किन्तु जब दृष्टि सुधर गई, तब वह भव्य सिद्ध हो चुका, और कभी न कभी चारित्र-शुद्धि प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी हुए बिना नही रह सकता।

श्रावक की **दूसरी** प्रतिमा उसके अहिंसादि पूर्वोक्त **व्रतों** के विधिवत् ग्रहण करने से प्रारम्भ होती है, और वह क्रमश पाच अणुव्रतों व सातों शिक्षापदों का निरतिचार पालन करने का अभ्यास करता जाता है। **तीसरी** प्रतिमा **सामायिक है।** यद्यपि सामायिक का अभ्यास पूर्वोक्त शिक्षाव्रतो के भीतर दूसरी प्रतिमा मे ही प्रारम्भ हो जाता है, तथापि इस तीसरी प्रतिमा मे ही उसकी वह साधना ऐसी पूर्णता को प्राप्त होती है जिससे उसे अपने क्रोधादि कषायो पर विजय प्राप्त हो जाती है, और सामान्यत: सांसारिक उत्तेजनाओं से उसकी शान्ति भंग नही होती; तथा वह अपने मन को कुछ काल आत्मध्यान मे निराकुलतापूर्वक लगाने में समर्थ हो जाता है।

चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा मे वह उस उपवासविधि का पूर्णत: पालन करने

में समर्थ होता है जिसका अभ्यास वह दूसरी प्रतिमा मे प्रारम्भ कर चुका है; और जिसका स्वरूप ऊपर वर्णित किया जा चुका है। **पांचवीं सचित्त-त्याग** प्रतिमा में श्रावक अपनी स्थावर जीवों सम्बन्धी हिंसावृत्ति को विशेषरूप से नियंत्रित करता है और हरे शाक, फल, कन्द-मूल तथा अप्राशुक अर्थात् बिना उबाले जल के आहार का त्याग कर देता है। **छठी** प्रतिमा मे वह **रात्रि भोजन करना छोड़** देता है, क्योंकि रात्रि मे कीट पतंगादि क्षुद्र जन्तुओ द्वारा आहार के दूषित हो जाने की सम्भावना रहती है। **सातवीं** प्रतिमा मे श्रावक पूर्ण **ब्रह्मचारी** बन जाता है, और अपनी स्त्री से भी काम-क्रीडा करना छोड देता है, यहा तक कि रागात्मक कथा-कहानी पढना-सुनना भी छोड़ देता है, व तत्सम्बन्धी वार्तालाप भी नही करता। **आठवीं** प्रतिमा **आरम्भ-त्याग** की है, जिसमें श्रावक की सासारिक आसक्ति इतनी घट जाती है कि वह घर-गृहस्थी सम्बन्धी काम-धधे व व्यापार मे रुचि न रख, उसका भार अपने पुत्रादि पर छोड़ देता है।

नौवीं प्रतिमा **परिग्रह-त्याग** की है। श्रावक ने जो अणुव्रतो मे परिग्रह-परिमाण का अभ्यास प्रारम्भ किया था, वह इस प्रतिमा मे आने तक ऐसे उत्कर्ष को पहुच जाता है कि गृहस्थ को अपने घर-सम्पत्ति व धन-दौलत से कोई मोह नही रहता। वह अब इस सब को भी अपने पुत्रादि को सौप देता है, और अपने लिये भोजन-वस्त्र मात्र का परिग्रह रखता है। **दसवीं** प्रतिमा मे उसकी विरक्ति एक दर्जे आगे बढती है, और वह अब अपने पुत्रादि को कामधधो सम्बन्धी **अनुमति देना भी छोड़** देता है। **ग्यारहवीं** प्रतिमा **उद्दिष्ट-त्याग** की है, जहा पर श्रावक धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। इस प्रतिमा के दो अवान्तर भेद है—एक **'क्षुल्लक'** और दूसरा **'ऐलक'**। प्रथम प्रकार का उद्दिष्टत्यागी एक वस्त्र धारण करता है, कैंची, छुरे से अपने बाल बनवा लेता है, तथा पात्र मे भोजन कर लेता है। किन्तु दूसरा उद्दिष्ट-त्यागी वस्त्र के नाम पर केवल कोपीन मात्र धारण करता है, स्वयं केशलौंच करता है, पीछी-कमडल रखता है, और भोजन केवल अपने हाथ मे लेकर ही करता है, थाली आदि पात्र से नही। इस उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा का सार्थक लक्षण यह है कि इसमे श्रावक अपने निमित्त बनाया गया भोजन नही करता। वह भिक्षावृत्ति स्वीकार कर लेता है।

इन प्रतिमाओ मे दिखाई देगा कि जिन व्रतो का समावेश बारह-व्रतो के भीतर हो चुका है, और जिनके पालन का विधान दूसरी प्रतिमा मे ही किया जा चुका है, उन्ही की प्राय. अन्य प्रतिमाओ मे भी पुनरावृत्ति हुई है। किन्तु उनमे भेद यह है कि जिन-जिन व्रतो का विधान ऊपर की प्रतिमाओ मे किया गया है, उनकी परिपूर्णता वही पर होती है। अभ्यास के लिये भले ही निचली प्रतिमाओ में भी

उनका ग्रहण किया गया हो। यों व्यवहार में प्रथम प्रतिमा से ही निशि-भोजन त्याग पर जोर दिया जाता है, जिसका प्रतिमानुसार विधान छठवें दर्जे पर आता है। तात्पर्य यह है कि वह त्याग गुरुजनों के सम्मुख प्रतिज्ञा लेकर उसी प्रतिमा में किया जाता है, और फिर उस व्रत का उल्लंघन करना बड़ा दूषण समझा जाता है। यह व्यवस्था एक उदाहरण द्वारा समझाई जा सकती है। प्रथम वर्ग मे पढ़नेवाले विद्यार्थी की एक पाठ्य-पुस्तक नियत है, जिसका यथोचित ज्ञान हुए बिना वह दूसरी कक्षा मे जाने योग्य नही माना जाता। किन्तु उस वर्ग में होते हुए भी द्वितीयादि वर्गों की पुस्तको का पढना उसकेलिये वर्ज्य नही, अपितु एक प्रकार से वांछनीय ही है। तथापि वह प्रथम वर्ग मे उसके पूर्ण ज्ञान व परीक्षा का विषय नही माना जाता। इसीप्रकार व्रतो की साधना यथाशक्ति पहली या दूसरी प्रतिमा से ही प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु उनका विधिवत् पूर्ण परिपालन उत्तरोत्तर ऊपर को प्रतिमाओ मे होता है। यह व्यवस्था जैन-अनेकान्त दृष्टि के अनुकूल है।

मुनिधर्म—

उपर्युक्त श्रावक की सर्वोत्कृष्ट ग्यारहवी प्रतिमा के पश्चात् मुनिधर्म का प्रारम्भ हाता है, जिसमे आदितः परिग्रह का पूर्णरूप से परित्याग कर नग्न-वृत्ति धारण की जाती है, और अहिंसादि पाच व्रत महाव्रतों से रूप मे पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। मुनि को अपने चलने फिरने मे विशेष सावधानी रखना पड़ती है। अपने आगे पाच-हाथ पृथ्वी देख-देख कर चलना पडता है, और अन्धकार मे गमन नही किया जाता, इसी का नाम ईर्या समिति है। निन्दा व चापलूसी, हसी, कटु आदि दूषित भाषा का परित्याग कर मुनि को सदैव संयत, नपीतुली, सत्य, प्रिय और कल्याणकारी वाणी का ही प्रयोग करना चाहिये। यह मुनि की भाषा समिति है। भिक्षा द्वारा केवल शुद्ध निरामिष आहार का निर्लोभ भाव से ग्रहण करना मुनि की एषणा समिति है। जो कुछ थोडी बहुत वस्तुएं निग्रथ मुनि अपने पास रख सकता है, वे ज्ञान व चरित्र के परिपालन-निमित्त ही हुआ करती है; जैसे ज्ञानार्जन के लिये शास्त्र, जीव रक्षा-निमित्त पिच्छिका एवं शौच-निमित्त कमडल। ये क्रमश. ज्ञानोपधि, संयमोपधि और शौचोपधि कहलाती हैं। इनके रखने व ग्रहण करने मे भी जीव-रक्षा निमित्त सावधानी रखनी आदाननिक्षेप समिति है। मल-मूत्रादि का त्याग किसी दूर, एकान्त, सूखे व जीव-जन्तु रहित ऐसे स्थान पर करना जिससे किसी को कोई आपत्ति न हो, यह मुनि की प्रतिस्थापन समिति है।

चक्षु आदि पांचो इन्द्रियो का नियंत्रण करना, उन्हे अपने-अपने विषयों की ओर लोलुपता से आकर्षित न होने देना, ये मुनियो के पांच **इन्द्रिय-निग्रह** हैं। जीव मात्र में, मित्र-शत्रु मे, दुःख-सुख मे, लाभ-अलाभ मे, रोष-तोष भाव का परित्याग कर **समताभाव** रखना, तीर्थंकरो की गुणानुकीर्तन रूप **स्तुति** करना, अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं व आचार्यादि की मन-वचन-काय से प्रदक्षिणा-प्रणाम आदि रूप **वन्दना** करना; नियमितरूप से आत्मशोधन-निमित्त अपने अपराधो की निन्दा-गर्हा रूप **प्रतिक्रमण** करना; समस्त अयोग्य आचरण का परिवर्जन, अर्थात् अनुचित नाम नही लेना, अनुचित स्थापना नही करना, एव अनुचित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परित्याग रूप **प्रत्याख्यान** , तथा अपने शरीर से भी ममत्व छोडने रूप **विसर्गभाव** रखना, ये छह मुनियों की **आवश्यक** क्रियाएं हैं। समय-समय पर अपने हाथो मे केशलौच, अचेलकवृत्ति, स्नानत्याग, दन्तधावन-त्याग, क्षितिशयन, स्थितिभोजन अर्थात् खडे रह कर आहार करना, और मध्यान्ह काल मे केवल एक बार भोजन करना, ये मुनि की अन्य सात विशेष साधनाएं है। इसप्रकार मुनियो के कुल **अट्ठाइस मूलगुण** नियत किये गये है।

२२ परीषह—

उपर्युक्त नियमो से यह स्पष्ट है कि साधु की मुख्य साधना है समत्व, जिसे भगवद्गीता मे भी योग का मुख्य लक्षण कहा है (**समत्वं योग उच्यते**)। इस समताभाव को भग्न करने वाली अनेक परिस्थितियो का मुनि को सामना करना पडता है, और वे ही स्थितिया मुनि के समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल है। ऐसी परिस्थितिया तो अगणित हो सकती है किन्तु उनमे से बाईस का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिये तत्सम्बन्धी क्लेशो पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। साधु अपने पास न खाने-पीने का सामान रखता, और न स्वयं पकाकर खा सकता। उसे इसके लिये भिक्षा वृत्ति पर अवलंबित रहना पडता है, सो भी दिन में केवल एक बार। उसे समय-समय पर एक व अनेक दिनों के लिये उपवास भी करना पडता है। अतएव बीच-बीच मे उसे भूख-प्यास सतावेंगे ही। इसीलिये **क्षुधा** (१) और **तृषा** (२) परीषह उसे आदि मे ही जीतना चाहिये। वस्त्रों के अभाव मे उसे **शीत, उष्ण (३-४), डांस-मच्छर (५) व नग्नता (६)** के क्लेश होना अनिवार्य है, जिन्हे भी उसे शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। एकान्त मे रहने, उक्त भूख-प्यास आदि की बाधाएं सहने तथा **इन्द्रिय-विषयो** के अभाव से उसे मुनि

अवस्था से कभी अरुचि भी उत्पन्न हो सकती है। इस **अरति** परीषह को भी उसे जीतना चाहिये (७)। मुनि को जब-तब और विशेषतः भिक्षा के समय नगर व ग्राम में परिभ्रमण करते हुए व गृहस्थों के घरों में सुन्दर व युवती स्त्रियों का एवं उनके हाव-भाव-विलासों का दर्शन होना अनिवार्य है। इससे उसके मन में चंचलता उत्पन्न हो सकती है, जिसे जीतना **स्त्री**-परीषह-जय कहलाता है (८)। मुनि को वर्षाऋतु के चार माह छोड़कर शेष-काल में एक स्थान पर अधिक न रह कर देश-परिभ्रमण करते रहना चाहिये। इस निरंतर यात्रा से उसे मार्ग की अनेक कठिनाइयां सहनी पड़ती है, यही मुनि का **चर्या** परीषह है (९)। ठहरने के लिये मुनि को श्मशान, वन, ऊजड़ घर, पर्वत-गुफाओं आदि का विधान किया गया है, जहां उन्हें नाना-प्रकार की, यहां तक कि सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं द्वारा आक्रमण की, बाधाएं सहनी पड़ती हैं; यही साधु का **निषद्या** परीषह-विजय है (१०)। मुनि को किंचित् काल शयन के लिये खर विषम, शिलातल आदि ही मिलेंगे, इसका क्लेश सहन करना **शय्या**-परीषह-जय है (११)। विरोधी जन मुनि को बहुधा गाली-गलौच भी कर बैठते है, इसे सहन करना **आक्रोश परीषह**-जय है (१२)। यदि कोई इससे भी आगे बढ़कर मार-पीट कर बैठे, तो उसे भी सहन करना **वध**-परीषह-जय है (१३) मुनि को अपने आहार, वसति, औषध आदि के लिये गृहस्थों से याचना ही करनी पड़ती है (१४)। किन्तु इस कार्य में अपने में दीनता भाव न आने देने को **याचना**-परीषह-जय, तथा याचित वस्तु का लाभ न होने पर रुष्ट न होकर अलाभ से उसे अपनी तपस्या की वृद्धि में लाभ ही हुआ, ऐसा समझकर सन्तोष भाव रखने को **अलाभ**-विजय कहते है (१५)। यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीडा के वशीभूत हो जाय तो उसे शान्तिपूर्वक सहने का नाम **रोग**-विजय है (१६) चर्या, शैया व निषद्यादि के समय जो कुछ तृण, कांटा कंकड़ आदि चुभने की पीड़ा हो, उसे सहना **तृणस्पर्श**-विजय है (१७)। साधु को अपने शरीर से मोह छोड़ने के लिये जो स्नान न करने, दन्तादि अंग-प्रत्यंगों को साफ न करने तथा शरीर का अन्य किसी प्रकार भी संस्कार न करने के कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता से घृणा व खेद का भाव उत्पन्न न होने देने को **मल** परीषह-विजय कहते है (१८)। सामान्यतया व्यक्ति को विशेष सत्कार-पुरस्कार मिलने से हर्ष, और न मिलने से रोष व खेद का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु मुनि को उक्त दोनों अवस्थाओं में रोष-तोष की भावना से विचलित नहीं होना चाहिये। यह उसका **सत्कार-पुरस्कार** विजय है (१९)। विशेष ज्ञान का मद होना भी बहुत सामान्य है। साधु इस मद से मुक्त रहे, यह उसका **प्रज्ञा**-विजय (२०)। एवं ज्ञान न

होने पर उद्विग्न न हो, यह उसका अज्ञान-विजय है (२१)। दीर्घ काल तक तप करते रहने पर भी अवधि या मनः पर्ययज्ञानादि की प्राप्ति रूप ऋद्धि-सिद्धि उपलब्ध न होने पर मुनि का श्रद्धान विचलित हो सकता है कि ये सब सिद्धियां प्राप्य हैं या नहीं, केवलज्ञानी ऋषि, मुनि, तीर्थंकरादि हुए हैं या नहीं, यह सब तपस्या निरर्थक ही है, ऐसी अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना अदर्शन-विजय है (२२)। ये बाईस परीषह-जय मुनियो की विशेष साधनाए हैं, जिनके द्वारा वह अपने को पूर्ण इन्द्रिय-विजयी व योगी बना लेता है।

१० धर्म—

उपर्युक्त बाईस परीषहो मे मन को उभाड कर विचलित करके, रागद्वेष रूप दुर्भावो से दूषित करनेवाली जो मानसिक अवस्थाए है उनके उपशमन के लिये दश-धर्मों और बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का विधान किया गया है। धर्मों के द्वारा मन को कषायो को जीतने के लिये उनके विरोधी गुणो का अभ्यास कराया जाता है, तथा अनुप्रेक्षाओं से तत्व-चिन्तन के द्वारा सासारिक वृत्तियो से अनासक्ति उत्पन्न कर वैराग्य की साधना मे विशेष प्रवृत्ति कराई जाती है। दश धर्म है—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। क्रोधोत्पादक गाली-गलौच, मारपीट, अपमान आदि परिस्थितियो मे भी मन को कलुषित न होने देना क्षमा धर्म है। (१) कुल, जाति, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व एव शील आदि सबधी अभिमान करना मद कहलाता है। इस मान कपाय को जीतकर मन मे सदैव मृदुता भाव रखना मार्दव धर्म है। (२) मन मे एक बात सोचना, वचन से कुछ और कहना तथा शरीर से करना कुछ और, यह कुटिलता या मायाचारी कहलाती है। इम माया कषाय को जीतकर मन-वचन-काय की क्रिया मे एकरूपता (ऋजुता) रखना आर्जव धर्म है। (३) मन को मलिन बनाने वाली जितनी दुर्भावनाए हैं उनमे लोभ सबसे प्रबल अनिष्टकारी है। इस लोभ कपाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच धर्म है। (४) असत्य वचन की प्रवृत्ति को रोककर सदैव यथार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है। (५) इन्द्रियो के विषयो की ओर से मन की प्रवृत्ति को रोककर उसे सत्यप्रवृत्तियो मे लगाना संयम धर्म है। (६) विषयो व कषायो का निग्रह करके आगे कहे जानेवाले बारह प्रकार के तप मे चित्त को लगाना तप धर्म है। (७) बिना किसी प्रत्युपकार व स्वार्थ भावना के दूसरो के हित व कल्याण के लिये विद्या आदि का दान देना त्याग धर्म है। (८) घर-द्वार, धन-दौलत, बन्धु-बान्धव, शत्रु-मित्र सबसे ममत्व

छोड़ना, ये मेरे नही हैं, यहां तक कि शरीर भी सदा मेरे साथ रहनेवाला नही है, ऐसा अनासक्ति भाव उत्पन्न करना अकिंचन धर्म है, (९) तथा रागोत्पादक परिस्थितियो में भी मन को काम वेदना से विचलित न होने देना व उसे आत्म चिन्तन मे लगाये रहना ब्रह्मचर्य धर्म है (१०)।

इन दश धर्मों के भीतर सामान्यतः चार कषायो तथा अणुव्रत व महाव्रतों द्वारा निर्धारित पाच पापो के अभाव का समावेश प्रतीत होता है। किन्तु धर्मों की व्यवस्था की विशेषता यह है कि उनमे कषायों और पापो के अभाव मात्र पर नही, किन्तु उनके उपशामक विधानात्मक क्षमादि गुणो पर जोर दिया गया है। चार कषायो के उपशामक प्रथम चार धर्म हैं, तथा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म व परिग्रह के उपशामक क्रमशः संयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और अकिंचन धर्म है। इन नौ के अतिरिक्त तप का विधान मुनिचर्या को विशेष रूप से गृहस्थ धर्म से आगे बढाने वाला है।

१२ अनुप्रेक्षाए—

अनासक्ति योग के अभ्यास के लिये जो बारह अनुप्रेक्षाएं या भावनाएं बतलाई गई है, वे इस प्रकार है—आराधक यह चिन्तन करे कि ससार का स्वभाव बडा क्षण-भंगुर है, यहा मेरा-तेरा कहा जानेवाला जो कुछ है, सब अनित्य है, अतएव उसमें आसक्ति निष्फल है, यह अनित्य भावना है (१)। जन्म-जरा-मृत्यु रूप भयो से कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता; इन भयो से छूटने का उपाय आत्मा मे ही है, अन्यत्र नही; यह अशरण भावना है (२)। संसार मे जीव जिस प्रकार चारों गतियों में घूमता है, और मोहवश दु ख पाता रहता है; इसका विचार करना संसार भावना है (३)। जीव तो अकेला ही जन्मता व बाल्य, यौवन व वृद्धत्व का अनुभव करता हुआ अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है; यह विचार एकत्व भावना है (४), देहादि समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, इनसे आत्मा का कोई सच्चा नाता नही है, यह अन्यत्व भावना है (५)। यह शरीर रुधिर, मास व अस्थि का पिंड है; और मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है, इनसे अनुराग करना व उसे सजाना-धजाना निष्फल है, यह अशुचित्व भावना है (६)। क्रोधादि कषायों से तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्तियो से किस प्रकार कर्मों का आस्रव होता है, इसका विचार करना आस्रव भावना है (७)। व्रतों तथा समिति, गुप्ति, धर्म, परीषहजय व प्रस्तुत अनुप्रेक्षाओं द्वारा किस प्रकार कर्मास्रव को रोका जा सकता है, यह चिन्तन संवर भावना है (८)।

व्रतों आदि के द्वारा तथा विशेष रूप से बारह प्रकार के तपों द्वारा बंधे हुए कर्मों का किस प्रकार क्षय किया जा सकता है, यह चिन्तन **निर्जरा** भावना है (९)। इस अनन्त आकाश, उसके लोक व अलोक विभाग, उनके अनादित्व व अकर्तृत्व तथा लोक मे विद्यमान समस्त जीवादि द्रव्यो का विचार करना **लोक** भावना है (१०)। इस अनादि ससार मे यह जीव किस प्रकार अज्ञान और मोह के कारण नाना योनियो में भ्रमण के दु ख पाता रहा है, कितने पुण्य के प्रभाव से इसे यह मनुष्य योनि मिली है, तथा इस मनुष्य जन्म को सार्थक करने वाले दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीन रत्न कितने दुर्लभ है, यह चिन्तन **बोधिदुर्लभ** भावना है (११)। सच्चे धर्म का स्वरूप क्या है, और उसे प्राप्त कर किस प्रकार सासारिक दु:खो से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, यह चिन्तन **धर्म** भावना है (१२)। इस प्रकार इन बारह भावनाओ से साधक को अपनी धार्मिक प्रवृत्ति मे दृढ़ता व स्थिरता प्राप्त होती है।

३ गुप्तिया—

ऊपर अनेक बार कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया रूप योग के द्वारा कर्मास्रव होता है, और कर्मबन्ध को रोकने, तथा बधे हुए कर्मो की निर्जरा करने मे इस त्रियोग की साधना विशेषरूप मे आवश्यक है। यथार्थत समस्त धार्मिक साधना के मूल मे मन-वचन-काय की प्रवृत्ति-निवृत्ति ही तो प्रधान है। अतएव इनकी सदसत् प्रवृत्ति का विशेष रूप से स्वरूप बतलाकर साधक को उनके सम्बन्ध मे विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। **मन** और **वचन** इन दोनो की प्रवृत्ति चार प्रकार की कही गयी है—**सत्य, असत्य, उभय** और **अनुभय**। सत्य मे यथार्थता और हित, इन दोनो बातो का समावेश माना गया है। इसी सत्य के अनुचिन्तन मे प्रवृत्त मन की अवस्था को सत्य मन, उससे विपरीत असत्यमन, मिश्रित भाव को उभय मन, और सत्यासत्य दोनो से हीन मानसिक अवस्था को अनुभय रूप मन कहा गया है। इन अवस्थाओ मे से सत्य मनोयोग की ही साधना को मनोगुप्ति कहा गया है। शब्दात्मक वचन यथार्थत: मन की अवस्था को व्यक्त करनेवाला प्रतीक मात्र है। अतएव उक्त चारो मनोदशाओ के अनुकूल वचन-पद्धति भी चार प्रकार की हुई। तथापि लोक व्यवहार मे **सत्य-वचन** भी **दश प्रकार** का रूप धारण कर लेता है। कही शब्द अपने मूल वाच्यार्थ से च्युत होकर भी जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, अपेक्षा, व्यवहार, संभावना, भाव व उपमा सम्बन्धी रूढियों द्वारा सत्य को प्रगट करता है। वाणी के अन्य प्रकार से भी **नौ भेद** किये गये हैं, जैसे—आमंत्रणी, आज्ञापनी,

याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोमनी और अनक्षर-गता। इनका सत्य-असत्य से कोई सबन्ध नही। अतएव इन्हे अनुभय वचनरूप कहा गया है। साधक को इस प्रकार मन और वचन के सत्यासत्य स्वरूप का विचारकर, अपनी मन-वचन की प्रवृत्ति को संभालना चाहिये, और तदनुसार ही कायिक क्रिया मे प्रवृत्त होना चाहिये, यही मुनि का त्रिगुप्ति रूप आचरण है।

६ प्रकार का बाह्य तप—

उक्त समस्त व्रतो आदि की साधना कर्मास्रव के निरोध रूप संवर व बधे हुए कर्मों के क्षय रूप निर्जरा करानेवाली है। कर्म-निर्जरा के लिये विशेषरूप से उपयोगी तप साधना मानी गई है, जिसके मुख्य दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एवं कायक्लेश, ये बाह्य तप के छह प्रकार है। सब प्रकार के आहार का परित्याग **अनशन**; तथा अल्प आहार मात्र ग्रहण करना **अवमौदर्य** या ऊनोदर तप है। एक ही घर से भिक्षा लूगा, इस प्रकार दिये हुए आहार मात्र को ग्रहण करूगा, इत्यादि रूप से आहार सम्बन्धी परिस्थितियो का नियन्त्रण करना **वृत्ति-परिसंख्यान**; तथा घृतादि विशेष पौष्टिक एवं विकारी वस्तुओ का त्याग, तथा मिष्टादि रसो का नियमन करना **रस-परित्याग** है। शून्य गृहादि एकान्त स्थान मे वास करना **विविक्तशय्यासन** है, तथा धूप, शीत, वर्षा आदि बाधाओ को विशेष रूप से सहने का एवं आसन-विशेष से लम्बे समय तक स्थिर रहने आदि का अभ्यास करना **कायक्लेश** तप है।

६ प्रकार का आभ्यन्यर तप—

आभ्यन्तर तप के छह भेद है—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषो के परिहार के लिये आलोचन, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओ मे प्रवृत्त होना **प्रायश्चित** तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व उपचार की साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त होना **विनय** तप है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का स्वरूप बताया ही जा चुका है। आचार्यादि गुरुजनो व शास्त्रों व प्रतिमाओ आदि पूज्य पात्रों का प्रत्यक्ष मे व परोक्ष मे मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा आदर-सत्कार व गुणानुवाद आदि करना उपचार विनय है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षाशील, रोगी, गण, कुल, संघ, साधु तथा लोक-सम्मत अन्य योग्यजनो की पीड़ा-बाधाओ को दूर करने के लिये सेवा में प्रवृत्त होना **वैयावृत्य** तप है। धर्म शास्त्रों की वाचना,

पृच्छना, अनुचिन्तन, बार-बार आवृत्ति व धर्मोपदेश, यह सब स्वाध्याय तप है। गृह, धन-धान्यादि बाह्योपाधियो तथा क्रोधादि अन्तरंगोपाधियो का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान—(आर्त व रौद्र)—

छठा अन्तिम अन्तरंग तप ध्यान है, जिसके चार भेद माने गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। अनिष्ट के संयोग, इष्ट के वियोग, दुःख की वेदना तथा भोगो की अभिलाषा से जो सक्लेश भाव होते हैं, तथा इस अनिष्ट परिस्थिति को बदलने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह सब आर्त ध्यान है। झूठ बोलने, चोरी करने, धन-सम्पत्ति की रक्षा करने तथा जीवो के घात करने मे जो क्रूर परिणाम उत्पन्न होते होते हैं, वह रौद्र ध्यान है। ये दोनो ध्यान व्यक्ति को स्वय दुःख देते हैं, समाज मे भी अशान्ति उत्पन्न करने के कारण होते हैं, एवं इनसे अशुभकर्मों का बन्ध होता हैं, इसलिये ये ध्यान अशुभ और त्याज्य माने गये है। शेष दो ध्यान जीव के लिये कल्याण-कारी होने से शुभ है।

धर्म ध्यान—

इन्द्रियो तथा राग-द्वेष भावो से मन का निरोध करके उसे धार्मिक चिन्तन में लगाना धर्मध्यान है। इस चिन्तन का विषय चार प्रकार का हो सकता है—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय। जब ध्याता शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरूप, कर्मबन्ध आदि ज्ञान की व्यवस्था व चरित्र के नियम आदि के सूक्ष्म चिन्तन मे ध्यान लगाता है, तब आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है। आज्ञा का अर्थ है—शास्त्रादेश; और विचय का अर्थ है—खोज या गवेषण। इस प्रकार शास्त्रादेश का गवेषण, अर्थात् धर्म के सिद्धान्तो को तर्क, न्याय, प्रमाण, दृष्टान्त आदि की योजना द्वारा समझने का मानसिक प्रयत्न धर्म-ध्यान है। अपाय का अर्थ है विघ्न-बाधा, अतएव धर्म के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं उपस्थित हों, उन्हे दूरकर धर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह अपाय-विचय धर्मध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्म किस प्रकार अपना फल देते हैं, तथा जीवन के नाना अनुभवन किस-किस कर्मोदय से प्राप्त हुए; इस प्रकार कर्मफल सम्बन्धी चिन्तन विपाक-विचय धर्मध्यान है; और लोक का स्वरूप कैसा है, उसके ऊर्ध्व अधः तिर्यक् लोको की रचना किस प्रकार की है, और उनमें जीवो की कैसी-क्या दशाएं पाई जाती हैं, इत्यादि चिन्तन संस्थान-विचय

नामक धर्मध्यान है। इन चार प्रकार के धर्मध्यानों से ध्याता की दृष्टि शुद्ध होती है, श्रद्धान दृढ़, बुद्धि निर्मल, तथा चारित्र-पालन विशुद्ध व स्थिर होता है। इसलिये धर्म-ध्यान का आत्म-कल्याण के लिये बड़ा माहात्म्य है।

शुक्ल ध्यान—

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, एकत्व-वितर्क-अवीचार, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति। अनेक जीवादि द्रव्यों व उनकी पर्यायो का अपने मन-वचन-काय इन तीनों योगों द्वारा चिन्तन **पृथक्त्व** कहलाता है। **वितर्क** का अर्थ है श्रुत या शास्त्र, और **वीचार** का अर्थ है—विचरण या विपरिवर्तन। अतः द्रव्य से पर्याय व पर्याय से द्रव्य, एक शास्त्रवचन से दूसरे शास्त्रवचन, तथा एक योग से दूसरे योग के आलम्बन से ध्यान की धारा चलना **पृथक्त्व-वितर्क-वीचार** ध्यान कहलाता है। जब आलम्बनभूत द्रव्य व उसकी पर्याय का व योग का संक्रमण न होकर, एक ही द्रव्य या द्रव्यपर्याय का किसी एक ही योग के द्वारा, ध्यान किया जाता है, तब **एकत्व-वितर्क-अवीचार** ध्यान होता है। जब ध्यान में न तो वितर्क अर्थात् श्रुत-वचन का आश्रय रहता, और न वीचार अर्थात् योग-संक्रमण होता, किन्तु केवल सूक्ष्म काययोग मात्र का अवलम्बन रहता है, तब **सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती** नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है, तथा जब न वितर्क रहे, न वीचार और न योग का अवलम्बन, तब **व्युपरतक्रियानिवर्ति** नामक सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान होता है। यह ध्यान केवलज्ञान की चरम अवस्था मे ही होता है; और आत्मा द्वारा शरीर का परित्याग होने पर सिद्धो के आत्मज्ञान का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार शुक्ल-ध्यान द्वारा ही योगी क्रमशः आत्मा को उत्तरोत्तर कर्म-मल से रहित बनाकर अन्ततः मोक्ष पद प्राप्त करता है।

१४ गुणस्थान व मोक्ष—

ऊपर मोक्ष-प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का प्ररूपण किया गया है। मिथ्यात्व से लेकर मोक्षप्राप्ति तक जिन आध्यात्मिक दशाओं मे से जीव निकलता है, वे **गुणस्थान** कहलाते हैं। सामान्यतः इन दशाओं में परिवर्तन करनेवाले वे कर्म हैं जिनकी नाना प्रकृतियो का स्वरूप भी पहले बतलाया जा चुका है। इन कर्मों की परिस्थितियों के अनुसार जीव के जो भाव होते हैं, वे चार प्रकार हैं—**औदयिक**, **औपशमिक**, **क्षायिक** व **क्षायोपशमिक**। कर्मों के उदय से उत्पन्न होनेवाले भाव **औदयिक**

कहलाते हैं; जैसे उसके राग, द्वेष, अज्ञान, असंयम, रति आदि भाव। कर्मों की उपशम अर्थात् उदयरहित अवस्था में होनेवाले भाव औपशमिक कहे गये हैं; जैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति, सदाचार, व्रत-नियम-पालन आदि। कर्मों के उपशम काल में जीव की उसी प्रकार शुद्ध अवस्था हो जाती है, जैसे जल मे फिटकिरी आदि शोधक वस्तुओं के प्रभाव से उसका सब मैल नीचे बैठ जाता है और ऊपर का समस्त जल निर्मल हो जाता है। किन्तु आत्म-परिणामों की यह विशुद्धि चिरस्थायी नहीं होती; क्योंकि जिसप्रकार उपशान्त हुआ मल पानी मे थोड़ी भी हलचल उत्पन्न होने से पुनः ऊपर उठकर समस्त जल को मलिन कर देता है, उसी प्रकार उपशान्त हुए कर्म शीघ्र ही पुनः कषायोदय द्वारा उभर उठते हैं, और जीव के परिणामों को पुनः मलिन बना देते हैं। किन्तु यदि एकत्र हुए मल को छानकर जल से पृथक् कर दिया जाय, तो फिर वह जल स्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मों के क्षय से जो शुद्ध आत्म-परिणाम होते है, उन्हे जीव के क्षायिक भाव कहा जाता है, जैसे केवलज्ञान-दर्शन आदि। कर्मों के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय-क्षय व सत्तागत सर्वघाती स्पर्द्धको का उपशम, तथा देशघाती स्पर्द्धको का उदय होने से जीव के जो परिणाम होते है, वे क्षायोपशमिकभाव कहलाते है। ये परिणाम क्षायिक व औपशमिक भावो की अपेक्षा कुछ मलिनता लिये हुए रहते हैं; जिस प्रकार कि गंदले पानी को छान लेने से उसका बहुत कुछ मल तो उससे पृथक् हो जाता है; शेष मे से कुछ भाग पात्र की तली में बैठा जाता है, और कुछ उसी में मिला रह जाता है, जिसके कारण उस जल मे अल्प मलिनता बनी रहती है। सामान्य मति-श्रुत ज्ञान, अणुव्रतपालन आदि क्षायोपशमिक भावो के उदाहरण है। इन चार भावों के अतिरिक्त जीव के जीवत्व, भव्यत्व, द्रव्यत्व आदि स्वाभाविक गुण पारिणामिक भाव कहलाते हैं।

इन जीवगत भावो का सामान्यतः समस्त कर्मों से, किन्तु विशेषतः मोहनीय कर्म की प्रकृतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है; और उसी की नाना अवस्थाओं के अनुसार जीव की वे चौदह आध्यात्मिक भूमिकाएं उत्पन्न होती हैं, जिन्हें गुणस्थान कहा गया है। मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के वे समस्त मिथ्याभाव उत्पन्न होते हैं, जिनमें अधिकांश जीव अनादि काल से विद्यमान हैं। यह जीव का मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान है। निमित्त पाकर जब जीव को औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब वह चौथे सम्यक्त्व नामक गुणस्थान में पहुंच जाता है। इनमें से क्षायिक सम्यक्त्व तो स्थायी होता है; और औपशमिक सम्यक्त्व (अनिवार्यतः) अल्पकालीक। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व [illegible] जीव भी हो

सकता है, अल्पकालीन भी। यद्यपि इनमें से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त होने पर एक नियत काल-मर्यादा के भीतर वह जीव निश्चयतः मोक्ष का अधिकारी हो जाता है; तथापि उसके लिये उसे कभी न कभी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करना अनिवार्य है। जब तक उसे इसकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक वह परिणामों के अनुसार ऊपर-नीचे के गुणस्थानों में चढ़ता-उतरता रहेगा। यदि वह सम्यक्त्व से च्युत हुआ तो उसे तीसरा गुणस्थान भी प्राप्त हो सकता है, जो, उसमें होनेवाले मिश्र भावों के कारण, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहलाता है; अथवा दूसरा गुणस्थान भी, जो सासादन कहलाता है; क्योंकि इसमें जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर भी पूर्णतः मिथ्यात्व भाव को प्राप्त नहीं हो पाता, और उसमें सम्यक्त्व का कुछ आस्वादन (अनुभवन) बना रहता है। यह यथार्थतः चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर प्रथम स्थान में पहुचने से पूर्व की मध्यवर्ती अवस्था है, जिसका काल स्वभावतः अत्यल्प होता है, और जीव उस भाव से निकल कर शीघ्र ही प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे आ गिरता है।

सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान में आत्म-चेतना रूप धार्मिक दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, क्योंकि कषायों की अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियों का, उपशम, क्षय, या क्षयोपशम हो जाता है; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है; और इसीलिये यह गुणस्थान अविरत-सम्यक्त्व कहलाता है। जब इन प्रकृतियों का भी उपशमादि हो जाता है, तो जीव के अणुव्रत धारण करने योग्य परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं और वह देशविरत व संयतासंयत नामक पांचवा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान की सीमा अणुव्रत तक ही है, क्योंकि यहां प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय बना रहता है। जब इन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब जीव के परिणाम और भी विशुद्ध होकर वह महाव्रत धारण कर लेता है। यह छठा व इससे ऊपर के समस्त गुणस्थान सामान्यतः संयत कहलाते हैं। किन्तु उनमें भी विशुद्धि का तरतमभाव पाया जाता है, जिसके अनुसार छठा गुणस्थान प्रमत्तविरत कहलाता है, क्योंकि यहां संयमभाव पूर्ण होते हुए भी प्रमाद रूप मन्द कषायों का उदय रहता है; जिसके कारण उसकी परिणति स्त्रीकथा, चोरकथा, राजकथा आदि विकथाओं व इन्द्रिय-विषयों आदि की ओर झुक जाती है, क्योंकि उसके संज्वलन कषाय का उदय रहता है। जब संज्वलन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब उसे अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यहां से लेकर आगे की समस्त अवस्थाएं ध्यान की हैं, क्योंकि ध्यानावस्था के सिवाय प्रमादों का अभाव सम्भव नहीं। इस ध्यानावस्था में जब संयमी यथाप्रवृत्तकरण रूप विशुद्धि की पूर्णता को

चलाता हुआ और प्रतिक्षरण शुद्धतर होता हुआ ऐसी असाधारण आध्यात्मिक **विशुद्धि** को प्राप्त हो जाता है, जैसी पहले कभी नही हुई थी, तब वह **अपूर्वकरण** नामक आठवें गुणस्थान मे आ जाता है। इस गुणस्थान मे किंचित् काल रहने पर जब ध्याता के प्रतिसमय के एक-एक परिणाम अपनी अपनी विशेष विशुद्धि को लिये हुए भिन्न रूप होने लगते हैं, तब **अनिवृत्तिकरण** नामक नौवां गुणस्थान आरम्भ हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती समस्त साधको का उस समयवर्ती परिणाम एकसा ही होता है; अर्थात् प्रथमसमयवर्ती समस्त ध्याताओ का परिणाम एकसा ही होगा; दूसरे समय का परिणाम प्रथम समय से भिन्न होगा, और वह भी सब का एकसा ही होगा। इसप्रकार इस गुणस्थान मे रहने के काल के जितने समय होगे, उतने ही भिन्न परिणाम होगे, और वे सभी साधको के उसी समय मे एकसे होगे, अन्य समय मे नही। इस गुणस्थान सम्बन्धी विशेष विशुद्धि के द्वारा जब कर्मो का इतना उपशमन व क्षय हो जाता है कि लोभ कषाय के अतिसूक्ष्मांश को छोडकर शेष समस्त कषाय क्षीण या उपशान्त हो जाते है, तब जीव को **सूक्ष्म साम्पराय** नामक दशवा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है, जहां आत्मविशुद्धि का स्वरूप ऐसा बतलाया गया है कि जिस प्रकार केशर से रगे हुए वस्त्र को धो डालने पर भी उसमे केशरी रग का अतिसूक्ष्म आभास रह जाता है, उसी प्रकार इस गुणस्थान वर्ती के लोभ संज्वलन कषाय का सद्भाव रह जाता है।

उपशम व क्षपक श्रेणिया—

सातवे गुणस्थान से आगे जीव उपशम व क्षपक, इन दो श्रेणियो द्वारा ऊपर के गुणस्थानो मे बढते हैं। यदि वे कर्मो का उपशम करते हुए दसवें गुणस्थान तक आये हैं, तब तो उस अवशिष्ट लोभ सज्वलन कषाय का भी उपशमन करके **उपशांत-मोह नामक** ग्यारहवा गुणस्थान प्राप्त करेगे, और उसमे किंचित् काल रहकर नियमतः नीचे के गुणस्थानो मे गिरेंगे। इस प्रकार **उपशमश्रेणी** की यही चरमसीमा है। किन्तु जो जीव सातवें गुणस्थान से **क्षायिकश्रेणी** द्वारा अर्थात् कर्मों का क्षय करते हुए ऊपर बढ़ते है, वे दसवें गुणस्थान के पश्चात् उसी शेष लोभ संज्वलन कषाय का क्षय करके, ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर, सीधे **क्षीणमोह** नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार ग्यारहवें व बारहवें दोनो गुणस्थानों मे मोहनीय कर्म के अभाव से उत्पन्न आत्मविशुद्धि की मात्रा एक सी ही होती है, और जीव पूर्णतः सवीराग हो जाते हैं; किन्तु ज्ञानावरणीयादि कर्मों के सद्भाव के कारण केवलज्ञान प्राप्त

नहीं होता; इसीलिए **छद्मस्थ वीतराग** कहलाते हैं। इन दोनों गुणस्थानो में भेद यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म उपशान्त अवस्था में अभी भी शेष रहता है, जो अन्तर्मुहूर्त के भीतर पुनः उभरकर जीव को नीचे के गुणस्थान में ढकेल देता है; किन्तु बारहवें गुणस्थान मे मोह के सर्वथा क्षीण हो जाने के कारण इस पतन की कोई सम्भावना नही रहती। इसे अब केवल अपने ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों की शेष प्रकृतियो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करना रह जाता है। यह कार्य सम्पन्न होने पर जीव को **सयोग केवली** नामक तेरहवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीवो को वह केवलज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा उन्हें विश्व की समस्त वस्तुओ का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इन **केवलियों के दो भेद** है—एक सामान्य, और दूसरे वे जो तीर्थंकर नामकर्म के उदय से धर्म की व्यवस्था करने वाले **तीर्थंकर** बनते है। इस गुणस्थान को सयोगी कहने की सार्थकता यह है कि इन जीवो के अभी भी शरीर का सम्बन्ध बना हुआ है, व नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का उदय विद्यमान है। जब केवली की आयु स्वल्प मात्र शेष रहती है, तब यदि उसके नाम, गोत्र और वेदनीय, इन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो तो वह उसे **समुद्घात-क्रिया** द्वारा आयुप्रमाण कर लेता है। इस क्रिया मे पहले आत्म-प्रदेशों को **दंड** रूप से लोकाग्र तक फैलया जाता है; फिर दोनो पार्श्वों मे फैलाकर **कपाटरूप** चौड़ा कर लिया जाता है, तत्पश्चात् आगे पीछे की ओर शेष दो दिशाओं मे फैलाकर उसे **प्रतर** रूप किया जाता है; और अन्ततः लोक के अवशिष्ट कोण रूप भागो मे फैलाकर समस्त **लोक** को भर दिया जाता है। ये क्रियाएं एक-एक समय मे पूर्ण होती हैं, और वे क्रमश. दंड, कपाट, प्रतर व लोकपूरण समुद्घात कहलाती है। अन्य चार समयों मे विपरीत क्रम से आत्म प्रदेशो को पुन· समेट कर शरीर प्रमाण कर लिया जाता है। इस क्रिया से जिसप्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र निकल जाती है, उसीप्रकार आत्मप्रदेशों के फैलने से उनमे संसक्त कर्म-प्रदेशों का स्थिति व अनुभागांश क्षीण होकर आयुप्रमाण हो जाता है। इसके पश्चात् केवली काययोग से भी मुक्त होकर, **अयोग केवली** नामक चौदहवां गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस अष्टकर्म-विमुक्त सर्वोत्कृष्ट सांसारिक अवस्था का काल अतिस्वल्प कुछ समय मात्र ही है, जिसे पूर्णकर जीव अपनी शुद्ध, शाश्वत, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य से युक्त परम अवस्था को प्राप्तकर सिद्ध बन जाता है।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण प्रविदित-निखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चाः
प्रोद्धूय ध्यानवातैः सकलमथ रजः प्राप्तकैवल्यरूपाः ।
कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये
ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥

व्याख्यान - ४

जैन कला

व्याख्यान—४

जैन कला

जीवन और कला—

जैन तत्वज्ञान के संबंध में कहा जा चुका है कि जीव का लक्षण उपयोग है, और वह उपयोग दो प्रकार का होता है—एक तो जीव को अपनी सत्ता का भान होता है कि मैं हूँ; और दूसरे उसे यह भी प्रतीत होता है कि मेरे आसपास अन्य पदार्थ भी हैं। प्रकृति के ये अन्य पदार्थ उसे नाना प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं। कितने ही पदार्थ भोज्य बनकर उसके शरीर का पोषण करते हैं; तथा अन्य कितने ही पदार्थ, जैसे वृक्ष, पर्वत, गुफा आदि उसे प्रकृति की विपरीत शक्तियों-तूफान, वर्षा, ताप आदि से रक्षा करते व आश्रय देते हैं। अन्य जीव, जैसे पशु-पक्षी आदि, तो प्रकृति के पदार्थों का इतना ही उपयोग लेते हुए जीवन-यापन करते हैं, किन्तु मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण इनसे कुछ विशेषता रखता है। मनुष्य में जिज्ञासा होती है। वह प्रकृति को विशेष रूप से समझना चाहता है। इसी ज्ञान-गुण के कारण उसने प्रकृति पर विशेष अधिकार प्राप्त किया है; तथा विज्ञान और दर्शन शास्त्रों का विकास किया है। मनुष्य का दूसरा गुण है-**अच्छे और बुरे का विवेक**। इसी गुण की प्रेरणा से उसने धर्म, नीति व सदाचार के नियम और आदर्श स्थापित किये हैं, और उन्ही आदर्शों के अनुसार ही जीवन को परिमार्जित और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण मानव-समाज उत्तरोत्तर सभ्य बनता गया है, और संसार में नाना मानव संस्कृतियो का आविष्कार हुआ है। मनुष्य का तीसरा विशेष गुण है—**सौन्दर्य की उपासना**। अपने पोषण व रक्षण के लिये मनुष्य जिन पदार्थों का ग्रहण व रक्षण करता है, उन्हे वह उत्तरोत्तर सुन्दर बनाने का भी प्रयत्न करता है। वह अपने खाद्य पदार्थों को सजाकर खाने में अधिक सन्तुष्टि का अनुभव करता है। आदि मे उसने शीत, धूप आदि से रक्षा के लिये जिन वल्कल,

मृगछाला आदि शरीराच्छादनों को ग्रहण किया, उनमें क्रमशः परिष्कार करते करते नाना प्रकार के सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्रो का अविष्कार किया, और उन्हे नाना रीतियो से काटछाटकर व सीकर सुन्दर वेष-भूषा का निर्माण किया है। किन्तु जिन बातों में मनुष्य की सौदर्योपासना चरम सीमा को पहुंची है, और मनवीय सभ्यता के विकास मे विशेष सहायक हुई है, वे है—**गृहनिर्माण, मूर्तिनिर्माण, चित्रनिर्माण तथा संगीत और काव्य कृतियां**। इन पांचों कलाओं का प्रारम्भ उनके जीवन के लिये उपयोग की दृष्टि से ही हुआ। मनुष्य ने प्राकृतिक गुफाओ आदि मे रहते-रहते क्रमशः अपने आश्रय के लिये लकड़ी, मिट्टी, व पत्थर के घर बनाये, अपने पूर्वजो की स्मृति रखने के लिये प्रारम्भ मे निराकार और फिर साकार पाषाण आदि की स्थापना की, अपने अनुभवो की स्मृति के लिये रेखाचित्र खींचे; अपने बच्चों को सुलाने व उनका मन बहलाने के लिये गीत गाये व किस्से कहानी सुनाये। किन्तु इन प्रवृत्तियो मे उसने उत्तरोत्तर ऐसा परिष्कार किया कि कालान्तर मे उनके भौतिक उपयोग की अपेक्षा, उनका सौन्दर्यपक्ष अधिक प्रबल और प्रधान हो गया, और इस प्रकार उन उपयोगी कलाओं ने ललित कलाओं का रूप धारण कर लिया, और किसी भी देश व समाज की सभ्यता व संस्कृति के ये ही अनिवार्य प्रतीक माने जाने लगे। भिन्न-भिन्न देशो, समाजो, व धर्मों के इतिहास को पूर्णता से समझने के लिये उनके सम्बन्ध मे इन कलाओ के विकास का इतिहास जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो जाता है कि कला की मौलिक प्रेरणा, मनुष्य की जिज्ञासा के समान, सौन्दर्य की इच्छारूप उसकी स्वाभाविक वृत्ति से ही मिलती है। इसलिये कहा जा सकता है कि कला का ध्येय कला ही है। तथापि उक्त मानसिक सौन्दर्य-वृत्ति ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये जिन आलम्बनो को ग्रहण किया है, उनके प्रकाश में यह भी कहा जा सकता है कि कला का ध्येय जीवन का उत्कर्ष है। यह बात सामान्यतः भारतीय, और विशेष रूप से जैन कला-कृतियो के अवलोकन से स्पष्ट हो जाती है। यहां का कलाकार कभी प्रकृति के जैसे के तैसे प्रतिबिम्ब मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसका सदैव यह प्रयत्न रहा है कि उसकी कलाकृति के द्वारा मनुष्य की भावना का परिष्कार व उत्कर्षण हो। उसकी कृति से कुछ न कुछ व कहीं न कहीं धर्म व नीति का उपदेश हुआ या प्रकट रहता ही है। यही कारण है कि यहां की प्रायः समस्त कलाकृतियां धर्म के अंचल में पली और पुष्ट हुई हैं। यूनान के कलाकार ने प्रकृति के यथार्थ प्रतिबिम्बन में ही अपनी कला की सफलता मानी है, इस कारण उस कला को हम पूर्णतः आधिभौतिक व मर्त्य

निस्संकोच कह सकते हैं। किन्तु भारतीय कलाकारों ने प्रकृति के इस यान्त्रिक (फोटोग्राफिक) चित्रण मात्र को अपने कला के आदर्श की दृष्टि से पर्याप्त नहीं समझा। उनके मत से उनकी कलाकृति द्वारा यदि दर्शक ने कुछ सीखा नहीं, समझा नहीं, कुछ धार्मिक, नैतिक व भावात्मक उपदेश पाया नहीं, तो उस कृति से लाभ ही क्या हुआ? इसी जन-कल्याण की भावना के फलस्वरूप हमारी कलाकृतियों में नैसर्गिकता के अतिरिक्त कुछ और भी पाया जाता है, जिसे हम कल्पनात्मक अतिशयोक्ति कह सकते हैं। स्थापत्य की कृतियो मे हमारा कलाकार अपनी दिव्य विमान की कल्पना को साकार करना चाहता है। देवों की मूर्तियो मे तो वह दिव्यता भरता ही है, मानवीय मूर्तियों व चित्रो में भी उसने आध्यात्मिक उत्कर्ष के आरोप का प्रयत्न किया है। पशु-पक्षी व वृक्षादि का चित्रण अप्रस्तुत होते हुऐ भी उसे ऐसी भूमिका देने का प्रयत्न किया है कि जिससे कुछ न कुछ श्रद्धा, भाव-शुद्धि व नैतिक परिष्कार उत्पन्न हो। इस प्रकार जैन कला का उद्देश्य जीवन का उत्कर्षण रहा है, उसकी समस्त प्रेरणा धार्मिक रही है, और उसके द्वारा जैन तत्त्वज्ञान व आचार के आदर्शों को मूर्तिमान् रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

जैन धर्म और कला—

बहुधा कहा जाता है कि जैन धर्म ने जीवन के विधानात्मक पक्ष को पुष्ट न कर निषेधात्मक वृत्तियों पर ही विशेष भार दिया है। किन्तु यह दोषारोपण यथार्थतः जैन धर्म की अपूर्ण जानकारी का परिणाम है। जैन धर्म मे अपनी अनेकान्त दृष्टि के अनुसार जीवन के समस्त पक्षों पर यथोचित ध्यान दिया गया है। अच्छे और बुरे के विवेक से रहित मानव व्यवहार के परिष्कार के लिये कुछ आदर्श स्थापित करना और उनके अनुसार जीवन की कुत्सित वृत्तियो का निषेध करना संयम की स्थापना के लिये सर्वप्रथम आवश्यक होता है। जैन धर्म ने आत्मा को परमात्मा बनाने का चरम आदर्श उपस्थित किया; उस ओर गतिशील होने के लिये अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतः उत्तरदायी बनाया और प्रेरित किया; तथा व्रत-नियम आदि धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक व आध्यात्मिक अहित करने वाली प्रवृत्तियों से उसे रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका विधान-पक्ष सर्वथा अपुष्ट रहा हो, सो बात नहीं। इस बात को स्पष्टतः समझने के लिये जैनधर्म ने मानव जीवन की जो व्याख्याएं व्यवस्थित की हैं, उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। मुनिधर्म के द्वारा एक ऐसे वर्ग की स्थापना का प्रयत्न किया गया है जो सर्वथा निःस्वार्थ, निःस्पृह और

निरीह होकर वीतराग भाव से अपने व दूसरो के कल्याण मे ही अपना समस्त समय व शक्ति लगावे। साथ ही गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओ द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य और शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्ब की, तथा समाज व देश की सेवा करता हुआ उन्हे उन्नत बना सके। दया, दान व परोपकार के श्रावकधर्म में यथोचित स्थान का निरूपण जैन-चारित्र के प्रकरण में किया जा चुका है। जैन परम्परा में कला की उपासना को जो स्थान दिया गया है, उससे उसका यह विधान पक्ष और भी स्पष्ट हो जाता है।

कला के भेद-प्रभेद—

प्राचीनतम जैन आगम में बालकों को उनके शिक्षण-काल मे शिल्पो और कलाओ की शिक्षा पर जोर दिया गया है, और इन्हें सिखाने वाले **कलाचार्यों** व **शिल्पाचार्यों** का अलग-अलग उल्लेख मिलता है। गृहस्थों के लिये जो षट्कर्म बतलाये गये हैं उनमे असि, मसि, कृषि, विद्या व वाणिज्य के अतिरिक्त शिल्प का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। जैन साहित्य मे स्थान-स्थान पर बहत्तर कलाओ का उल्लेख पाया जाता है। समवायाग सूत्र के अनुसार ७२ कलाओ के नाम ये है—१ लेख, २ गणित, ३ रूप, ४ नृत्य, ५ गीत, ६ वाद्य, ७ स्वरगत, ८ पुष्करगत, ९ समताल, १० द्यूत, ११ जनवाद, १२ पोक्खच्चं, १३ अष्टापद, १४ दगमट्टिय (उदकमृत्तिका), १५ अन्नविधि, १६ पानविधि, १७ वस्त्रविधि, १८ शयनविधि, १९ अज्जं (आर्या), २० प्रहेलिका, २१ मागधिका, २२ गाथा, २३ श्लोक, २४ गधयुक्ति, २५ मधुसिक्थ, २६ आभरणविधि, २७ तरुणी-प्रतिकर्म, २८ स्त्रीलक्षण, २९ पुरुषलक्षण, ३० हयलक्षण, ३१ गजलक्षण, ३२ गोण (वृषभ लक्षण), ३३ कुक्कुटलक्षण, ३४ मेढालक्षण, ३५ चक्रलक्षण, ३६ छत्रलक्षण, ३७ दडलक्षण, ३८ असिलक्षण, ३९ मणिलक्षण, ४० काकनिलक्षण, ४१ चर्मलक्षण, ४२ चंद्रलक्षण, ४३ सूर्यचरित, ४४ राहुचरित, ४५ ग्रहचरित, ४६ सौभाग्यकर, ४७ दुर्भाग्यकर, ४८ विद्यागत, ४९ मन्त्रगत, ५० रहस्यगत, ५१ सभास, ५२ चार, ५३ प्रतिचार, ५४ व्यूह, ५५ प्रतिव्यूह; ५६ स्कंधावारमान, ५७ नगरमान, ५८ वास्तुमान, ५९ स्कंधावारनिवेश, ६० वास्तु-निवेश, ६१ नगरनिवेश, ६२ ईसत्थं (इष्वस्त्रं) ६३ छरुप्पवायं (त्सरुप्रवाद), ६४ अश्वशिक्षा, ६५ हस्तिशिक्षा, ६६ धनुर्वेद, ६७ हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातु-पाक, ६८ बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, निर्युद्ध, जुद्धाइजुद्ध, ६९ सूत्रक्रीड़ा, नालिकाक्रीडा, वृत्तक्रीड़ा, धर्मक्रीड़ा, चर्मक्रीड़ा, ७० पत्रछेद्य, कटकछेद्य, ७१ सजीव-

निर्जीव, ७२ शकुनरुत ।

१. लेख का अर्थ है अक्षर-विन्यास । इस कला मे दो बातों का विचार किया गया है—लिपि और लेख का विषय । लिपि देशभेदानुसार १८ प्रकार की बतलाई गई है। उनके नाम ये है :—**१ ब्राह्मी, २ जवणालिया, ३ दोसाऊरिया, ४ खरोष्ठिका, ५ खरसाविया,** ६ **पहाराइया,** ७ **उच्चत्तरिया,** ८ **अक्खरपुट्टिया,** ९ **भोगवइया,** १० **बेणतिया,** ११ **निन्हइया,** ११ **अंकलिपि,** १२ **गणितलिपि,** १३ **गन्धर्वलिपि** १४ **भूतलिपि,** १५ **आदर्शलिपि,** १६ **माहेश्वरीलिपि,** १७ **दामिलिलिपि,** और (१८) **बोलिंदि** (पोलिंदि-आन्ध्र) लिपि । इन लिपि-नामो मे से ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो लिपियो के लेख प्रचुरता से मिले है । **खरोष्ठी** का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती के मौर्य सम्राट् अशोक के लेखो से लेकर दूसरी-तीसरी शती ई० तक के पंजाब व पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर चीनीतुर्किस्तान तक मिले है । **ब्राह्मी** लिपि की परम्परा देश मे आज तक प्रचलित है, व भारत की प्राय. समस्त प्रचलित लिपियाँ उसीसे विकसित हुई है । इसका सबसे प्राचीन लेख संभवतः बारली (अजमेर) से प्राप्त वह छोटा सा लेख है जिसमें वीर (महावीर) ८४, सम्भवत: निर्वाण से ८४ वां वर्ष, तथा मध्यमिक स्थान का उल्लेख है । अशोक के शिलालेखो मे इसका प्रचुरता से प्रयोग पाया जाता है, और तब से आज तक भिन्न-भिन्न काल व भिन्न-भिन्न प्रदेश के लेखो मे इसका अनुक्रम से प्रयोग व विकास मिलता है । ब्राह्मी लिपि के विषय मे जैन आगमों व पुराणो मे बतलाया गया है कि इसका आविष्कार आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने किया और उसे अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाया । इसी से इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा । समवायाग सूत्र मे ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरो (स्वरों व व्यजनो) का उल्लेख है । पाचवे जैनागम भगवती वियाहपण्णत्ति सूत्र के आदि मे अरहतादि पचपरमेष्ठी नमस्कार के साथ **'नमो बंभीए लिवीए । नमो सुयस्स'** इस प्रकार ब्राह्मी लिपि व श्रुत को नमस्कार किया गया है । अन्य उल्लिखित लिपियो के संबध मे विशेष जानकारी प्राप्त नही । सम्भव है **जवणालिया** से यवनानी या यूनानी लिपि का तात्पर्य हो । **अक्षरमुष्टिका** कथन को वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे ६४ कलाओ के भीतर गिनाया है, और उनके टीकाकार यशोधर ने अक्षरमुष्टिका के **साभासा** व **निराभासा** इन दो भेदो का उल्लेख कर कहा है कि साभासा का प्रकरण आचार्य रविगुप्त ने 'चन्द्रप्रभा विजय' काव्य में पृथक् कहा है । उनके उदाहरणों से प्रतीत होता है कि आदि अक्षर मात्र से पूरे शब्द का संकेत करना सामासा तथा अंगुलीआदि के संकेतो द्वारा शब्दकी अभिव्यक्त को निराभासा अक्षरमुष्टिका कहते थे । इनका समावेश सम्भवतः प्रस्तुत ७२ कलाओं में ५० और

५१ वी **रहस्यगत व सभास** नामक कलाओं में होता है। **अंकलिपि से १, २ आदि संख्या-वाचक** चिन्हों का, **गणितलिपि से जोड़** (+), बाकी (—), गुणा (×), भाग (÷) आदि चिन्हों का, तथा **गन्धर्वलिपि** से संगीत शास्त्र के स्वरों के चिन्हों का तात्पर्य प्रतीत होता है। **आदर्शलिपि** अनुमानतः उल्टे अक्षरो के लिखने से बनती है, जो दर्पण (आदर्श) में प्रतिबिम्बित होने पर सीधी पढ़ी जा सकती है। आश्चर्य नहीं जो **भूतलिपि** से भोट (तिब्बत) देश की, **माहेश्वरी** से महेश्वर (ओंकारमाधाता-मध्यप्रदेश) की, तथा **दामिलिलिपि** से द्रविड (दमिल-तामिल) देश की विशेष लिपियों से तात्पर्य हो। इसी प्रकार **भोगवइया** से अभिप्राय नागो की प्राचीन राजधानी भोगवती में प्रचलित किसी लिपि-विशेष से हो तो आश्चर्य नही।

१८ लिपियों की एक अन्य सूची विशेष आवश्यक सूत्र (गा० ४६४) की टीका में इस प्रकार दी है :—१ **हंसलिपि**, २ **भूतलिपि**, ३ **यक्षलिपि**, ४ **राक्षसलिपि** ५ **ओड** (उडिया) लिपि, ६ **यवनी**, ७ **तुरुक्की**, ८ **कीरी**, ९ **द्राविडी**, १० **सैंधवी**, ११ **मालविनी**, १२ **नडी**, १३ **नागरी**, १४ **लाटी**, १५ **पारसी**, १६ **अनिमित्ती**, १७ **चाणक्यी**, और (१८) **मूलदेवी**। यह नामावली समवायाग की लिपिसूची मे बहुत भिन्न है। इनमें समान तो केवल तीन है—भूतलिपि, यवनी और द्राविडी। शेष नामो मे अधिकाश स्पष्टतः भिन्न-भिन्न जाति व देशवाची है। प्रथम चार हस, भूत, यक्ष, और राक्षस, उन उन अनार्य जातियों की लिपिया व भाषाए प्रतीत होती हैं। उडिया से लेकर पारसी तक की ११ भाषाएं स्पष्टत देशवाची है। शेष तीन मे से चाणक्यी और मूलदेवी की परम्परा बहुत कालतक चलती आई है, और उनका स्वरूप कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने कौटिलीय या दुर्बोध, तथा मूलदेवीय इन नामो से बतलाया है। यशोधर ने एक तीसरी भी गूढलेख्य नामक लिपि का व्याख्यान किया है, जिसका स्वरूप स्पष्ट समझ में नही आता। सम्भवतः वह कोई अंकलिपि थी। आश्चर्य नहीं जो अनिमित्ती से उसी लिपि का तात्पर्य हो। यशोधर के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में क्ष अक्षर जोड़ने तथा ह्रस्व और दीर्घ व अनुस्वार और विसर्ग की अदला-बदली कर देने से **कौटिलीय** लिपि बन जाती है, एवं अ और क, ख और ग, घ और ङ, चवर्ग और टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा य और श, इनका परस्पर व्यत्यय कर देने से **मूलदेवी** बन जाती है। मूलदेव प्राचीन जैन कथाओं के बहुत प्रसिद्ध चतुर व धूर्त नायक पाये जाते हैं। (देखो मूलदेव कथा उ० सू० टीका)।

लेख के आधार पत्र, वल्कल, काष्ठ, दंत, लौह, ताम्र, रजत आदि बतलाये गये हैं, और उनपर लिखने की क्रिया उत्कीर्णन (अक्षर खोदकर), स्यूत (सीकर), व्यूत

(बुनकर), छिन्न (छेदकर), भिन्न (भेदकर), दग्ध (जलाकर), और संक्रान्तित (ठप्पा लेकर) इन पद्धतियों से की जाती थीं। लिपि के अनेक दोष भी बतलाये गये हैं। जैसे, अतिकृश, अतिस्थूल, विषम, टेढी पंक्ति, और भिन्न वर्णों को एक जैसा लिखना (जैसे घ और ध, भ और म, म और य, आदि); व पदच्छेद न करना, आदि। विषय के अनुसार भी लेखो का विभाजन किया गया था। तथा स्वामि-भृत्य, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी शत्रु-मित्र, इत्यादि को पत्र लिखने की भिन्न-भिन्न शैलियां स्थिर की गई थी।

जैन समाज मे लेखन प्रणाली का प्रयोग बहुत प्राचीन पाया जाता है। तथापि डेढ-दो हजार वर्ष से पूर्व के लिखित ग्रन्थो के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त न होने का एक बडा कारण यह हुआ कि विद्याप्रचार का कार्य प्राचीन काल मे मुनियों द्वारा विशेष रूप से होता था, और जैन मुनि सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण अपने साथ ग्रन्थ न रखकर स्मृति के सहारे ही चलते थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को उनके साक्षात् गणधरो ने तत्काल ग्रन्थ-रचना का रूप दे दिया था। किन्तु मौर्यकाल मे उनके एक अंश का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था, और पाटलिपुत्र की वाचना में बारहवे अग दृष्टिवाद का संकलन नही किया जा सका, क्योकि उसके एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु उस मुनिसंघ मे सम्मिलित नही हो सके। वीरनिर्वाण की दसवी शती में आकर पुन. आगमो की अस्त-व्यस्त अवस्था हो गई थी। अतएव मथुरा मे स्कंदिल आचार्य और उसके कुछ पश्चात् वलभी मे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में आगमो की वाचनाएं की गई। पाटलिपुत्रीय व माथुरीय वाचनाओ के ग्रन्थ तो अब नही मिलते, किन्तु वलभी वाचना द्वारा सकलित आगमों की प्रतियां तब से निरन्तर ताडपत्र और तत्पश्चात् कागजो पर उत्तरोत्तर सुन्दर कलापूर्ण रीति से लिखित मिलती हैं, और वे जैन लिपिकला के इतिहास के लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त तीनों वाचनाओ का नाम ही यह सूचित करता है कि उनमें ग्रन्थ बांचे या पढे गये थे। इससे लिखित ग्रन्थों की परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रीय टीका मे पाच प्रकार की पुस्तको का वर्णन मिलता है-गंडी, कच्छपी, मुष्टि, संपुष्ट-फलक और छेदपाटी। लंबाई-चौड़ाई मे समान अर्थात् चौकोर पुस्तक को गंडी, जो पुस्तक बीच में चौड़ी व दोनों बाजुओं मे संकरी हो वह कच्छपी, जो केवल चार अंगुल की गोलाकार व चौकोर होने से मुट्ठी में रखी जा सके वह मुष्टि, लकड़ी के पट्टे पर लिखी हुई पुस्तक संपुट-फलक, तथा छोटे छोटे पत्रों वाली मोटी या लम्बे किन्तु संकरे ताड़पत्र जैसे पत्रों वाली पुस्तक छेदपाटी कही गई है।

(२) **गणित** शास्त्र का विकास जैन परम्परा में करणानुयोग के अन्तर्गत खूब हुआ है। जहां इन ७२ कलाओं का संक्षेप से उल्लेख है, वहा प्रायः उन्हें लेखादिक व गणित-प्रधान कहकर सूचित किया गया है। इससे गणित की महत्ता सिद्ध होती है। (३) **रूपगत** से तात्पर्य मूर्तिकला व चित्रकला से है, जिनका निरूपण आगे किया जायगा। (४-९) **नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत** और **समताल** का विषय संगीत है। इन कलाओ के सबध में जैन शास्त्रो व पुराणो मे बहुत कुछ वर्णन किया गया है, और उन्हे बालक-बालिकाओ की शिक्षा का आवश्यक अग बतलाया गया है। कथा-कहानियो में प्राय वीणावाद्य मे प्रवीणता के आधार पर ही युवक-युवतियो के विवाह-सबध के उल्लेख मिलते है। (१०-१३) **द्यूत, जनवाद, पोक्खच्चं** व **अष्टापद** ये द्यूतक्रीडा के प्रकार है। (१४) **दगमट्टिया-उदकमृत्तिका** पानी से मिट्टी को सानकर घर, मूर्ति आदि के आकार क्रीडा, सजावट व निर्माण हेतु बनाने की कला है। (१५-१६) **अन्नविधि** व **पानविधि** भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय पदार्थ बनाने की कलाए हैं। (१७) **वस्त्रविधि** नाना प्रकार के वस्त्र बुनने व सीने की एवं (१८) **शयनविधि** अनेक प्रकार के खाट-पलग बुनने व शैया की साज-सजावट करने की कला है। (१९-२३) **आर्या, प्रहेलिका, मागधिका** व **गाथा** और **श्लोक** इन्ही नामो के छदो व काव्य-रीतियो मे रचना करने की कलाए है। (२४) **गंधयुक्ति** नाना प्रकार के सुगधी द्रव्यो के रासायनिक सयोगो से नये-नये सुगंधी द्रव्य निर्माण करने की कला है। (२५) **मधुसिक्थ** अलक्तक, लाक्षारस या माहुर (महावर) को कहते हैं। इस द्रव्य से पैर रगने की कला का नाम ही मधुसिक्थ है। (२६-२७) **आभरणविधि** व **तरुणी प्रतिकर्म** भूषण व अलंकार धारण करने व स्त्रियो की साज-सज्जा की कलाए हैं।

त्रि प्र० (४, ३६१-६४) में पुरुष के १६ व स्त्री के १४ आभरणों की विकल्प रूप मे दो सूचिया पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं :-

प्रथम सूची :

१ कुंडल, २ अगद, ३ हार, ४ मुकुट, ५ केयूर, ६ भालपट्ट, ७ कटक, ८ प्रालम्ब, ९ सूत्र, १० नूपुर, ११ मुद्रिका-युगल, १२ मेखला, १३ ग्रैवेयक (कंठा), १४ कर्णपूर, १५ खड्ग, और १६ छुरी।

दूसरी वैकल्पिक सूची में १३ आभरणों के नाम समान हैं, किन्तु केयूर, भाल-पट्ट, कर्णपूर, ये तीन नाम नही हैं, तथा किरीट, अर्द्धहार व चूडामणि, ये तीन नाम नये हैं। संभव है केयूर और अंगद ये आभूषण एक ही या एक समान ही रहे हों,

और उसी प्रकार भालपट्ट व चूड़ामणि भी। अर्द्धहार का समावेश हारो में ही किया जा सकता है। किरीट एक प्रकार का मुकुट ही है। इस प्रकार दूसरी सूची में कोई नया आभरण-विशेष नही रहता किन्तु प्रथम सूची के कर्णपूर नामक आभरण का समावेश नही पाया जाता। उक्त १६ अलंकारों में खड्ग और छुरी को छोड़कर शेष १४ स्त्रियो के आभूषण माने गये हैं। भूषण, आभरण व अलंकारो की एक विशाल सूची हमे अंगविज्जा (पृ० ३५५-५७) मे मिलती है, जिसमे ३५० नाम पाये जाते है। यह सूची केवल आभरणों की ही नही है, किन्तु उसमे एक तो धातुओ की अपेक्षा भी अलग अलग नाम गिनाये गये है, जैसे सुवर्णमय, रूप्यमय, ताम्रमय आदि, अथवा शखमय, दतमय, बालमय, काष्ठमय, पुष्पमय, पत्रमय आदि। दूसरे उसमे भिन्न-भिन्न अगो की अपेक्षा आभरण-नामो की पुनरावृत्ति हुई है, जैसे शिराभरण, कर्णाभरण, अगुल्याभरण, कटिआभरण, चरणाभरण आदि। और तीसरे उसमें अजन, चूर्ण, अलक्तक, गधवर्ण आदि तथा नाना प्रकार के सुगधी चूर्ण व तैल, परिधान, उत्तरासग आदि वस्त्रो, व छत्र पताकादि शोभा-सामग्री का भी संग्रह किया गया है। तथापि शुद्ध अलकारो की सख्या कोई १०० से अधिक ही पाई जाती है। इस ग्रन्थ मे नाना प्रकार के पात्रो, भोज्य व पेय पदार्थो, वस्त्रो व आच्छादनो एवं शयनासनो की सुविस्तृत सूचिया अलग-अलग भी पाई जाती है, जिनसे उपर्युक्त नाना कलाओ और विशेषत अन्नविधि (१५), पानविधि (१६), वस्त्रविधि (१७), शयनविधि (१८), गधयुक्ति (२४), मधुसिक्थ (२५), आभरणविधि (२६), तरुणीप्रतिकर्म (२७), पत्रछेद्य तथा कटकछेद्य (७०) इन कलाओ के स्वरूप व उपयोग पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

स्त्री-लक्षण से चर्म-लक्षण (२८-४१) तक की कलाए उन-उन स्त्री, मनुष्यों, पशुओ व वस्तुओ के लक्षणो को जानने व गुण-दोष पहचानने की कलाए हैं। स्त्री पुरुषो के लक्षण सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी नाना ग्रन्थो तथा हाथी, घोडो व बैलों के लक्षण भिन्न-भिन्न तत्तद्विषयक जीवशास्त्रों मे विस्तार से वर्णित पाये जाते हैं। चंद्रलक्षण से ग्रहचरित (४२-४५) तक की कलाएं ज्योतिषशास्त्र विषयक हैं और उनमे उन-उन ज्योतिष मडलो के ज्ञान की साधना की जाती थी। सौभाग्यकर से मत्रगत (४६-४९) तक की कलाए मत्र-तन्त्र विद्याओं से संबंध रखती हैं, जिनके द्वारा अपना व अपने इष्टजनो का इष्टसाधन व शत्रु का अनिष्टसाधन किया जा सकता है। रहस्यगत और सभास (५०-५१) के विषय मे ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे संभवतः वात्स्यायनोक्त अक्षरमुष्टिका के प्रकार हैं। चार, प्रतिचार व्यूह व प्रतिव्यूह

(५२–५५) ये युद्ध संबंधी विद्याए प्रतीत होती है, जिनके द्वारा क्रमशः सेना के आगे बढ़ाने, शत्रुसेना की चाल को विफल करने के लिये सेना का संचार करने, चक्रव्यूह आदि रूप से सेना का विन्यास करने व शत्रु की व्यूह-रचना को तोड़ने योग्य सेना विन्यास किया जाता था। स्कधावार-मान से नगरनिवेश (५६–६१) तक की कलाओ का विषय शिविर आदि को बसाने व उसके योग्य भूमि, गृह आदि का मान-प्रमाण निश्चित करना है। ईसत्थ (इषु-अस्त्र) अर्थात् बाणविद्या (६२) और छरुप्पवाय (त्सरुप्रवाद) (६३) छुरी, कटार, खड्ग आदि चलाने की विद्याए हैं। अश्वशिक्षा आदि से यष्टि-युद्ध (६४–६८) तक की कलाएं उनके नाम से ही स्पष्ट हैं। युद्ध निर्युद्ध एव जुद्धाइजुद्ध (६८) ये भी नाना प्रकार से युद्ध करने की कलाए है। सूत्र-क्रीडा डोरी को अगुलियो द्वारा नाना प्रकार से रचकर चमत्कार दिखाना व धागे के द्वारा पुतलियो को नचाने की कला है। नालिका क्रीडा एक प्रकार की द्युतक्रीडा है। वृत्तक्रीडा, धर्मक्रीडा व चर्मक्रीडा, ये क्रमश. मडल बाधकर, वायु फूककर जिससे श्वास न टूटे व चर्म के आश्रय से क्रीडा (खेलने) के प्रकार है (६९)। पत्रछेद्य व कटक छेद्य (७०) क्रमश पत्तो व तृणो को नाना प्रकार से काट-छाटकर सुन्दर आकार की वस्तुए बनाने की कला है। सजीव-निर्जीव (७१) वही कला प्रतीत होती है जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने यंत्रमात्रिका नाम से किया है, व जिसके सबंध मे टीकाकार यशोधर ने कहा है कि वह गमनागमन व सग्राम के लिये सजीव व निर्जीव यत्रो की रचना की कला है जिसका स्वय विश्वकर्मा ने स्वरूप बतलाया है। शकुनिरुत (७२) पक्षियो की बोली को पहचानने की कला है।

बहत्तर कलाओ की एक सूची औपपातिक सूत्र (१०७) में भी पाई जाती है। वह समवायान्तर्गत सूची से मिलती है; केवल कुछ नामो मे हेर-फेर पाया जाता है। उसमे उपर्युक्त नामावली मे से मधुसिक्थ (२५) मेढालक्षण, दंडलक्षण, चन्द्रलक्षण से लगाकर सभास पर्यन्त (४२–५१) दंडयुद्ध, यष्टियुद्ध, और धर्मक्रीडा ये नाम नहीं हैं, तथा पाशक (पासा से जुआ खेलना), गीतिका (गेय छंद रचना), हिरण्ययुक्ति सुवर्णयुक्ति, चूर्णयुक्ति (चादी, सोना व मोतियों आदि रत्नो से मिला-जुलाकर भिन्न-भिन्न आभूषण बनाना), गरुडव्यूह, शकटव्यूह, लतायुद्ध एवं मुक्ताक्रीड़ा, ये नाम नवीन हैं। औपपातिक सूत्र में गिनाई गई कलाएं यद्यपि ७२ कही गई हैं, तथापि पृथक् रूप से गिनने से उनकी कुल सख्या ८० होती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न जैन पुराणों व काव्यों में जहा भी शिक्षण का प्रसंग आया है, वहां प्राय: कलाएं भी गिनाई गई हैं जिनके नामों व संख्या में भेद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, दसवी शताब्दी में पुष्पदंत

कृत अपभ्रंश काव्य नागकुमार-चरित (३, १) में कथानायक की एक नाग द्वारा शिक्षा के प्रसंग में कहा गया है कि उसने उन्हें सिद्धों को नमस्कार कहकर निम्न कलाएं सिखाई:—(१) अठारह लिपियां, (२) कालाक्षर, (३) गणित, (४) गांधर्व, (५) व्याकरण, (६) छंद, (७) अलकार, (८) निघंट, (९) ज्योतिष (ग्रहगमन-प्रवृत्तियां), (१०) काव्य, (११) नाटकशास्त्र, (१२) प्रहरण, (१३) पटह, (१४) शंख, (१५) तंत्री, (१६) ताल आदि वाद्य, (१७) पत्रछेद्य, (१८) पुष्पछेद्य, (१९) फल छेद्य, (२०) अश्वारोहण, (२१) गजारोहण, (२२) चन्द्रबल, (२३) स्वरोदय, (२४) सप्तभौमप्रासाद-प्रमाण, (२५) तंत्र, (२६) मत्र, (२७) वशीकरण, (२८) व्यूह-विरचन, (२९) प्रहारहरण, (३०) नानाशिल्प, (३१) चित्रलेखन, (३२) चित्राभास, (३३) इन्द्रजाल, (३४) स्तम्भन, (३५) मोहन, (३६) विद्या-साधन, (३७) जनसंक्षोभन, (३८) नर-नारीलक्षण, (३९) भूषण-विधि, (४०) कामविधि, (४१) सेवाविधि, (४२) गंधयुक्ति, (४३) मणियुक्ति, (४४) औषध-युक्ति और (४५) नरेश्वर-वृत्ति (राजनीति)।

उपर्युक्त समवायाग की कला-सूची मे कही कही एक संख्या के भीतर अनेक कलाओ के नाम पाये जाते है, जिनको यदि पृथक् रूप से गिना जाय तो कुल कलाओं की संख्या ८६ हो जाती है। महायान बौद्ध परम्परा के ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में गिनाई गई कलाओं की संख्या भी ८६ पाई जाती है, यद्यपि वहा अनेक कलाओं के नाम प्रस्तुत सूची से भिन्न हैं, जैसे अक्षुण्ण-वेधित्व, मर्मवेधित्व शब्दवेधित्व, वैषिक आदि।

कलाओ की अन्य सूची वात्स्यायन कृत कामसूत्र में मिलती है। यही कुछ हेर-फेर के साथ भागवत पुराण की टीकाओ मे भी पाई जाती है। इसमें कलाओं की संख्या ६४ है, और उनमे प्रस्तुत कलासूची से अनेक भिन्नताएं पाई जाती है। ऐसी कुछ कलाएं हैं—विशेषक छेद्य (ललाट पर चन्दन आदि लगाने की कला), तंडुल कुसुम बलिविकार (पूजानिमित्त तडुलो व फूलो की नाना प्रकार से सुन्दर रचना), चित्रयोग (नाना प्रकार के आश्चर्य), हस्तलाघव (हाथ की सफाई), तक्ष कर्म (काट-छांटकर यथेष्ट वस्तु बनाना), उत्सादन, संवाहन, केशमर्दन, पुष्पशकटिका आदि। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने अपनी एक स्वतन्त्र सूची दी है, और उन्हे शास्त्रान्तरों से प्राप्त ६४ मूल कलाएं कहा है; और यह भी कहा है कि इन्ही ६४ मूल कलाओं के भेदोपभेद ५१८ होते हैं। उन्होंने उक्त मूलकलाओं का वर्गीकरण भी किया है, जिसके अनुसार गीत आदि २४ कर्माश्रय; आयुप्राप्ति आदि १५ निर्जीव, द्यूताश्रय; उपस्थान

विधि आदि ५ सजीव आश्रय, पुष्प भावग्रहण आदि १६ शयनोपचारिक; तथा साश्रु-पात, पातसाधन आदि चार उत्तर कलाएं कही गयी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक पुराणों व काव्य ग्रन्थो मे भी कलाओ के नाम मिलते है, जो सख्या व नामो मे भी भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं; जैसे कादम्बरी में ४८कलाए गिनाई गई है, जिनमे प्रमाण, धर्मशास्त्र, पुस्तक-व्यापार, आयुर्वेद, सुरुगोपभेद आदि विशेष है।

वास्तु कला

जैन निर्मितियो के आदर्श—

उपर्युक्त कलासूची मे वास्तुकला का भी नाम तथा स्कन्धावार, नगर और वास्तु इनके मान व निवेश का पृथक् पृथक् निर्देश भी पाया जाता है। वास्तु-निवेश व मानोन्मान संबंधी अपनी परम्पराओ मे जैनकला जैनधर्म की त्रैलोक्य संबंधी मान्यताओ से प्रभावित हुई पाई जाती है। अतएव यहा उसका सामान्यरूप से स्वरूप समझ लेना आवश्ययक है। जैन साहित्य के करणानुयोग प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि अनन्त आकाश के मध्य मे स्थित लोकाकाश ऊचाई मे चौदह राजू प्रमाण है, और उसका सात राजू प्रमाण ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहा जाता है, जिसमे १६ स्वर्ग आदि स्थित है। सात राजू प्रमाण नीचेका भाग अधोलोक कहलाता है, और उसमे सात नरक स्थित हैं। इनके मध्य मे झल्लरी के आकार का मध्यलोक है, जिसमें गोलाकार व वलयाकार जंबू द्वीप, लवणसमुद्र आदि उत्तरोत्तर दुगुने प्रमाण वाले असख्य द्वीप-समुद्र स्थित है। इनका विस्तार से वर्णन हमे यतिवृषभ कृत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति मे मिलता है। इनमें वास्तु-मान व विन्यास सबधी जो प्रकरण उपयोगी है उनका सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

तिलोय पण्णत्ति के तृतीय अधिकार की गाथा २२ से ६२ तक असुरकुमार आदि भवनवासी देवों के भवनो, वेदिकाओ, कूटो, जिन मन्दिरो व प्रासादो का वर्णन है। भवनो का आकार समचतुष्कोण होता है। प्रत्येक भवन की चारो दिशाओ में चार वेदिका होती हैं, जिनके बाह्य भाग मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, इन वृक्षों के उपवन रहते है। इन उपवनो में चैत्यवृक्ष स्थित है, जिनकी चारो दिशाओ में तोरण, आठ महामंगल द्रव्य और मानस्तम्भ सहित जिन-प्रतिमाएं विराजमान हैं। वेदियो के मध्य मे वेत्रासन के आकार वाले महाकूट होते हैं, और प्रत्येक कूट के ऊपर भी एक-एक जिनमन्दिर स्थित होता है। प्रत्येक जिनालय क्रमशः तीन कोटों से घिरा हुआ होता है, और प्रत्येक कोट में चार-चार गोपुर होते हैं। इन कोटो के बीच

की वीथियों में एक-एक मानस्तम्भ, व नौ-नौ स्तूप, तथा वन एवं ध्वजाएं और चैत्य स्थित हैं। जिनालयों के चारों ओर के उपवनों में तीन-तीन मेखलाओं से युक्त वापिकाएं हैं। ध्वजाए दो प्रकार की हैं, महाध्वजा और क्षुद्रध्वजा। महाध्वजाओं में सिंह गज, वृषभ, गरुड, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म व चक्र के चिन्ह अंकित हैं। जिनालयों में वन्दन, अभिषेक, नृत्य, संगीत और आलोक, इनके लिये अलग-अलग मंडप हैं, व क्रीडागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) तथा पट्टशालाएं (चित्रशाला) भी है। मन्दिरो मे जिनेन्द्र की मूर्तियो के अतिरिक्त देवच्छद के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी, तथा यक्षों की मूर्तिया एवं अष्टमंगल द्रव्य भी स्थापित होते हैं। ये आठ मंगल द्रव्य हैं— झारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चमर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ। जिनप्रतिमाओं के आसपास नागो व यक्षो के युगल अपने हाथो में चमर लिये हुए स्थित रहते है। असुरो के भवन सात, आठ, नौ, दस आदि भूमियो (मंजिलों) से युक्त होते है, जिनमें जन्म, अभषेक, शयन, परिचर्या और मन्त्रणा, इनके लिये अलग-अलग शालाएं होती है। उनमे सामान्य गृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह व लतागृह आदि विशेष गृह होते है, तथा तोरण, प्राकार, पुष्करणी, वापी और कूप, मत्तवारण (ओटे) और गवाक्ष ध्वजा-पताकाओ व नाना प्रकार की पुतलियों से सुसज्जित होते हैं।

मेरु की रचना—

जिनेन्द्र मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय उनका पंच-कल्याण महोत्सव मनाया जाता है, जिनका सबन्ध तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, और निर्वाण, इन पांच महत्वपूर्ण घटनाओ से है। जन्म महोत्सव के लिये मन्दर मेरु की रचना की जाती है, क्योंकि तीर्थंकर का जन्म होने पर उसी महान् पर्वत पर स्थित पांडुक शिलापर इन्द्र उनका अभिषेक करते हैं। मन्दर मेरु का वर्णन त्रिलोक-प्रज्ञप्ति (४,१७८०) आदि में पाया जाता है। मन्दर मेरु जंबूद्वीप के व महाविदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यह महापर्वत गोलाकार है उसकी कुल ऊंचाई एक लाख योजन, व मूल आयाम १००६० योजन से कुछ अधिक है। इसका १००० योजन निचला भाग नींव के रूप में पृथ्वीतल के भीतर व शेष पृथ्वीतल से ऊपर आकाशतल की ओर है। उसका विस्तार ऊपर की ओर उत्तरोत्तर कम होता गया है, जिससे वह पृथ्वीतल पर १०००० योजन तथा शिखरभूमि पर १००० योजन मात्र विस्तार युक्त है। पृथ्वी से ५०० योजन ऊपर ५०० योजन का संकोच हो गया है, तत्पश्चात् वह ११०००

योजन तक समान विस्तार से ऊपर उठकर व वहां से क्रमशः सिकुड़ता हुआ ५१५०० योजन पर सब ओर से पुनः ५०० योजन संकीर्ण हो गया है । तत्पश्चात् ११००० योजन तक समान विस्तार रखकर पुनः क्रम-हानि से २५००० योजन ऊपर जाकर वह ४९४ योजन प्रमाण सिकुड़ गया है। (१०००+५००+११०००+५१५०० +११०००+२५०००=१००००० योजन। १००० योजन विस्तार वाले शिखर के मध्य भाग मे बारह योजन विस्तार वाली चालीस योजन ऊंची चूलिका है, जो क्रमश सिकुड़ती हुई ऊपर चार योजन प्रमाण रह गई है। मेरु के शिखर पर व चूलिका के तलभाग मे उसे चारो ओर से घेरने वाला **पांडु नामक वन** है, जिसके भीतर चारों ओर मार्गों, अट्टालिकाओ, गोपुरो व ध्वजापताकाओ से रमणीक तटवेदी है । उस वेदी के मध्यभाग मे पर्वत की चूलिका को चारो ओर से घेरे हुए पाडु वन-खड की उत्तरदिशा मे अर्द्धचन्द्रमा के आकार की **पाडुक शिला** है, जो पूर्व-पश्चिम १०० योजन लम्बी व उत्तर-दक्षिण ५० योजन चौडी एव ८ योजन ऊची है । इस पाडुशिला के मध्य मे एक सिहासन है, जिसके दोनो ओर दो **भद्रासन** विद्यमान है । अभिषेक के समय जिनेन्द्र भगवान् को मध्य सिंहासन पर विराजमान कर सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठपर तथा ईशानेन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित हो अभिषेक करते हैं ।

नदीश्वर द्वीप की रचना—

मध्यलोक का जो मध्यवर्ती एक लाख योजन विस्तार वाला जबूद्वीप है, उसको क्रमशः वेष्टित किये हुए उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तार वाले लवणसमुद्र व धातकी-खडद्वीप, कालोदसमुद्र व पुष्करवरद्वीप, पुष्करवर समुद्र व वारुणीवर द्वीप, एवं वारुणी-वर समुद्र, तथा उसी प्रकार एक ही नामवाले क्षीरवर, घृतवर व क्षौद्रवर नामक द्वीप-समुद्र हैं । तत्पश्चात् जम्बूद्वीप से आठवा द्वीप **नंदीश्वर** नामक है, जिसका जैन-धर्म मे व जैन वास्तु एव मूर्तिकला की परम्परा मे विशेष माहात्म्य पाया जाता हैं । इस वलयाकार द्वीप की पूर्वादि चारो दिशाओ मे वलयसीमाओ के मध्यभाग में स्थित चार **अंजनगिरि** नामक पर्वत है । प्रत्येक अंजनगिरि की चारो दिशाओ में एक-एक चौकोण द्रह (वापिका) है, जिनके नाम क्रमशः नंदा, नंदवती, नदोत्तरा व नंदीघोषा हैं । इनके चारो ओर अशोक, सप्तच्छद, चम्पक व आम्र, इन वृक्षों के चार-चार वन हैं । चारो वापियो के मध्य मे एक-एक पर्वत है जो दधि के समान श्वेतवर्ण होने के कारण **दधिमुख** कहलाता है । वह गोलाकार है, व उसके ऊपरी भाग मे तटवेदियां और वन हैं । नंदादि चारो वापियो के दोनो बाहरी कोनो पर एक-एक सुवर्णमय

गोलाकार रतिकर नामक पर्वत है। इस प्रकार एक-एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख व आठ रतिकर, इस प्रकार कुल मिलाकर तेरह पर्वत हुए। इसी प्रकार के १३-१३ पर्वत चारों दिशाओं मे होने से कुल पर्वतो की संख्या ५२ हो जाती है। इनपर एक-एक जिनमंदिर स्थापित है, और ये ही नंदीश्वर द्वीप के ५२ मंदिर या चैत्यालय प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार पूर्व दिशा की चार वापियों के पूर्वोक्त नंदादिक चार नाम हैं, उसी प्रकार दक्षिण दिशा की चार वापिकाओं के नाम अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका, पश्चिम दिशा के विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता; तथा उत्तर दिशा के रम्या, रमणीया, सुप्रभा व सर्वतोभद्रा ये नाम हैं। प्रत्येक वापिका के चारो ओर जो अशोकादि वृक्षो के चार-चार वन हैं, उनकी चारो दिशाओं की संख्या ६४ होती है। इन वनो मे प्रत्येक के बीच एक-एक प्रासाद स्थित है, जो आकार में चौकोर तथा ऊचाई मे लंबाई से दुगुना कहा गया है। इन प्रासादो मे व्यन्तर देव अपने परिवार सहित रहते हैं। (त्रि० प्र० ५, ५२-८२)। वर्तमान जैन मंदिरो में कहीं-कहीं नदीश्वर पर्वत के ५२ जिनालयों की रचना मूर्तिमान् अथवा चित्रित की हुई पाई जाती है। हाल ही मे सम्मेदशिखर (पारसनाथ) की पहाड़ी के समीप पूर्वोक्त प्रकार से ५२ जिन मदिरो युक्त नन्दीश्वर की रचना की गई है।

समवसरण रचना—

तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उनके समवसरण अर्थात् सभाभवन की रचना करता है, जहा तीर्थंकर का धर्मोपदेश होता है। समवसरण की रचना का बडे विस्तार से वर्णन मिलता है, और उसी के आधार से जैन वास्तुकला के नाना रूप प्रभावित हुए पाये जाते हैं। त्रि० प्र० (४, ७११-९४२) में समवसरण सबधी सामान्य भूमि, सोपान, वीथि, धूलिशाल, चैत्य प्रासाद, नृत्यशाला, मानस्तंभ, स्तूप, मडप, गधकुटी आदि के विन्यास, प्रमाण, आकार आदि का बहुत कुछ वर्णन पाया जाता है। वही वर्णन जिनसेन कृत आदिपुराण (पर्व २३) में भी आया है। समवसरण की रचना लगभग बारह योजन आयाम मे सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार होती है। उसका पीठ इतना ऊंचा होता है कि वहा तक पहुंचने के लिये समवसरण भूमि की चारो दिशाओ मे एक-एक हाथ ऊची २००० सीढ़िया होती हैं। वहां से आगे वीथियां होती हैं, जिनके दोनों ओर वेदिकाएं बनी रहती हैं। तत्पश्चात् बाहिरी धूलिशाल नामक कोट बना रहता है, जिसकी पूर्वादिक चारों दिशाओं मे विजय, वैजयंत, जयन्त और अपराजित नामक गोपुरद्वार होते हैं। ये गोपुर तीन भूमियों वाले व अट्टा-

लिकाओं से रमणीक होते हैं, और उनके बाह्य, मध्य व आभ्यन्तर पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य, निधि, व धूपघटो से युक्त बड़ी-बडी पुतलिया बनी रहती हैं। अष्ट मंगलद्रव्य भवनों के प्रकरण में (पृ० २९२) गिनाये जा चुके हैं। नव निधियों के नाम हैं-काल, महा-काल, पांडु, माणवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, और नाना रत्न, जो क्रमशः ऋतुओं के अनुकूल माल्यादिक नाना द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभ-रण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती हैं। गोपुरो के बाह्य भाग मे मकर-तोरण तथा आभ्यन्तर भाग मे रत्न-तोरणों की रचना होती है, और मध्य के दोनो पार्श्वों में एक-एक नाट्यशाला। इन गोपुरो का द्वारपाल ज्योतिष्क देव होता है, जो अपने हाथ मे रत्नदंड धारण किये रहता है। कोट के भीतर जाने पर एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पाच-पाच चैत्य-प्रासाद मिलते हैं, जो उपवन और वापिकाओं से शोभाय-मान हैं, तथा वीथियो के दोनो पार्श्वभागो मे दो-दो नाट्यशालाएं शरीराकृति से १२ गुनी ऊची होती है। एक-एक नाट्यशाला मे ३२ रंगभूमियां ऐसी होती है जिनमे प्रत्येक पर ३२ भवनवासी कन्याएं अभिनय व नृत्य कर सकें।

मानस्तभ—

वीथियो के बीचोबीच एक-एक मानस्तंभ स्थापित होता है। यह आकार मे गोल, और चार गोपुरद्वारो तथा ध्वजापताकाओ से युक्त एक कोट से घिरा होता है। इसके चारो ओर सुन्दर वनखंड होते है, जिनमे पूर्वादिक दिशाक्रम से सोम, यम, वरुण और कुवेर, इन लोकपालो के रमणीक क्रीड़ानगर होते हैं। मानस्तभ क्रमशः छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठो पर स्थापित होता है। मानस्तभ की ऊंचाई तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी वतलाई गई है। मानस्तभ तीन खडो मे विभाजित होता है। इसका मूल भाग वज्रद्वारो से युक्त, मध्यम भाग स्फटिक मणिमय वृत्ताकार, तथा उपरिम भाग वैडूर्य मणिमय होता है, और उसके चारो ओर चवर, घंटा, किंकिणी, रत्नहार व ध्वजाओ की शोभा होती है। मानस्तभ के शिखर पर चारो दिशाओ में आठ-आठ प्रातिहार्यो से युक्त एक-एक जिनेन्द्र-प्रतिमा विराजमान होती है। प्रातिहार्यों के नाम हैं—अशोकवृक्ष, दिव्य पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, भामंडल, दुन्दुभि और आतपत्र। प्रत्येक मानस्तंभ की पूर्वादिक चारों दिशाओ मे एक-एक वापिका होती है। पूर्वादि दिशावर्ती मानस्तभ की वापिकाओ के नाम हैं—नंदोत्तरा, नंदा, नंदीमती और नंदीघोषा। दक्षिण मानस्तभ की वापिकाएं है—विजया, वैजयन्ता, जयन्ता और अपराजिता। पश्चिम मानस्तभ सबधी वापिकाएं हैं-अशोका, सुप्रतिबुद्धा, कुमुदा, और

पुंडरीका; तथा उत्तर मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं-हृदयानंदा, महानंदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा। ये वापिकाएं चौकोर वेदिकाओं व तोरणों से युक्त तथा जल-क्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों व सोपानों से युक्त होती हैं। मानस्तंभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शकों का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमें धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरण की आगे की वन भूमियों मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार चैत्यवृक्ष होते है, जिनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारो दिशाओ मे आठ प्रातिहार्यों से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाएं होती हैं। वनभूमि मे देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागों मे प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ स्तूप होते हैं। ये स्तूप तीर्थंकरो और सिद्धो की प्रतिमाओ से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एवं आठ मंगल द्रव्यों व ध्वजाओं से शोभित होते हैं। इन स्तूपों की ऊंचाई भी चैत्यवृक्षों के समान तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी होती है।

श्रीमडप—

समवसरण के ठीक मध्य में गंधकुटी और उसके आसपास गोलाकार बारह श्रीमंडप अर्थात् कोठे होते है। ये श्रीमडप प्रत्येक दिशा में वीथीपथ को छोडकर ४-४ भित्तियो के अन्तराल से तीन तीन होते हैं, और उनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमशः पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरो, (२) कल्पवासिनी देवियो, (३) आर्यिका व श्राविकाओं, (४) ज्योतिषी देवियो, (५) व्यतर देवियो, (६) भवनवासिनी देवियो, (७) भवनवासी देवो, (८) व्यंतर देवो, (९) ज्योतिषी देवो, (१०) कल्पवासी देवो व इन्द्रो, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यो व (१२) हाथी, सिंहादि समस्त तिर्यंच जीवों के बैठने के लिये नियत होते हैं।

गंधकुटी—

श्रीमंडप के बीचोबीच तीन पीठिकाओं के ऊपर गंधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है। अंतिम तीर्थंकर महावीर की गंधकुटी की ऊंचाई ७५

धनुष अर्थात् लगभग ५०० फुट बतलाई गई है। गंधकुटी के मध्य मे उत्तम सिंहासन होता है, जिसपर विराजमान होकर तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं।

नगर विन्यास—

जैनागमो मे देश के अनेक महान् नगरो, जैसे चपा, राजगृह, श्रावस्ती, कोशाबी, मिथिला आदि का बार-बार उल्लेख आया है; किन्तु उनका वर्णन एकसा ही पाया जाता है। यहाँ तक कि पूरा वर्णन तो केवल एकाध सूत्र मे ही दिया गया है, और अन्यत्र 'वण्णओ' (वर्णन) कहकर उसका सकेत मात्र कर दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के उन नगरो की रचना प्राय. एक ही प्रकार की होती थी। उस नगर की रचना व स्वरूप को पूर्णत. समझने के लिये यहा **उववाइय सूत्र (१) से चंपा नगरी का पूरा वर्णन** प्रस्तुत किया जाता है—

"चपानगरी धन-सपत्ति से समृद्ध थी, और नगरवासी खूब प्रमुदित रहते थे। वह जनता से भरी रहती थी। उसके आसपास के खेतो मे हजारो हल चलते थे, और मुर्गों के झुड के झुड चरते थे। वह गन्ने, जौ व धान से भरपूर थी। वहा गाय, भैस व भेड-बकरिया प्रचुरता से विद्यमान थी। वहा सुन्दर आकार के बहुत से चैत्य बने हुए थे, और सुन्दरी-शीलवती युवतिया भी बहुत थी। वह घसखोर, बटमार, गठमार, दुःसाहसी, तस्कर, दुराचारी व राक्षसो से रहित होने से क्षेम व निरुपद्रव थी। वहा भिक्षा सुख से मिलती थी, और लोग निश्चिन्त होकर सुख से निवास करते थे। करोड़ो कुटुब वहा सुख से रहते थे। वहा नटो, नर्तको, रस्से पर खेल करने वाले नट, मल्ल, मुष्टियुद्ध करने वाले (बोक्सर्स), नकलची (विदूषक), कथक, कूदने वाले, लास्यनृत्य करने वाले, आख्यायक, मख (चित्रदर्शक), लख (बडे बास के ऊपर नाचने वाले), तानपूरा, तुबी व वीणा बजाने वाले तथा नाना प्रकार के वादित्र बजाने वाले आते-जाते रहते थे। वहा आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका व वापिया भी खूब थी, जिनसे वह नदनवन के समान रमणीक थी। वह विपुल और गभीर खाई से घिरी हुई थी। चक्र, गदा, मुसुंठि (मूठ), अवरोध, शतघ्नी तथा दृढ़ सघन कपाटो के कारण उसमे प्रवेश करना कठिन था। वह धनुष के समान गोलाकार प्राकार से घिरी हुई थी, जिसपर कपिशीर्षक (कंगूरे) और गोल गुम्मट बने हुए थे। वहा ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं, चरियापथ, द्वार, गोपुर, तोरण तथा सुन्दर रीतिसे विभाजित राजमार्ग थे। प्राकार तथा गृहो के परिघ व इन्द्रखील (लंगर व चटकिनी) कुशल कारीगरो द्वारा निर्माण किये गये थे। वहां दुकानो मे व्यापारियो द्वारा नाना प्रकार के शिल्प तथा

सुखोपभोग की वस्तुएं रखी गई थी। वह सिंघाटक (त्रिकोण), चौकोन व चौकों में विविध वस्तुएं खरीदने योग्य दुकानो से शोभायमान थी। उसके राजमार्ग राजाओं के गमनागमन से सुरम्य थे, और वह अनेक सुन्दर-सुन्दर उत्तम घोड़ों, मत्त-हाथियों, रथों व डोला-पालकी आदि वाहनों से व्याप्त थी। वहां के जलाशय नव प्रफुल्ल कमलों से शोभायमान थे। वह नगरी उज्ज्वल, श्वेत महाभवनो से जगमगा रही थी, और आंखें फाड-फाड़कर देखने योग्य थी। उसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता था। वह ऐसी दर्शनीय, सुन्दर और मनोज्ञ थी।"

प्राचीन नगर का यह वर्णन तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है-(१) उसकी समृद्धि व धन-वैभव सबधी, (२) वहा नाना प्रकार की कलाओं, विद्याओ, व मनोरजन के साधनो संबंधी, और (३) नगर की रचना संबधी। नगर-रचना में कुछ बाते सुस्पष्ट और ध्यान देने योग्य है। नगर की रक्षा के निमित्त उसको चारों ओर से घेरे हुए **परिखा** या खाई होती थी। तत्पश्चात् एक **प्राकार** या कोट होता था, जिसकी चारो दिशाओ मे चार-चार द्वार होते थे। प्राकार का आकार धनुष के समान गोल कहा गया है। इन द्वारो मे **गोपुर** और **तोरणों** का शोभा की दृष्टि से विशेष स्थान था। कोट कगूरेदार **कपिशीर्षकों** से युक्त बनते थे, और उनपर शतघ्नी आदिक नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो की स्थापना की जाती थी। नगर मे राजमार्गों व चरिया-पथ (मेन रोड्स एवं फुटपाथ्स) बड़ी व्यवस्था से बनाये जाते थे, जिसमे तिराहो व चौराहो का विशेष स्थान था। स्थान-स्थान पर सम्भवतः प्रत्येक मोहल्ले मे विशाल चौको (खुले मैदान-पार्कस्), उद्यानो, सरोवरो व कूपो का निर्माण भी किया जाता था। घर कतारों से बनाये जाते थे, और देवालयो, बाजारों व दुकानो की सुव्यवस्था थी।

जैन सूत्रो से प्राप्त नगर का यह वर्णन पुराणों, बौद्ध ग्रन्थों, तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि के वर्णनो से मिलता है, तथा पुरातत्व संबंधी खुदाई से जो कुछ नगरों के भग्नावशेष मिले हैं उनसे भी प्रमाणित होता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन पाचाल देश की राजधानी **अहिच्छत्र** की खुदाई से उसकी परिखा व प्राकार के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह वही स्थान है जहां जैन परम्परानुसार तेइसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तप मे उपसर्ग होने पर **धरणेन्द्रनाग** ने उनकी रक्षा की थी, और इसी कारण इसका नाम भी अहिच्छत्र पड़ा। प्राकार पकाई हुई ईटो का बना व ४०-५० फुट तक ऊंचा पाया गया है। कोट के द्वारो से राजपथ सीधे नगर के केन्द्र की ओर जाते हुए पाये गये है, और केन्द्र में एक विशाल देवालय के चिन्ह मिले हैं। भारहुत, सांची, अमरावती, मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त पाषाणोत्कीर्ण चित्रकारी में जो राजगृह, श्रावस्ती, वारा-

रणसी, कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि की प्रतिकृतियां (मोडेल्स) पाई जाती हैं, उनसे भी परिखा, प्राकार तथा द्वारों, गोपुरो व अट्टालिकाओ की व्यवस्था समझ मे आती है। देश के प्राचीन नगरो की बनावट व शोभा का परिचय हमें मैगस्थनीज, फाहियान आदि यूनानी व चीनी यात्रियो द्वारा किये गये सुप्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के वर्णन से भी प्राप्त होता है, और उसका समर्थन पटना के समीप बुलदीबाग और कुमराहर नामक स्थानो की खुदाई से प्राप्त हुए प्राकार व राजप्रासाद आदि के भग्नावशेषो से होता है। मैगस्थनीज के वर्णनानुसार पाटलिपुत्र नगर का प्राकार काष्ठमय था। इसकी भी प्राप्त भग्नावशेषो से पुष्टि हुई है, तथा उपलब्ध पाषाण स्तभों के भग्नावशेषो से शालाओ व प्रासादो की निर्माण-कला की बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है, जिससे जैन ग्रन्थो मे प्राप्त नगरादि के वर्णन का भले प्रकार समर्थन होता है।

चैत्य रचना—

जैन सूत्रो मे नगर के वर्णन मे तथा स्वतत्र रूप से भी चैत्यो का उल्लेख बार बार आता है। यहा औपपातिक सूत्र (२) से चपानगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा मे स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य का वर्णन दिया जाता है। "वह चैत्य बहुत प्राचीन, पूर्व पुरुषो द्वारा पहले कभी निर्माण किया गया था, और सुविदित व सुविख्यात था। वह छत्र, घटा, ध्वजा व पताकाओ से मडित था। वहा चमर (लोमहस्त-पीछी) लटक रहे थे। वहा गोशीर्ष व सरस रक्तचदन से हाथ के पजो के निशान बने हुए थे और चदन-कलश स्थापित थे। वहा बडी-बड़ी गोलाकार मालाए लटक रही थी। पचरगे, सरस, सुगधी फूलो की सजावट हो रही थी। वह कालागुरु, कुदुरुक्क एवं तुरुष्क व धूप की सुगध से महक रहा था। वहा नटों, नर्तको, नाना प्रकार के खिलाड़ियों, संगीतको, भोजको व मागधो की भीड लगी हुई थी। वहा बहुत लोग आते जाते रहते थे, लोग घोषणा कर-करके दान देते थे व अर्चा, वंदना, नमस्कार, पूजा, सत्कार, सम्मान करते थे। वह कल्याण, मगल व देवतारूप चैत्य विनयपूर्वक पर्युपासना करने के योग्य था। वह दिव्य था, सब मनोकामनाओ की पूर्ति का सत्योपाय-भूत था। वहा प्रातिहार्यों का सद्भाव था। वह चैत्य याग के सहस्रभाग का प्रतीक्षक था। बहुत लोग आ-आकर उस पूर्णभद्र चैत्य की पूजा करते थे।"

जैन चैत्य व स्तूप—

समोसरण के वर्णन में चैत्य वृक्षों व स्तूपों का उल्लेख किया जा चुका है।

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (३, २, १४३) में भगवान् महावीर के अपनी छद्मस्थ अवस्था में सुंसुमारपुर के उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान करने का वर्णन है। ति०प्र० (४,६१५) में यह भी कहा गया है कि जिस वृक्ष के नीचे, जिस केवली को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ, वही उस तीर्थंकर का अशोक वृक्ष कहलाया। इस प्रकार अशोक एक वृक्ष-विशेष का नाम भी है, व केवलज्ञान संबंधी समस्त वृक्षों की संज्ञा भी। अनुमानतः इसी कारण वृक्षों के नीचे प्रतिमाएं स्थापित करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। स्वभावतः वृक्षमूल में मूर्तियां स्थापित करने के लिये वृक्ष के चारों ओर एक वेदिका या पीठिका बनाना भी आवश्यक हो गया। यह वेदी इष्टकादि के चयन से बनाई जाने के कारण वे वृक्ष चैत्यवृक्ष कहे जाने लगे होंगे। इष्टकों (ईंटों) से बनी वेदिका को चिति या चयन कहने की प्रथा बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में यज्ञ की वेदी को भी यह नाम दिया गया पाया जाता है। इसी प्रकार चयन द्वारा निर्मापित स्तूप भी चैत्य-स्तूप कहलाये।

आवश्यक निर्युक्ति (गा० ४३५) में तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप, चैत्य व जिनगृह निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि ने भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति में उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण-स्थान कैलाश पर्वत पर एक चैत्य तथा सिंह-निषद्या-आयतन निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है। अर्द्धमागधी जंबदीवपण्णत्ति (२, ३३) में तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर-संस्कार तथा चैत्य-स्तूप-निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

"तीर्थंकर का निर्वाण होने पर देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि गोशीर्ष व चंदन काष्ठ एकत्र कर चितिका बनाओ, क्षीरोदधि से क्षीरोदक लाओ, तीर्थंकर के शरीर को स्नान कराओ, और उसका गोशीर्षचंदन से लेप करो। तत्पश्चात् शक्र ने हंसचिन्ह-युक्त वस्त्र-शाटिका तथा सर्व अलंकारों से शरीर को भूषित किया, व शिविका द्वारा लाकर चिता पर स्थापित किया। अग्निकुमार देव ने चिता को प्रज्वलित किया, और पश्चात् मेघ कुमार देव ने क्षीरोदक से अग्नि को उपशांत किया। शक्र देवेन्द्र ने भगवान् की ऊपर की दाहिनी व ईशान देव ने बांयी सक्थि (अस्थि) ग्रहण की, तथा नीचे की दाहिनी चमर असुरेन्द्र ने, व बांयी बलि ने ग्रहण की। शेष देवों ने यथायोग्य अवशिष्ट अंग-प्रत्यंगों को ग्रहण किया। फिर शक्र देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि एक अतिमहान् चैत्य स्तूप भगवान् तीर्थंकर की चिता पर निर्माण किया जाय; एक गणधर की चिता पर और एक शेष अनगारों की चिता पर। देवों ने तदनुसार ही परिनिर्वाण-महिमा की। फिर

वे सब अपने-अपने विमानों व भवनों को लौट आये, और अपने-अपने चैत्य-स्तंभों के समीप आकर उन जिन-अस्थियों को वज्रमय, गोल वृत्ताकार समुद्गकों (पेटिकाओं) में स्थापित कर उत्तम मालाओं व गंधों से उनकी पूजा-अर्चा की।"

इस विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परानुसार महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे। इस परम्परा की पुष्टि पालि ग्रन्थो के बुद्ध निर्वाण और उनके शरीर-सस्कार संबंधी वृत्तात से होती है।

महापरिनिब्बानसुत्त मे कथन है कि जब बुद्ध भगवान् के शिष्यो ने उनसे पूछा कि निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर का कैसा सत्कार किया जाय, तब इसके उत्तर में बुद्ध ने कहा—हे आनद, जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के शरीर को वस्त्र से खूब वेष्टित करके तैल की द्रोणी मे रखकर चितक बनाकर शरीर को भाप देते है, और चतुर्महा पथ पर स्तूप बनाते हैं, इसी प्रकार मेरे शरीर की भी सत्पूजा की जाय। इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन काल मे राजाओ व धार्मिक महापुरुषो की चिता पर अथवा अन्यत्र उनकी स्मृति मे स्तूप बनवाने की प्रथा थी। स्तूप का गोल आकार भी इसी बात की पुष्टि करता है, क्योकि यह आकार श्मशान के आकार से मिलता है। इस संबंध मे **शतपथ ब्राह्मण** का एक उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यों के दैव श्मशान चौकोर, तथा अनार्यों के आसुर्य श्मशान गोलाकार होते है। धार्मिक महापुरुषो के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन गई, और शताब्दियों तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किये जाने की परम्परा चालू रही। धीरे धीरे इनका आकार-परिमाण भी खूब बढा। उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिये एक व अनेक वेदिकाएं भी बनने लगी। उनके आसपास कला-पूर्ण कटहरा भी बनने लगा। ऐसे स्तूपो के उत्कृष्ट उदाहरण अभी भी साची, भरहुत, सारनाथ आदि स्थानों मे देखे जा सकते है। दुर्भाग्यत: उपलब्ध स्तूपो मे जैन स्तूपो का अभाव पाया जाता है। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है कि प्राचीनकाल मे जैनस्तूपो का भी खूब निर्माण हुआ था। जिनदास कृत **आवश्यकचूर्णि** मे उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल मे बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की स्मृति मे **एक स्तूप वैशाली** मे बनवाया गया था। किन्तु अभी तक इस स्तूप के कोई चिन्ह व भग्नावशेष प्राप्त नही किये जा सके। तथापि मथुरा के समीप एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के प्रचुर भग्नावशेष मिले हैं। हरिषेण कृत **बृहत्कथाकोष** (१२, १३२) के अनुसार यहा अति प्राचीनकाल में विद्याधरों द्वारा पाच स्तूप बनवाये गये थे। इन पांच स्तूपों की विख्याति और स्मृति एक मुनियों की वंशावली से सबद्ध पाई जाती है। **पहाड़पुर** (बंगाल) से जो पांचवी शताब्दी का

गुहनंदि आचार्य का ताम्रपत्र मिला है, उसमे इस **पंचस्तूपान्वय** का उल्लेख है । **धवला टीका** के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्त्ता जिनसेन ने अपने को पंचस्तूपान्वयी कहा है । इसी अन्वय का पीछे सेन-अन्वय नाम प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है । जिनप्रभसूरि कृत **विविध-तीर्थ-कल्प** में उल्लेख है कि मथुरा में एक स्तूप सुपार्श्व-नाथ तीर्थकर की स्मृति मे एक देवी द्वारा अतिप्राचीन काल में बनवाया गया था, व पार्श्वनाथ तीर्थकर के समय मे उसका जीर्णोद्धार कराया गया था, तथा उसके एक हजार वर्ष पश्चात् पुनः उसका उद्धार बप्पभट्टि सूरि द्वारा कराया गया था । राजमल्ल कृत **जंबूस्वामिचरित** के अनुसार उनके समय मे (मुगल सम्राट् अकबर के काल मे) मथुरा मे ५१५ स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे विद्यमान थे, जिनका उद्धार तोडर नाम के एक धनी साहू ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशेषों मे एक जिन-सिंहासन पर के (दूसरी शती के) लेख मे यहा के देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है । इसका समर्थन पूर्वोक्त हरिषेण व जिनप्रभ सूरि के उल्लेखो से भी होता है। हरिभद्रसूरि कृत **आवश्यक-निर्युक्ति-वृत्ति** तथा सोमदेव कृत **यशस्तिलक-चम्पू** मे भी मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का वर्णन आया है । इन सब उल्लेखो से इस स्तूप की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है ।

मथुरा का स्तूप—

मथुरा के स्तूप का जो भग्नाश प्राप्त हुआ है, उससे उसके मूल-विन्यास का स्वरूप प्रगट हो जाता है । स्तूप का तलभाग गोलाकार था, जिसका व्यास ४७ फुट पाया जाता है। उसमे केन्द्र से परिधि की ओर बढ़ते हुए व्यासार्ध वाली ८ दीवालें पाई जाती हैं, जिनके बीच के स्थान को मिट्टी से भरकर स्तूप ठोस बनाया गया था । दीवाले ईटो से चुनी गई थी । ईटे भी छोटी-बडी पाई जाती हैं । स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाएं बनी थी । पूरा स्तूप कैसा था, इसका कुछ अनुमान बिखरी हुई प्राप्त सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है । अनेक प्रकार की चित्रकारी युक्त जो पाषाण-स्तंभ मिले है, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास घेरा व तोरण द्वार रहे होगे । दो ऐसे भी **आयाग पट्ट** मिले हैं, जिनपर स्तूप की पूर्ण आकृतियां चित्रित हैं, जो संभवतः यही के स्तूप व स्तूपों की होंगी । स्तूप पट्टिकाओं के घेरे से घिरा हुआ है, व तोरण द्वार पर पहुचने के लिये सात-आठ सीढ़ियां बनी हुई हैं । तोरण दो खड़े खंभो व ऊपर थोड़े-थोड़े अन्तर से एक पर एक तीन आड़े खंभों से बना है । इनमें सबसे निचले खंभे के दोनों पार्श्वभाग मकराकृति सिंहों से आधारित

हैं। स्तूप के दायें-बायें दो सुन्दर स्तंभ हैं, जिनपर क्रमशः धर्मचक्र व बैठे हुए सिंहों की आकृतियां बनी हैं। स्तूप की बाजू मे तीन आराधको की आकृतिया बनी है। ऊपर की ओर उड़ती हुई दो आकृतिया सभवत चारण मुनियो की है। वे नग्न हैं, किन्तु उनके बांये हाथ मे वस्त्रखड जैसी वस्तु एव कमडलु दिखाई देते है, तथा दाहिना हाथ मस्तक पर नमस्कार मुद्रा मे है। एक और आकृति युगल सुपर्ण पक्षियो की है, जिनके पुच्छ व नख स्पष्ट दिखाई देते हैं। दायी ओर का सुपर्ण एक पुष्पगुच्छ व बायी ओर का पुष्पमाला लिये हुए है। स्तूप की गुम्बज के दोनो ओर विलासपूर्ण रीति से झुकी हुई नारी आकृतिया सम्भवत. यक्षिणियो की है। घेरे के नीचे सीढियो के दोनो ओर एक-एक आला है। दक्षिण बाजू के आले मे एक बालक सहित पुरुषाकृति व दूसरी ओर स्त्री-आकृति दिखाई देती है। स्तूप की गुम्मट पर छह पक्तियो मे एक प्राकृत का लेख है, जिसमे अहन्त वर्द्धमान को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि "श्रमण-श्राविका आर्या-लवणशोभिका नामक गणिका की पुत्री श्रमण-श्राविका वासु-गणिका ने जिनमदिर मे अरहंत की पूजा के लिये अपनी माता, भगिनी, तथा दुहिता-पुत्र सहित निर्ग्रन्थो के अरहत आयतन मे अरहन का देवकुल (देवालय), आयाग सभा, प्रपा (प्याऊ) तथा शिलापट (प्रस्तुत आयागपट) प्रतिष्ठित कराये।" यह शिलापट २ फुट × १ इच × १$\frac{3}{4}$ फुट तथा अक्षरो की आकृति व चित्रकारी द्वारा अपने को कुषाणकालीन (प्र० द्वि० शती ई०) सिद्ध करता है।

इस शिलापट से भी प्राचीन एक दूसरा आयगपट भी मिला है, जिसका ऊपरी भाग टूट गया है, तथापि तोरण, घेरा, सोपानपथ एव स्तूप के दोनो ओर यक्षिणियों की मूर्तिया इसमे पूर्वोक्त शिलापट से भी अधिक सुस्पष्ट हैं। इस पर भी लेख है,जिसमे अरहंतो को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि "फगुयश नर्तक की भार्या शिवयशा ने अरहत-पूजा के लिये यह यागपट बनवाया"। वि० स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षरो की आकृति ई० पू० १५० के लगभग शुग-कालीन भरहुत स्तूप के तोरण पर अंकित धनभूति के लेख से कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। बुलर ने भी उन्हे कनिष्क के काल से प्राचीन स्वीकार किया है। इस प्रकार लगभग २०० ई० पू० का यह आयागपट सिद्ध कर रहा है कि स्तूपों का प्रचार जैन परम्परा में उससे बहुत प्राचीन है। साथ ही, जो कोई जैन स्तूप सुरक्षित अवस्था में नही पाये जाते, उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि गुफा-चैत्यों और मंदिरों के अधिक प्रचार के साथ-साथ स्तूपों का नया निर्माण बंद हो गया, व प्राचीन स्तूपों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे, उपर्युक्त स्तूप के आकार व निर्माणकला के वर्णन से स्पष्ट हो

जाता है कि बौद्ध व जैन स्तूपों की कला प्रायः एक सी ही थी। यथार्थतः यह कला श्रमण संस्कृति की समान धारा थी । इस कारण अनेक जैन स्तूप भ्रान्तिवश बौद्ध स्तूप ही मान लिये गये। इन बातों के स्पष्ट उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं। मथुरा के पास जिस स्थान पर उक्त प्राचीन जैन स्तूप था, वह वर्तमान मे कंकाली टीला कहलाता है। इसका कारण यह है कि जैनियों की उपेक्षा से, अथवा किन्ही बाह्य विध्वसक आघातो से जब उस स्थान के स्तूप व मंदिर नष्ट हो गये, और उस स्थान ने एक टीले का रूप धारण कर लिया, तब मंदिर का एक स्तभ उसके ऊपर स्थापित करके वह **कंकालीदेवी** के नाम से पूजा जाने लगा। यहा के स्तूप का जो आकार-प्रकार उपर्युक्त 'वासु' के आयागपट्ट से प्रगट होता है, ठीक उसी प्रकार का स्तूप का नीवभाग तक्षशिला के समीप **'सरकॉप'** नामक स्थान पर पाया गया है। इस स्तूप के सोपान-पथ के दोनो पार्श्वों मे उसी प्रकार के दो आले रहे हैं, जैसे उक्त आयागपट मे दिखाई देते हैं। इसी कारण पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान-मार्शल ने उसे जैन स्तूप कहा है, और उसे बौद्ध धर्म से सब प्रकार असंबद्ध बतलाया है। तो भी पीछे के लेखक उसे बौद्ध स्तूप ही कहते है, और इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि उस स्थान से जैनधर्म का कभी कोई ऐतिहासिक संबंध नही पाया जाता। किन्तु वे यह भूल जाते है कि तक्षशिला से जैनधर्म का बड़ा प्राचीन संबध रहा है। जैन पुराणो के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहा अपने पुत्र बाहुबली की राजधानी स्थापित की थी। उन्होने यहा विहार भी किया था, और उनकी स्मृति में यहा धर्मचक्र भी स्थापित किया गया था। यही नही, किन्तु अति प्राचीन काल से सातवी शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत मे अफगानिस्तान तक जैनधर्म के प्रचार के प्रमाण मिलते है। ह्रुएनच्वाग ने अपने यात्रा वर्णन मे लिखा है कि उसके समय में "हुसीना (गजनी) व हजारा (या होसला) मे बहुत से तीर्थंक थे, जो क्षुणदेव (शिश्न या नग्न देव) की पूजा करते थे, अपने मनको वश मे रखते थे, व शरीर की पर्वाह नही करते थे।" इस वर्णन से उन देवो के जैन तीर्थकर और उनके अनुयाइयो के जैन मुनि व श्रावक होने मे कोई संदेह प्रतीत नही होता। पालि ग्रन्थो में निग्गंठ नातपुत्त (महावीर तीर्थकर) को एक तीर्थक ही कहा गया है। अतएव तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' स्तूप को जैन-स्तूप स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिये।

मथुरा से प्राप्त अन्य एक आयागपट के मध्य मे छत्र-चमर सहित जिनमूर्ति विराज-मान है व उसके आसपास त्रिरत्न, कलश, मत्स्य युगल, हस्ती आदि मंगल द्रव्य व आलंका-रिक चित्रण है। आयागपट चित्रित पाषाणपट्ट होते थे और उनकी पूजा की जाती थी।

जैन गुफाएं

प्राचीनतम काल से जैन मुनियो को नगर-ग्रामादि बहुजन-सकीर्ण स्थानों से पृथक् पर्वत व बन की शून्य गुफाओ वा कोटरो आदि मे निवास करने का विधान किया गया है, और ऐसा एकान्तवास जैन मुनियो की साधना का आवश्यक अंग बतलाया गया है (त० सू० ७, ६ स० सिद्धि)। और जहा जैन मुनि निवास करेगा, वहा ध्यान व वंदनादि के लिये जैन मूर्तियो की भी स्थापना होगी। आरम्भ में शिलाओं से आधारित प्राकृतिक गुफाओ का उपयोग किया जाता रहा होगा। ऐसी गुफाएं प्राय. सर्वत्र पर्वतो की तलहटी में पाई जाती है। ये ही जैन परम्परा मे मान्य अकृत्रिम चैत्यालय कहे जा सकते हैं। क्रमशः इन गुफाओ का विशेष सस्कार व विस्तार कृत्रिम साधनो से किया जाने लगा, और जहा उसके योग्य शिलाए मिली उनको काटकर गुफा-बिहार व मंदिर बनाये जाने लगे। ऐसी गुफाओ मे सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाए बराबर व नागार्जुनी पहाड़ियों पर स्थित हैं। ये पहाडिया गया से १५-२० मील दूर पटना-गया रेलवे के बेला नामक स्टेशन से ८ मील पूर्व की ओर है। बराबर पहाडी मे चार, व उससे कोई एक मील दूर नागार्जुनी पहाडी मे तीन गुफाए हैं। बराबर की गुफाएं अशोक, व नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियो के हेतु निर्माण कराई गई थी। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि उस काल (ई० पू० तृतीय शती) में एक पृथक् सम्प्रदाय था, तथापि ऐतिहासिक प्रमाणो से उसकी उत्पत्ति व विलय जैन सम्प्रदाय मे ही हुआ सिद्ध होता है। जैन आगमो के अनुसार इस सम्प्रदाय का स्थापक मखलि-गोशाल कितने ही कालतक महावीर तीर्थंकर का शिष्य रहा, किन्तु कुछ सैद्धान्तिक मतभेद के कारण उसने अपना एक पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया। परन्तु यह सम्प्रदाय पृथक् रूप से केवल दो-तीन शती तक ही चला, और इस काल में भी आजीवक साधु जैन मुनियों के सदृश नग्न ही रहते थे, तथा उनकी भिक्षादि संबंधी चर्या भी जैन निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से भिन्न नही थी। अशोक के पश्चात् इस सम्प्रदाय का जैन संघ में ही विलीनीकरण हो गया, और तब से इसकी पृथक् सत्ता के कोई उल्लेख नही पाये जाते। इस प्रकार आजीवक मुनियों को दान की गई गुफाओं का जैन ऐतिहासिक परम्परा में ही उल्लेख किया जाता है।

बराबर पहाड़ी की दो गुफाएं अशोक ने अपने राज्य के १२ वें वर्ष में, और तीसरी १९ वें वर्ष में निर्माण कराई थी। सुदामा और विश्व झोपड़ी नामक गुफाओं

के लेखों में आजीवकों को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। सुदामा गुफा के लेख में उसे न्यग्रोध गुफा कहा गया है। इसमें दो मंडप हैं। बाहिरी ३३'×२०' का व भीतरी १९'×१९' लम्बा-चौडा है। ऊंचाई लगभग १२' है। विश्व-झौंपड़ी के लेख में इस पहाड़ी का 'खलटिक पर्वत' के नाम से उल्लेख पाया जाता है। शेष दो गुफाओं के नाम 'करण चौपार' व 'लोमसऋषि' गुफा हैं। किन्तु करणचौपार की लेख में 'सुपिया गुफा' कहा गया है, और लोमस-ऋषि गुफा को 'प्रवरगिरि गुफा'। ये सभी गुफाए कठोर तेलिया पाषाण को काटकर बनाई गई हैं, और उनपर वंही चमकीला पालिश किया गया है, जो मौर्य काल की विशेषता मानी गई है।

नागार्जुनी पहाड़ी की तीन गुफाओ के नाम है—गोपी गुफा, वहिया की गुफा, और वेदथिका गुफा। प्रथम गुफा ४५'×१९' लम्बी-चौड़ी है। पश्चात् कालीन अनन्तवर्मा के एक लेख मे इसे 'विन्ध्यभूधर गुहा' कहा गया है, यद्यपि दशरथ के लेख में इसका नाम गोपिक गुहा स्पष्ट अंकित है, और आजीवक भदन्तो को दान किये जाने का भी उल्लेख है। ऐसा ही लेख शेष दो गुफाओं मे भी है। ई० पू० तीसरी शती की मौर्यकालीन इन गुफाओ के पश्चात् उल्लेखनीय हैं उड़ीसा की कटक के समीपवर्ती उदयगिरि व खंडगिरि नामक पर्वतो की गुफाएं जो उनमे प्राप्त लेखो पर से ई० पू० द्वितीय शती की सिद्ध होती हैं। उदयगिरि की 'हाथीगुफा' नामक गुफा मे प्राकृत भाषा का यह सुविस्तृत लेख पाया गया है जिसमे कलिंग सम्राट् खारवेल के बाल्यकाल व राज्य के १३ वर्षों का चरित्र विधिवत् वर्णित है। यह लेख अरहंतो व सर्वसिद्धों को नमस्कार के साथ प्रारभ हुआ है, और उसकी १२ वी पंक्ति मे स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने अपने राज्य के १२ वे वर्ष मे मगध पर आक्रमण कर वहां के राजा बृहस्पति-मित्र को पराजित किया, और वहा से कलिंग-जिन की मूर्ति अपने देश मे लौटा लिया जिसे पहले नंदराज अपहरण कर ले गया था। इस उल्लेख से जैन इतिहास व संस्थानों संबंधी अनेक महत्वपूर्ण बातें सिद्ध होती है। एक तो यह कि नंदकाल अर्थात् ई० पू० पाचवी-चौथी शती मे भी जैन मूर्तिया निर्माण कराकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश में एक प्रसिद्ध जैन मंदिर व मूर्ति थी, जो उस प्रदेश भर मे लोक-पूजित थी। तीसरे यह कि वह नंद-सम्राट् जो इस जैन मूर्ति को अपहरण कर ले गया, और उसे अपने यहां सुरक्षित रखा, अवश्य जैनधर्मावलंबी रहा होगा, व उसने उसके लिये अपने यहा भी जैन मंदिर बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग देश की जनता व राजवंश में उस जैन मूर्ति के लिये बराबर दो-तीन शती तक ऐसा श्रद्धान बना रहा कि अवसर मिलते ही कलिंग सम्राट् ने उसे वापस लाकर

अपने यहा प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा। इस प्रकार यह गुफा और वहां का लेख भारतीय इतिहास, और विशेषतः जैन इतिहास, के लिये बडे महत्व की वस्तु है।

उदयगिरि की यह रानी गुफा (हाथी गुफा) यथार्थत एक सुविस्तृत बिहार रहा है जिसमें मूर्ति-प्रतिष्ठा भी रही, व मुनियो का निवास भी। इसका अतरंग ५२ फुट लम्बा व २८ फुट चौडा है, तथा द्वार की ऊचाई ११¾ फुट है। वह दो मजिलो मे बनी है। नीचे की मजिल मे पंक्तिरूप से आठ, व ऊपर की पक्ति मे छह प्रकोष्ठ है। २० फुट लम्बा बरामदा ऊपर की मजिल की एक विशेषता है। बरामदो मे द्वारपालो की मूर्तिया खुदी हुई है। नीचे की मजिल का द्वारपाल सुसज्जित सैनिक सा प्रतीत होता है। बरामदों मे छोटे-छोटे उच्च आसन भी बने हैं। छत की चट्टान को सभालने के लिये अनेक स्तंभ खडे किये गये है। एक तोरण-द्वार पर त्रिरत्न का चिन्ह व अशोक वृक्ष की पूजा का चित्रण महत्वपूर्ण है। त्रिरत्न-चिन्ह सिधघाटी की मुद्रा पर के आसीन देव के मस्तक पर के त्रिशृंग मुकुट के सदृश है। द्वारो पर बहुत सी चित्रकारी भी है, जो जैन पौराणिक कथाओ से सबध रखती है। एक प्रकोष्ठ के द्वार पर एक पक्षयुक्त हरिण व धनुषबाण सहित पुरुष, युद्ध, स्त्री-अपहरण आदि घटनाओ का चित्रण बडा सुन्दर हुआ है। एक मतानुसार यह जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन की एक घटना का चित्रण है, जिसके अनुसार उन्होने कलिग के यवन नरेश द्वारा हरण की गई प्रभावती नामक कन्या को बचाया और पश्चात् उससे विवाह किया था। एक मत यह भी है कि यह वासवदत्ता व शकुतला संबन्धी आख्यानो से सबन्ध रखता है। किन्तु उस जैनगुफा मे इसकी सभावना नही प्रतीत होती। चित्रकारी की शैली सुन्दर और सुस्पष्ट है, व चित्रो की योजना प्रमाणानुसार है। विद्वानो के मत से यहा की चित्रण कला भरहुत व साची के स्तूपो से अधिक सुन्दर है। उदयगिरि व खंडगिरि मे सब मिलाकर १९ गुफाएं हैं, और उन्ही के निकटवर्ती **नीलगिरि** नामक पहाड़ी में और भी तीन गुफाएं देखने मे आती है। इनमे उपर्युक्त रानीगुफा के अतिरिक्त **मंचपुरी** और **वैकुंठपुरी** नामक गुफाए भी दर्शनीय हैं, और वहा के शिलालेखो तथा कलाकृतियो के आधार से खारवेल व उनके समीपवर्ती काल की प्रतीत होती हैं। खंडगिरि की **नवमुनि** नामक गुफा मे दसवी शती का एक शिलालेख है जिसमें जैन मुनि शुभचन्द्र का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि यह स्थान ई०पूर्व द्वितीय शती से लगाकर कम से कम दसवी शती तक जैन धर्म का एक सुदृढ केन्द्र रहा है।

राजगिरि की एक पहाडी मे **मनियार** मठ के समीप **सोनभंडार** नामक जैन-गुफा उल्लेखनीय है। निर्माण की दृष्टि से यह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। प्र०-द्वि०

शती का ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्यरत्न वैरदेवमुनि ने यहां जैन मुनियो के निवासार्थ दो गुफाएं निर्माण करवाई, और उनमें अर्हन्तो की मूर्तिया प्रतिष्ठित कराई। एक जैनमूर्ति तथा चतुर्मुखी जैनप्रतिमा युक्त एक स्तम्भ वहा अब भी विद्यमान है। जिस दूसरी गुफा के निर्माण का लेख मे उल्लेख है, वह निश्चयत· उसके ही पार्श्व मे स्थित गुफा है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है। दिगम्बर परम्परा मे वैरजस का नाम आता है, और वे त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रज्ञाश्रमणों मे अन्तिम कहे गये है। श्वे० परम्परा मे अज्ज-वैर का नाम आता है, और वे पदानुसारी कहे गये हैं। प्रज्ञाश्रमणत्व और पदानुसारित्व, ये दोनो बुद्धि ऋद्धि के उपभेद हैं, और षट्खंडागम के वेदनाखड मे पदानुसारी तथा प्रज्ञाश्रमण दोनो को नमस्कार किया गया है। इसप्रकार ये दोनो उल्लेख एक ही आचार्य के हो तो आश्चर्य नही। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवैर का काल वीर निर्वाण से ४९६ से लेकर ५८४ वर्ष तक पाया जाता है, जिसके अनुसार वे प्रथम शती ई० पू० व पश्चात् के सिद्ध होते है। सोन भडार गुफा उन्ही के समय मे निर्मित हुई हो तो आश्चर्य नही।

प्रयाग तथा **कौसम** (प्राचीन कौशाम्बी) के समीपवर्ती **पभोसा** नामक स्थान मे दो गुफाए है, जिनमे शुग-कालीन (ई० पू० द्वितीय शती) लिपि मे लेख है। इन लेखो मे कहा गया हैं कि इन गुफाओ को अहिच्छत्रा के आषाढसेन ने काश्यपीय अर्हन्तो के लिये दान किया। ध्यान रखना चाहिये कि तीर्थंकर महावीर कश्यपगोत्रीय थे। सम्भव है उन्ही के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि उस काल में महावीर के अनुयाइयों के अतिरिक्त भी कोई अन्य जैनमुनि सघ सम्भवत· पार्श्वनाथ के अनुयाइयो का रहा होगा जो क्रमशः महावीर की मुनि-परम्परा मे ही विलीन हो गया।

जूनागढ़ (कठियावाड़) के बाबा प्यारामठ के समीप कुछ गुफाएं हैं, जो तीन पंक्तियो मे स्थित है। एक उत्तर की ओर, दूसरी पूर्व भाग मे और तीसरी उसी के पीछे से प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तर की ओर फैली है। ये सब गुफाएं दो भागो मे विभक्त की जा सकती है—एक तो चैत्य-गुफाएं और तत्संबधी साधारण कोठरिया हैं जो बर्जेस साहब के मतानुसार सम्भवत: ई० पू० द्वितीय शती की हैं, जबकि प्रथम बार बौद्ध भिक्षु गुजरात मे पहुंचे। दूसरे भाग में वे गुफाएं व शालागृह हैं जो प्रथमभाग की गुफाओं से कुछ उन्नत शैली के बने हुए हैं; और जिनमें जैन चिन्ह पाये जाते हैं। ये ई० की द्वितीय शती अर्थात् क्षत्रप राजाओं के काल की सिद्ध होती हैं। जैनगुफाओ मे की एक गुफा विशेष ध्यान देने योग्य है। इस गुफा से जो खंडित लेख मिला है उसमें

क्षत्रप राजवंशका तथा चष्टन के प्रपौत्र व जयदामन् के पौत्र रुद्रसिंह प्रथम का उल्लेख है। लेख पूरा न पढ़े जाने पर भी उसमें जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द पढ़े गये हैं उनसे, तथा गुफा में अंकित स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि प्रख्यात जैन मांगलिक चिन्हो के चित्रित होने से, वे जैन साधुओं की व सम्भवतः दिगंबर परम्परानुसार अंतिम अंग-ज्ञाता धरसेनाचार्य से सम्बन्धित अनुमान की जाती हैं। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचाय ने धरसेनाचार्य को गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी कहा है (देखो महाबध भाग २ प्रस्ता०)। प्रस्तुत गुफासमूह मे एक गुफा ऐसी है जो पार्श्वभाग मे एक अर्द्धचन्द्राकार विविक्त स्थान से युक्त है। यद्यपि भाजा, कार्ली व नासिक की बौद्ध गुफाओं से इस बात मे समता रखने के कारण यह एक बौद्ध गुफा अनुमान की जाती है, तथापि यही धवलाकार द्वारा उल्लिखित धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो तो आश्चर्य नहीं। (दे० बर्जेस: एंटीक्विटीज ओफ कच्छ एंड काठियावाड़ १८७४-७५ पृ० १३९ आदि, तथा सांकलिया: आर्केओलोजी आफ गुजरात, १९४१)। इसी स्थान के समीप ढंक नामक स्थान पर भी गुफाएं है, जिनमे ऋषभ पार्श्व, महावीर आदि तीर्थंकरो की प्रतिमाएं है। ये सभी गुफाएं उसी क्षत्रप काल अर्थात् प्र० द्वि० शती की सिद्ध होती है। जैन साहित्य मे ढक पर्वत का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, व पादलिप्त सूरि के शिष्य नागार्जुन यहीं के निवासी कहे गये है। (देखो रा० शे० कृत प्रबन्धकोश व विविधतीर्थकल्प)।

पूर्व मे उदयगिरि खडगिरि व पश्चिम मे जूनागढ के पश्चात् देश के मध्यभाग मे स्थित **उदयगिरि** की जैन गुफाएं उल्लेखनीय है। यह उदयगिरि मध्यप्रदेश के अन्तर्गत इतिहास-प्रसिद्ध विदिशा नगर से उत्तर-पश्चिम की ओर बेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर है। इस पहाडी पर पुरातत्व विभाग द्वारा अंकित या सख्यात २० गुफाएं व मंदिर हैं। इनमे पश्चिम की ओर की प्रथम तथा पूर्व दिशा मे स्थित बीसवी, ये दो स्पष्ट रूप से जैन गुफाएं है। पहली गुफा को कनिघंम ने झूठी गुफा नाम दिया है, क्योकि वह किसी चट्टान को काटकर नही बनाई गई, किन्तु एक प्राकृतिक कंदरा है, तथापि ऊपर की प्राकृतिक चट्टान को छत बनाकर नीचे द्वार पर चार खभे खडे कर दिये गये हैं, जिससे उसे गुफा-मंदिर की आकृति प्राप्त हो गई है। स्तम्भ घट व पत्रावलि-प्रणाली के बने हुए हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आदि में जैन मुनि इसी प्रकार की प्राकृतिक गुफाओं को अपना निवासस्थान बना लेते थे। उस अपेक्षा से यह गुफा भी ई० पू० काल से ही जैन मुनियो की गुफा रही होगी, किन्तु इसका सस्कार गुप्तकाल मे हुआ, जैसा कि वहा के स्तम्भो आदि की कला तथा गुफा

में खुदे हुए एक लेख से सिद्ध होता है। इस लेख में **चन्द्रगुप्त** का उल्लेख है, जिससे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्राय समझा जाता है, और जिससे उसका काल चौथी शती का अंतिम भाग सिद्ध होता है। पूर्व दिशावर्ती बीसवी गुफा में **पार्श्वनाथ तीर्थंकर** की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है। यह अब बहुत कुछ खंडित हो गई है, किन्तु उसका नाग-फण अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। यहां भी एक संस्कृत पद्यात्मक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त संवत् १०६ (ई० सन्० ४२६, कुमारगुप्त काल) मे कार्तिक कृष्ण पचमी को आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य शकर द्वारा की गई थी। इन शंकर ने अपना जन्मस्थान उत्तर भारतवर्ती कुरुदेश बतलाया है।

जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल (ई० पू० चौथी शती) मे हुए थे, और उत्तर भारत मे बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने पर जैन संघ को लेकर दक्षिण भारत मे गये, तथा मैसूर प्रदेशान्तर्गत श्रवण-बेलगोला नामक स्थान पर उन्होने जैन केन्द्र स्थापित किया। इस समय भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्यपाट त्यागकर उनके शिष्य हो गये थे, और उन्होने भी श्रवणबेल-गोला की उस पहाडी पर तपस्या की, जो उनके नाम से ही **चन्द्रगिरि** कहलाई। इस पहाडी पर प्राचीन मदिर भी है, जो उन्ही के नाम से **चन्द्रगुप्त बस्ति** कहलाता है। इसी पहाड़ी पर एक अत्यन्त साधारण व छोटी सी गुफा है, जो **भद्रबाहु की गुफा** के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया था। वहा उनके चरण-चिन्ह अंकित हैं और पूजे जाते है। दक्षिण भारत में यही सबसे प्राचीन जैन गुफा सिद्ध होती है।

महाराष्ट्रप्रदेश मे **उस्मानाबाद** से पूर्वोत्तर दिशा मे लगभग १२ मील की दूरी पर पर्वत मे एक प्राचीन गुफा-समूह है। वे एक पहाड़ी दर्रे के दोनो पार्श्वों मे स्थित है; चार उत्तर की ओर व तीन दूसरे पार्श्व मे पूर्वोत्तरमुखी। इन गुफाओं में मुख्य व विशाल गुफा उत्तर की गुफाओं मे दूसरी है। दुर्भाग्यतः इसकी ऊपरी चट्टान भग्न होकर गिर पड़ी है; केवल कुछ बाहरी भाग नष्ट होने से बचा है। उसकी हाल मे मरम्मत भी की गई है। इसका बाहरी बरामदा ७८ × १०.४, फुट है। इसमे छह या आठ खभे है, और भीतर जाने के लिये पाच द्वार। भीतर की शाला ८० फुट गहरी है, तथा चौड़ाई मे द्वार की ओर ७६ फुट व पीछे की ओर ८५ फुट है। इसकी छत ३२ स्तम्भो पर आधारित है, और ये खंभे चौकोर दो पंक्तियों मे बने हुए है। छत की ऊंचाई लगभग १२ फुट है। इसकी दोनों पार्श्व की दीवालों में आठ-आठ व पीछे

की दीवाल मे छह कोठरिया हैं, जो प्रत्येक लगभग ६ फुट चौकोर है। ये कोष्ठ साधारण रीति के बने हुए है, जैसे प्राय बौद्ध गुफाओ मे भी पाये जाते है। पश्चिमोत्तर कोने के कोष्ठ के तलभाग मे एक गड्ढा है, जो सदैव पानी से भरा रहता है। शाला के मध्य में पिछले भाग की ओर देवालय है, जो १६ ३ × १५ फुट लंबा-चौड़ा व १३ फुट ऊचा है, जिसमे पार्श्वनाथ तीर्थकर की भव्य प्रतिमा विराजमान है। शेष गुफाएं अपेक्षाकृत इससे बहुत छोटी हैं। तीसरी व चौथी गुफाओ मे भी जिन-प्रतिमाए विद्यमान है। तीसरी गुफा के स्तम्भो की बनावट कलापूर्ण है। बर्जेस साहब के मन से ये गुफाए अनुमानत. ई० पू० ५००-६५० के बीच की है। (आर्के० सर्वे० ओफ वेस्टर्न इंडिया वो० ३)

इस गुफा-समूह के सबध मे जैन साहित्यिक परम्परा यह है कि यहां तेरापुर के समीप पर्वत पर महाराज करकंड ने एक प्राचीन गुफा देखी थी। उन्होने स्वय यहा अन्य कुछ गुफाएं बनवाई, और पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उन्होने जिस प्राचीन गुफा को देखा था, उसके तलभाग मे एक छिद्र से जलवाहिनी निकली थी, जिससे समस्त गुफा भर गई थी। इसका, तथा प्राचीन पार्श्वनाथ की मूर्ति का सुन्दर वर्णन कनकामर मुनि कृत अपभ्रंश काव्य **'करकंडचरिउ'** मे मिलता है, जो ११ वी शती की रचना है। करकड का नाम जैन व बौद्ध दोनो परम्पराओ मे प्रत्येक बुद्ध के रूप मे पाया जाता है। उनका काल, जैन मान्यतानुसार, महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ के तीर्थ मे पडता है। इस प्रकार यहा की गुफाओ को जैनी अति प्राचीन (लगभग ई० पू० ६ वी शती की) मानते है

इतना तो सुनिश्चित है कि ११ वी शती के मध्यभाग मे जब मुनि कनकामर ने करकडचरिउ लिखा, तब तेरापुर (धाराशिव) की गुफा बडी विशाल थी, और बड़ी प्राचीन समझी जाती थी। तेरापुर के राजा शिवने करकडु को उसका परिचय इस प्रकार कराया था—

एत्थत्थि देव पच्छिमदिसाहिं। अइरिगयडउ पव्वउ रम्मु ताहिं ॥
तहिं अत्थि लयणु णयणावहारि। थंभाण सहासहिं जं पि धारि ॥
(क० च० ४, ४)।

, करकडु उक्त पर्वत पर चढे और ऐसे सघन वन मे से चले जो सिंह, हाथी, शूकर, मृग, व बानरो आदि से भरा हुआ था।

थोवंतरि तहिं सो चडइ जाम। करकंडइं दिट्ठउ लयणु ताम ॥
णं हरिणा अमर-विमाणु दिट्ठु। करकंड णराहिउ तहिं पविट्ठु ॥

सो धण्णु सलक्खणु हरिय-खंभु । जें लयणु कराविउ सहसखंभु ॥

(क० च० ४, ५) ।

अर्थात् पर्वत पर कुछ ऊपर चढने पर उन्होने उस लयण (गुफा) को ऐसे देखा जैसे इन्द्र ने देवविमान को देखा हो । उसमे प्रवेश करने पर करकंडु के मुख से हठात् निकल पड़ा कि धन्य है वह सुलक्षण पुण्यवान् पुरुष जिसने यह सहस्रस्तंभ लयन बनवाया है ।

दक्षिण के **तामिल प्रदेश** मे भी जैन धर्म का प्रचार व प्रभाव बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है । तामिल साहित्य का सबसे प्राचीन भाग 'संगम युग' का माना जाता है, और इस युग की प्राय: समस्त प्रधान कृतिया तिरुकुरुल आदि जैन या जैनधर्म मे सुप्रभावित सिद्ध होती है । जैन द्राविडसघ का संगठन भी सुप्राचीन पाया जाता है । अतएव स्वाभाविक है कि इस प्रदेश मे भी प्राचीन जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हो । जैनमुनियो का एक प्राचीन केन्द्र पुडुकोट्टाइ से वायव्य दिशा मे ६ मील दूर **सित्तन्नवासल** नामक स्थान रहा है । यह नाम **सिद्धानां वासः** से अपभ्रष्ट होकर बना प्रतीत होता है । यहा के विशाल शिला-टीलो मे बनी हुई एक जैनगुफा बडी महत्वपूर्ण है । यहा एक ब्राह्मी लिपि का लेख भी मिला है, जो ई० पू० तृतीय शती का (अशोककालीन) प्रतीत होता है । लेख मे स्पष्ट उल्लेख है कि गुफा का निर्माण जैन मुनियो के निमित्त कराया गया था । यह गुफा बडी विशाल १०० × ५० फुट है । इसमे अनेक कोष्ठक है, जिनमे समाधि-शिलाए भी बनी हुई है । ये शिलाए ६ × ४ फुट हैं । वास्तुकला की दृष्टि से तो यह गुफा महत्वपूर्ण है ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्व उसकी चित्रकला का है, जिसका विवरण आगे किया जायगा । गुफा का यह सस्कार पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् (आठवी शती) के काल मे हुआ है ।

दक्षिण भारत में **बादामी** की जैन गुफा उल्लेखनीय है, जिसका निर्माण काल अनुमानतः सातवीं शती का मध्यभाग है । यह गुफा १६ फुट गहरी तथा ३१ × १६ फुट लम्बी-चौडी है । पीछे की ओर मध्य भाग मे देवालय है, और तीनों पार्श्वों की दीवालो मे मुनियो के निवासार्थ कोष्ठक बने हैं । स्तम्भो की आकृति एलीफेन्टा की गुफाओ के सदृश है । यहा चमरधारियो सहित महावीर तीर्थंकर की मूल पद्मासन मूर्ति के अतिरिक्त दीवालो व स्तम्भो पर भी जिनमूर्तिया खुदी हुई हैं । माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (८ वी शती) ने राज्य त्यागकर व जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा मे निवास किया था । गुफा के बरामदों में एक ओर पार्श्वनाथ व दूसरी ओर बाहुबली की लगभग ७½ फुट ऊंची प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं ।

बादामी तालुके में स्थित ऐहोल नामक ग्राम के समीप पूर्व और उत्तर की ओर गुफाएं हैं, जिनमें भी जैनमूर्तियां विद्यमान हैं। प्रधान गुफाओं की रचना बादामी की गुफा के ही सदृश है। गुफा बरामदा, मडप व गर्भगृह मे विभक्त है। बरामदे में चार खंभे हैं, और उसकी छत पर मकर, पुष्प आदि की आकृतियां बनी हुई हैं। बाई भित्ति मे पार्श्वनाथ की मूर्ति है, जिसके एक ओर नाग व दूसरी ओर नागिनी स्थित है। दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्त्रफरणा युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बडी महत्वपूर्ण है। अन्य जैन आकृतिया व चिन्ह भी प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। सिह, मकर व द्वारपालो की आकृतिया भी कलापूर्ण है, और ऐलीफेन्टा की आकृतियो का स्मरण कराती हैं। गुफाओसे पूर्व की ओर वह मेघुटी नामक जैन मदिर है जिसमे चालुक्य नरेश पुलकेशी व शक स० ५५६ (ई० ६३४) का उल्लेख है। यह शिलालेख अपनी संस्कृत काव्य शैली के विकास मे भी अपना स्थान रखता है। इस लेख के लेखक रविकीर्ति ने अपने को काव्य के क्षेत्र मे **कालिदास और भारवि** की कीर्ति को प्राप्त कहा है। यथार्थत: कालिदास व भारवि के काल-निर्णय मे यह लेख बड़ा सहायक हुआ है, क्योकि इमीसे उनके काल की अन्तिम सीमा प्रामाणिक रूप से निश्चित हुई है। ऐहोल सम्भवत. **'आर्यपुर'** का अपभ्रष्ट रूप है।

गुफा-निर्माण की कला **एलोरा** मे अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। यह स्थान यादव नरेशो की राजधानी **देवगिरि** (दौलताबाद) से लगभग १६ मील दूर है, और वहा का शिलापर्वत अनेक गुफा-मदिरो से अलकृत है। यही **कैलाश** नामक शिव मदिर है जिसकी योजना और शिल्पकला इतिहास-प्रसिद्ध है। यहा बौद्ध, हिन्दू व जैन, तीनो सम्प्रदायो के शैल मदिर बडी सुन्दर प्रणाली के बने हुए है। यहा पाच जैन गुफाए है, जिनमे से तीन अर्थात् **छोटा कैलाश, इन्द्रसभा व जगन्नाथ सभा** कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। छोटा कैलाश एक ही पाषाण-शिला को काटकर बनाया गया है, और उसकी रचना कुछ छोटे आकार मे उपर्युक्त कैलाश मदिर का अनुकरण करती है। समूचा मदिर ८० फुट चौडा व १३० फुट ऊचा है। मंडप लगभग ३६ फुट लम्बा-चौडा है, और उसमे १६ स्तम्भ है। **इन्द्रसभा** नामक गुफा मंदिर की रचना इस प्रकार है:—पाषाण मे बने हुए द्वार से भीतर जाने पर कोई ५०×५० फुट चौकोर प्रागण मिलता है, जिसके मध्य मे एक पाषाण से निर्मित द्राविड़ी शैली का चैत्यालय है। इसके सम्मुख दाहिनी ओर एक हाथी की मूर्ति है, व उसके सम्मुख बाई ओर ३२ फुट ऊचा ध्वज-स्तंभ है। यहा से घूमकर पीछे की ओर जाने पर वह दुतल्ला सभागृह मिलता है जो इन्द्रसभा के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों तलो मे प्रचुर

चित्रकारी बनी हुई है। नीचे का भाग कुछ अपूर्ण सा रहा प्रतीत होता है, जिससे यह बात भी सिद्ध होती है कि इन गुफाओं का उत्कीर्णन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता था। ऊपर की शाला १२ सुखचित स्तम्भों से अलंकृत है। शाला के दोनों ओर भगवान् महावीर की विशाल प्रतिमाएं है, और पार्श्व कक्ष में इन्द्र व हाथी की मूर्तियां बनी हुई है। इन्द्रसभा की एक बाहिरी दीवाल पर पार्श्वनाथ की तपस्या व कमठ द्वारा उनपर किये गये उपसर्ग का बहुत सुन्दर व सजीव उत्कीर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानस्थ है, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है, व एक नागिनी छत्र धारण किये है। दो अन्य नागिनी भक्ति, आश्चर्य व दु.ख की मुद्रा में दिखाई देती हैं। एक ओर भैसे पर सवार असुर रौद्र मुद्रा मे शस्त्रास्त्रों सहित आक्रमण कर रहा है, व दूसरी ओर सिह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिये उद्यत है। नीचे की ओर एक स्त्री व पुरुष भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े खडे हैं। दक्षिण की दीवाल पर लताओ से लिपटी बाहुबलि की प्रतिमा उत्कीर्ण है। ये सब तथा अन्य शोभापूर्ण आकृतिया अत्यन्त कलापूर्ण है। अनुमानतः इन्द्रसभा की रचना तीर्थंकर के जन्म कल्याणकोत्सव की स्मृति मे हुई है, जबकि इन्द्र अपना ऐरावत हाथी लेकर भगवान् का अभिषेक करने जाता है। इन्द्रसभा की रचना के संबंध मे पर्सी ब्राउन साहब ने कहा है कि "इसकी रचना ऐसी सर्वांगपूर्ण, तथा शिल्पकला की चातुरी इतनी उत्कृष्ट है कि जितनी एलोरा के अन्य किसी मदिर मे नही पाई जाती। भित्तियो पर आकृतियो का उत्कीर्णन ऐसा सुन्दर तथा स्तम्भो का विन्यास ऐसे कौशल से किया गया है कि उसका अन्यत्र कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता।"

इन्द्रसभा के समीप ही जगन्नाथ सभा नामक चैत्यालय है, जिसका विन्यास इन्द्रसभा के सदृश ही है, यद्यपि प्रमाण मे उससे छोटा है। द्वार का तोरण कलापूर्ण है। चैत्यालय मे सिंहासन पर महावीर तीर्थंकर की पद्मासन मूर्ति है। दीवालों व स्तम्भों पर प्रचुरता से नाना प्रकार की सुन्दर मूर्तिया बनी हुई है। किन्तु अपने रूप मे सौन्दर्यपूर्ण होने पर भी सतुलन व सौष्ठव की दृष्टि से जो उत्कर्ष इन्द्रसभा की रचना मे दिखाई देता है, वह यहा व अन्यत्र कही भी नही है। इन गुफाओं का निर्माणकाल ८०० ई० के लगभग माना जाता है। बस, इस उत्कर्ष पर पहुंचकर केवल जैन-परम्परा में ही नही, किन्तु भारतीय परम्परा मे गुफा निर्माण कला का विकास समाप्त हो जाता है, और स्वतंत्र मंदिर निर्माण की कला उसका स्थान ग्रहण करती है।

नवमी शती का एक शिलामंदिर दक्षिण त्रावणकोर में त्रिवेन्द्रमनगरकोइल मार्ग पर स्थित कुजीयुर नामक ग्राम से पाच मील उत्तर की ओर पहाड़ी पर है, जो

अब श्री भगवती मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मंदिर पहाड़ी पर स्थित एक विशाल शिला को काटकर बनाया गया है, और सामने की ओर तीन ओर पाषाण-निर्मित भित्तियों से उसका विस्तार किया गया है। शिला के गुफा-भाग के दोनो प्रकोष्ठो में विशाल पद्मासन जिनमूर्तिया सिहासन पर प्रतिष्ठित है। शिला का समस्त आभ्यतर व बाह्य भाग जैन तीर्थकरो की कोई ३० उत्कीर्ण प्रतिमाओं से अलंकृत है। कुछ के नीचे केरल की प्राचीन लिपि वत्तजेत्यु मे लेख भी है, जिनसे उस स्थान का जैनत्व तथा निर्मितिकाल नौवी शती सिद्ध होता है। यत्र-तत्र जो भगवती देवी की मूर्तिया उत्कीर्ण हैं, वे स्पष्टतः उत्तरकालीन हैं। (जै० एण्टी० ८।१, पृ० २६)

अंकाई-तंकाई नामक गुफा-समूह येवला तालुके मे मनमाड रेलवे जंकशन से नौ मील दूर अंकाई नामक स्टेशन के समीप स्थित है। लगभग तीन हजार फुट ऊंची पहाड़ियो मे सात गुफाए है, जो है तो छोटी-छोटी, किन्तु कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रथम गुफा मे वरामदा, मडप व गर्भगृह हैं। सामने के भाग के दोनो खभो पर द्वारपाल उत्कीर्ण है। मडप का द्वार प्रचुर आकृतियो से पूर्ण है; अंकन बडी सूक्ष्मता से किया गया है। वर्गाकार मडप चार खम्भो पर आधारित है। गर्भगृह का द्वार भी शिल्पपूर्ण है। गुफा दुतल्ली है, व ऊपर के तल्ले पर भी शिल्पकारी पाई जाती है। दूसरी गुफा भी दुतल्ली है। नीचे का बरामदा २३ × १२ फुट है। उसके दोनो पार्श्वो मे स्वतत्र पाषाण की मूर्तिया है, जिनमे इन्द्र-इन्द्राणी भी है। सीढियो से होकर दूसरे तल पर पहुचते ही दोनो पार्श्वो मे विशाल सिहो की आकृतिया मिलती है। गर्भगृह ६ × ६ फुट है। तीसरी गुफा के मडप की छतपर कमल की आकृति *बडी सुन्दर है। उसकी पखुडिया चार कतारो मे दिखाई गई है, और उन पखुडियो पर देवियां वाद्य सहित नृत्य कर रही हैं। देव-देवियों के अनेक युगल नाना वाहनो पर आरूढ़ हैं। स्पष्टतः यह दृश्य तीर्थकर के जन्मकल्याणक के उत्सव का है। गर्भगृह मे मनुष्याकृति शातिनाथ व उनके दोनो ओर पार्श्वनाथ की मूर्तिया हैं। शातिनाथ के सिहासन पर उनका मृग लाछन, धर्मचक्र, व भक्त और सिह की आकृतिया बनी है। कंधो के ऊपर से विद्याधर और उनसे भी ऊपर गजलक्ष्मी की आकृतिया हैं। ऊपर से गंधर्वों के जोडे पुष्पवृष्टि कर रहे है। सबसे ऊपर तोरण बना है। चौथी गुफा का वरामदा ३० × ८ फुट है, एवं मडप १८ फुट ऊचा व २४ × २४ फुट लबा-चौडा है। बरामदे के एक स्तम्भ पर लेख भी है, जो पढ़ा नही जा सका; किन्तु लिपि पर से ११ वी शती का अनुमान किया जाता है। शैली आदि अन्य बातो पर से भी इन गुफाओं का निर्माण-काल यही प्रतीत होता है। शेष गुफाएं ध्वस्त अवस्था में है।

यद्यपि गुफा-निर्माण कला का युग बहुत पूर्व समाप्त हो चुका था, तथापि जैनी १५ वी शती तक भी गुफाओ का निर्माण कराते रहे। इसके उदाहरण हैं तोमर राजवंश कालीन **ग्वालियर की जैन गुफाएं**। जिस पहाडी पर ग्वालियर का किला बना हुआ है, वह कोई दो मील लम्बी, आधा मील चौडी, तथा ३०० फुट ऊची है। किले के भीतर स्थित सास-बहू का मदिर सन् १०९३ का बना हुआ है, और आदितः जैन मंदिर रहा है। किन्तु इस पहाडी मे जैन गुफाओ का निर्माण १५ वी शती मे हुआ पाया जाता है। सम्भवतः यहा गुफा-निर्माण की प्राचीन परम्परा भी रही होगी, और वर्तमान मे पाई जाने वाली कुछ गुफाएं १५ वी शती से पूर्व की हो तो आश्चर्य नही। किन्तु १५ वी शती मे तो जैनियो ने समस्त पहाडी को ही गुफामय कर दिया है। पहाडी के ऊपर, नीचे व चारो ओर जैन गुफाएं विद्यमान है। इन गुफाओं मे वह योजना-चातुर्य व शिल्प-सौष्ठव नही है जो हम पूर्वकालीन गुफाओ मे देख चुके है। परन्तु इन गुफाओ की विशेषता है उनकी सख्या, विस्तार व मूर्तियो की विशालता। गुफाए बहुत बडी-बड़ी है, व उनमे तीर्थंकरो की लगभग ६० फुट तक ऊची प्रतिमाएं देखने को मिलती हैं। उर्वाही द्वार पर के प्रथम गुफा-समूह मे लगभग २५ विशाल तीर्थंकर मूर्तियां हैं, जिनमे से एक ५७ फुट ऊची है। आदिनाथ व नेमिनाथ की ३० फुट ऊची मूर्तिया हैं। अन्य छोटी-बडी प्रतिमाएं भी है, किन्तु उनकी रचना व अलंकरण आदि मे कोई सौन्दर्य व लालित्य नही दिखाई देता। यहा से आधा मील ऊपर की ओर दूसरा गुफा-समूह है, जहा २० से ३० फुट तक की अनेक मूर्तिया उत्कीर्ण हैं। बावडी के समीप के एक गुफा ुंज में पार्श्वनाथ की २० फुट ऊंची पद्मासन मूर्ति, तथा अन्य तीर्थंकरो की कायोत्सर्ग मुद्रायुक्त अनेक विशाल मूर्तिया है। इसी के समीप यहा की सबसे विश ल गुफा है, जो यथार्थतः मदिर ही कही जा सकती है। यहा की प्रधान मूर्ति लगभग ६० फुट ऊंची है। इन गुफा-मदिरो मे अनेक शिलालेख भी मिले है, जिनसे ज्ञात होता है कि इन गुफाओ की खुदाई सन् १४४१ से लेकर १४७४ तक ३३ वर्षों मे पूर्ण हुई। यद्यपि कला की दृष्टि से ये गुफाएं अवनति की सूचक हैं, तथापि इतिहास की दृष्टि से उनका महत्व है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ो जैन गुफाएं देश भर के भिन्न-भिन्न भागो की पहाडियों मे यत्र-तत्र बिखरी हुई पाई जाती हैं। इनमें से अनेक का ऐतिहासिक व कला की दृष्टि से महत्व भी है; किन्तु उनका इन दृष्टियों से पूर्ण अध्ययन किया जाना शेष है। स्टैला क्रैमरिश के मतानुसार, देश में १२०० पाषाणोत्कीर्ण मदिर पाये जाते हैं, जिनमे से **९०० बौद्ध, १०० हिन्दू और २०० जैन** गुफा मंदिर हैं। (हिन्दू टेम्पिल्स, पृ० १६८)।

जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण में, फिर गुफा चैत्यों व बिहारो में, और तत्पश्चात् मंदिरों के निर्माण मे पाया जाता हैं। स्तूपो व गुफाओं का विकास जैन पराम्परा मे किस प्रकार हुआ, यह ऊपर देखा जा चुका है। किन्तु वास्तुकला ने मंदिरों के निर्माण मे ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मन्दिरो के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ११ वी शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध है। इन मन्दिरों के निर्माण मे अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्दिरो का निर्माण बिना उनकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नही हो सकता। पाषाण को काटकर गुफा-चैत्यो के निर्माण की कला का चरमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओ मे देख चुके है। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतत्र मन्दिरो के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतत्र सरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मन्दिरो के शिल्प मे बडा भेद है, जिसके विकास मे भी अनेक शतिया व्यतीत हुई होगी। इस सम्बन्ध मे उक्त काल से प्राचीनतर मदिरो का अभाव बहुत खटकता है।

प्राचीनतम बौद्ध व हिन्दू मन्दिरो के निर्माण की जो पांच शैलियां नियत की गई हैं, वे इस प्रकार है—(१) समतल छत वाले चौकोर मन्दिर, जिनके सम्मुख एक द्वारमंडप रहता है। (२) द्वारमडप व समतल छत वाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणा भी बनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुतल्ले भी बनते थे। (३) चौकोर मन्दिर जिनके ऊपर छोटा व चपटा शिखर भी बना रहता है। (४) वे लम्बे चतुष्कोण मन्दिर जिनका पिछला भाग अर्द्धवृत्ताकार रहता है, व छत कोठी (बैरल) के आकार का बनता था (५) वे वृत्ताकार मन्दिर जिनकी पीठिका चौकोर होती है।

इन शैलियों मे से चतुर्थ शैली का विकास बौद्धों की चैत्यशालाओं से व पांचवी का स्तूप-रचना से माना जाता है। चतुर्थ शैली के उदाहरण उसमानाबाद जिले के तेर नामक स्थान के मन्दिर व चेजरला (कृष्णा जिला) के कपोतेश्वर मन्दिर में पाये जाते है। ये चौथी- पाचवी शती के बने हैं, और आकार में छोटे है। इस शैली के दो अवान्तर भेद किये जाते हैं, एक नागर व दूसरा द्राविड़, जो आगे चलकर विशेष विकसित हुए; किन्तु जिनके बीज उपर्युक्त उदाहरणो मे ही पाये जाते है। पांचवी शैली का उदाहरण राजगृह के मणियार मठ (मणिनाग का मदिर) में मिलता है। प्रथम शैली

के बने हुए मंदिर सांची, तिगवा और ऐरण में विद्यमान है। दूसरी शैली के उदाहरण है—नाचना-कुठारा का पार्वती मदिर तथा भूमरा (म० प्र०) का शिवमंदिर (५-६वी शती) आदि। इसी शैली का उपर्युक्त ऐहोल का मेघुटी मंदिर है। तीसरी शैली के उदाहरण हैं—देवगढ़ (जिला झासी) का दशावतार मदिर तथा भीतरगाव (जिला कानपुर) का मंदिर व बोध गया का महाबोधि मंदिर, जिस रूप में कि उसे चीनी यात्री ह्वेन्त्साग ने देखा था। ये मदिर छठी शती के अनुमान किये जाते हैं।

जैन आयतन, चैत्यगृह, बिंब और प्रतिमा, व तीर्थ आदि के प्रचुर उल्लेख प्राचीनतम जैन शास्त्रो मे पाये जाते हैं (कुदकुंद : बोधपाहुड, ६२, आदि) दिगम्बर परम्परा की नित्य पूजा-वन्दना मे उन **सिद्धक्षेत्रों** को नमन करने का नियम है जहां से जैन तीर्थंकरों व अन्य प्रख्यात मुनियो ने निर्वाण प्राप्त किया। **निर्वाणकांड** नामक प्राकृत नमन-स्तोत्र मे निम्न सिद्धक्षेत्रो को नमस्कार किया गया है:—

सिद्ध क्षेत्र	ज्ञात नाम व स्थिति	किसका निर्वाण हुआ
१ अष्टापद	कैलाश (हिमालय मे)	प्र. तीर्थंकर ऋषभ, नागकुमार, व्याल-महाव्याल
२ चम्पा	भागलपुर (बिहार)	१२वे तीर्थं० वासुपूज्य
३ ऊर्जयन्त	गिरनार (काठियावाड)	२२वें तीर्थं० नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शम्बु, अनिरुद्ध
४ पावा	पावापुर (पटना, बिहार)	२४वे तीर्थं० महावीर
५ सम्मेदशिखर	पारसनाथ (हजारीबाग, बिहार)	शेष २० तीर्थंकर
६ तारनगर	तारंगा	वरदत्त, वरांग, सागरदत्त
७ पावागिरि	ऊन (खरगोन, म प्र.)	लाट नरेन्द्र, सुवर्णभद्रादि
८ शत्रुंजय	काठियावाड़	पाडव व द्रविड़ नरेन्द्र
९ गजपंथ	नासिक (महाराष्ट्र)	बलभद्र व अन्य यादव नरेन्द्र
१० तुगीगिरि	मागीतुगी (महाराष्ट्र)	राम, हनु, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील
११ सुवर्णगिरि	सोनागिर (झांसी, उ. प्र)	नंग-अनंगकुमार
१२ रेवातट	ओंकार मान्धाता (म. प्र.)	रावण के पुत्र
१३ सिद्धवरकूट	,, ,,	दो चक्रवर्ती
१४ चूलगिरि	बावनगजा (बडवानी, म.प्र.)	इन्द्रजित्, कुंभकर्ण

१५ द्रोणगिरि	फलहोडी (फलौदी, राजस्थान)	गुरुदत्तादि
१६ मेढगिरि	मुक्तागिर (बैतूल, म प्र)	साढे तीन कोटि मुनि
१७ कुथलगिरि	वशस्थल (महाराष्ट्र)	कुलभूषण, देशभूषण
१८ कोटिशिला	कलिगदेश (?)	यशोधर राजा के पुत्र
१९ रेशिदागिरि	(?)	वरदत्तादि पाच मुनि पार्श्वनाथ काल के

इनके अतिरिक्त प्राकृत **अतिशय-क्षेत्रकांड** मे मगलापुर, अस्सारम्य, पोदनपुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्र, जम्बूवन, निवडकुडली, होलागिरि और गोम्भटेश्वर की वन्दना की गई है। इन सभी स्थानो पर, जहा तक उनका पता चल सका है, एक व अनेक जिनमन्दिर, नाना काल के निर्मापित, तीर्थकरो के चरण-चिन्हो व प्रतिमाओ सहित आज भी पाये जाते है और प्रतिवर्ष सहस्त्रो यात्री उनकी वन्दना कर अपने को धन्य समझते हैं।

सबसे प्राचीन जैन मदिर के चिन्ह बिहार मे पटना के समीप **लोहानीपुर** मे पाये गये हैं, जहा कुमराहर और बुलदीबाग की मौर्यकालीन कला-कृतियो की परम्परा के प्रमाण मिले है। यहा एक जैन मदिर की नींव मिली है। यह मदिर ८ १० फुट वर्गाकार था। यहा की ईटे मौर्यकालीन सिद्ध हुई है। यही से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो मस्तकहीन जिनमूर्तिया मिली है, जो अब पटना सग्रहालय मे सुरक्षित है।

वर्तमान मे सबसे प्राचीन जैन मदिर जिसकी रूप रेखा सुरक्षित है, व निर्माण काल भी निश्चित है, वह है दक्षिण भारत मे बादामी के समीप **ऐहोल** का मेघुटी नामक जैन मंदिर जो कि वहा से उपलब्ध शिलालेखानुसार शक सवत् ५५६ (ई०६३४) में पश्चिमी चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के राज्यकाल मे रविकीर्ति द्वारा बनवाया गया था। ये रविकीर्ति मदिर-योजना मे ही नही, किन्तु काव्य-योजना मे भी अति प्रवीण और प्रतिभाशाली थे। यह बात उक्त शिलालेख की काव्य-रचना से तथा उसमे उनकी इस स्वयं उक्ति से प्रमाणित होती है कि उन्होने कविता के क्षेत्र मे कालिदास व भारवि की कीर्ति प्राप्त की थी। इस उल्लेख से न केवल हमे रविकीर्ति की काव्य-प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु उससे उक्त दो महा-कवियो के काल-निर्णय मे बडी सहायता मिली है, क्योकि इससे उनके काल की अन्तिम सीमा सुनिश्चित हो जाती है। यह मदिर अपने पूर्ण रूप मे सुरक्षित नही रह सका। उसका बहुत कुछ अंश ध्वस्त हो चुका है। तथापि उसका इतना भाग फिर भी सुरक्षित है कि जिससे उसकी

योजना व शिल्प का पूर्णज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यह मन्दिर गुप्त व चालुक्य काल के उक्त शैलियों संबन्धी अनेक उदाहरणों में सबसे पश्चात् कालीन है। अतएव स्वभावतः इसकी रचना में वह शैली अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई पाई जाती है। इसके तंत्र व स्थापत्य में एक विशेष उन्नति दिखाई देती है, तथा पूर्ण मन्दिर की कलात्मक सयोजना में ऐसा संस्कार व लालित्य दृष्टिगोचर होता है जो अन्यत्र नही पाया जाता। इसकी भित्तियों का वाह्य भाग संकरे स्तम्भाकार प्रक्षेपों से अलकृत है और ये स्तम्भ भी कोष्ठकाकार शिखरों से सुशोभित किये गये है। स्तम्भो के बीच का भित्ति भाग भी नाना प्रकार की आकृतियो से अलंकृत करने का प्रयत्न किया गयाहै। मन्दिर की समस्त योजना ऐसी संतुलित व सुसंगठित है कि उसमे पूर्वकालीन अन्य सब उदाहरणो से एक विशेष प्रगति हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। मन्दिर लम्बा चतुष्कोण आकृति का है और उसके दो भाग हैं : एक प्रदक्षिणा सहित गर्भगृह व दूसरा द्वारमंडप। मडप स्तम्भो पर आधारित है, और मूलतः सब ओर से खुला हुआ था, किन्तु पीछे दीवालो से घेर दिया गया है। मंडप और गर्भगृह एक सकरे दालान से जुडे हुए है। इस प्रकार अलकृति मे यह मंदिर अपने पूर्वकालीन उदाहरणो से स्पष्टत बहुत बढा-चढ़ा है, तथा अपनी निर्मिति की अपेक्षा अपने आगे की वास्तुकला के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाला सिद्ध होता है।

गुप्त व चालुक्य युग से पश्चात्कालीन वास्तुकला की शिल्प-शास्त्रो में तीन शैलिया निर्दिष्ट की गई है—**नागर, द्राविड़** और **बेसर**। सामान्यतः नागरशैली उत्तर भारत मे हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक प्रचलित हुई। द्राविड दक्षिण में कृष्णानदी से कन्याकुमारी तक, तथा वेसर मध्य-भारत मे विन्ध्य पर्वत और कृष्णानदी के बीच। किन्तु यह प्रादेशिक विभाग कडाई से पालन किया गया नही पाया जाता। प्रायः सभी शैलियो के मन्दिर सभी प्रदेशों मे पाये जाते हैं, तथापि आकृति-वैशिष्ट्य को समझने के लिये यह शैली-विभाजन उपयोगी सिद्ध हुआ है। यद्यपि शास्त्रो में इन शैलियो के भेद विन्यास, निर्मिति तथा अलंकृति की छोटी छोटी बातों तक का निर्दिष्ट किया गया है, तथापि इनका स्पष्ट भेद तो शिखर की रचना में ही पाया जाता है। **नागरशैली** का शिखर गोल आकार का होता है, जिसके अग्रभागपर कलशाकृति बनाई जाती है। आदि मे सम्भवतः इसप्रकार का शिखर केवल वेदी के ऊपर रहा होगा, किन्तु कमशः उसका इतना विस्तार हुआ कि समस्त मन्दिर की छत इसी आकार की बनाई जाने लगी। यह शिखराकृति औरों की अपेक्षा अधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण मानी गई है। इससे भिन्न **द्राविड़** शैली का मन्दिर एक स्तम्भाकृति

ग्रहण करता है, जो ऊपर की ओर क्रमशः चारों ओर सिकुड़ता जाता है, और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। ये छोटी-छोटी स्तूपिकाएं व शिखराकृतियाँ उसके नीचे के तलो के कोणो पर भी स्थापित की जाती है जिससे मन्दिर की बाह्याकृति शिखरमय दिखाई देने लगती है। बेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्रभाग पर चपटी ही रह जाती है, जिससे वह कोठी के आकार का दिखाई देता है। यह शैली स्पष्टतः प्राचीन चैत्यो की आकृति का अनुसरण करती है। आगामी काल के हिन्दू व जैन मन्दिर इन्ही शैलियो, और विशेषतः नागर व द्राविड शैलियो पर बने पाये जाते है।

ऐहोल का मेघुटी जैन मदिर द्राविड शैली का सर्व प्राचीन कहा जा सकता है। इसी प्रकार का दूसरा जैन मदिर इसी के समीप पट्टदकल ग्राम से पश्चिम की ओर एक मील पर स्थित है। इसमे किसी प्रकार का उत्कीर्णन नही है, व प्रागण का घेरा पूरा बन भी नही पाया है। किन्तु शिखर का निर्माण स्पष्टत द्राविडी शैली का है जो क्रमशः सिकुड़ती हुई भूमिकाओ द्वारा ऊपर को उठता गया है। क्रमोन्नत भूमिकाओ की कपोत-पालियो मे उसकी रूपरेखा का वही आकार-प्रकार अभिव्यक्त होता गया है। सबसे ऊपर सुन्दर स्तूपिका बनी है। इस मदिर के निर्माण का काल भी वही ७ वी ८वी शती है। यही शैली मद्रास से ३२ मील दक्षिण की ओर समुद्रतट पर स्थित मामल्लपुर के सुप्रसिद्ध रथो के निर्माण मे पाई जाती है। वे भी प्राय. इसी काल की कृतिया है।

द्राविड शैली का आगामी विकास हमे दक्षिण के नाना स्थानो मे पूर्ण व ध्वस्त अवस्था मे वर्तमान अनेक जैन मदिरो मे दिखाई देता है। इनमे से यहा केवल कुछ का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। तीर्थहल्लि के समीप हुंवच एक अति प्राचीन जैन केन्द्र रहा है व सन् ८९७ के एक लेख मे वहा के मंदिर का उल्लेख है। किन्तु वहाँ के अनेक मदिर ११ वी शती मे वीरसान्तर आदि सान्तरवंशी राजाओ द्वारा निर्मापित पाये जाते हैं। इनमें वही द्राविड शैली, वही अलंकरणरीति तथा सुन्दरता से उत्कीर्ण स्तम्भो की सत्ता पाई जाती है, जो इस काल की विशेषता है। जैन मठ के समीप आदिनाथ का मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। यह दुतल्ला है, जिसका ऊपरी भाग अभी कुछ काल पूर्व टीन के तख्तो से ढक दिया गया है। बाहरी दीवालो पर अत्युत्कृष्ट आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। किन्तु ये बहुत कुछ घिस व टूट फूट गई हैं। ऊपर के तल्ले पर जाने से मंदिर का शिखर अब भी देखा जा सकता है। इस मदिर मे दक्षिण भारतीय शैली की कास्य मूर्तियो का अच्छा सग्रह हैं। इसी मंदिर के समीप की पहाड़ी पर

बाहुबली मंदिर ध्वस्त अवस्था में विद्यमान है। किन्तु उसका गर्भगृह, सुखनासी, मंडप व सुन्दर सोपान-पथ तथा गर्भगृह के भीतर की सुन्दर मूर्ति अब भी दर्शनीय हैं। इस काल की कला का पूर्ण परिचय कराने वाला वह पंचकूट बस्ति नामक मंदिर है जो ग्राम के उत्तरी बाह्य भाग मे स्थित है। एक छोटे से द्वार के भीतर प्रांगण मे पहुंचने पर हमे एक विशाल स्तम्भ के दर्शन होते हैं, जिसपर प्रचुरता से सुन्दर चित्रकारी की गई है। आगे मुख्य मंदिर के गर्भालय मे एक स्तम्भमय मंडप से होकर पहुंचा जाता है। मंडप मे भी जैन देविया व यक्षिणिया स्थापित हैं। गर्भगृह के दोनो पार्श्वों मे भी दो अपेक्षाकृत छोटी भित्तिया हैं। इस मदिर से उत्तर की ओर वह छोटा सा पार्श्वनाथ मंदिर है जिसकी छत की चित्रकारी मे हमे तत्कालीन दक्षिण भारतीय शैली का सर्वोत्कृष्ट और अद्भुत स्वरूप देखने को मिलता है। इसी के सम्मुख चन्द्रनाथ मदिर है, जो अपेक्षाकृत पीछे का बना है।

तीर्थहल्लि से अगुम्बे की ओर जाने वाले मार्ग पर गुड्ड नामक तीन हजार फुट से अधिक ऊंची एक पहाडी है, जिस पर अनेक ध्वसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं, और उस स्थान को एक प्राचीन जैन तीर्थ सिद्ध करते है। एक पार्श्वनाथ मन्दिर अब भी इस पहाडी पर शोभायमान है, जो आसपास की सुविस्तृत पर्वत श्रेणियों व उर्वरा घाटियों को भव्यता प्रदान कर रहा है। पर्वत के शिखर पर एक प्राकृतिक जलकुड के तट पर इस मदिर का उच्च अधिष्ठान है। द्वार सुन्दरता से उत्कीर्ण है। सम्मुख मानस्तम्भ है। मडप के स्तम्भ भी चित्रमय हैं, तथा गर्भगृह मे पार्श्वनाथ की विशाल कायोत्सर्ग मूर्ति है जिसे एक दीर्घकाय नाग लपेटे हुए है, और ऊपर अपने सप्तमुखी फण की छाया किये हुए है। मूर्ति के शरीर पर नाग के दो लपेटे स्पष्ट दिखाई देते है, जैसा अन्यत्र प्रायः नही देखा जाता। पहाड के नीचे उतरते-हुए हमे जैन मदिरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं। तीर्थकरो की सुन्दर मूर्तिया व चित्रकारी-युक्त पाषाण-खंड प्रचुरता से यत्र-तत्र बिखरे दिखाई देते है, जिनसे इस स्थान का प्राचीन समृद्ध इतिहास आखों के सम्मुख झूल जाता है।

धारवाड जिले में गडग रेलवे स्टेशन से सात मील दक्षिण-पूर्व की ओर लकुंडी (लोक्कि गुडी) नामक ग्राम है, जहा दो सुन्दर जैन मन्दिर है। इनमे के बड़े मंदिर मे सन् ११७२ ई० का शिलालेख है। यह भी ऐहोल व पट्टदकल के मंदिरों के समान विशाल पाषाण-खंडो से बिना किसी चूने-सीमेन्ट के निर्मित किया गया है। नाना भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता हुआ द्राविडी शिखर सुस्पष्ट है। यहां खुरहरे रेतीले पत्थर का नही, किन्तु चिकने काले पत्थर का उपयोग किया गया; और इस

परिवर्तन के अनुसार स्थापत्य में भी कुछ सूक्ष्मता व लालित्य का वैशिष्टय आ गया है। ऊपर की ओर उठती हुई भूमिकाओं की कपोतपालियाँ भी कुछ विशेष सूक्ष्मता व लालित्य को लिये हुए हैं। कोनों पर व बीच-बीच मे टोपियो के निर्माण ने एक नवीन कलात्मकता उत्पन्न की है, जो आगामी काल मे उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। ऊपर के तल्ले में भी गर्भगृह व तीर्थंकर की मूर्ति है, तथा शिखर-भाग इतना ऊंचा उठा हुआ है कि जिससे एक विशेष भव्यता का निर्माण हुआ है। शिखर की स्तूपिका की बनावट में एक विशेष सतुलन दिखाई देता है। भित्तियो पर भी चित्रकारी की विशेषता है। छोटे-छोटे कमानीदार आलो पर कीर्तिमुखो का निर्माण एक नई कला है, जो इससे पूर्व की कृतियो मे प्रायः दृष्टिगोचर नही होती। ऐसे प्रत्येक आले मे एक-एक पद्मासन जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। भित्तिया स्तम्भाकृतियो से विभाजित है, जिनके कुछ अन्तरालो मे छोटी-छोटी मडपाकृतिया बनाई गई है। यहा महावीर भगवान् की बडी सुन्दर मूर्ति विराजमान थी जो इधर कुछ वर्षो से दुर्भाग्यत विलुप्त हो गई है। भीतरी मडप के द्वार पर पूर्वोक्त लेख खुदा हुआ है। ऊपर पद्मासन जिनमूर्ति है और उसके दोनो ओर चन्द्र-सूर्य दिखाये गये है। लकुडी के इस जैन मदिर ने द्राविड़ वास्तु-शिल्प को बहुत प्रभावित किया है।

द्राविड वास्तु-कला चालुक्य काल मे जिस प्रकार पुष्ट हुई वह हम देख चुके। इसके पश्चात् होय्सल राजवश के काल मे (१३ वी शती मे) उसमे और भी वैशिष्ट्य व सौष्ठव उत्पन्न हुआ जिसकी विशेषता है अलकरण की रीति मे समुन्नति। इस काल की वास्तु-कला, न केवल पूर्वकालीन पाषाणोत्कीर्णन कला को आगे बढाती है, किन्तु उसपर तत्कालीन दक्षिण भारत की चंदन, हाथीदात व धातु की निर्मितियो आदि का भी प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप पाषाण पर भी कारीगरो की छैनी अधिक कौशल से चली है। इस कौशल के दर्शन हमे **जिननाथपुर** व **हलेबीड** के जैनमन्दिरो मे होते हैं। जिननाथपुर श्रवण बेलगोला से एक मील उत्तर की ओर है। ग्राम का नाम ही बतला रहा है कि वहा जैन मंदिरो की प्रख्याति रही है। यहा का शातिनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। इसे रेचिमय्य नामक सज्जन ने बनवाकर सन् १२०० ई० के लगभग सागरनन्दि सिद्धान्तदेव को सौपा था। गर्भगृह के द्वारपालों की मूर्तिया देखने योग्य हैं। नवरग के स्तम्भो पर बड़ी सून्दर व बारीक चित्रकारी की गई है। छतों की खुदाई भी देखने योग्य है। बाह्य भित्तियो पर रेखा-चित्रो व वेल-बूटो की प्रचुरता से खुदाई की गईहै तथा तीर्थंकरो व यक्ष-यक्षियों आदिकी प्रतिमाएं भी सौन्दर्य-पूर्ण बनीहैं। गर्भगृह में शान्तिनाथ भगवान् की सिंहासनस्थ मूर्ति भी कौशलपूर्ण रीति से बनी है।

हलेबीड में होय्सलेश्वर मंदिर के समीप हल्लि नामक ग्राम में एक ही घेरे के भीतर तीन जैनमंदिर हैं, जिनमे पार्श्वनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। मंदिर के अधिष्ठान व बाह्य भित्तियों पर बडी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। नवरंग मंडप में शिखर युक्त अनेक वेदिकाएं हैं, जिनमें पहले २४ तीर्थकरो की मूर्तियां प्रतिष्ठित रही होगी। छत की चित्रकारी इतनी उत्कृष्ट है कि जैसी सम्भवतः हलेबीड भर मे अन्यत्र कहीं नही पाई जाती। यह छत १२ अतिसुन्दर आकृति वाले काले पाषाण के स्तम्भों पर आधारित है। इन स्तम्भो की रचना, खुदाई और सफाई देखने योग्य है। उनकी घुटाई तो ऐसी की गई है कि उसमे आज भी दर्शक दर्पण के समान अपना मुख देख सकता है। पार्श्वनाथ की १४ फुट ऊंची विशाल मूर्ति सप्तफणी नाग से युक्त है। मूर्ति की मुखमुद्रा सच्चे योगी की ध्यान व शान्ति की छटा को लिये हुए है। शेष दो आदिनाथ व शांतिनाथ के मंदिर भी अपना अपना सौन्दर्य रखते है। ये सभी मन्दिर १२वी शती की कृतिया है।

होय्सल काल के पश्चात् विजयनगर राज्य का युग प्रारम्भ होता है, जिसमें द्राविड वास्तु-कला का कुछ और भी विकास हुआ। इस काल की जैन कृतियो के उदाहरण **गनीगित्ति, तिरूमल्लाड, तिरुपरुत्तिकुंडरम, तिरुप्पनमूर, मूडबिद्री** आदि स्थानो मे प्रचुरता से पाये जाते है। इनमे वर्तमान मे सबसे प्रसिद्ध मूड़विद्री का चन्द्र-नाथ मदिर है, जिसका निर्माण १४वी शती मे हुआ है। यह मंदिर एक घेरे के भीतर है। द्वार से प्रवेश करने पर प्रागण मे अतिसुन्दर मानस्तम्भ के दर्शन होते है। मन्दिर मे लगातार तीन मंडप-शालाएं है, जिनमे होकर विमान (शिखर युक्त गर्भगृह) मे प्रवेश होता है। मडपों के अलग-अलग नाम है—तीर्थंकरमंडप, गद्दीमंडप व चित्रमंडप। मंदिर की बाह्याकृति काष्ठ-रचना का स्मरण कराती है। किन्तु भीतरी समस्त रचना पाषाणोचित ही है। स्तम्भ बडे स्थूल और कोई १२ फुट ऊंचे है, जिनका निचला भाग चौकोर है व शेष ऊपरी भाग गोलाकर घुमावदार व कमल-कलियों की आकृतियों से अलंकृत है। चित्रमडप के स्तम्भ विशेष रूप से उत्कीर्ण है। उनपर कमलदलों की खुदाई असाधारण सौष्ठव और सावधानी से की गई है।

जैन बिहार का सर्वप्रथम उल्लेख **पहाड़पुर** (जिला राजशाही-बंगाल) के उस ताम्रपत्र के लेख मे मिलता है जिसमे पंचस्तूप निकाय या कुल के निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहनंदि तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों से अधिष्ठित बिहार मंदिर में अर्हतों की पूजा-अर्चा के निमित्त अक्षयदान दिये जाने का उल्लेख है। यह गुप्त सं० १५९ (ई० ४७२) का है। लेख में इस बिहार की स्थिति बट-गोहाली में बतलाई गई है। अनुमानतः यह

बिहार वही होना चाहिये जो पहाड़पुर की खुदाई से प्रकाश मे आया है। सातवी शती के पश्चात् किसी समय इस बिहार पर बौद्धो का अधिकार हो गया, और वह सोमपुर महाबिहार के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु ७ वी शती मे हुवेनत्साग ने अपने यात्रा वर्णन में इस बिहार का कोई उल्लेख नही किया, जिससे स्पष्ट है कि उस समय तक वह बौद्ध केन्द्र नही बना था। बैन्जामिन रोलेन्ड (आर्ट एन्ड आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया) के मतानुसार अनुमानतः पहले यह ब्राह्मणो का केन्द्र रहा है, और पीछे इस पर बौद्धों का अधिकार हुआ। किन्तु यह बात सर्वथा इतिहास-विरुद्ध है। एक तो उस प्राचीन काल मे उक्त प्रदेश मे ब्राह्मणो के ऐसे केन्द्र या देवालय आदि स्थापित होने के कोई प्रमाण नही मिलते, और दूसरे बौद्धो ने कभी ब्राह्मण आयतनो पर अधिकार किया हो, इसके भी उदाहरण पाना दुर्लभ है। उक्त ताम्रपटलेखके प्रकाश से यह सिद्ध हो जाता है कि यहा पाचवी शताब्दी मे जैन बिहार विद्यमान था, और इस स्थान का प्राचीन नाम वट-गोहाली था। सम्भव है यहा उस समय कोई महान् वटवृक्ष रहा हो, और उसके आसपास जैन मुनियो के निवास योग्य गुफाओ की आवली (पक्ति) रही हो, जिससे इसका नाम वट-गोहाली (वट-गुफा-आवली) पड़ गया हो। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, षट्खडागम के प्रकाण्ड विद्वान् टीकाकार बीरसेन और जिनसेन इसी पचस्तूपान्वय के आचार्य थे। अतएव यह जैन बिहार विद्या का भी महान् केन्द्र रहा हो तो आश्चर्य नही। प्रतीत होता है ई० की प्रारम्भिक शताब्दियो मे पूर्व मे यह वट-गोहाली बिहार, उत्तर मे मथुरा का विहार, पश्चिम मे सौराष्ट्र मे गिरिनगर की चन्द्र-गुफा, और दक्षिण मे श्रवणबेलगोला, ये देश की चारो दिशाओ मे धर्म व शिक्षा प्रचार के सुदृढ़ जैन केन्द्र रहे है।

खुदाई से अभिव्यक्त पहाड़पुर बिहार बड़े विशाल आकार का रहा है, और अपनी रचना व निर्मिति मे अपूर्व गिना गया है। इसका परकोटा कोई एक हजार वर्ग का रहा है, जिसके चारो ओर १७५ से भी अधिक गुफाकार कोष्ठ रहे है। इस चौक की चारो दिशाओ मे एक-एक विशाल द्वार रहा है, और चौक के ठीक मध्य मे स्वस्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मदिर है, जो लगभग साढ़े तीन सौ फुट लम्बा-चौडा है। उसके चारो ओर प्रदक्षिणा बनी हुई है। मदिर तीन तल्लो का रहा है, जिसके दो तल्ले प्रत्यक्ष दिखाई देते है। विद्वानो ने इस बिहार की रचना को बड़ा विलक्षण (अपूर्व) माना है, तथा उसकी तुलना बर्मा के पैगाम तथा जावा के लोरो जोन्ग्राग आदि मंदिरों से की है। किन्तु स्पष्टतः जैन परम्परा में चतुर्मुखी मदिरो का प्रचार बराबर चला आया है व आबू के चौमुखी मदिर मे भी पाया जाता है, और दीक्षित महोदय ने इस

सभावना का सकेत भी किया है। (भा० वि० भ० इति० भाग ५-६३७)

मध्यभारत मे आने पर हमें दो स्थानो पर प्राचीन जैन तीर्थों के दर्शन होते हैं। इनकी विख्याति शताब्दियो तक रही, और क्रमशः अधिकाधिक मदिर निर्माण होते रहे और उनमे मूर्तिया प्रतिष्ठित कराई जाती रही, जिनसे ये स्थान देवनगर ही बन गये। इनमें से प्रथम स्थान है—**देवगढ़** जो झासी जिले के अन्तर्गत ललितपुर रेलवे स्टेशन से १९ मील तथा जारवलौन स्टेशन से ९ मील दूर बेतवा नदी के तट पर है। देवगढ़ की पहाडी कोई एक मील लम्बी व ६ फर्लांग चौडी है। पहाडी पर चढते हुए पहले गढ के खडहर मिलते है, जिनकी पाषाण-कारीगरी दर्शनीय है। इस गढ़ के भीतर क्रमशः दो और कोट है, जिनके भीतर अनेक मदिर जीर्ण अवस्था मे दिखाई देते हैं। कुछ मंदिर हिन्दू है, किन्तु अधिकाश जैन, जिनमे ३१ मदिर गिने जा चुके है। इनमे मूर्तियो, स्तम्भो, दीवालो, शिलाओं आदि पर शिलालेख भी पाये गये है, जिनके आधार से इन मदिरो का निर्माण आठवी से लेकर बारहवी शती तक का सिद्ध होता है। सबसे बड़ा १२ वे नम्बर का शातिनाथ मदिर है, जिसके गर्भगृह मे १२ फुट ऊची खड्गासन प्रतिमा है। गर्भगृह के सम्मुख लगभग ४२ फुट का चौकोर मडप है जिसमे छह-छह स्तम्भो की छह कतारे है। इस मडप के मध्य मे भी वेदी पर एक मूर्ति विराजमान है। मंडप के सम्मुख कुछ दूरी पर एक और छोटा सा चार स्तम्भो का मंडप है जिनमे से एक स्तम्भ पर भोजदेव के काल (वि० स० ९१९, ई० सन् ८६२) का एक लेख भी उत्कीर्ण है। लेख मे वि० सं० के साथ-साथ शक स० ७८४ का भी उल्लेख है। बडे मडप मे बाहुबली की एक मूर्ति है जिसका विशेष वर्णन आगे करेगे। यथार्थत. यही मदिर यहा का मुख्य देवालय है, और इसी के आसपास अन्य व अपेक्षाकृत इससे छोटे मदिर है। गर्भगृह और मुखमडप प्रायः सभी मदिरो का दिखाई देता है, या रहा है। स्तम्भो की रचना विशेष दर्शनीय है। इनमे प्रायः नीचे-ऊपर चारो दिशाओ मे चार-चार मूर्तियां उत्कीर्ण पाई जाती है। यत्र-तत्र भित्तियो पर भी प्रतिमाएं उत्कीर्ण है। कुछ मदिरो के तोरण-द्वार भी कलापूर्ण रीति से उत्कीर्ण है। कही-कही मंदिर के सम्मुख मानस्तम्भ भी दिखाई देता है। प्रथम मदिर प्रायः १२ वें मदिर के सदश, किन्तु उससे छोटा है। पाचवां मदिर सहस्रकूट चैत्यालय है, जो बहुत कुछ अक्षत है और उसके कूटो पर कोई १००८ जिन प्रतिमाएं उत्कीर्ण है। जिन मदिरो के शिखरों का आकार देखा या समझा जा सकता है, उन पर से इनका निर्माण नागर शैली का सुस्पष्ट है। पुरातत्व विभाग की सन् १९१८ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार देवगढ़ से कोई २०० शिलालेख मिले है, जिनमे से कोई ६० मे उनका लेखन-काल भी

अंकित है, जिनसे वे वि० सं० ६१६ से लेकर वि० सं० १८७६ तक के पाये जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस क्षेत्र का महत्व १६ वी शती तक बना रहा है। लिपि-विकास व भाषा की दृष्टि से भी इन लेखो का बडा महत्व है।

मध्य भारत का दूसरा देवालय-नगर **खजराहो** छतरपुर जिले के पन्ना नामक स्थान से २७ मील उत्तर व महोवा से ३४ मील दक्षिण की ओर है। यहा शिव, विष्णु व जैन मंदिरों की ३० से ऊपर सख्या है। जैन मंदिरों मे विशेष उल्लेखनीय तीन हैं—पार्श्वनाथ, आदिनाथ, और शांतिनाथ-जिनमें प्रथम पार्श्वनाथ सबसे बड़ा है। इसकी लम्बाई चौड़ाई ६८ × ३४ फुट है। इसका मुखमडप ध्वस्त हो गया है। महामंडप, अन्तराल और गर्भगृह सुरक्षित हैं और वे एक ही प्रदक्षिणा-मार्ग से घिरे हुए हैं। गर्भगृह से सटकर पीछे की ओर एक पृथक् देवालय बना हुआ है, जो इस मंदिर की एक विशेषता है। प्रदक्षिणा की दीवार मे आभ्यन्तर की ओर स्तम्भ हैं, जो छत को आधार देते हैं। दीवार मे प्रकाश के लिये जालीदार वातायन है। मडप की छत पर का उत्कीर्णन उत्कृष्ट शैली का है। छत के मध्य मे लोलक को बेलबूटो व उडती हुई मानवाकृतियो से अलंकृत किया गया है। प्रवेशद्वार पर गरुडवाहिनी दशभुज (सरस्वती) मूर्ति भी बडी सुन्दर बनी है। गर्भगृह की बाह्य भित्तियो पर अप्सराओं की मूर्तिया इतनी सुन्दर है कि उन्हे अपने ढग की सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। उत्तर की ओर बच्चे को दूधपिलाती हुई, पत्र लिखती हुई, पैर मे से काटा निकालती हुई एव शृगार करती हुई स्त्रियो आदि की मूर्तिया इतनी सजीव और कलापूर्ण है कि वैसी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ये सब भाव लौकिक जीवन के सामान्य व्यवहारो के है, धार्मिक नही। यह इस मंदिर की कलाकृतियों की अपनी विशेषता है। सबसे बाहर की भित्तियो पर निचले भाग मे कलापूर्ण उत्कीर्णन है और ऊपर की ओर अनेक पट्टियों मे तीर्थंकरो एव हिन्दू देव-देवियो की बडी सुन्दर आकृतिया बनी है। इस प्रकार इस मंदिर मे हम नाना धर्मों, एव धार्मिक व लौकिक जीवन का अद्भुत समन्वय पाते हैं। मन्दिर के गर्भगृह मे वेदी भी बड़ी सुन्दर आकृति की बनी है, और उसपर बैल की आकृति उत्कीर्ण है। इससे प्रतीत होता है कि आदितः इस मंदिर के मूल नायक वृषभनाथ तीर्थंकर थे, क्योकि वृषभ उन्ही का चिन्ह है। अनुमानतः वह मूर्ति कसी समय नष्ट-भ्रष्ट हो गई और तत्पश्चात् उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की वर्तमान मूर्ति स्थापित कर दी गई। मंदिर व सिंहासन की कलापूर्ण निर्मिति की अपेक्षा यह मूर्ति हीन-कलात्मक है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। ऐसी ही कुछ स्थिति आदिनाथ मंदिर की भी है, क्योकि उसमें जो आदिनाथ की मूर्ति विराजमान है वह

सिंहासन के प्रमाण से छोटी तथा कला की दृष्टि से सामान्य है। यह मंदिर पार्श्वनाथ मंदिर के समीप ही उत्तर की ओर स्थित है। इस मंदिर में भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन ही कोष्ठ हैं, जिनमें से अर्द्धमंडप बहुत पीछे का बना हुआ है। इसके प्रवेश द्वार पर चतुर्भुज देवी की मूर्ति है और उससे ऊपर १६ स्वप्नों के चिन्ह उत्कीर्ण हैं। शान्तिनाथ मंदिर की विशेषता यह है कि उसमे शान्तिनाथ तीर्थंकर की १५ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा विराजमान है, जिसकी प्रतिष्ठा का काल वि० सं० १०८५ ई० (सन् १०२८) अंकित है। इसी से कुछ पूर्व इस मंदिर का निर्माण हुआ होगा। शेष मंदिरों का निर्माण-काल भी इसी के कुछ आगे-पीछे का प्रतीत होता है। इस मूर्ति के अतिरिक्त वहा पाई जाने वाली अन्य तीर्थंकरो व यक्ष-यक्षणियो की मूर्तियां कलापूर्ण हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के दोनो पार्श्वो मे प्रायः दो चमर-वाहक, सम्मुख बैठी हुई दो उपासिकाएं तथा मूर्तियो के अगल-बगल कुछ ऊपर हस्ति-आरुढ इन्द्र व इन्द्राणी की आकृतिया पाई जाती है; तथा पीठपर दोनो ओर सिह की आकृतिया भी दिखाई देती है। खजराहो के ये समस्त मंदिर अधिष्ठान से शिखर तक नाना प्रकार की कलापूर्ण आकृतियों से उत्कीर्ण हैं।

खजराहो के जैन मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनमें मंडप की अपेक्षा शिखर की रचना का ही अधिक महत्व है। अन्यत्र के समान भमिति और देव-कुलिकाए भी नही है, तथा रचना व अलंकृति मे जिनमूर्तियो के अतिरिक्त अन्य ऐसी विशेषता नही है जो उन्हे यहा के हिन्दू व बौद्ध मन्दिरो से पृथक् करती हो। एक ही काल और सम्भवत. उदार सहिष्णु एक ही नरेश के सरक्षण मे बनवाये जाने से उनमे विचार-पूर्वक समत्व रखा गया प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पाये जाने वाले दो अन्य मन्दिरो के सम्बन्ध मे जेम्स फरगुसन साहब का अभिमत उल्लेखनीय है। चौसठ योगिनी मन्दिर की भमिति व देवकुलिकाओ के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि "मन्दिर निर्माण की यह रीति यहाँ तक जैन विशेषता लिये हुए है कि इसके मूलतः जैन होने मे मुझे कोई सशय नही है।" मध्यवर्ती मन्दिर अब नही है, और फर्गुसन साहब के मतासुसार आश्चर्य नही जो वह प्राचीन बौद्ध चैत्यो के समान काष्ठ का रहा हो। और यदि यह बात ठीक हो तो यही समस्त प्राचीनतम जैन मन्दिर सिद्ध होता है। उसी प्रकार घंटाई मन्दिर के अवशिष्ट मंडप को भी वे उसकी रचनाशैली पर से जैन स्वीकार करते हैं। इसमे प्राप्त खंडित लेख की लिपि पर से कनिघम साहब ने उसे छठी-सातवी शती का अनुमान किया है, और फर्गुसन साहब उसकी शैली पर से भी यही काल-निर्णय करते हैं।

ग्वालियर राज्य में विदिशा से १४० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर ग्यारसपुर

मे भी एक भग्न जैन मन्दिर का मडप विद्यमान है, जो अपने विन्यास व स्तम्भों की रचना आदि में खजराहो के घंटाई मंडप के ही सदृश है। उसका निर्माण-काल भी फर्गुसन साहब ने सातवी शती, अथवा निश्चय ही १० वी शती से पूर्व, अनुमान किया है। इसी ग्यारसपुर मे सभवत: इसी काल का एक अन्य मन्दिर भी है जो इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है और उसका जीर्णोद्धार इस तरह किया गया है कि उसका समस्त मौलिक रूप ढक गया है। यहाँ ग्राम मे एक संभवत. ११ वी शती का अति-सुन्दर पाषाण-तोरण भी है। यथार्थत: फर्गुसन साहब के मतानुसार वहा आसपास के समस्त प्रदेश मे इतने भग्नावशेष विद्यमान है कि यदि उनका विधिवत् सकलन व अध्ययन किया जाय तो भारतीय वास्तु-कला, और विशेषत. जैन वास्तुकला, के इतिहास के बडे दीर्घ रिक्त स्थानो की पूर्ति की जा सकती है।

मध्यप्रदेश मे तीन और जैन तीर्थ है जहा पहाडियो पर अनेक प्राचीन मन्दिर बने हुए है, और आज तक भी नये मन्दिर अविच्छिन्न क्रम से बनते जाते है। ऐसा एक तीर्थ बुंदेलखंड मे दतिया के समीप सुवर्णगिरि (सोनागिरि) है। यहा एक नीची पहाडी पर लगभग १०० छोटे-बडे एव नाना आकृतियो के जैन मन्दिर है। जिस रूप मे ये मन्दिर विद्यमान है वह बहुत प्राचीन प्रतीत नही होता। उसमे मुसलमानी शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके शिखर प्राय. मुगलकालीन गुम्बज के आकार के है। शिखर का प्राचीन स्वदेशीय रूप क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है, और खुले भागो का रूप मुसलमानी कोणाकार तोरण जैसा दिखाई देता है। यद्यपि इसका इतिहास स्पष्ट नही है कि इस तीर्थक्षेत्र मे प्रचीनतम मन्दिर कब, क्यो और कैसे बने, तथापि इसकी कुछ सामग्री वहाँ के उक्त मन्दिरो, मूर्तियां व लेखो के अध्ययन से संकलित की जा सकती है।

दूसरा तीर्थक्षेत्र बैतूल जनपदान्तर्गत मुक्तागिरि है। यहाँ एक अतिसुन्दर पहाडी की घाटी के समतल भाग मे कोई २०-२५ जैन मन्दिर है, जिनके बीच लगभग ६० फुट ऊंचा जलप्रपात है। इसका दृश्य विशेषतः वर्षाकाल मे अत्यन्त रमणीक प्रतीत होता है। ये मन्दिर भी सोनागिरि के समान बहुत प्राचीन नही है, और अपने शिखर आदि के सबध मे मुसलमानी शैली का अनुकरण करते है। किन्तु यहा की मूर्तियों पर के लेखो से ज्ञात होता है कि १४ वी शती मे यहा कुछ मदिर अवश्य रहे होंगे। इस तीर्थ के विषय मे श्री जेम्स फर्गुसन साहब ने अपनी हिस्ट्री ऑफ इंडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (लदन, १८७६) मे कहा है कि "समस्त भारत मे इसके सदृश दूसरा स्थान पाना दुर्लभ है, जहां प्रकृति की शोभा का वास्तुकला के साथ ऐसा सुन्दर सामं-

जस्य हुआ हो।"

मध्यप्रदेश का तीसरा जैन तीर्थ दमोह के समीप कुंडलपुर नामक स्थान है, जहां एक कुंडलाकार पहाड़ी पर २५-३० जैन मंदिर बने हुए है। पहाड़ी के मध्य एक घाटी में बना हुआ महावीर का मदिर अपनी विशालता, प्राचीनता व मान्यता के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यहां बड़ेबाबा महावीर की विशाल मूर्ति होने के कारण यह बड़ेबाबा का मंदिर कहलाता है। पहाडी पर का प्रथम मंदिर भी अपने सौन्दर्य व रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने शिखर के छह तल्लो के कारण यह छह घरिया का मंदिर कहलाता है। अधिकाश मंदिरो मे पूर्वोक्त तीर्थ-क्षेत्रो के सदृश मुगलशैली का प्रभाव दिखाई देता है। पहाडी के नीचे का तालाब और उसके तटवर्ती नये मदिरो की शोभा भी दर्शनीय है।

मध्यप्रदेश के जिला नगर खरगोन से पश्चिम की ओर दश मील पर ऊन नामक ग्राम में तीन-चार प्राचीन जैन मन्दिर है। इनमे से एक पहाडी पर है जिसकी मरम्मत होकर अच्छा तीर्थस्थान बन गया है। शेष मन्दिर भग्नावस्था मे पुरातत्व विभाग के संरक्षण मे है। मन्दिर पूर्णत: पाषाण-खडो से निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह और सभामडप युक्त तथा प्रदक्षिणा-रहित हैं जिनसे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो के मन्दिरो की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मन्दिर **चौबारा डेरा** कहलाते है। खभो पर की कुछ पुरुष-स्त्री रूप आकृतियां शृंगारात्मक अतिसुन्दर और पूर्णत. सुरक्षित है। कुछ प्रतिमाओ पर लेख है जिनमे सवत् १२५८ व उसके आसपास का उल्लेख है। अतः यह तीर्थ कम से कम १२-१३ वी शती का तो अवश्य है। इस तीर्थ स्थान को प्राचीन सिद्धक्षेत्र **पावागिरि** ठहराया गया है जिसका **प्राकृत निर्वाणकाण्ड** मे निम्न प्रकार दो बार उल्लेख आया है:—

> रायसुआ वेण्णि जणा लाड-णरिंदाण पंच-कोडीओ।
> **पावागिरि**-वर-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसि ॥५॥
> **पावागिरि**-वर-सिहरे सुवण्णभद्दाइ-मुणिवरा चउरो।
> चलणा-णई-तडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसि ॥१३॥

यहां पावागिरि से लाट (गुजरात) के नरेशो तथा सुवर्णभद्रादि चार मुनियों द्वारा निर्वाण प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। यह प्रदेश गुजरात से लगा हुआ है। उल्लिखित चलना या चेलना नदी संभवतः ऊन के समीप बहने वाली वह सरिता है जो अब चदेरी या चिरूड कहलाती है। नि. कां. की उपर्युक्त १३ वी गाथा से पूर्व ही

रेवा (नर्मदा) के उभयतट, उसके पश्चिम तट पर **सिद्धवर कूट** तथा बडवानी नगर के दक्षिणमें **चूलगिरि** शिखर का सिद्ध क्षेत्र के रूप में उल्लेख हैं। इन्ही स्थलों के समीपवर्ती होने से यह स्थान पावागिरि प्रमाणित होता है। ग्राम के आसपास और भी अनेक खडहर दिखाई देते हैं। जनश्रुति है कि यहां बल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मन्दिर बनवाने का सकल्प किया था, किन्तु अपने जीवन मे वह ९९ ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मन्दिर कम रह जाने से यह स्थान **'ऊन'** नाम से प्रसिद्ध हुआ (इन्दौर स्टेट गजैटियर, भाग १ पृ० ६६६)। हो सकता है ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये ही यह आख्यान गढ़ा हो। किन्तु यदि उसमे कुछ ऐतिहासिकता हो तो बल्लाल नरेश होयसल वश के वीर-बल्लाल (द्वि०) हो सकते है जिनके गुरु एक जैन मुनि थे। (पृ० ४०)

मध्यप्रदेश के पश्चात् हमारा ध्यान राजपूताने के मदिरो की ओर जाता है। अजमेर के समीप **बड़ली** ग्राम से एक स्तम्भ-खड मिला है जिसे वहा के भैरोजी के मंदिर का जारी तमाखू कूटने के काम मे लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खंड रहा है जिसके तीन पहलू इस पापाण-खंड मे सुरक्षित हैं, और उनपर १३ × १०½ इच स्थान मे एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानो के मतानुसार अशोक की लिपिओ से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है, और उपलब्ध लेख-खड पर से इतना स्पष्ट पढा जाता है कि वीर भगवान् के लिये, अथवा भगवान् के, ८४ वे वर्ष मे मध्यमिका मे कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर-निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) मे दक्षिण-पूर्व राजपूताने की उस अति-प्राचीन व इतिहास-प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी में कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

दुर्भाग्यत इसके दीर्घकाल पश्चात् तक की कोई निर्मितिया हमे उपलब्ध नही हैं। किन्तु साहित्य मे प्राचीन जैन मन्दिरो आदि के बहुत से उल्लेख मिलते है। उदाहरणार्थ, जैन हरिवशपुराण की प्रशस्ति मे इसके कर्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक सवत् ७०५ (ई० ७८३) में उन्होने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मदिर) की अन्नराज-वसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वही के शान्तिनाथ मन्दिर में बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर मे इन्द्रायुध, दक्षिण मे कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ व पश्चिम में वत्सराज तथा सौरमंडल मे वीरवराह नामक राजाओं का राज्य था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान वढ़वान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने एक लेख में सिद्ध किया है कि

हरिवंशपुराण में उल्लिखित वर्धमानपुर मध्यप्रदेश के धार जिले में स्थित वर्तमान बदनावर है, जिससे १० मील दूरी पर स्थित वर्तमान दुतरिया नामक गाव प्राचीन दोस्तरिका होना चाहिये, जहां की प्रजा ने, जिनसेन के उल्लेखानुसार, उस शान्तिनाथ मंदिर में विशेष पूजा-अर्चा का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर मे आठवी शती में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ के दो जैन मदिरो का होना सिद्ध होता है। शान्तिनाथ मंदिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा। इसका प्रमाण हमे बदनावर से प्राप्त अच्छुप्ता-देवी की मूर्ति पर के लेख मे पाया जाता है, क्योकि उसमे कहा गया है कि सम्वत् १२२६ (ई० ११७२) की वैशाख कृष्ण सप्तमी को वह मूर्ति वर्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में स्थापित की गई (जैन सि० भा० १२, २, पृ० ६ आदि, तथा जैन एन्टी-क्वेरी १७, २, पृ० ५६)। इसके पश्चात् वहा के उक्त मन्दिर कब ध्वस्त हुए, कहा नही जा सकता।

जोधपुर से पश्चिमोत्तर दिशा मे ३२ मील पर **ओसिया** रेलवे स्टेशन के समीप ही ओसिया नामक ग्राम के बाह्य भाग मे अनेक प्राचीन हिन्दू और जैन मदिर हैं, जिनमे महावीर मदिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मंदिर एक घेरे के बीच मे स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने हैं। मदिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषत उसके मडप के स्तम्भो की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि-रचना नागर शैली की है। यहा एक शिलालेख भी है, जिसमे उल्लेख है कि ओसिया का महावीर मंदिर गुर्जर-प्रतीहार नरेश वत्सराज (नागभट द्वितीय के पिता ७७०-८०० ई०) के समय मे विद्यमान था, तथा उसका महामडप ई० सन् ६२६ मे निर्माण कराया गया था। मंदिर मे पीछे भी निर्माण-कार्य होता रहा है, किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नही होने पाया। उसका कलात्मक सन्तुलन बना हुआ है, और ऐतिहासिक महत्व रखता है।

मारवाड़ मे ही दो और स्थानो के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। फालना रेलवे स्टेशन के समीप **सावडी** नामक ग्राम मे ११ वी शती से १६ वी शती तक के अनेक हिन्दू व जैन मन्दिर हैं। विशेष महत्वपूर्ण जैन मन्दिर वर्तमान जैन धर्मशाला के घेरे मे स्थित है। शैली मे ये मन्दिर पूर्वोक्त प्रकार के ही है, और शिखर नागर शैली के ही बने हुए हैं। मारवाड़-जोधपुर रेलवे लाइन पर मारवाड़-पल्ली स्टेशन के समीप **नौलखा** नामक वह जैन मन्दिर है जिसे अल्हणदेव ने सम्बत् १२१८ (ई० सन् ११६१) मे बनवाया था। किन्तु इसमे जो तीर्थकरों की मूर्तिया हैं उनमें वि० सं० ११४४ से १२०१ तक के लेख पाये जाते है जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त मन्दिर

से पूर्व भी यहां मन्दिर रहा है।

अब हम आबू के जैन मन्दिरो पर आते हैं, जहा न केवल जैन कला, किन्तु भारतीय वास्तुकला अपने सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप में पाई जाती है। आबूरोड स्टेशन से कोई १८ मील, तथा आबू कैम्प से सवा मील पर देलवाड़ा नामक स्थान है, जहां ये जैन मन्दिर पाये जाते है। ग्राम के समीप समुद्रतल से चार-पाच हजार फुट ऊंची पहाडी पर एक विशाल परकोटे के भीतर विमल-वसही, लूण-वसही, पितलहर, चौमुखा और महावीर स्वामी नामक पाच मन्दिर हैं। इन मन्दिरो की ओर जाने वाले पथ की दूसरी बाजू पर एक दिगम्बर जैनमन्दिर है। इन सब मन्दिरो मे कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है प्रथम दो। विमलवसही के निर्माण-कर्ता विमलशाह पोरवाड वंशी, तथा चालुक्यवशी नरेश भीमदेव प्रथम के मत्री व सेनापति थे। उनके कोई पुत्र नही था। उन्होंने अपना अपार धन व्यय करके, प्राचीन वृत्तान्तानुसार, स्वर्ण मुद्राए बिछा-कर वह भूमि प्राप्त की, और उसपर आदिनाथ तीर्थंकर का मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर पूरा का पूरा श्वेत सगमरमर पत्थर का बना हुआ है। जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर के निर्माण मे १८ करोड ५३ लाख सुवर्ण मुद्राओ का व्यय हुआ। संगमर-मर की बडी-बडी शिलाए पहाडी के तल से हाथियो द्वारा उतनी ऊची पहाडी पर पहुचाई गई थीं। तथा आदिनाथ तीर्थंकर की सुवर्ण-मिश्रित पीतल की ४ फुट ३ इच की विशाल पदमासन मूर्ति ढलवाकर प्रतिष्ठित की। यह प्रतिष्ठा वि० स० १०८८ (ई० १०३१) मे मोहम्मद गोरी द्वारा सोमनाथ मन्दिर के विनाश से ठीक सात वर्ष पश्चात् हुई। यह मूर्ति प्रौढ दादा के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है। इस मन्दिर को बीच-बीच मे दो-तीन बार क्षति पहुची जिसका पुनरुद्धार विमलशाह के वंशजो द्वारा वि० स० १२०६ और १२४५ में व १३६८ मे किया गया। इस मन्दिर की रचना निम्न प्रकार है —

एक विशाल चतुष्कोण १२८ × ७५ फुट लम्बा-चौडा प्रागण चारो ओर देवकुलों से घिरा हुआ है। इन देवकुलो की संख्या ५४ है, और प्रत्येक मे एक प्रधान मूर्ति तथा उसके आश्रित अन्य प्रतिमाए विराजमान है। इन देवकुलो के सम्मुख चारों ओर दोहरे स्तम्भो की मडपाकार प्रदक्षिणा है। प्रत्येक देवकुल के सम्मुख ४ स्तम्भो की मडपिका आ जाती है, और इस प्रकार कुल स्तम्भो की संख्या २३२ है। प्रांगण के ठीक मध्य मे मुख्य मन्दिर है। पूर्व की ओर से प्रवेश करते हुए दर्शक को मन्दिर के नाना भाग इस प्रकार मिलते हैं —

(१) हस्तिशाला-(२५ × ३० फुट) इसमे ६ स्तम्भ है, तथा हाथियो पर

आरूढ विमलशाह और उनके वंशजों की मूर्तियां हैं जिन्हें उनके एक वंशज पृथ्वीपाल ने ११५० ई० के लगभग निर्माण कराया था। (२) इसके आगे २५ फुट लम्बा-चौड़ा मुख-मंडप है। (३) और उससे आगे देवकुलों की पंक्ति व भमिति और प्रदक्षिणा-मंडप है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। तत्पश्चात् मुख्य मन्दिर का रंगमडप या सभा-मंडप मिलता है, जिसका गोल शिखर २४ स्तम्भो पर आधारित है। प्रत्येक स्तम्भ के अग्रभाग पर तिरछे शिलापट आरोपित हैं जो उस भव्य छत को धारण करते है। छत की पद्मशिला के मध्य मे बने हुए लोलक की कारीगरी अद्वितीय और कला के इतिहास मे विख्यात है। उत्तरोत्तर छोटे होते हुए चन्द्रमडलों (ददरी) युक्त कचुलक कारीगरी सहित १६ विद्याधरियो की आकृतिया अत्यन्त मनोज्ञ है। इस रगमडप की समस्त रचना व उत्कीर्णन के कौशल को देखते हुए दर्शक को ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे मानो वह किसी दिव्य लोक मे आ पहुंचा हो। रगशाला से आगे चलकर नवचौकी मिलती है, जिसका यह नाम उसकी छत के ९ विभागो के कारण पडा है। इससे आगे गूढ़मंडप है। वहा से मुख्य प्रतिमा का दर्शन-वदन किया जाता है। इसके सम्मुख वह मूल गर्भगृह है, जिसमे ऋषभनाथ की धातु प्रतिमा विराजमान है।

इसी मन्दिर के सम्मुख लूण-वसही है जो उसके मूलनायक के नाम से नेमिनाथ मन्दिर भी कहलाता है, और जिसका निर्माण ढोलका के बघेलवंशी नरेश वीर धवल के दो मत्री भ्राता तेजपाल और वस्तुपाल ने सन् १२३२ ई० मे कराया था। तेजपाल मंत्री के पुत्र लूणसिह की स्मृति मे बनवाये जाने के कारण मन्दिर का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इस मन्दिर का विन्यास व रचना भी प्रायः आदिनाथ मन्दिर के सदृश है। यहा भी उसी प्रकार का प्रागण, देवकुल तथा स्तम्भ-मडपो की पक्ति विद्यमान है। विशेषता यह है कि इसकी हस्तिशाला उस प्रागण के बाहर नही, किन्तु भीतर ही है। रंगमंडप,,नवचौकी, गूढ़मंडप और गर्भगृह की रचना पूर्वोक्त प्रकार की ही है। किन्तु यहा रगमडप के स्तम्भ कुछ अधिक ऊंचे है, और प्रत्येक स्तम्भ की बनावट व कारीगरी भिन्न है। मडप की छत कुछ छोटी है, किन्तु उसकी रचना व उत्कीर्णन का सौन्दर्य वसही से किसी प्रकार कम नही है। इसके रचना-सौन्दर्य की प्रशसा करते हुए फर्गुसन साहब ने कहा है कि "यहा संगमरमर पत्थर पर जिस परिपूर्णता, जिस लालित्य व जिस सन्तुलित अलकरण की शैली से काम किया गया है, उसकी अन्य कही भी उपमा मिलना कठिन है।"

इन दोनो मदिरों मे सगमरमर की कारीगरी को देखकर बड़े बड़े कला-

विशारद ग्राश्चर्य-चकित होकर दातो तले अंगुली दबाये बिना नहीं रहते। यहा भारतीय शिल्पियो ने जो कला-कौशल व्यक्त किया है, उससे कला के क्षेत्र मे भारत का मस्तिष्क सदैव गर्व से ऊंचा उठा रहेगा। कारीगर की छैनी ने यहा काम नही दिया। सगमरमर को घिस घिस कर उसमे वह सूक्ष्मता व कॉच जैसी चमक व पारदर्शिता लाई गई है, जो छैनी द्वारा लाई जानी ग्रसम्भव थी। कहा जाता है कि इन कारीगरो को घिसकर निकाले हुए सगमरमर के चूर्ण के प्रमाण से वेतन दिया जाता था। तात्पर्य यह कि इन मदिरो के निर्माण से, एच० जिम्मर के शब्दो मे, "भवन ने ग्रलकार का रूप धारण कर लिया है, जिसे शब्दो मे समझाना ग्रसम्भव है।" मदिरो का दर्शन करके ही कोई उनकी ग्रद्भुत कला के सौन्दर्य की ग्रनुभूति कर सकता है। विना देखे उसकी कोई कल्पना करना शक्य नही।

लूणवसही मे पीछे की ग्रोर **पित्तलहर** नामक जैन मन्दिर है, जिसे गुर्जर वंश के भीमाशाह ने १५ वी शती के मध्य मे बनवाया। यहा के वि०सं० १४८३ के एक लेख मे कुछ भूमि व ग्रामो के दान दिये जाने का उल्लेख है, तथा वि० स० १४८६ के एक ग्रन्य लेख मे कहा गया है कि ग्राबू के चौहानवशी राजा राजधर देवडा चुडा ने यहा के तीन मन्दिरो-ग्रर्थात् विमलवसही, लूणवमही ग्रौर पित्तलहर-की तीर्थयात्रा को ग्रानेवाले यात्रियो को सदैव के लिये कर से मुक्त किया। इस मदिर का पित्तलहर नाम पड़ने का कारण यह है कि यहा मूलनायक ग्रादिनाथ तीर्थंकर की १०८ मन पीतल की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा स० १५२५ मे सुन्दर ग्रौर गडा नामक व्यक्तियो ने कराई थी। गुरु-गुण-रत्नाकर काव्य के ग्रनुसार, ये दोनो ग्रहमदा-बाद के तत्कालीन सुल्तान महमूद बेगडा के मत्री थे। इससे पूर्व की प्रतिष्ठित मूर्ति किसी कारणवश यहा से मेवाड के कुम्भल मेरु नामक स्थान को पहुंचा दी गई थी। इस मंदिर की बनावट भी पूर्वोक्त दो मन्दिरो जैसी ही है। मूल गर्भगृह, गूढमंडप ग्रौर नव-चौकी तो परिपूर्ण है, किन्तु रग-मडप ग्रौर भमिति कुछ ग्रपूर्ण ही रह गये हैं। गूढमंडप मे ग्रादिनाथ की पचतीर्थिक पाषाण प्रतिमा है, तथा ग्रन्य तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं। विशेष ध्यान देने योग्य यहा महावीर के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी की पीले पाषाण की मूर्ति है। भमिति की देवकुलिकाग्रो मे नाना तीर्थंकरो की मूर्तिया विराजमान हैं। एक स्थान पर भ० ग्रादिनाथ के गणधर पुडरीक स्वामी की प्रतिमा भी है।

चौमुखा मंदिर में भगवान् पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के मुनियों द्वारा कराई जाने से यह मंदिर **खरतर वसही**

भी कहलाता है। कुछ मूर्तियों पर के लेखों से इस मंदिर का निर्माणकाल वि० सं० १५१५ के लगभग प्रतीत होता है। मंदिर तीन तल्ला है, और प्रत्येक तल पर पार्श्वनाथ की चौमुखी प्रतिमा विराजमान है।

पाचवा महावीर मंदिर देलवाड़ा से पूर्वोत्तर दिशा मे कोई साढ़े तीन मील पर है। इसका निर्माण भी १५वीं शती मे हुआ था। वर्तमान में इसके मूलनायक भ० आदिनाथ हैं, जिनके पार्श्वों में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं, किन्तु मंदिर की ख्याति महावीर के नाम से ही है। अनुमानतः बीच में कभी मूलनायक का स्थानान्तरण किया गया होगा। वह मंदिर एक परकोटे के मध्य में स्थित है और गर्भगृह के सम्मुख शिखरयुक्त गूढ़मंडप भी है। उसके सम्मुख खुला चबूतरा है, जिसपर या तो नवचौकी और सभामडप बनाये ही नही जा सके, अथवा बनकर कभी विध्वस्त हो गये।

देलवाडा का दिग० जैन मंदिर वहा से अचलगढ की ओर जाने वाले मार्ग के मुख पर ही है। इस मंदिर मे एक शिलालेख है, जिसके अनुसार वि० सं० १४६४ में गोविंद संघाधिपति यहा मूलसंघ, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनंदी के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र सहित तीर्थयात्रा को आये, और उन्होने उस मंदिर का निर्माण कराया। उस समय आबू के राजा राजधरदेवड़ा चूडा का राज्य था।

राजपूताने का एक अन्य उल्लेखनीय जैन मंदिर जोधपुर राज्यान्तर्गत गोड़वाड़ जिले मे राणकपुर का है जो सन् १४३९ मे बनवाया गया था। यह विशाल चतुर्मुखी मंदिर ४०,००० वर्ग फुट भूमि पर बना हुआ है, और उसमे २९ मंडप हैं, जिनके स्तम्भों की सख्या ४२० है। इन समस्त स्तम्भो की बनावट व शिल्प पृथक्-पृथक् है, और अपनी-अपनी विशेषता रखती है। मंदिर का आकार चतुर्मुखी है। बीच में मुख्य मंदिर है जिसकी चारो दिशाओ मे पुन: चार मंदिर हैं। इनमे शिखरों के अतिरिक्त मंडपों के भी और उनके आसपास ८६ देवकुलिकाओ के भी अपने-अपने शिखर हैं, जिनकी आकृति दूर से ही अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई देती है। शिखरों का सौन्दर्य और सन्तुलन बहुत चित्ताकर्षक है और यही बात उसकी अन्तरंग कलाकृतियों के विषय में भी पाई जाती है। सर्वत्र वैचित्र्य और सामजस्य का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। दर्शक मंदिर के भीतर जाकर मंडपो, उनके स्तम्भों व खुले प्रांगणों में से जाता हुआ प्रकाश और छाया के अद्भुत प्रभावो से चमत्कृत हो जाता है। मुख्य गर्भगृह स्वस्तिकाकार है और उसके चारों ओर चार द्वार हैं। यहा आदिनाथ की श्वेत संगमरमर की चतुर्मुखी मूर्ति प्रतिष्ठित है। यह दुतल्ला है, और दूसरे तल में भी यही रचना है। इस

चौमुखी मंदिर का विन्यास प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा कि पहाड़पुर के महाविहार का पाया जाता है।

राजपूताने की एक और सुन्दर व कलापूर्ण निर्मिति है **चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ**। इसके निर्माता व निर्माण काल के सम्बन्ध मे बड़ा मतभेद रहा। किन्तु हाल मे ही नांदगाव के दिगम्बर जैन मंदिर की धातुमयी प्रतिमा पर सं० १५४१ ई० (सन् १४८४) का एक लेख मिला है जिसके अनुसार मेदपाट देश के चित्रकूट नगर में इस कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय के सम्मुख जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया था। इससे स्पष्ट है कि स्तम्भ की रचना १५ वी शती मे ई० सन् १४८४ से पूर्व ही हो चुकी थी। जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह बघेरवाल जाति के थे। और उन्होने कारंजा (जिला अकोला-बरार) के मूलसघ, सेनगण, पुष्करगच्छ के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से इस स्तम्भ के अतिरिक्त १०८ शिखरबद्ध मंदिरो का उद्धार कराया, जिन-बिंब बनवाये और प्रतिष्ठाए कराई; अनेक श्रुतभडारो की स्थापना कराई, और सवा लाख बंदी छुड़वाये, ऐसा भी उक्त लेख मे उल्लेख है।

लेख से स्पष्ट है कि यह स्तम्भ एक जैन मंदिर के सम्मुख बनवाया गया था, जिससे वह मानस्तम्भ प्रतीत होता है। यह स्तम्भ लगभग ७६ फुट ऊंचा है, और उसका नीचे का व्यास ३१ फुट तथा ऊपर का १५ फुट है। इसमे सात तल्ले हैं, जिनके ऊपर गधकुटी रूप छतरी बनी हुई है। यह छतरी एक बार विद्युत् से आहत होकर ध्वस्त हो गई थी, किन्तु उसे महाराणा फतहसिंह ने लगभग अस्सी हजार के व्यय से पुनः पूर्ववत् ही निर्माण करा दिया। इस शिखर की कुटी मे अवश्य ही चतुर्मुखी तीर्थंकर मूर्ति रही होगी। स्तम्भ के समस्त तल्लों के चारो भागो पर आदिनाथ व अन्य तीर्थंकरों की नग्न मूर्तिया विराजमान है, जिससे आदितः यह स्तम्भ आदि तीर्थंकर का ही स्मारक प्रतीत होता है। इस कीर्तिस्तम्भ की बाह्य निर्मिति अलकृतियो से भरी हुई है।

चित्तौड के किले पर कुछ इसी प्रकार का एक दूसरा कीर्ति-स्तम्भ भी है जिसमें ९ तल हैं, और जो हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलकृत है। यह पूर्वोक्त स्तम्भ से बहुत पीछे उसी के अनुकरण रूप महाराणा कुम्भ का बनवाया हुआ है।

जैन तीर्थों में सौराष्ट्र प्रदेश के **शत्रुंजय** (पालीताणा) पर्वत पर जितने जैन मंदिर है, उतने अन्यत्र कही नही। शत्रुजय माहात्म्य के अनुसार यहां प्रथम तीर्थंकर के काल से ही जैन मंदिरो का निर्माण होता आया है। वर्तमान मे वहा पाये जाने वाले मंदिरों मे सबसे प्राचीन उन्ही विमलशाह (११ वी शती) का है जिन्होने आबू पर विमलवसही बनवाया है; और दूसरा राजा **कुमारपाल** (१२वीशती) का बनवाया हुआ है।

विशालता व कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विमलवसही ट्रंक का आदिनाथ मंदिर सबसे महत्वपूर्ण है। यह मंदिर सन् १५३० में बना है; किन्तु इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि उससे पूर्व वहां ई० सन् ९६० का बना हुआ एक मंदिर था। यहां की १० वीं शती की निर्मित पुण्डरीक की प्रतिमा सौन्दर्य में अतिश्रेष्ठ मानी गयी है। चौथा उल्लेखनीय चतुर्मुख मंदिर है जो सन् १६१८ का बना हुआ है। इसकी चारों दिशाओं में चार प्रवेश-द्वार हैं। पूर्वद्वार रंगमंडप के सम्मुख है, तथा तीन अन्य द्वारों के सम्मुख भी मुख-मंडप बने हुए हैं। ये सभी मंडप दुतल्ले हैं और ऊपर के तल में मुखमंडपिकाओं से युक्त वातायन भी हैं। उपर्युक्त व अन्य मंदिर, गर्भगृह, मंडपों व देवकुलिकाओं की रचना, शिल्प व सौन्दर्य में देलवाड़ा के विमलवसही व लूणवसही का ही हीनाधिक मात्रा में अनुकरण करते हैं।

सौराष्ट्र का दूसरा महान् तीर्थक्षेत्र है **गिरनार**। इस पर्वत का प्राचीन नाम ऊर्जयन्त व रैवतक गिरि पाया जाता है, जिसके नीचे बसे हुए नगर का नाम गिरिनगर रहा होगा, जिसके नाम से अब स्वयं पर्वत ही गिरिनार (गिरिनगर) कहलाने लगा न। **जूनागढ़** से इस पर्वत की ओर जाने वाले मार्ग पर ही वह इतिहास-प्रसिद्ध विशाल शिला मिलती है जिसपर अशोक, रुद्रदामन् और स्कंदगुप्त सम्राटों के शिलालेख खुदे हुए है, और इस प्रकार जिस पर लगभग १००० वर्ष का इतिहास लिखा हुआ है। जूनागढ़ के समीप ही बाबाप्यारा मठ के पास वह जैन गुफा है, जो पूर्वोक्त प्रकार से पहली-दूसरी शती की **धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा** प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्थान ऐतिहासिक व धार्मिक दोनों दृष्टियों से अतिप्राचीन व महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। गिरि-नगर पर्वत का जैनधर्म से इतिहासातीत काल से सम्बन्ध इसलिये पाया जाता है, क्योंकि यहां पर ही २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने तपस्या की थी और निर्वाण प्राप्त किया था। इस तीर्थ का सर्वप्राचीन उल्लेख समन्तभद्रकृत वृहत्स्वयंभूस्तोत्र (५वीं शती) में मिलता है जहां नेमिनाथ की स्तुति में कहा गया है कि—

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलंकृतः
मेघ-पटल-परिवीत-तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा।
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥१२८॥

इस स्तुति के अनुसार समन्तभद्र के समय में ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति या चरणचिन्ह प्रतिष्ठित थे, शिखर पर विद्याधरी अंबिका की मूर्ति भी विराजमान थी, और ऋषिमुनि वहां की निरन्तर तीर्थ-यात्रा किया करते थे।

वर्तमान में यहां का सबसे प्रसिद्ध, विशाल व सुन्दर मंदिर **नेमिनाथ का है।** रैवतक गिरि-कल्प के अनुसार इसका निर्माण चालुक्य नरेश जयसिंह के दंडाधिप सज्जन ने खंगार राज्य पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सम्बत् ११८५ मे बनवाया था। इसके शिखर पर सुवर्ण का आमलक मालव देश के मुखमंडन भावड ने और पद्या (सोपान-पथ) का निर्माण कुमारपाल नरेन्द्र द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र के दंडाधिप किसी श्रीमाल कुल के व्यक्ति ने सम्बत् १२२० मे कराया था। मंदिर के मूलनायक की प्रतिमा आदितः लेपमय थी, और उसका लेप कालानुसार गलित हो गया था, तब काश्मीर से तीर्थयात्रा पर आये हुए अजित और रतन नामक दो भाइयो ने उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा स्थापित की। मंदिर के प्रागण मे कोई सत्तर देवकुलिकाएं हैं। इनके बीच मंदिर बना हुआ है जिसका मंडप बड़ी सुन्दरता से अलंकृत है। मुख्य मंदिर के विमान के विशाल शिखर के आसपास अनेक छोटे-छोटे शिखरो का पुज है, जिससे उसका दृश्य बहुत भव्य दिखाई देता है। इस काल की जैन वास्तु-कला का यह एक वैशिष्ट्य है। यहा का दूसरा उल्लेखनीय मंदिर है वस्तुपाल द्वारा निर्मापित **मल्लिनाथ** तीर्थंकर का। इस मंदिर का विन्यास एक विशिष्ट प्रकार का है। रंगमंडप के प्रवेश-द्वार की दिशा को छोडकर शेष तीन दिशाओ मे उससे सटे हुए तीन मंदिर हैं। मध्य का मंदिर मूलनायक मल्लिनाथ का है। आजू-बाजू के दोनों मंदिर रचना मे स्तम्भयुक्त मण्डपों के सदृश है और उनमे ठोस पाषाण की बड़ी कारीगरी दिखाई देती है। उत्तर दिशा का मंदिर चौकोर अधिष्ठान पर मेरु की रचना से युक्त है, तथा दक्षिण दिशा का मंदिर सम्मेदशिखर की प्रतिकृति है।

यह प्राचीन और शैली व कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलभ्य जैन मंदिरों का अति सक्षिप्त और स्फुट परिचय मात्र है। यथार्थतः तो समस्त देश हिमालय से दक्षिणी समुद्र तक व सौराष्ट्र से बंगाल तक जैन मंदिरों व उनके भग्नावशेषों से भरा विषय हुआ हैं। जहा अब जैन मंदिर नही है, या उनके खंडहर मात्र अवशिष्ट हैं, वहां के विषय मे जेम्स फर्गुसन साहब का अभिमत ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है "गंगाप्रदेश अथवा जहा भी मुसलमान सख्या मे बसे वहा प्राचीन जैन मंदिरो के पाने की आशा करना व्यर्थ है। उन लोगो ने अपने धर्म के जोश मे मंदिरो को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है, तथा जिन सुन्दर स्तम्भों, तोरणो आदि को नष्ट नही किया, उनका बडे चाव से अपनी मस्जिदों आदि के निर्माण मे उपयोग कर लिया। अजमेर, दिल्ली, कन्नौज, धार व अहमदाबाद की विशाल मस्जिदें यथार्थत जैन-मंदिरो की ही परिवर्तित निर्मितियां हैं।"

फर्गुसन साहब ने यह भी समझाया है कि किस प्रकार से जैन मंदिर मस्जिदों

मे विपरिवर्तित किये गये हैं। "आबू के विमलवसही की रचना की ओर ध्यान दीजिये जहा एक विशाल प्रागण के चारो ओर भमिति और मध्य में मुख्य मंदिर व मंडप है। यह प्राचीन जैन मंदिरों की साधारण रचना थी। इस मध्य के मंदिर और मंडप को नष्ट करके तथा देवकुलिकाओं के द्वार बंद कर के एक ऐसा खुला प्रांगण अपने चारों ओर स्तम्भों की दोहरी पंक्ति सहित मिल जाता है, जो मस्जिद का विशेष आकार है। इसमे मस्जिद का एक वैशिष्ट्य शेष रह जाता है, और वह है मक्का (पश्चिम) की ओर उसका प्रमुख द्वार। इस वैशिष्ट्य को इस दिशा के छोटे स्तम्भों को हटाकर उनके स्थान पर मध्य मडप से सुविशाल स्तम्भों को स्थापित करके प्राप्त किया गया है। यदि मूल मे दो मंडप रहे, तो दोनो को उस दरवाजे के दोनो ओर पुनर्निर्मित कर दिया गया। इस प्रकार बिना एक भी नये स्तम्भ के एक ऐसी मस्जिद तैयार हो जाती थी, जो सुविधा और सौन्दर्य की दृष्टि मे उनके लिये अपूर्व थी। इस प्रकार के रचना-परिवर्तन के उदाहरण अजमेर का अढाई दिन का झोपडा, दिल्ली की कुतुबमीनार के समीप की मस्जिद, एव कन्नौज, माडू (धार राज्य), अहमदाबाद आदि की मस्जिदें आज भी विद्यमान हैं, और वे मुसलमान काल से पूर्व की जैन वास्तु-कला के अध्ययन से लिये वडे उपयुक्त साधन है।"(हिस्ट्री ऑफ इडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर,पृ २६३-६४)

यहा प्रश्न हो सकता है कि क्या देश के बाहर भी जैन मंदिरो का निर्माण हुआ? अन्यत्र कहा जा चुका है कि महावश के अनुसार लंका में बौद्ध धर्म के प्रवेश से बहुत पूर्व ही वहा निर्ग्रन्थ मुनि पहुंच चुके थे, और उनके लिये अनुराधपुर में पाडुकाभय नरेश ने ई० पू० ३६० के लगभग निवास स्थान व देवकुल (मदिर) निर्माण कराये थे। जावा के ब्रम्बनम् नामक स्थान का एक मदिर-समूह, फर्गुसन साहब के मतानुसार, मूलतः जैन रहा है। न केवल उसकी मध्यवर्ती मदिर व भमिति की सैकड़ों देवकुलिकाएं जैन मदिरो की सुविख्यात शैली का अनुसरण करती हैं, किन्तु उनमे प्रतिष्ठित जिन ध्यानस्थ पद्मासन मूर्तियो को सामान्यतः बौद्ध कहा जाता है, वे सब जिन मूर्तियां ही प्रतीत होती है। इतिहास में भले ही इस बात के प्रमाण न मिलें कि जैन धर्म कब जावा द्वीप मे पहुचा होगा, किन्तु यह उदाहरण इस बात का तो प्रमाण अवश्य है कि जैन मदिरो की वास्तुकला ने दसवीं शती से पूर्व जावा में प्रवेश कर लिया था।

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां
वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम्।
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां
जिनवर-निलयानां भावतोऽहं स्मरामि॥"

जैन मूर्तिकला

अतिप्राचीन जैन मूर्तिया—

जैनधर्म मे मूर्तिपूजा सम्बन्धी उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। जैनागमों में जैन तीर्थंकरो व यक्षो की मूर्तियो संबधी उल्लेखो के अतिरिक्त कलिंग नरेश खारवेल के ई० पू० द्वितीय शती के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख से प्रमाणित है कि नदवंश के राज्यकाल अर्थात् ई० पू० चौथी-पाचवी शती मे जिन-मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाती थी। ऐसी ही एक जिनमूर्ति को नंदराज कलिंग से अपहरण कर ले गये थे, और उसे खारवेल कोई दो-तीन शती पश्चात् वापिस लाये थे। कुषाण काल की तो अनेक जिन-मूर्तिया मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के संग्रहालय मे सुरक्षित हैं। एक प्राचीन मस्तकहीन जिन-प्रतिमा पटना संग्रहालय मे सुरक्षित है, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति पर चमकदार पालिश होने से उसके मौर्यकालीन होने का अनुमान किया जाता है। इनसे प्राचीन मूर्तिया भारतवर्ष मे कही प्राप्त नही होती थी, किन्तु सिंधुघाटी की खुदाई मे मोहेनजोदड़ो व हड़प्पा से जो मूर्तिया प्राप्त हुई हैं, उनसे भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है, और उसकी परपरा उक्त काल से सहस्त्रो वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। सिन्धघाटी की मुद्राओ पर प्राप्त लेखो की लिपि अभी तक अज्ञात होने के कारण वहा की संस्कृति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। तथापि जहा तक मूर्ति-निर्माण, आकृति व भावाभिव्यंजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, उस पर से उक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति व हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति मे बड़ा साम्य पाया जाता है, और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से हड़प्पा की मूर्ति वैदिक व बौद्ध मूर्तिप्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन-प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है। ऋग्वेद मे शिश्न देवो अर्थात् नग्न देवों के जो उल्लेख है, उनमे इन देवों अथवा उनके अनुयायियो को यज्ञ से दूर रखने व उनका घात करने की इन्द्र से प्रार्थना की गई है। (ऋग्वेद ७, २१, ५ व १०, ९९, ३) । जिस प्रकार यह मूर्ति खड्गासन की दृष्टि से समता रखती है, उसी प्रकार अनेक मुद्राओं पर की ध्यानस्थ व मस्तिष्क पर त्रिशृंगयुक्त मूर्ति जैन पद्मासन मूर्ति से तुलनीय है। एक मुद्रा मे इस मूर्ति के आसपास हाथी, बैल, सिंह व मृग आदि वनचर जीव दिखाये गये हैं, जिन पर से उसके पशुपति-

नाथ की पूर्वगामी मूर्ति होने की कल्पना की जाती है। जो हो, इस मूर्ति में हमें जैन, बौद्ध व शैव ध्यानस्थ मूर्तियों का पूर्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थतः तो इस प्रकार के आसन से ध्यान का संबंध जितना श्रमण परम्परा से है, उतना वैदिक परम्परा से नही; और श्रमण-परम्परा की जितनी प्राचीनता जैन धर्म में पाई जाती है, उतनी बौद्ध धर्म में नही। मूर्ति के सिर पर स्थापित त्रिशूल उस त्रिशूल से तुलनीय है जो अति-प्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्तियो के हस्त व चरण तलो पर पाया जाता है, जिसपर धर्म-चक्र स्थापित देखा जाता है, और विशेषतः जो रानी-गुम्फा के एक तोरण के ऊपर चित्रित है। इस विषय मे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पश्चिम भारत से जैन-धर्म का अतिप्राचीन संबध पाया जाता है। एवं जिस असुर जाति से सबद्ध सिन्धघाटी की सभ्यता अनुमानित की जाती है, उन असुरो, नागों और यक्षो द्वारा जैनधर्म व मुनियो की नाना सकटों की अवस्था मे रक्षा किये जाने के उल्लेख पाये जाते है।

कुषाण कालीन जैन मूर्तियां—

इतिहास-कालीन जैन मूर्तियों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमे मथुरा के संग्रहालय मे एकत्रित उन ४७ मूर्तियो मे प्राप्त होती है, जिनका व्यवस्थित परिचय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वहा की सूची के तृतीय भाग मे कराया है। इनमे से अनेक मूर्तियो के आसनो पर लेख भी खुदे मिले हैं, जिनसे उनका काल-विभाजन भी सुलभ हो जाता है। कुषाण-कालीन मूर्तियो पर पाचवे से लेकर ९० वें वर्ष तक का उल्लेख है। अनेक लेखो मे ये वर्ष शक सम्वत् के अनुमान किये जाते है। कुछ लेखो में कुषाणवंशी **कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव** राजाओं का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थंकरो की समस्त मूर्तिया दो प्रकार की पाई जाती है—एक खडी हुई, जिसे कायोत्सर्ग या **खड्गासन** कहते हैं, और दूसरी बैठी हुई **पद्मासन**। समस्त मूर्तिया नग्न व नासाग्र-दृष्टि, ध्यानमुद्रा मे ही है। नाना तीर्थंकरों मे भेद सूचित करने वाले वे **बैल आदि चिन्ह इन पर नहीं पाये जाते**, जो परवर्ती काल की प्रतिमाओं मे। अधिकाश मूर्तियों के वक्षस्थल पर **श्रीवत्स** चिन्ह पाया जाता है, तथा हस्ततल व चरणतल एवं सिंहासन पर **धर्मचक्र, उष्णीष** तथा **ऊर्णा** (भौहो के बीच रोमगुच्छ) के चिन्ह भी बहुत सी मूर्तियो मे पाये जाते हैं। अन्य परिकरो मे **प्रभावल** (भामण्डल), दोनों पार्श्वों में **चमरवाहक** तथा सिंहासन के दोनों ओर **सिंह** भी उत्कीर्ण रहते हैं। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किये हुए दिखाये गये है। कुछ मूर्तियो का सिंहासन उठे हुए पद्म (उत्थित पद्मासन) के रूप मे दिखाया गया है। कुछ मे तीर्थंकर की मूर्ति पर छत्र

भी अंकित है, और एक के सिंहासन पर बालक को गोद में बैठाये भद्रासन अम्बिका की प्रतिमा भी है। ये उस काल की जिन-मूर्तियों के सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। केवल दो तीर्थकरों की मूर्तियां अपने किसी विशेष लक्षण से युक्त पाई जाती है; वे हैं आदिनाथ, जिनका केशकलाप पीछे की ओर कधो से नीचे तक बिखरा हुआ दिखाया गया है; और पार्श्वनाथ, जिनके सिर पर सप्तफणी नाग छाया किये हुए है। आदिनाथ के तपस्याकाल मे उनकी लम्बी जटाओ का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य मे अनेक स्थानो पर आया है। उदाहरणार्थ रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण (६७६ ई०) मे कहा गया है—

वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः ।
धूमालय इव ध्यान-वन्हिसक्त कर्मणः ॥ (प० पु० ३,२८८)

तथा—

स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहुतांशुमान् ॥ (वही ४, ५)

उसी प्रकार पार्श्वनाथ तीर्थकर के नागफण-रूपी छत्र का भी एक इतिहास है, जिसका सुन्दर सक्षिप्त वर्णन समन्तभद्र कृत स्वम्यभूस्तोत्र मे इस प्रकार मिलता है—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनि-वायुवृष्टिभिः ।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ॥ १३१ ॥
बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिंगरुचोपसर्गिणाम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्या तडिदम्बुदो यथा ॥ १३२ ॥

जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या मे निश्चल भाव से ध्यानारूढ थे तब उनका पूर्वजन्म का बैरी कमठासुर नाना प्रकार के उपद्रवो द्वारा उनको ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रचण्ड वायु चलाई, घनघोर वृष्टि की, मेघो से वज्रपात कराया, तथापि भगवान् ध्यान से विचलित नही हुए। उनकी ऐसी तपस्या से प्रभावित होकर धरणेन्द्र नाग ने आकर अपने विशाल फणा-मण्डल को उनके ऊपर तान कर, उनकी उपद्रव से रक्षा की। इसी घटना का प्रतीक हम पार्श्वनाथ के नाग-फणा चिन्ह मे पाते हैं।

कुछ मूर्तियों का परिचय—

(१) महाराज वासुदेवकालीन सम्वत्सर ८४ की आदिनाथ की मूर्ति (बी ४)—मूर्ति ध्यानस्थ पद्मासीन है। यद्यपि मस्तक और बाहु खंडित हैं, तथापि खरोंचा हुआ किनारीदार प्रभावल बहुत कुछ सुरक्षित है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स एवं हाथों और

चरणों के तलों पर चक्रचिन्ह विद्यमान हैं। आसन पर एक स्तंभ के ऊपर धर्मचक्र है। उसकी १० स्त्री-पुरुष पूजा कर रहे हैं, जिनमे से दो धर्मचक्रस्तम्भ के समीप घुटना टेके हुए हैं, और शेष खड़े हैं। कुछ के हाथो मे पुष्प हैं, और कुछ हाथ जोड़े हुए हैं। सभी की मुखमुद्रा वंदना के भाव को लिए हुए है। इस मूर्ति को लेख मे स्पष्टतः भगवान् अर्हन्त ऋषभ की प्रतिमा कहा है।

(२) **पार्श्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति** (बी ६२) का सिर और उसपर नागफणा मात्र सुरक्षित मिला है। फणो के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीन-युगल, इन मगल-द्रव्यों के चिन्ह बने हुये हैं। सिर पर घुघराले बाल हैं। कान कुछ लम्बे, आखो की भौंहे ऊर्णा से जुडी हुई व कपोल भरे हुए हैं।

(३) **पाषाण-स्तंभ** (बी ६८) ३ फुट ३ इंच ऊचा है, और उसके चारों ओर चार नग्न जिन-मूर्तिया हैं। श्रीवत्स सभी के वक्षस्थल पर है, और तीन मूर्तियो के साथ भामण्डल भी है, व उनमे से एक के सिर की जटाएं कधो पर बिखरी हुई हैं। चतुर्थ मूर्ति के सिर पर सप्तफणी नाग की छाया है। इनमे से अतिम दो स्पष्टतः आदिनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तिया हैं।

(४) इतिहास की दृष्टि से एक **स्तम्भ का पीठ** उल्लेखनीय है। इसके ऊपर का भाग जिसमे चारो ओर जिनप्रतिमायें रही है, टूट गया है; किन्तु उनके चरणो के चिन्ह बचे हुए है। इस पीठ के एक भाग पर धर्मचक्र खुदा हुआ है, जिसकी दो पुरुष व दो स्त्रिया पूजा कर रहे हैं; तथा दो बालक हाथो मे पुष्पमालाए लिए खडे हैं। इस पाषाण पर लेख भी खुदा है, जिसके अनुसार यह अभिसार-निवासी भटिट्दाम का आर्य ऋषिदास के उपदेश से किया हुआ दान है। डा० अग्रवाल का मत है कि यह उक्त धार्मिक पुरुष उसी अभिसार प्रदेश का निवासी रहा होगा जिसका यूनानी लेखकों ने भी उल्लेख किया है, और जो वर्तमान पेशावर विभाग के पश्चिमोत्तर का हजारा जिला सिद्ध होता है। उसने मथुरा में आकर जैनधर्म स्वीकार किया होगा। किन्तु इससे अधिक उचित यह प्रतीतहोता है कि हजारा निवासी वह व्यक्ति पहले से जैनधर्मावलम्बी रहा होगा और मथुरा के स्तूपो और मदिरो की तीर्थयात्रा के लिए आया होगा, तभी उसने वह **सर्वतोभद्र प्रतिमा** प्रतिष्ठित कराई। प्रथम शती में पश्चिमोत्तर प्रदेश मे जैनधर्म का अस्तित्व असम्भव नही है।

(५) एक और ध्यान देने योग्य प्रतिमा (२५०२) है, तीर्थंकर **नेमिनाथ** की। इसके दाहिनी ओर चार भुजाओं व सप्त फणो युक्त नागराज की प्रतिमा है, जिसके ऊपर के बाएं हाथ में हल का चिन्ह होने से वह **बलराम** की मानी गई है। बांयी ओर

चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है, जिनके ऊपर के दाहिने हाथ मे गदा व बाएं हाथ में चक्र है। तीर्थंकर की मूर्ति के ऊपर वेतस-पत्रों का खुदाव है। समवायांग सूत्र के अनुसार वेतस नेमिनाथ का बोधिवृक्ष है। हिन्दू पुराणानुसार बलराम शेषनाग के अवतार माने गये है। इस प्रकार की, ऐसे ही बलराम और वासुदेव की प्रतिमाओं से अंकित, और भी अनेक मूर्तिया पाई गई है, (जैन एन्टी० भाग २, पृष्ठ ६१)। ऐसी ही एक और प्रतिमा (२४८८) है, जिसमे तीर्थंकर के दाहिनी ओर फणायुक्त नाग हाथ जोडे खड़ा है। यह भी बलराम उपासक सहित नेमिनाथ की मूर्ति मानी गई है। नेमिनाथ की मूर्ति के साथ वासुदेव और बलभद्र के सम्बद्ध होने का उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र मे किया है। नेमिनाथ की स्तुति करते हुए वे कहते है :—

> द्युतिमद्-रथांग-रविबिम्बकिरण-जटिलांशुमंडलः।
> नील-जलजदलराशि-वपुःसहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः॥
> हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ।
> धर्मविनय-रसिकौ सुतरां चरणारविन्द-युगलं प्रणेमतुः॥ १२६ ॥

अर्थात् चक्रधारी गरुडकेतु (वासुदेव) और हलधर, ये दोनो भ्राता प्रसन्नचित्त होकर विनय से आपकी वन्दना करते है।

गुप्तकालीन जैन मूर्तिया—

कुषाणकाल के पश्चात् अब हम गुप्तकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओ की ओर ध्यान दे। यह युग ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। इस युग की ३७ प्रतिमाओ का परिचय उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची मे कराया गया है। उस पर से इस युग की निम्न विशेषतायें ज्ञात होती है। तीर्थंकर मूर्तियो के सामान्य लक्षण तो वे ही पाये जाते हैं जो कुषाणकाल में विकसित हो चुके थे, किन्तु उनके परिकरों मे अब कुछ वैशिष्ट्य दिखाई देता है। प्रतिमाओं का उष्णीष कुछ अधिक सौन्दर्य व घुघरालेपन को लिये हुए पाया जाता है। प्रभावल मे विशेष सजावट दिखाई देती है (बी १, बी ६, आदि)। धर्मचक्र व उसके उपासको का चित्रण पूर्ववत् होते हुए कही कही उसके पार्श्वों मे मृग भी उत्कीर्ण दिखाई देते हैं। बौद्ध मूर्तियो मे इस प्रकार मृगो का चित्रण बुद्ध भगवान् के सारनाथ के मृगदाव मे प्रथम बार धर्मोपदेश का प्रतीक माना गया है। सम्भव है यहां भी उसी अलकरण शैली ने स्थान पा लिया हो। आगे चलकर हम मृग को शान्तिनाथ भगवान् का विशेष चिन्ह स्वीकृत पाते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा (बी ७५) के सिंहासन पर एक पार्श्व मे अपनी थैली सहित धनपति कुबेर और दूसरे

पार्श्व में अपनी बाईं जंघा पर बालक को बैठाये हुए मातृदेवी (अम्बिका) की प्रतिमा दिखाई देती है। इनके ऊपर दोनों ओर चार-चार कमलासीन प्रतिमाएं दिखाई गई हैं, जो सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, और राहु, इन आठ ग्रहों की प्रतीक मानी गई हैं। इस अलंकरण के आधार पर यह प्रतिमा गुप्त-युग से मध्य-युग के संधि-काल की मानी गई है, क्योंकि यह प्रतिमाशैली उस काल में अधिक विकसित हुई थी (ची ६५, ६६)। नवग्रह और अष्ट-प्रातिहार्य युक्त एक जिन-प्रतिमा मध्यप्रदेश में जबलपुर के समीप सलीमानाबाद से भी एक वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी, जो वहां की जनता द्वारा खैरामाई के नाम से पूजी जाती है (देखो-खंडहरों का वैभव, पृ-१८०)। इसी प्रकार की सधिकालीन वह एक प्रतिमा (१३८८) है जिसके सिहासन पर पार्श्वस्थ सिंहो के बीच मीन-युगल दिखलाया गया है जिनके मुख खुले हुए हैं, और उनसे सूत्र लटक रहा है। आगे चलकर मीन अरनाथ तीर्थंकर का चिन्ह पाया जाता है। आदिनाथ की प्रतिमा अभी तक उन्ही कन्धो पर बिखरे हुए केशो सहित दिखाई देती है। उसका वृषभ, तथा अन्य तीर्थंकरो के अलग-अलग चिन्ह यहा तक अधिक प्रचार मे आये नही पाये जाते, तथापि उनका उपयोग प्रारम्भ हुआ प्रमाणित होता है। इस संबध मे राजगिर के वैभार पर्वत की नेमिनाथ की वह मूर्ति ध्यान देने योग्य है जिसके सिहासन के मध्य मे धर्मचक्र की पीठ पर धारण किये हुए एक पुरुष और उसके दोनो पार्श्वों में शंखों की आकृतियां पाई जाती हैं। इस मूर्ति पर के खंडित लेख में चन्द्रगुप्त का नाम पाया जाता है, जो लिपि के आधार पर गुप्तवशी नरेश चन्दगुप्त-द्वितीय का वाची अनुमान किया जाता है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के काल मे गुप्त सं० १०६ की बनी हुई विदिशा के समीप की उदयगिरि की गुफा मे उत्कीर्ण वह पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यतः मूर्ति खडित हो चुकी है, तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयंकर दातो से बड़ा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिये तत्पर दिखाई देता है। उत्तरप्रदेश के कहाऊं नामक स्थान से प्राप्त गुप्त सं० १४१ के लेख सहित वह स्तम्भ भी यहा उल्लेखनीय है जिसमें पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरो की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इसी काल की अनेक जैन प्रतिमाये ग्वालियर के पास के किले, बेसनगर, बूढ़ी चंदेरी व देवगढ़ आदि अनेक स्थानो से प्राप्त हुई हैं। देवगढ की कुछ मूर्तियों का वहां के मंदिरो के साथ उल्लेख किया जा चुका है। यहां की मूर्तियों में गुप्त व गुप्तोत्तर कालीन जैन मूर्तिकला के अध्ययन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। दो-चार मूर्तियों की बनावट की ओर ध्यान देने से वहा की शैलियों की विविधता स्पष्ट की जा सकती है। वहां के १२ वें मंदिर

के मंडप में आसनस्थ जिनप्रतिमा को देखिये, जिसका मस्तक विशाल, अधर स्थूल व खूब सटे हुए तथा भृकुटियां कुछ अधिक ऊपर को उठी हुई दिखाई देती है। यहां ध्यान व एकाग्रता का भाव खूब पुष्ट है; किन्तु लावण्य एवं परिकरात्मक साज-सज्जा का अभाव है। उसी मंदिर के गर्भग्रह मे शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिये, जो अपने कलात्मक गुणो के कारण विशेष गौरवशाली है। भामण्डल की सजावट तथा पार्श्वस्थ द्वारपालों का लावण्य व भावभगिमा गुप्तकाल की कला के अनुकूल हैं; फिरभी परिकरो के साथ मूर्ति का तादात्म्य नही हो पाया। दर्शक के ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्तिभाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन मे भयमिश्रित पूज्यभाव उत्पन्न करती है। उक्त दोनो मूर्तियो से सर्वथा भिन्न शैली की वह पद्मासन प्रतिमा है जो १५ वे मदिर के गर्भगृह मे विराजमान है। इस मूर्ति मे लावण्य, प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्गुण उतने ही सुस्पष्ट है, जितने ध्यान और विरक्ति के भाव। ज्ञान, ध्यान और लोक-कल्याण की भावना इस मूर्ति के अग-अंग से फूट फूट कर निकल रही है। परिकरो की सजावट भी अनुकूल ही है। प्रभावल खूब अलकृत है। दोनो पार्श्वो के द्वारपाल, ऊपर छत्र-त्रय व गज-लक्ष्मी आदि की आकृतिया भी सुदर और आकर्षक है। ये गुण २१ वे मदिर के दक्षिण-कक्ष के देवकुल मे स्थित प्रतिमा मे और भी अधिक विकसित दिखाई देते है। यहा चारो ओर की आकृतियां व अलकरण इतने समृद्ध हुए है कि दर्शक को उनका आकर्षण मुख्य प्रतिमा से कम नही रहता। इस कारण मुख्य प्रतिमा समस्त दृश्य का एक अगमात्र बन गई है। यह अलकरण की समृद्धि मध्यकाल की विशेषता है।

तीर्थकर मूर्तियो के चिन्ह—

प्रतिमाओ पर पृथक्-पृथक् चिन्हो का प्रदर्शन मध्य युग में (८वी शती ई० से) धीरे-धीरे प्रचार मे आया पाया जाता है। इस युग की उक्त मथुरा सग्रहालय की सूची मे जिन ३३ तीर्थंकर प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, उनमे आदिनाथ की मूर्ति (बी २१ व बी ७६) पर वृषभ का चिन्ह, नेमिनाथ की प्रतिमा (बी २२, सं० ११०४; बी ७७) पर शंख का, तथा शातिनाथ की मूर्ति (१५०४) पर मृग का चिन्ह पाया जाता है। शेष मूर्तियो पर ऐसे विशेष चिन्हो का अंकन नहीं है। एक मूर्ति (ए. ६०) पर लंगोटी का चिन्ह दिखाया गया है। कुछ के चूचको के स्थान पर चक्राकृति बनी है। कुछ के हस्त-तलों पर चतुर्दल पुष्प पाया जाता है। मूर्तियो पर तीन छत्रों का अंकन भी देखा जाता है। कुछ मूर्तियों पर कुबेर व गोद में बालक सहित माता (बी ६५)

तथा **नवग्रह** (बी ६६) भी बने हैं। **तीर्थंकर** नेमिनाथ की मूर्ति के पार्श्वों मे **बलदेव** की एक हाथ में प्याला लिये हुए, तथा अपने शंख चक्रादि लक्षणों सहित **वासुदेव** की चतुर्भुज मूर्तियां भी हैं (२७३८)। **यक्ष-यक्षिणी** आदि शासन देवताओं का आसनो पर अंकन भी प्रचुरता से पाया जाता है। आदिनाथ की एक पद्मासन मूर्ति के साथ शेष २३ तीर्थंकरों की भी पद्मासनस्थ प्रतिमाए उत्कीर्ण है। इससे पूर्व कुषाण व गुप्त कालों मे प्रायः चार तीर्थंकरो वाली **सर्वतोभद्र** मूर्तिया पाई गई है। **प्रभावल** व **सिंहासनों** का अलंकरण विशेष अधिक पाया जाता है। एक आदिनाथ की मूर्ति (बी २१) के सिंहासन की किनारी पर से **पुष्पमालाएं** लटकती हुई व **धर्मचक्र** को स्पर्श करती हुई दिखाई गई है। कुछ मूर्तिया काले व श्वेत संगमरमर की बनी हुई भी पाई गई हैं। कुछ मूर्तियो के ऊपर देवो द्वारा **दुंदभी** बजाने की आकृति भी अंकित है। ये ही संक्षेपतः इस काल की मूर्तियो की विशेषताएं हैं। इस काल मे तीर्थंकरो के जो विशेष चिन्ह निर्धारित हुए, व जो यक्ष-यक्षिणी प्रत्येक तीर्थंकर के अनुचर ठहराये गये, व जिन चैत्यवृक्षो का उनके केवलज्ञान से सबध स्थापितकिया गया, उनकी तालिका (त्रि० प्र० ४,६०४-०५; ६१६-१८, ९३४-४० के अनुसार) निम्न प्रकार है।

क्रमसंख्या	तीर्थंकर नाम	चिन्ह	चैत्यवृक्ष	यक्ष	यक्षिणी
१	ऋषभनाथ	बैल	न्यग्रोध	गोवदन	चक्रेश्वरी
२	अजितनाथ	गज	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
३	सभवनाथ	अश्व	शाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४	अभिनदननाथ	बदर	सरल	यक्षेश्वर	वज्रशृंखला
५	सुमतिनाथ	चकवा	प्रियगु	तुम्बुरव	वज्राकुशा
६	पद्मप्रभु	कमल	प्रियगु	मातंग	अप्रति चक्रेश्वरी
७	सुपार्श्वनाथ	नंद्यावर्त	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता
८	चन्द्रप्रभु	अर्द्धचन्द्र	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
९	पुष्पदन्त	मकर	अक्ष (बहेडा)	ब्रह्म	काली
१०	शीतलनाथ	स्वस्तिक	धूलि(मालिवृक्ष)	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११	श्रेयासनाथ	गेंडा	पलाश	कुमार	महाकाली
१२	वासुपूज्य	भैंसा	तेंदू	षण्मुख	गौरी
१३	विमलनाथ	शूकर	पाटल	पाताल	गांधारी
१४	अनंतनाथ	सेही	पीपल	किन्नर	वैरोटी
१५	धर्मनाथ	वज्र	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलसा

१६	शान्तिनाथ	हरिण	नंदी	गरुड	अनंतमती
१७	कुंथुनाथ	छाग	तिलक	गंधर्व	मानसी
१८	अरहनाथ	तगरकुसुम(मत्स्य)	आम्र	कुबेर	महामानसी
१९	मल्लिनाथ	कलश	कंकेली (अशोक)	वरुण	जया
२०	मुनिसुव्रतनाथ	कूर्म	चम्पक	भृकुटि	विजया
२१	नमिनाथ	उत्पल	बकुल	गोमेध	अपराजिता
२२	नेमिनाथ	शख	मेषश्रृग	पार्श्व	बहुरूपिणी
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	धव	मातंग	कुष्माडी
२४	महावीर	सिह	शाल	गुह्यक	पद्मा सिद्धायिनी

समवायागसूत्र मे भी प्रायः यही चैत्यवृक्षो की नामावली पाई जाती है। भेद केवल इतना है कि वहा चौथे स्थान पर 'प्रियक', छठे स्थान पर छत्ताह, नौवे पर माली, १० वे पर पिलखु, ११, १२, १३, पर तिंदुग, पाटल और जम्बू, व १९ वे पर अशोक, २२ वे पर वेडस नाम अकित हैं।

विशालता की दृष्टि से मध्यप्रदेश मे **बड़वानी** नगर के समीप चूलगिरि नामक पर्वश्रेणी के तलभाग मे उत्कीर्ण ८४ फुट ऊची खड्गासन प्रतिमा है जो **बावनगजा** के नाम से प्रसिद्ध है । इसके एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षिणी भी उत्कीर्ण है। चूलगिरि के शिखर पर दो मन्दिरों म तीन-चार मूर्तियों पर सवत् १३८० का उल्लेख है जिससे इस तीर्थक्षेत्र की प्रतिष्ठा कम से कम १४ वी शती से सिद्ध है। देश के प्रायः समस्त भागो के दिगम्बर जैन मदिरो मे ऐसी जिन-प्रतिमाए विराजमान पाई जाती है, जिनमे उनके **शाह जीवराज पापड़ीवाल** द्वारा सं० १५४८ (१४९० ई०) मे प्रतिष्ठित कराए जाने का, तथा **भट्टारक जिनचन्द्र** या **भानुचन्द्र** का स्थान मुडासा का, व **राजा** या रावल **शिवसिंह** का उल्लेख मिलता है। मुडासा पश्चिम राजस्थान मे ईडर से पाच-छह मील दूर एक गाव है। एक किवदती प्रचलित है कि सेठ जीवराज पापडीवाल ने एक लाख मूर्तिया प्रतिष्ठित कराकर उनका सर्वत्र पूजानिमित्त वितरण कराया था।

धातु की मूर्तियां—

यहा तक जिन मूर्तियो का परिचय कराया गया वे पाषाण निर्मित है। धातु-निर्मित प्रतिमाए भी अतिप्राचीन काल से प्रचार मे पाई जाती हैं। **ब्रोन्ज** (ताम्र व शीशा मिश्रित धातु) **की बनी** हुई एक **पार्श्वनाथ** की प्रतिमा बम्बई के **प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय** मे है। दुर्भाग्य से इसका पादपीठ नष्ट हो गया है, और यह भी पता

नहीं कि यह कहां से प्राप्त हुई थी। प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है, और उसका दाहिना हाथ व नागफण खंडित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड पृष्ठ-भाग में पैरों से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसकी आकृति पूर्वोक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति से तथा हडप्पा के लाल-पाषाण की सिर-हीन मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। विद्वानों का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिये, और वह ई० पू० १०० वर्ष से इस ओर की तो हो ही नही सकती।

इसी प्रकार की दूसरी धातु-प्रतिमा **आदिनाथ** तीर्थंकर की है, जो बिहार में आरा के **चौसा** नामक स्थान से प्राप्त हुई है, और **पटना संग्रहालय** में सुरक्षित है। यह भी खड्गासन मुद्रा मे है, और रूप-रेखा में उपर्युक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति से साम्य रखती है। तथापि अंगो की आकृति, केश-विन्यास एवं प्रभावल की शोभा के आधार पर यह गुप्त-कालीन अनुमान की जाती है। इसी के साथ प्राप्त हुई अन्य प्रतिमाएं पटना सग्रहालय मे है, जो अपनी बनावट की शैली द्वारा मौर्य व गुप्त काल के बीच की शृंखला को प्रकट करती है।

धातु की **सवस्त्र जिन-प्रतिमा** राजपूताने मे सिरोही जनपद के अन्तर्गत **वसन्तगढ़** नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर सं० ७४४ (ई० ६८७) का लेख है। इसमे धोती का पहनावा दिखाया गया है। उसकी धोती की सिकुडन बाए पैर पर विशेष रूप से दिखाई गयी है। इससे सभवतः कुछ पूर्व की वे पाच धातु प्रतिमाएं है जो **वलभी** से प्राप्त हुई है, और **प्रिन्स-आफ-वेल्स-संग्रहालय** मे सुरक्षित है। ये प्रतिमाएं भी सवस्त्र हैं, किन्तु इनमे धोती का प्रदर्शन वैसे उग्र रूप से नही पाया जाता, जैसा वसन्तगढ की प्रतिमा मे। इस प्रकार की धोती का प्रदर्शन पाषाण मूर्तियों मे भी किया गया पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण **रोहतक** (पजाब) मे पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। प्रिन्स आफ वेल्स सग्रहालय की **चाहरडी** (खानदेश) से प्राप्त हुई आदिनाथ की प्रतिमा १० वी शती की धातुमय मूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार की धातु-प्रतिमाओ मे वे मूर्तिया भी उल्लेखनीय हैं जो **जीवन्त स्वामी** की कही जाती हैं। **आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि** व **वसुदेवहिंडी** मे उल्लेख मिलता है कि महावीर तीर्थंकर के कुमारकाल में जब वे अपने राज-प्रासाद मे ही धर्म-ध्यान किया करते थे, तभी उनकी एक चन्दन की प्रतिमा निर्माण कराई गई थी, जो **वीतिभय** पट्टन (सिधु-सौवीर) के नरेश **उदयन** के हाथ पड़ी। वहां से **उज्जैन** के राजा **प्रद्योत** उसकी अन्य काष्ठ-घटित प्रतिकृति (प्रतिमा) को उसके स्थान पर छोड़-

कर मूल प्रतिमा को अपने राज्य मे ले आये, और उसे **विदिशा** मे प्रतिष्ठित करा दिया, जहां वह दीर्घकाल तक पूजी जाती रही। इस साहित्यिक कथानक को हाल ही में **अकोटा** (बड़ौदा जनपद) से प्राप्त दो जीवन्तस्वामी की ब्रोन्ज-धातु निर्मित प्रतिमाओ से ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त हुआ है। इनमे से एक पर लेख है, जिसमे उसे **जिवन्त-सामि-प्रतिमा** कहा है, और यह उल्लेख है कि उसे चन्द्रकुलकी नागेश्वरी श्राविका ने दान दिया था। लिपि पर से यह **छठी शती** के मध्यभाग की अनुमान की गई है। ये मूर्तिया कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा मे है, किन्तु शरीर पर अलकरण खूब राजकुमारोचित है। मस्तक पर ऊचा मुकुट है, जिसके नीचे केशकलाप दोनो कधों के नीचे झूल रहे है। गले में हारादि आभरण, कानो मे कुडल, दोनो बाहुओ पर चौड़े भुजबध व हाथो मे कडे और कटिबन्ध आदि आभूषण है। मुह पर स्मित व प्रसाद भाव झलक रहा है। इनकी भावाभिव्यक्ति व अलकरण मे **गुप्तकालीन** व तदुत्तर शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

लगभग १४वी शती मे **पीतल** की जिनमूर्तियो का भी प्रचार हुआ पाया जाता जाता है। कही कही तो पीतल की बडी विशाल भारी ठोस मूर्तिया प्रतिष्ठित है। **आबू** के पित्तलहर मदिर मे विराजमान आदिनाथ की पीतल की मूर्ति लेखानुसार १०८ मन की है, और वह वि० स० १५२५ मे प्रतिष्ठित की गई थी। मूर्ति अपने परिकर सहित ८ फुट ऊची पद्मासन है, और वह **मेहसाना** (उत्तर गुजरात) के सूत्रधार मंडन के पुत्र देवा द्वारा निर्माण की गई थी।

बाहुबलि की मूर्तिया—

ब्रोन्ज की प्रतिमाओ मे विशेष उल्लेखनीय है बाहुबलि की वह प्रतिमा जो अभी कुछ वर्ष पूर्व ही बम्बई के **प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय** मे आई है। बाहुबलि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र व भरत चक्रवर्ती के भ्राता थे, और उन्हे तक्षशिला का राज्य दिया गया था। पिता के तपस्या धारण कर लेने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती हुए, और उन्होने बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश करना चाहा। इस पर दोनो भाइयो मे युद्ध हुआ। जिस समय युद्ध के बीच विजयश्री संशयावस्था में पडी हुई थी, उसी समय बाहुबलि को इस सांसारिक मोह और आसक्ति से वैराग्य हो गया, और उन्होने अपने लिए केवल एक पैर भर पृथ्वी रखकर शेष समस्त राज्य-वैभव भूमि व परिग्रह का परित्याग कर दिया। उन्होने **पोतनपुर** में निश्चल खड़े होकर ऐसी घोर तपस्या की कि उनके पैरो के समीप वल्मीक चढ़ गये व शरीर के अंग-प्रत्यंगों से

महासर्प व लताएं लिपट गईं। बाहुबलि की इस घोर तपस्या का वर्णन जिनसेन कृत महापुराण (३६, १०४-१८५) में किया गया है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण मे संक्षेपतः कहा है—

संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः।
वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निष्प्रकम्पकः॥
वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगैः।
श्यामादीनां च वल्लीभिः वेष्टितः प्राप केवलम्॥ (प० पु० ४, ७६-७७)

इस वर्णन मे जो वमीठो व लता के शरीर मे लिपटने का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सम्मुख बाहुबलि की इन लक्षणों से युक्त कोई मूर्तिमान् प्रतिमा थी। काल की दृष्टि के उस समय बादामी की गुफा की बाहुबलि मूर्ति बन चुकी सिद्ध होती है। रविषेणाचार्य उससे परिचित रहे हो तो आश्चर्य नही। बादामी की यह मूर्ति लगभग सातवी शती मे निर्मित साढे सात फुट ऊंची है। दूसरी प्रतिमा ऐलोरा के छोटे कैलाश नामक जैन-शिलामंदिर की इन्द्रसभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण-काल लगभग ८ वी शती माना जाता है। तीसरी मूर्ति देवगढ़ के शान्तिनाथ मंदिर (८६२ ई०) में है, जिसकी उपर्युक्त मूर्तियो से विशेषता यह है कि इसमे वामी, कुक्कुट सर्प, व लताओ के अतिरिक्त मूर्ति पर रेंगते हुए बिच्छू, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अंकित किये गये हैं; और इन उपसर्गकारी जीवो का निवारण करते हुए एक देव-युगल भी दिखया गया है। किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर विराजमान वह मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री चामुंडराय ने १०-११ वी शती मे कराई थी। यह मूर्ति ५६ फुट ६ इंच ऊंची है और उस पर्वत पर दूर से ही दिखाई देती है। उसके अंगो का संतुलन, मुख का शांत और प्रसन्न भाव, वल्मीक व माधवी लता के लपेटन इतनी सुन्दरता को लिए हुए हैं कि जिनकी तुलना अन्यत्र कही नही पाई जाती। इसी मूर्ति के अनुकरण पर कारकल में सन् १४३२ ई० में ४१ फुट ६ इंच ऊंची, तथा वेणूर में १६०४ ई० मे ३५ फुट ऊंची अन्य दो विशाल पाषाण मूर्तिया प्रतिष्ठित हुईं। धीरे-धीरे इस प्रकार की बाहुबलि की मूर्ति का उत्तर भारत में भी प्रचार हुआ है। इधर कुछ दिनों से बाहुबलि की मूर्तियां अनेक जैन मंदिरों में प्रतिष्ठित हुई हैं।

किन्तु जो लोह्य-धातु निर्मित मूर्ति अब प्रकाश में आई है। वह उपर्युक्त समस्त प्रतिमाओं से प्राचीन अनुमान की जाती है। उसका निर्माणकाल सम्भवतः सातवीं

शती व उसके भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है। यह प्रतिमा एक गोलाकार पीठ पर खड़ी है, और उसकी ऊंचाई २० इंच है। माधवी-लता पत्तों सहित पैरों और बाहुओं से लिपटी हुई है। सिर के बाल जैसे कघी से पीछे की ओर लौटाये हुए दिखाई देते हैं; तथा उनकी जटाएं पीठ व कंधों पर बिखरी हैं। भौंहें ऊपर को चढ़ी-हुई व उथली बनाई गई हैं। कान नीचे को उतरे व छिदे हुए हैं। नाक पैनी व झुकी हुई है। कपोल व दाढ़ी खूब मांसल व भरे हुए हैं। मुखाकृति लम्बी व गोल है। वक्षस्थल चौड़ाई को लिए हुए चिकना है व चूचुक चिन्ह मात्र दिखाये गये हैं। नितम्ब-भाग गुलाई लिए हुए है। पैर सीधे, और घुटने भले प्रकार दिखाये गये हैं। बाहुएं विशाल कंधों से नीचे की ओर शरीर आकृति के वलन का अनुकरण कर रही हैं। हस्ततल जंघाओं से गुट्टों के द्वारा जुड़े हुए हैं जिससे बाहुओं को सहारा मिले। इस प्रतिमा का आकृति-निर्माण अतिसुन्दर हुआ है। मुख पर ध्यान व आध्यात्मिकता का तेज भले प्रकार झलकाया गया है। इस आकृति-निर्माण में श्री उमाकांत शाह ने इसकी तुलना-बादामी गुफा में उपलब्ध बाहुबलि की प्रतिमा से तथा ऐहोल की मूर्तियों से की है, जिनका निर्माण-काल ६ वीं ७ वीं शती है।

चक्रेश्वरी पद्मावती आदि यक्षियों की मूर्तियां—

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकरों के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं को रूप प्रदान किया गया है, उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएं भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुषंगी एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गये हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम **चक्रेश्वरी** है। इस देवी की एक ढ़ाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय में विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड पर आधारित आसन पर स्थित है। इसका सिर व भुजएं टूट-फूट गई हैं, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार सुअलंकृत विद्यमान है। भुजाएं दश रही हैं, और हाथ में एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक द्वारपालिका है, जिनमें दायीं ओर वाली एक चमर, तथा बायीं ओर वाली एक पुष्पमाला लिये हुए है। ये तीनों प्रतिमाएं भी कुछ खंडित हैं। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन-प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर बंदनमालाएं लिये हुए उड़ती हुई मूर्तियां बनी हैं। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है, और कनिंघम साहब ने इसे ब्राह्मण-परम्परा की दशभुजी देवी समझा था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में ही कटनी के समीप **बिलहरी** ग्राम के लक्ष्मणसागर के तट पर एक मंदिर में चक्रेश्वरी की मूर्ति खैरामाई के नाम से पूजी-जा

रही है, किन्तु मूर्ति के मस्तक पर जो आदिनाथ की प्रतिमा है, वह उसे स्पष्टतः जैन परम्परा की घोषित कर रही है। चक्रेश्वरी की मूर्तियां देवगढ़ के मंदिरों में भी पाई गई हैं। **श्रवणबेलगोला** (मैसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-बस्ति नामक आदिनाथ के मंदिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की सुन्दर प्रतिमाएं हैं। यह मंदिर लेखानुसार शक १०४६ (१११७ ई०) से पूर्व बन चुका था। वहा के अन्यान्य मंदिरो मे नाना तीर्थंकरो के यक्ष-यक्षियो की प्रतिमाएं विद्यमान हैं (देखिए जै० शि० स० भाग एक, प्रस्तावना)। इनमे अक्कन बस्ति नामक पार्श्वनाथ मदिर की साढ़ेतीन फुट ऊची **धरणेन्द्र** यक्ष और **पद्मावती** यक्षी की मूर्तिया विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मदिर का निर्माणकाल वहाँ के लेखानुसार शक ११०३ (११८१ ई०) है। कत्तले बस्ति मे भी यह मूर्ति है। पद्मावती की इससे पूर्व व पश्चात्-कालीन मूर्तियां जैनमंदिरो मे बहुतायत से पाई जाती है। इनमे **खंडगिरि** (उड़ीसा) की एक गुफा मूर्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। **नालंदा** व **देवगढ़** की मूर्तिया ७ वी ८ वी शती की है। मध्यकाल से लगाकर इस देवी की पूजा विशेष रूप से लोक प्रचलित हुई पाई जाती है।

अम्बिका देवी की मूर्ति—

तीर्थंकरो के यक्ष-यक्षिणियो मे सबसे अधिक प्रचार व प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सब से प्राचीन व विख्यात मूर्ति **गिरनार** (ऊर्जयन्त) पर्वत की अम्बादेवी नामक टोंक पर है, जिसका उल्लेख समन्तभद्र ने अपने **बृहत्स्वयंभूस्तोत्र** (पद्य १२७) मे खचरयोषित (विद्याधरी) नाम से किया है (पृ० ३३६)। जिनसेन ने भी अपने **हरिवंश-पुराण** (शक् ७०५) मे इस देवी का स्मरण इस प्रकार किया है—

ग्रहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालय-सिंहवाहिनी।
शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने॥
(ह० पु० प्रशस्ति)

इस देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण-प्रतिमा १ फुट ६ इच ऊंची मथुरा संग्रहालय में है। **अम्बिका** एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराजमान है। बाया पैर ऊपर उठाया हुआ व दाहिना पृथ्वी पर है। दाहिने हाथ मे फलो का गुच्छा है, व बाया हाथ बायी जंघा पर बैठे हुए बालक को सम्हाले है। **बालक** वक्षस्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालंकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनो स्कधों से पीछे की ओर डाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके

पीछे शोभनीक प्रभावल भी है। गले में दो लड़ियों वाला हार, हाथों में चूड़ियाँ, कटि में मेखला व पैरों में नूपुर आभूषण हैं। बालक नग्न है, किन्तु गले में हार, बाहुओं में भुजबंध, कलाई मे कड़े तथा कमर मे करधनी पहने हुए है। अम्बिका की बाजू से एक दूसरा बालक खड़ा है, जिसका दाहिना हाथ अंबिका के दाहिने घुटने पर है। इस खड़े हुए बालक के दूसरी ओर गणेश की एक छोटी सी मूर्ति है, जिसकेबाएं हाथ में मोदक-पात्र है, जिसे उनकी सूंड स्पर्श कर रही है। उसके ठीक दूसरे पार्श्व मे एक अन्य प्राचीन मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ मे एक पात्र और बाए मे मोहरो की थैली है, और इसलिए धनद-कुबेर की मूर्ति प्रतीत होती है। कुबेर और गणेश की मूर्तियो के अपने-अपने कुछ लम्बाकार प्रभावल भी बने है। इन सबके दोनो पार्श्वों मे चमरधारी मूर्तिया हैं। आसन से नीचे की पट्टी मे आठ नर्तकियां है। ऊपर की ओर पुष्प-मंडपिका बनी है, जिसके मध्य भाग मे पद्मासन व ध्यानस्थ जिनमूर्ति है। इसके दोनो ओर दो चतुर्भुजी मूर्तिया कमलो पर त्रिभगी मुद्रा मे खडी हैं। दाहिनी ओर की मूर्ति के हाथो मे हल व मूसल होने से वह स्पष्टत: बलराम की, तथा बायी ओर की चतुर्भुज मूर्ति के बाए हाथो मे चक्र व शख तथा दाहिने हाथो मे पद्म व गदा होने से वह वासुदेव की मूर्ति है। दोनो के गलो मे वैजयन्ती मालाएं पडी हुई है। बलभद्र और वासुदेव सहित नेमिनाथ तीर्थंकर की स्वतत्र मूर्तियां मथुरा व लखनऊ के सग्रहालयो मे विद्यमान हैं। प्रस्तुत अम्बिका की मूर्ति मे हमे जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओ का सुन्दर समीकरण मिलता है, जिसका वर्णनात्मक पक्ष हम जैन पुराणों में पाते हैं।

पुण्याश्रव-कथाकोष की यक्षी की कथा के अनुसार गिरिनार की अग्निला नाम की धर्मवती ब्राह्मण-महिला अपने पति की कोप-भाजन बनकर अपने प्रियंकर और शुभंकर नामक दो अल्प-वयस्क पुत्रो को लेकर गिरिनार पर्वत पर एक मुनिराज की शरण मे चली गई। वहा बालकों के क्षुधाग्रस्त होने पर उसके धर्म के प्रभाव से वहां एक आम्रवृक्ष अकाल मे ही फूल उठा। उसकी लुम्बिकाओ (गुच्छो) द्वारा उसने उन बालकों की क्षुधा को शान्त किया। उधर उसके पति सोमशर्मा को अपनी भूल का पता चला तो वह उसे मनाने आया। अग्निला समझी कि वह उसे मारने आया है। अतएव वह तत्कालीन तीर्थंकर नेमिनाथ का ध्यान करती हुई पर्वत के शिखर से कूद पड़ी, और शुभ ध्यान से मरकर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका हुई। उसका पति यथा समय मरकर सिंह के रूप में उसका वाहन हुआ। इस प्रकार अम्बिका के दो पुत्र, आम्रवृक्ष और आम्रफलों की लुम्बिका और सिंहवाहन, ये उक्त देवी की मूर्ति के लक्षण

बने। इसी कथानक का सार आशाधर कृत प्रतिष्ठासार (१३ वीं शती) में अम्बिका के ध्यानात्मक निम्न श्लोक में मिलता है:—

सव्यैकद्युपग-प्रियंकरसुतप्रीत्यै करे बिभ्रतीं।
दिव्याम्रस्तबकं शुभंकर-करश्लिष्टान्यहस्तांगुलिम्॥
सिंहभर्तृ चरे स्थितां हरितभामाम्रद्रुमच्छायगाम्।
वंदारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्बां यजे॥

अम्बिका की ऐसी मूर्तियां उदयगिरि-खंडगिरि की नवमुनि-गुफा तथा ढंक की गुफाओं में भी पाई जाती है। इनमे इस मूर्ति के दो ही हाथ पाये जाते हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित मथुरा की गुप्तकालीन प्रतिमा मे भी है। किन्तु दक्षिण में जिनकांची के एक जैन मठ की दीवाल पर चित्रित अम्बिका चतुर्भुज है। उसके दो हाथों मे पाश और अंकुश है, तथा अन्य दो हाथ अभय और वरद मुद्रा में हैं। वह आम्रवृक्ष के नीचे पद्मासन विराजमान है, और पास मे बालक भी हैं। मैसूर राज्य के अंगडि नामक स्थान के जैनमंदिर मे अम्बिका की द्विभुज-मूर्ति खडी हुई बहुत ही सुन्दर है। उसकी त्रिभंग शरीराकृति कलात्मक और लालित्यपूर्ण है। देवगढ़ के मंदिरो में तथा आबू के विमल-वसही मे भी अम्बिका की मूर्ति दर्शनीय है। मथुरा संग्रहालय मे हाल ही आई हुई (३३८२) पूर्व-मध्यकालीन मूर्ति में देवी दो स्तंभो के बीच ललितासन बैठी है। दांया पैर कमल पर है। देवी अपनी गोद के शिशु को अत्यंत वात्सल्य से दोनो हाथों से पकडे हुए है। केशपाश व कंठहार तथा कुडलो की आकृतियां बड़ी सुन्दर है। बाएं किनारे सिंह बैठा है।

सरस्वती की मूर्ति—

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति (जे २४) लखनऊ के संग्रहालय मे एक फुट साढे नौ इंच ऊंची है। देवी चौकोर आसन पर विराजमान है। सिर खंडित है। बायें हाथ में सूत्र से बंधी हुई पुस्तक है। दाहिना हाथ खंडित है, किन्तु अभय मुद्रा मे रहा प्रतीत होता है। वस्त्र साडी जैसा है, जिसका अंचल कंधों को भी आच्छादित किये है। दोनों हाथों की कलाइयों पर एक-एक चूड़ी है, तथा दाहिने हाथ मे चूडी से ऊपर जपमाला भी लटक रही है। देवी के दोनों ओर दो उपासक खडे हैं, जिनके केश सुन्दरता से संवारे गये हैं। दाहिनी ओर के उपासक के हाथ में कलश है, तथा बाईं ओर का उपासक हाथ जोडे खड़ा है। दाहिनी ओर का उपासक कोट पहने हुए है, जो शक जाति के ट्यूनिक जैसा दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक

लेख भी है, जिसके अनुसार "सब जीवों को हित व सुखकारी यह सरस्वती की प्रतिमा सिंहपुत्र-शोभ नामक लुहार कासक (शिल्पी) ने दान किया, और उसे एक जैन मंदिर की रंगशाला में स्थापित की"। यह मूर्तिदान कोटिक-गण वाचकाचार्य आर्यदेव को संवत् ५४ में किया था। लिपि आदि पर से यह वर्ष शक सवत् का प्रतीत होता है। अतः इसका काल ७८+५४=१३२ ई०, कुषाण राजा हुविष्क के समय में पड़ता है। लेख मे जो अन्य नाम आये है, वे सभी उसी कंकाली टीले से प्राप्त सम्वत् ५२ की जैन प्रतिमा के लेख मे भी उल्लिखित है। जैन परम्परा मे सरस्वती की पूजा कितनी प्राचीन है, यह इस मूर्ति और उसके लेख से प्रमाणित होता है। सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिमा अन्यत्र कही प्राप्त नही हुई। इस देवी की हिन्दू मूर्तिया गुप्तकाल से पूर्व की नही पायी जाती, अर्थात् वे सब इससे दो तीन शती पश्चात् की है। सरस्वती की मूर्ति अनेक स्थानो के जैन मदिरो मे प्रतिष्ठित पाई जाती है, किन्तु अधिकाश ज्ञात प्रतिमाएं मध्यकाल की निर्मितिया है। उदाहरणार्थ, **देवगढ़** के १९वे मदिर के बाहिरी बरामदे मे सरस्वती की खडी हुई चतुर्भुज मूर्ति है, जिसका काल वि० स० ११२६ के लगभग सिद्ध होता है। राजपूताने मे सिरोही जनपद के **अजारी** नामक स्थान के महावीर जैन मदिर मे प्रतिष्ठित मूर्ति के आसन पर वि० स० १२६९ खुदा हुआ है। यह मूर्ति कही द्विभुज, कही चतुर्भुज, कही मयूरवाहिनी और कही हंसवाहिनी पाई जाती है। एक हाथ मे पुस्तक अवश्य रहती है। अन्य हाथ व हाथो मे कमल, अक्षमाला, और वीणा, अथवा इनमे से कोई एक या दो पाये जाते हैं, अथवा दूसरा हाथ अभय मुद्रा मे दिखाई देता है। जैन प्रतिष्ठा-ग्रथो मे इस देवी के ये सभी लक्षण भिन्न-भिन्न रूप से पाये जाते है। उसकी जटाओं और चन्द्रकला का भी उल्लेख मिलता है। **धवला** टीका के कर्त्ता वीरसेनाचार्य ने इस देवी की श्रुत-देवता के रूप मे बन्दना की है, जिसके द्वादशाग वाणी रूप बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन रूप तिलक है, और उत्तम चारित्र रूप आभूषण है। **आकोटा** से प्राप्त सरस्वती की धातु-प्रतिमा (११वी शती से पूर्व की, बड़ौदा संग्रहालय मे) द्विभुज खडी हुई है। मुख-मुद्रा बडी प्रसन्न है। मुकुट का प्रभा-वल भी है। ऐसी ही एक प्रतिमा **वसंतगढ़** से भी प्राप्त हुई है। देवियो की पूजा की परम्परा बडी प्राचीन है, यद्यपि उनके नामो, स्वरूपो तथा स्थापना व पूजा के प्रकारो मे निरतर परिवर्तन होता रहा है। भगवती सूत्र (११, ११, ४२९) मे उल्लेख है कि राजकुमार महाबल के विवाह के समय उसे प्रचुर वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, नन्दा और भद्रा की आठ-आठ प्रतिमायें भी उपहार रूप दी गईं थी। इससे अनुमानतः विवाह के पश्चात् प्रत्येक सम्पन्न कुटुम्ब में ये प्रतिमायें

कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित की जाती थीं।

अच्युता या अच्छुप्ता देवी की मूर्ति—

अच्युता देवी की एक मूर्ति **बदनावर** (मालवा) से प्राप्त हुई है। देवी घोडे पर आरूढ है। उसके चार हाथ हैं। दोनो दाहिने हाथ टूट गये हैं। ऊपर के बाएं हाथ मे एक ढाल दिखाई देती है, और नीचे का हाथ घोडे की रास सम्हाले हुए है। दाहिना पैर रकाब मे है और बायां उस पैर की जघा पर रखा हुआ है। इस प्रकार मूर्ति का मुख सामने व घोडे का उसके बायी ओर है। देवी के गले और कानो मे अलकार है। मूर्ति के ऊपर मडप का आकार है, जिस पर तीन जिन-प्रतिमाए बनी है। चारो कोनों पर भी छोटी-छोटी जैन आकृतिया है। यह पाषाण-खड ३ फुट ६ इच ऊचा है। इस पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार अच्युता देवी की प्रतिमा को सम्वत् १२२९ (ई० ११७२) मे कुछ कुटुम्बो के व्यक्तियो ने **वर्द्धमानपुर** के शान्तिनाथ चैत्यालय मे प्रस्थापित की थी। इस लेख पर से सिद्ध है कि आधुनिक बदनावर प्राचीन वर्द्धमानपुर का अपभ्रश रूप है। मैं अपने एक लेख मे बतला चुका हू, तथा ऊपर मदिरो के सबंध मे भी उल्लेख किया जा चुका है, कि सम्भवतः यही वह वर्द्धमानपुर का शान्तिनाथ मदिर है जहा शक सं० ७०५ (ई० ७८३) में आचार्य जिनसेन ने **हरिवंश-पुराण** की रचना पूर्ण की थी।

नैगमेश (नैमेश) की मूर्ति—

मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त भग्नावशेषो मे एक तोरण-खड पर नेमेश देव की प्रतिमा बनी है और उसके नीचे **भगव नेमेसो** ऐसा लिखा है। इस नेमेश देव की मथुरा-सग्रहालय मे अनेक मूर्तिया है। कुषाण कालीन एक मूर्ति (ई १) एक फुट साढे तीन इच ऊंची है। मुखाकृति बकरे के सदृश है, व बाए हाथ से दो शिशुओ को धारण किये है, जो उसकी जघा पर लटक रहे है। उसके कधो पर भी सम्भवतः बालक रहे है, जो खडित हो गये है, केवल उनके पैर लटक रहे है। एक अन्य छोटी सी मूर्ति (न० ९०९) साढ़े चार इच की है, जिसमे कंधो पर बालक बैठे हुए दिखायी देते हैं। यह भी कुषाण कालीन है। तीसरी मूर्ति साढे आठ इंच ऊची है और उसमें दोनो कंधो पर एक-एक बालक बैठा हुआ है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है, और बाएं में मोहरो की थैली जैसी कोई वस्तु है। कंधों पर बालक बैठाए हुए नेगमेश की और दो मूर्तिया (नं० ११५१, २४८२) हैं। एक मूर्ति का केवल सिर मात्र सुरक्षित है (नं० १००१)।

एक अन्य मूर्ति (नं० २५४७) एक फुट पाच इंच ऊंची है, जिसमें प्रत्येक कंधे पर दो-दो बालक बैठे दिखाई देते हैं, तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है।

कुछ मूर्तियां अजामुख देवी की है। एक मूर्ति (ई २) एक फुट चार इंच ऊंची है, जिसमें देवी के स्तन स्पष्ट है। उसके बाए हाथ में एक तकिया है, जिस पर एक बालक अपने दोनों हाथ वक्षस्थल पर रखे हुए लटका है। देवी का दाहिना हाथ खंडित है; किन्तु अनुमानतः वह कंधे की ओर उठ रहा है। इसी प्रकार की दूसरी मूर्ति (ई ३) में स्तनो पर हार लटक रहा है। तीसरी मूर्ति (नं० ७९९) साढे आठ इच ऊची है। देवी अजामुख है, किन्तु वह किसी बालक को धारण नही किये है। उसके दाहिने हाथ मे कमल और बाए हाथ मे प्याला है। एक अन्य मूर्ति (स० १२१०) दश इंच ऊची है, जिसमे देवी अपनी बायी जघा पर बालक को बैठाये है, और बाएं हाथ से उसे पकडे है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा मे है। सिर पर साढे पाच इच व्यास का प्रभावल भी है। स्तनो पर सुस्पष्ट हार भी है। एक अन्य छोटी सी मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह केवल पाच इंच ऊंची है, किन्तु उसमे अजामुख देवी की चार भुजाएं है, और वह एक पर्वत पर ललितासन विराजमान है। उसकी बायी जघा पर बालक बैठा है, जो प्याले को हाथो मे लिए हुए दूध पी रहा है। देवी के हाथो मे त्रिशूल, प्याला व पाश है। उसके दाहिने पैर के नीचे उसके वाहन की आकृति कुछ अस्पष्ट है, जो सम्भवत: बैल या भैसा होगा।

कुछ मूर्तिया ऐसी भी है जिनमे यह मातृदेवी अजामुख नही, किन्तु स्त्री-मुख बनाई गई है। ऐसी एक मूर्ति (ई ४) १ फुट १ इंच ऊची है जिसमे देवी एक शिशु को अपनी गोद मे सुलाये हुए है। देवी का दाहिना हाथ अभयमुद्रा मे है। मूर्ति कुषाण-कालीन है। इसी प्रकार की बालक को सुलाये हुए एक दूसरी मूर्ति भी है। बालकों सहित एक अन्य उल्लेखनीय मूर्ति (न० २७८) १ फुट साढे सात इंच ऊंची व ९ इंच चौडी है, जिसमे एक पुरुष व स्त्री पास-पास एक वृक्ष के नीचे ललितासन मे बैठे हैं। वृक्ष के ऊपरी भाग मे छोटी सी ध्यानस्थ जिन-मूर्ति बनी हुई है, और वृक्ष की पीड़ (तना) पर गिरगिट चढता हुआ दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक दूसरी आकृति है, जिसमे बाया पैर ऊपर उठाया हुआ है, और उसके दोनो ओर ६ बालक खेल रहे हैं। इसी प्रकार की एक मूर्ति चंदेरी (म० प्र०) मे भी पाई गई है, तथा एक अन्य मूर्ति प्रयाग नगरपालिका के संग्रहालय मे भी है।

उपर्युक्त समस्त मूर्तिया मूलतः एक जैन आख्यान से संबंधित हैं, और अपने विकासक्रम को प्रदर्शित कर रही हैं। कल्प-सूत्र के अनुसार इन्द्र की आज्ञा से उनके

हरिनैगमेश नामक अनुचर देव ने महावीर को गर्भरूप में देवानंदा की कुक्षि से निकाल कर त्रिशला रानी की कुक्षि में स्थापित किया था । इस प्रकार हरिनैगमेषी का संबंध बाल-रक्षा से स्थापित हुआ जान पड़ता है । इस हरिनैगमेश की मुखाकृति प्राचीन चित्रों व प्रतिमाओं में बकरे जैसी पाई जाती है । नेमिनाथ-चरित मे कथानक है कि सत्यभामा की प्रद्युम्न सदृश पुत्र को प्राप्त करने की अभिलाषा को पूरा करने के लिए कृष्ण ने नैगमेष देव की आराधना की, और उसने प्रकट होकर उन्हें एक हार दिया जिसके पहनने से सत्यभामा की मनोकामना पूरी हुई । इस आख्यान से नैगमेश देव का संतानोत्पत्ति के साथ विशेष सबध स्थापित होता है । उक्त देव व देवी की प्रायः समस्त मूर्तिया हार पहने हुए हैं, जो सम्भवत. इस कथानक के हार का प्रतीक है । डा० वासुदेवशरणजी का अनुमान है कि उपलम्य मूर्तियो पर से ऐसा प्रतीत होता है कि सतान-पालन मे देव की अपेक्षा देवी की उपासना अधिक औचित्य रखती है; अतएव देव के स्थान पर देवी की कल्पना प्रारभ हुई । तत्पश्चात् अजामुख का परित्याग करके सुन्दर स्त्री-मुख का रूप इस देव-देवी को दिया गया, और फिर देव-देवी दोनो ही एक साथ बालको सहित दिखलाए जाने लगे । (जैन एनटी॰ १६३७ प्र० ३७ आदि) सभव है शिशु के पालन-पोषण मे बकरी के दूध के महत्व के कारण इस अजामुख देवता की प्रतिष्ठा हुई हो ?

कुछ मूर्तियो मे, उदाहरणार्थ देवगढ़ के मदिरो मे व चन्द्रपुर (झासी) से प्राप्त मूर्तियो मे, एक वृक्ष के नीचे पास-पास बैठे हुए पुरुष और स्त्री दिखाई देते है, और वे दोनो ही एक बालक को लिए हुए है । पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व सचालक श्री दयाराम साहनी का मत है कि यह दृश्य भोगभूमि के युगल का है ।

जैन चित्रकला

चित्रकला के प्राचीन उल्लेख—

भारतवर्ष मे चित्रकला का भी बड़ा प्राचीन इतिहास है । इस कला के साहित्य मे बहुत प्राचीन उल्लेख पाये जाते है, तथापि इस कला के सुन्दरतम उदाहरण हमें अजन्ता की गुप्त-कालीन बौद्ध गुफाओं मे मिलते हैं । यहां यह कला जिस विकसित रूप में प्राप्त होती है, वह स्वयं बतला रही है कि उससे पूर्व भी भारतीय कलाकारों ने अनेक वैसे भित्तिचित्र दीर्घकाल तक बनाए होगे, तभी उनको इस कला का वह कौशल और अभ्यास प्राप्त हो सका जिसका प्रदर्शन हम उन गुफाओं में पाते हैं । किन्तु चित्र-

कला को आधारभूत सामग्री भी उसकी प्रकृति अनुसार ही बडी ललित और कोमल होती है। भित्ति का लेप और उसपर कलाकार के हाथों की स्याही की रेखाएं तथा रंगो का विन्यास काल की तथा धूप, वर्षा, पवन, आदि प्राकृतिक शक्तियो की करालता को उतना नही सह सकती जितना वास्तु व मूर्तिकला की पाषाणमयी कृतिया। इस कारण गुप्त काल से पूर्व के चित्रकलात्मक उदाहरण या तो नष्ट हो गये या बचे तो ऐसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे जिससे उनके मौलिक स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो गया है।

प्राचीनतम जैन साहित्य मे चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते है। छठे जैन **श्रुतांग नायाधम्म-कहाओ** मे धारणी देवी के शयनागार का सुन्दर वर्णन है जिसका छत लताओ, पुष्पवल्लियो तथा उत्तम जाति के चित्रो से अलकृत था (ना० क० १६)। इसी श्रुताग मे मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवन मे चित्रसभा बनवाने का वर्णन है। उसने चित्रकारो की श्रेणी को बुलवाया और उनसे कहा कि मेरे लिए एक चित्र-सभा बनाओ और उसे हाव, भाव, विलास, विभ्रमो से मुसज्जित करो। **चित्रकार-श्रेणी** ने इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने-अपने घर जाकर तूलिकाए और वर्ण (रग) लाकर वे चित्र-रचना मे प्रवृत्त हो गये। उन्होने भित्तियो का विभाजन किया, भूमि को लेपादि से सजाया और फिर उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे। उनमे से एक चित्रकार को ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि किसी भी द्विपद व चतुष्पद प्राणी का एक अग मात्र देखकर उसकी पूरी रूपाकृति निर्माण कर सकता था। उसने **राजकुमारी मल्लि** के चरणागुष्ट को पर्दे की ओट से देखकर उसकी यथावत् सर्वांगाकृति चित्रित कर दी (ना० क० ८, ७८)। इसी श्रुताग मे अन्यत्र (१३, ९९) मणिकार श्रेष्ठि नद द्वारा राजगृह के उद्यान मे एक चित्रसभा बनवाने का उल्लेख है, जिसमे सैंकडो स्तम्भ थे, व नाना प्रकार के काष्ठकर्म (लकडी की कारीगरी), पुस्तकर्म (चूने सिमेट की कारीगरी), चित्रकर्म (रगो की कारीगरी) लेप्यकर्म (मिट्टी की आकृतिया) तथा नाना द्रव्यो को गथकर, वेष्टितकर, भरकर व जोड़कर बनाई हुई विविध आकृतिया निर्माण कराई गई थी। **बृहत्कल्पसूत्र भाष्य** (२, ५, २६२) मे एक **गणिका** का कथानक है, जो ६४ कलाओ मे प्रवीण थी। उसने अपनी चित्रसभा मे नाना प्रकार के, नाना जातियो व व्यवसायो के पुरुषो के चित्र लिखाये थे। जो कोई उसके पास आता उसे वह अपनी उस चित्र-सभा के चित्र दिखलाती, और उसकी प्रतिक्रियाओ पर से उसकी रुचि व स्वभाव को जानकर उसके साथ तदनुसार व्यवहार करती थी। **आवश्यक टीका** के एक पद्य में चित्रकार का उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी भी व्यवसाय का अभ्यास ही, उसमें

पूर्ण प्रवीणता प्राप्त कराता है। चूर्णिकार ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि निरंतर अभ्यास द्वारा चित्रकार रूपों के समुचित प्रमाण को बिना नापे-तौले ही साध लेता है। एक चित्रकार के हस्त-कौशल का उदाहरण देते हुए आवश्यक टीका में यह भी कहा है कि एक शिल्पी ने मयूर का पंख ऐसे कौशल से चित्रित किया था कि राजा उसे यथार्थ वस्तु समझकर हाथो मे लेने का प्रयत्न करने लगा। आव० चूर्णिकार ने कहा है कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने मे भाषा और विभाषा का वही स्थान है जो चित्रकला मे। चित्रकार जब किसी रूप का सतुलित माप निश्चय कर लेता है, तब वह भाषा, और प्रत्येक अगोपांग का प्रमाण निश्चित कर लेता है तब विभाषा, एव जब नेत्रादि अग चित्रित कर लेता है तब वह वार्ता की स्थिति पर पहुंचता है। इस प्रकार जैन साहित्यिक उल्लेखो से प्रमाणित है कि जैन परम्परा मे चित्रकला का प्रचार अति प्राचीन काल मे हो चुका था और यह कला सुविकसित तथा सुव्यवस्थित हो चुकी थी।

भित्ति-चित्र—

जैन चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण हमे तामिल प्रदेश के तजोर के समीप सित्तन्नवासल की उस गुफा मे मिलते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किसी समय इस गुफा मे समस्त भित्तियां व छत चित्रो से अलकृत थे, और गुफा का वह अलंकरण महेन्द्रवर्मा प्रथम के राज्य काल (ई० ६२५) मे कराया गया था। शैव धर्म स्वीकार करने से पूर्व यह राजा जैनधर्मावलम्बी था। वह चित्रकला का इतना प्रेमी था कि उसने दक्षिण-चित्र नामक शास्त्र का संकलन कराया था। गुफा के अधिकाश चित्र तो नष्ट हो चुके है, किन्तु कुछ अब भी इतने सुव्यवस्थित हैं कि जिनसे उनका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इनमे आकाश मे मेघो के बीच नृत्य करती हुई अप्सराओ की तथा राजा-रानी की आकृतिया स्पष्ट और सुन्दर है। छत पर के दो चित्र कमल-सरोवर के है। सरोवर के बीच एक युगल की आकृतिया हैं, जिनमे स्त्री अपने दाहिने हाथ से कमलपुष्प तोड रही है, और पुरुष उससे सटकर बाएं हाथ मे कमल-नाल को कंधे पर लिए खडा है। युगल का यह चित्रण बडा ही सुन्दर है। ऐसा भी अनुमान किया गया है कि ये चित्र तत्कालीन नरेश महेन्द्रवर्मा और उनकी रानी के ही है। एक ओर हाथी अनेक कमलनालों को अपनी सूड़ में लपेट कर उखाड़ रहा है, कही गाय कमलनाल चर रही है, हंस-युगल क्रीड़ा कर रहे हैं, पक्षी कमल मुकुलो पर बैठे हुए हैं, व मत्स्य पानी मे चल-फिर रहे हैं। दूसरा चित्र भी इसी का क्रमानुगामी है। उसमें एक मनुष्य तोड़े हुए कमलो से भरी हुई टोकरी लिये हुए है, तथा हाथी और बैल क्रीड़ा कर रहे हैं।

छवियों का रंग भूरा व बैलों का रंग मटियाला है। विद्वानों का अनुमान है कि ये चित्र तीर्थंकर के समवसरण की खातिका-भूमि के है, जिसमें भव्य-जन पूजा-निमित्त कमल तोड़ते हैं।

इसी चित्र का अनुकरण एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर के एक चित्र में भी पाया जाता है। यद्यपि यह मदिर शैव है, तथापि इसमें उक्त चित्र के अतिरिक्त एक ऐसा भी चित्र है जिसमे एक दिगम्बर मुनि को पालकी में बैठाकर यात्रा निकाली जा रही है। पालकी को चार मनुष्य पीछे की ओर व आगे एक मनुष्य धारण किये है। पालकी पर छत्र भी लगा हुआ है। आगे-आगे पाच योद्धा भालो और ढालो से सुसज्जित चल रहे है। इन योद्धाओ की मुखाकृति, केशविन्यास, भौहे, आखों व मूछों की बनावट तथा कर्ण-कुण्डल बडी सजीवताको लिए हुए है। बायी ओर इनके स्वागत के लिये आती हुई सात स्त्रिया, और उनके आगे उसी प्रकार से सुसज्जित सात योद्धा दिखाई देते है। योद्धाओ के पीछे ऊपर की ओर छत्र भी लगा हुआ है। स्त्रिया सिरो पर कलश आदि मगल द्रव्य धारण किये हुए है। उनकी साडी की पहनावट दक्षिणी ढंग की सकक्ष है, तथा उत्तरीय दाहिनी बाजू से बाये कधे पर डाला हुआ है। उसके पीछे बदनवार बने हुए दिखाई देते है। इस प्रकार यह दृष्य भट्टारक सम्प्रदाय के जैनमुनि के राजद्वार पर स्वागत का प्रतीत होता है। डा० मोतीचन्दजी का अनुमान है कि एक हिन्दू मदिर मे इस जैन दृष्य का अस्तित्व १२ वी शती मे मदिर के जैनियो द्वारा बलात् स्वाधीन किये जाने की सम्भावना को सूचित करता है। किन्तु समस्त जैनधर्म के इतिहास को देखते हुए यह बात असम्भव सी प्रतीत है। यह चित्र सम्भवतः चित्र निर्मापक की धार्मिक उदारता अथवा उसपर किसी जैन मुनि के विशेष प्रभाव का प्रतीक है। एलोरा के इन्द्रसभा नामक शैलमदिर (८ वी से १० वी शती ई०) मे भी रगीन भित्तिचित्रों के चिन्ह विद्यमान है, किन्तु वे इतने छिन्न-भिन्न है, और धुधले हो गये है कि उनका विशेष वृत्तान्त पाना असम्भव है।

१०-११ वी शती मे जैनियो ने अपने मदिरों में चित्रनिर्माण द्वारा दक्षिण प्रदेश मे चित्रकला को खूब पुष्ट किया। उदाहरणार्थ, तिरु मलाई के जैनमदिर मे अब भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान है जिनमे देवता व किंपुरुष आकाश मे मेघो के बीच उड़ते हुए दिखाई देते है। देव पंक्तिबद्ध होकर समोसरण की ओर जा रहे है। गंधर्व व अप्सराएं भी बने है। एक देव फूलों के बीच खड़ा हुआ है। श्वेत वस्त्र धारण किये अप्सराएं पंक्तिबद्ध स्थित हैं। एक चित्र में दो मुनि परस्पर सम्मुख बैठे दिखाई देते हैं। कही दिगंबर मुनि आहार देने वाली महिला को धर्मोपदेश दे रहे

हैं। एक देवता चतुर्भुज व त्रिनेत्र दिखाई देता है, जो सम्भवतः इन्द्र है। ये सब चित्र काली भित्ति पर नाना रंगों से बनाए गये हैं। रंगो की चटक अजन्ता के चित्रो के समान है। देवों, आर्यों व मुनियों के चित्रों मे नाक व ठुड्डी का अंकन कोणात्मक तथा दूसरी आंख मुखाकृति के बाहर को निकली हुई सी बनाई गई है। आगे की चित्रकला इस शैली से बहुत प्रभावित पायी जाती है।

श्रवणबेलगोला के जैनमठ में अनेक सुन्दर भित्ति-चित्र विद्यमान हैं। एक में पार्श्वनाथ **समोसरण** में विराजमान दिखाई देते हैं। नेमिनाथ की **दिव्य-ध्वनि** का चित्रण भी सुन्दरता से किया गया है। एक वृक्ष और छह पुरुषो द्वारा जैनधर्म की **छह लेश्याओं** को समझाया गया है, जिनके अनुसार वृक्ष के फलो को खाने के लिए कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति सारे वृक्ष को काट डालता है, नीललेश्या वाला व्यक्ति उसकी बड़ी-बडी शाखाओं को, कपोतलेश्या वाला उसकी टहनियो को, पीतलेश्या वाला उसके कच्चे-पके फलो को और पद्मलेश्या वाला केवल पके फलो को तोडता है। किन्तु शुक्ललेश्या वाला व्यक्ति वृक्ष को लेशमात्र भी हानि नही पहुचाता हुआ पककर गिरे हुए फलो को चुनकर खाता है। मठ के चित्रो में ऐसे अन्य भी धार्मिक उपदेशों के दृष्टान्त पाये जाते हैं। यहा एक ऐसा चित्र भी है, जिसमे मैसूर नरेश कृष्णराज ओडयर (तृतीय) का **दशहरा दरबार** प्रदर्शित किया गया है।

ताड़पत्रीय चित्र—

जैन मंदिरो में भित्ति-चित्रों की कला का विकास ११ वीं शती तक विशेष रूप से पाया जाता है। तत्पश्चात् चित्रकला का आधार ताडपत्र बना। इस काल से लेकर १४-१५ वी शती तक के हस्तलिखित ताडपत्र ग्रंथ जैन शास्त्र-भडारो में सहस्त्रों की संख्या मे पाये जाते हैं। चित्र बहुधा लेख के ऊपर, नीचे व दाये-बाए हाशियों पर, और कही पत्र के मध्य में भी बने हुए हैं। ये चित्र बहुधा शोभा के लिए, अथवा धार्मिक रुचि बढाने के लिए अंकित किये गये हैं। ऐसे चित्र बहुत ही कम हैं जिनका विषय ग्रंथ से संबंध रखता हो।

सबसे प्राचीन चित्रित ताड़पत्र ग्रंथ दक्षिण में मैसूर राज्यान्तर्गत मूडबिद्री तथा उत्तर में पाटन (गुजरात) के जैन भंडारों में मिले हैं। मूडबिद्री में **षट्खंडागम की ताड़पत्रीय प्रतियां**, उसके ग्रंथ व चित्र दोनों दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। दिगम्बर जैन परम्परानुसार सुरक्षित साहित्य में यही रचना सबसे प्राचीन है। इसका मूल द्वितीय शती, तथा टीका ९ वीं शती में रचित सिद्ध होती है। मूडबिद्री के इस ग्रंथ

की तीन प्रतियों में सबसे पीछे की प्रति का लेखन काल ११११३ ई० के लगभग है। इसमें पांच ताडपत्र सचित्र है। इनमे से दो ताडपत्र तो पूरे चित्रों से भरे हैं, दो के मध्यभाग में लेख है, और दोनो तरफ कुछ चित्र, तथा एक में पत्र तीन भागों में विभाजित है, और तीनो भागो मे लेख है, किन्तु दोनो छोरो पर एक-एक चक्राकृति बनी है। चक्र की परिधि मे भीतर की ओर अनेक कोणाकृतिया और मध्यभाग में उसी प्रकार का दूसरा छोटा सा चक्र है। इन दोनो के वलय मे कुछ अंतराल से छह चौकोण आकृतिया बनी है। जिन दो पत्रो के मध्य मे लेख और आजू-बाजू चित्र हैं, उनमे से एक पत्र मे पहले बेलबूटेदार किनारी और फिर दो-दो विविध प्रकार की सुन्दर गोलाकृतियां है। दूसरे पत्र मे दाई ओर खड्गासन नग्न मूर्तिया है, जिनके सम्मुख दो स्त्रिया नृत्य जैसी भाव-मुद्रा मे खडी है। इनका केशो का जूडा चक्राकार व पुष्पमाला युक्त है, तथा उत्तरीय दाए कधे के नीचे से बाए के ऊपर फैला हुआ है। पत्र के बायी ओर पद्मासन जिनमूर्ति प्रभावल-युक्त है। सिहासन पर कुछ पशुओ की आकृतिया बनी हैं। मूर्ति के दोनो ओर दो मनुष्य-आकृतिया हैं, और उनके पार्श्व मे स्वतत्र रूप से खडी हुई, और दूसरी कमलासीन हसयुक्त देवी की मूर्तिया हैं। जो दो पत्र पूर्णत: चित्रो से अलकृत हैं, उनमे से एक के मध्य मे पद्मासन जिनमूर्ति है, जिसके दोनो ओर एक-एक देव खडे है। इस चित्र के दोनों ओर समान रूप से दो-दो पद्मासन जिनमूर्तिया है, जिनके सिरके पीछे प्रभावल, उसके दोनो ओर चमर, और ऊपर की ओर दो चक्रो की आकृतिया है। तत्पश्चात् दोनो ओर एक-एक चतुर्भुजी देवी की भद्रासन मूर्ति है, जिनके दाहिने हाथ मे अकुश और बाएं हाथ मे कमल है। अन्य दो हाथ वरद और अभय मुद्रा मे है। दोनों छोरो के चित्रो मे गुरु अपने सम्मुख हाथ जोडे बैठे श्रावको को धर्मोपदेश दे रहे है। उनके बीच मे स्थापनाचार्य रखा है। दूसरे पत्र के मध्यभाग मे पद्मासन जिनमूर्ति है, और उसके दोनो ओर सात-सात साधु नाना प्रकार के आसनों व हस्त-मुद्राओ सहित बैठे हुए हैं। इन ताड़पत्रो की सभी आकृतिया बडी सजीव और कला-पूर्ण है। विशेष बात यह है कि इन चित्रो मे कही भी परली आख मुखरेखा से बाहर की ओर निकली हुई दिखाई नही देती। नासिका व ठुड्डी की आकृति भी कोणाकार नही है, जैसे कि हम आगे विकसित हुई पश्चिमी जैनशैली मे पाते हैं।

उक्त चित्रो के समकालीन पश्चिम की चित्रकला के उदाहरण **निशीथ-चूर्णि** की पाटन के सघवी-पाडा के भडार मे सुरक्षित ताड़पत्रीय प्रति मे मिलते है। यह प्रति उसकी प्रशस्ति अनुसार भृगुकच्छ (भड़ौच) मे सोलकी नरेश जयसिह (ई० १०९४ से ११४३) के राज्यकाल मे लिखी गई थी। इसमें अलकरणात्मक चक्राकार

आकृतिया बहुत हैं, और वे प्राय. उसी शैली की हैं जैसी ऊपर वर्णित षट्खंडागम की। हा, एक चक्र के भीतर हस्तिवाहक का, तथा अन्यत्र पुष्पमालाएं लिए हुए दो अप्सराओं के चित्र विशेष है। इनमे भी षट्खडागम के चित्रो के समान पहली आख की आकृति मुख-रेखा के बाहर नही निकली। ११२७ ई० मे लिखित खम्भात के शान्तिनाथ जैनमदिर मे स्थित नगीनदास भडार की **ज्ञाताधर्मसूत्र** की ताडपत्रीय प्रति के पद्मासन **महावीर** तीर्थंकर आस पास चौरी वाहको सहित, तथा **सरस्वती** देवी का त्रिभंग चित्र उल्लेखनीय है। देवी चतुर्भुज है। ऊपर के दोनो हाथो मे कमलपुष्प तथा निचले हाथों मे अक्षमाला व पुस्तक है। समीप मे हंस भी है। देवी के मुख की प्रसन्नता व अगों का हाव-भाव और विलास सुन्दरता से अकित किया गया है।

बडौदा जनपद के अन्तर्गत छाणी के जैन-ग्रथ-भडार की **ओघनिर्युक्ति** की ताडपत्रीय प्रति (ई० ११६१) के चित्र विशेष महत्व के हैं क्योकि इनमे **१६ विद्यादेवियों** तथा अन्य देवियो और **यक्षों** के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। विद्यादेवियो के नाम है:– रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृखला, वज्राकुशी, चक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गाधारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी, और महामानसी। अन्य देव-देवी है .– कापर्दीयक्ष, सरस्वती, अम्बिका, महालक्ष्मी, ब्रह्मशान्ति। सभी देविया चतुर्भुज व भद्रासन हैं। हाथो मे वरद व अभय मुद्रा के अतिरिक्त शक्ति, अकुश, धनुष, बाण, शृखला, शख, असि, ढाल, पुष्प, फल व पुस्तक आदि चिन्ह हैं। मस्तक के नीचे प्रभावल, सिर पर मुकुट, कान मे कर्णफूल व गले में हार भी विद्यमान है। **अम्बिका** के दो ही हाथ है। दाहिने हाथ मे बालक, और बाए हाथ मे आम्रफलों के गुच्छे सहित डाली। इन सब आकृतियो मे परली आख निकली हुई है, तथा नाक व ठुड्डी की कोणाकृति स्पष्ट दिखाई देती है। शोभाकन समस्त रूढ़ि-आत्मक है। इस जैनग्रथ मे इन चित्रो का अस्तित्व यह बतलाता है कि इस काल की कुछ जैन उपासना-विधियो में अनेक वैष्णव व शैवी देवी-देवताओं को भी स्वीकार कर लिया गया था।

सन् १२८८ मे लिखित सुबाहु-कथादि **कथा-संग्रह** की ताडपत्र प्रति में २३ चित्र है, जिनमें से अनेक अपनी विशेषता रखते है। एक मे भगवान् **नेमिनाथ की बरयात्रा** का सुन्दर चित्रण है। कन्या **राजोमती** विवाह-मंडप में बैठी हुई है, जिसके द्वार पर खड़ा हुआ मनुष्य हस्ति-आरूढ़ नेमीनाथ का हाथ जोड़कर स्वागत कर रहा है। नीचे की ओर मृगाकृतिया बनी हैं। दो चित्र **बलदेव** मुनि के हैं। एक में मृगादि पशु बलदेव मुनि का उपदेश श्रवण कर रहे हैं, और दूसरे में वे एक वृक्ष के नीचे मृग सहित खड़े ए रथवाही से आहार ग्रहण कर रहे हैं। इस ग्रंथ के चित्रो में डा० मोतीचन्द के

मतानुसार पशु व वृक्षो का चित्रण ताड़पत्र में प्रथम बार अवतरित हुआ है, तथा इन चित्रो से पश्चिमी भारत की चित्र-शैली स्थिरता को प्राप्त हो गई है। कोणाकार रेखांकन व नासिका और ठुड्डी का चित्रण तथा परली आख की आकृति मुख रेखा से बाहर निकली हुई यहा रूढिवद्ध हुई दिखायी देती है।

इस चित्रशैली के नामकरण के सबध मे मतभेद है। नार्मन ब्राउन ने इसे श्वेताम्बर जैन शैली कहा है; क्योकि उनके मतानुसार इसका प्रयोग श्वे० जैन ग्रन्थो मे ही हुआ है, तथा परली आख को निकली हुई अंकित करने का कारण सम्भवतः उस सम्प्रदाय मे प्रचलित तीर्थंकर मूर्तियो मे कृत्रिम आख लगाना है। डा० कुमार स्वामी ने इसे जैनकला, तथा श्री एन० सी० मेहता ने गुजराती शैली कहा है। श्री रायकृष्णदास का मत है कि इस शैली मे हमे भारतीय चित्रकला का ह्रास दिखाई देता है। अतः उसे इस काल मे विकसित हुई भाषा के अनुसार अपभ्रंश शैली कहना उचित होगा। किन्तु इन सबमे शताब्दियो पूर्व तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथ (१६ वी शती ई०) ने पश्चिम भारतीय शैली का उल्लेख किया है, और डा० मोतीचन्द ने इसी नाम का औचित्य स्वीकार किया है, क्योकि उपलब्ध प्रमाणो पर से इस शैली का उद्गम और विकास पश्चिम भारत मे ही, विशेषतः गुजरात-राजपूताना प्रदेश मे, हुआ सिद्ध होता है। तारानाथ के मतानुसार पश्चिमी कला-शैली मारू (मारवाड) के शृगधर नामक कुशल चित्रकार ने प्रारम्भ की थी, और वह हर्षवर्धन (६१० से ६५० ई०) के समय मे हुआ था। यह शैली क्रमश. नेपाल और काश्मीर तक पहुच गई। इस शैली के उपलब्ध प्रमाणो से स्पष्ट है कि यदि इसकी उत्पत्ति नही तो विशेष पुष्टि अवश्य ही जैन परम्परा के भीतर हुई, और इसीलिए उसका जैनशैली नाम अनुचित नही। पीछे इस शैली को अन्य पश्चिम प्रदेश के बाहर के लोगों ने तथा जैनेतर सम्प्रदायो ने भी अपनाया तो इससे उसकी उत्पत्ति व पुष्टि पर आधारित 'पश्चिमी' व 'जैन' कला कहने मे कोई अनौचित्य प्रतीत नही होता। इस आधार पर श्री साराभाई नवाब ने जो इस शैली के लिये पश्चिमी जैनकला नाम सुझाया है वह भी सार्थक है।

ऊपर जिन ताड़पत्रीय चित्रो का परिचय कराया गया है, उसके सामान्य लक्षण ये हैं:—विषय को दृष्टि से वे तीर्थंकरों, देव-देवियों, मुनियो व धर्मरक्षकों की आकृतियो तक ही प्रायः सीमित हैं। संयोजन व पृष्ठभूमि की समस्याएं चित्रकार के सम्मुख नही उठीं। उक्त आकृतियों की मुद्राएं भी बहुत कुछ सीमित और रूढ़िगत हैं आकृति-अंकन रेखात्मक है, जिससे उनमे त्रिगुणात्मक गहराई नही आ सकी। रंगो

का प्रयोग भी परिमित है। प्रायः भूमि लाल पकी हुई ईंटों के रंगकी, और आकृतियों में पीले, सिंदूर जैसे लाल, नीले और सफेद तथा क्वचित् हरे रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु सन् १३५० और १४५० ई० के बीच में एक शती के जो ताड़पत्रीय चित्रों के उदाहरण मिले हैं, उनमे शास्त्रीय व सौंदर्य की दृष्टि से कुछ वैशिष्ट्य देखा जाता है। आकृति-अंकन अधिक सूक्ष्मतर व कौशल से हुआ है। आकृतियो मे विषय की दृष्टि से तीर्थंकरो के जीवन की घटनाएं भी अधिक चित्रित हुई हैं, और उनमें विवरणात्मकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है, तथा रंगलेप में वैचित्र्य और विशेष चटकीलापन आया है। इसीकाल मे सुवर्णरंग का प्रयोग प्रथमवार दृष्टिगोचर होता है। यह सब मुसलमानो के साथ आई हुई ईरानी चित्रकला का प्रभाव माना जाता है, जिसके बल से आगे चलकर अकबर के काल (१६ वीं शती) में वह भारतीय ईरानी चित्रशैली विकसित हुई, जो मुगल-शैली के नाम से सुप्रसिद्ध हुई पाई जाती हैं, इस शैली की प्रतिनिधि रचनाएं अधिकाश कल्पसूत्र की प्रतियो में पाई जाती है, जिनमे सबसे महत्वपूर्ण ईडर के 'आनंद जी मंगलजी पेढी' के ज्ञानभंडार की वह प्रति है जिसमे ३४ चित्र है, जो महावीर के और कुछ पार्श्वनाथ व नेमिनाथ तीर्थंकरो की जीवन-घटनाओ से संबद्ध है। इसमे सुवर्ण रंग का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर तो ऐसी भी रचनाएं मिलती हैं जिनमे न केवल चित्रो में ही सुवर्ण रंग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु समस्त ग्रंथ-लेख ही सुवर्ण की स्याही से किया गया है; अथवा समस्त भूमि ही सुवर्ण-लिप्त की गई है, और उसपर चांदी की स्याही से लेखन किया गया है। कल्पसूत्र की आठ ताडपत्र तथा बीस कागज की प्रतियो पर से लिए हुए ३७४ चित्रो सहित कल्पसूत्र का प्रकाशन भी हो चुका है। (पवित्रकल्पसूत्र, अहमदाबाद, १९५२) । प्रोफेसर नार्मन ब्राउन ने अपने 'दी स्टोरी आफ कालक' (वाशिंगटन, १९३३) नामक ग्रंथ मे ३९ चित्रो का परिचय कराया है; तथा साराभाई नवाब ने अपने कालक कथा-संग्रह (अहमदाबाद, १९५८) में ६ ताड़पत्र और ९ कागज की प्रतियों परसे ८८ चित्र प्रस्तुत किये हैं। डा० मोतीचन्द ने अपने 'जैन मिनिएचर पेंटिंग्स फ्राम वेस्टर्न इंडिया' (अहमदाबाद, १९४९) मे २९२ चित्र प्रस्तुत किए हैं, और उनके आधार से जैन चित्रकला का अति महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया हैं।

कागज पर चित्र—

कागज का आविष्कार चीन देश में १०५ ई० में हुआ माना जाता है। १०वीं

११ वी शती मे उसका निर्माण अरब देशो मे होने लगा, और वहां से भारत में आया। मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के जैन भडार से **ध्वन्यालोक-लोचन** की उस प्रति का अंतिम पत्र मिला है जो जिनचन्द्रसूरि के लिये लिखी गई थी, तथा जिसका लेखन-काल, जिनविजय जी के कहे अनुसार, सन् ११६० के लगभग है। कारजा जैन भण्डार से **उपासकाचार** (रत्नकरड श्रावकाचार) की प्रभाचन्द्र कृत टीका सहित कागज की प्रति का लेखनकाल वि० सं० १४१५ (ई० सन् १३५८) है। किन्तु कागज की सबसे प्राचीन चित्रित प्रति ई० १४२७ मे लिखित वह **कल्पसूत्र** है जो लदन की इडिया आफिस लायब्रेरी मे सुरक्षित है। इसमे ३१ चित्र है और उसी के साथ जुडी हुई **कालकाचार्य-कथा** मे अन्य १३। इस ग्रन्थ के समस्त ११३ पत्र चादी की स्याही से काली व लाल पृष्ठभूमि पर लिखे गये है। कुछ पृष्ठ लाल या सादी भूमि पर सुवर्ण की स्याही से लिखित भी है। प्रति के हासियों पर शोभा के लिए हाथियो व हसो की पंक्तिया, फूल-पत्तिया अथवा कमल आदि बने हुए है। लक्ष्मणगणी कृत **सुपासणाह-चरियं** की एक सचित्र प्रति पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य जैन-ज्ञानभडार मे सम्वत् १४७९ (ई० १४२२) मे प० भावचन्द्र के शिष्य हीरानद मुनि द्वारा लिखित है। इसमे कुल ३७ चित्र हैं जिनमे से ६ पूरे पत्रो मे व शेष पत्रो के अर्द्ध व तृतीय भाग मे हासियो मे बने है। इनमे सुपार्श्व तीर्थंकर के अतिरिक्त सरस्वती, मातृस्वप्न, विवाह, समवसरण, देशना आदि के चित्र बडे सुन्दर है। इसके पश्चात्कालीन कल्पसूत्र की अनेक सचित्र प्रतिया नाना जैन भण्डारों मे पाई गई है, जिनमे विशेष उल्लेखनीय **बड़ौदा** के नरसिहजी ज्ञानभण्डार मे सुरक्षित है। यह प्रति यवनपुर (जौनपुर, उ० प्र०) मे हुसैनशाह के राज्य मे वि० सं० १५२२ मे हर्षिणी श्राविका के आदेश से लिखी गई थी। इसमे ८६ पृष्ठ है, और समस्त लेखन सुवर्ण-स्याही से हुआ है। इसमे आठ चित्र है, जिनमे ऋषभदेव का राज्याभिषेक, भरत-बाहुबलि युद्ध, महावीर की माता के स्वप्न, कोशा का नृत्य आदि चित्रित है। इन चित्रो मे लाल भूमि पर पीले, हरे, नीले आदि रंगो के अतिरिक्त सुवर्ण का भी प्रचुर प्रयोग है। आकृतियो मे पश्चिमी शैली के पूर्वोक्त लक्षण सुस्पष्ट है। स्त्रियों की मुखा-कृति विशेष परिष्कृत पाई जाती है, और उनके ओष्ठ लाक्तारस से रंजित दिखाए गए हैं। अन्य विशेष उल्लेखनीय कल्पसूत्र की **अहमदाबाद के देवसेन पाड़ा** की प्रति है, जो भडौच के समीप गधारबदर के निवासी साणा और जूठा श्रेष्ठियो के वंशजो द्वारा लिखाई गई थी। यह भी सुवर्ण स्याही से लिखी गई है। कला की दृष्टि से इसके कोई २५-२६ चित्र इस प्रकार के ग्रंथो मे सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं, क्योंकि इनमें **भरत नाट्य शास्त्र** मे वर्णित नाना नृत्य-मुद्राओ का अकन पाया जाता है। एक चित्र में महावीर द्वारा

चंडकौशिक नाग के वशीकरण की घटना दिखाई गई है। इसकी किनारियों का चित्रण भी बहुत सुन्दर हुआ है, और वह ईरानी-कला से प्रभावित माना जाता है। उसमें अकबरकालीन मुगलशैली का आभास मिलता है।

कागज की उपर्युक्त सचित्र प्रतिया श्वेताम्बर-परम्परा की हैं, जो प्रकाश में आ चुकी हैं, और विशेषज्ञो द्वारा उनके चित्रो का अध्ययन भी किया जा चुका है। दुर्भाग्यतः दिगम्बर जैन भण्डारो की इस दृष्टि से अभी तक खोज शोध होनी शेष है। अनेक शास्त्र-भण्डारो मे सचित्र प्रतियो का पता चला है। उदाहरणार्थ—**दिल्ली** के एक शास्त्र-भण्डार मे पुष्पदत कृत **अपभ्रंश महापुराण** की एक प्रति है, जिसमे सैकडो चित्र तीर्थकरों के जीवन की घटनाओं को प्रदर्शित करने वाले विद्यमान है। **नागौर** के शास्त्र-भण्डार मे एक **यशोधर-चरित्र** की प्रति है, जिसके चित्रों की उसके दर्शको ने बडी प्रशंसा की है। **नागपुर** के शास्त्र-भण्डार से **सुगंधदशमी कथा** की प्रति मिली है जिसमें उस कथा को उदाहृत करने वाले ७० से अधिक चित्र हैं। **बम्बई** के ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन मे **भक्तामर स्तोत्र** की सचित्र प्रति है जिसमे लगभग ४० चित्र हैं, जिनमे आदिनाथ का चतुर्मुख कमलासन प्रतिबिम्ब भी है। इसके एक ओर दिग० साधु व दूसरी ओर कोई मुकुट-धारी नरेश उपासक के रूप मे खडे है। नेमीचन्द्र कृत **त्रिलोकसागर** की सचित्र प्रतियां मिलती हैं, जिनमें नेमीचन्द्र व उनके शिष्य महामंत्री चामुण्डरायके चित्रपाये जाते है। इन सब चित्रो के कलात्मक अध्ययन की बडी आवश्यकता है। उससे जैन चित्रकला पर प्रकाश पडने की और भी अधिकआशा की जा सकती है।

कागज का आधार मिलने पर चित्रकला की रीति मे कुछ विकास और परि-वर्तन हुआ। ताडपत्र मे विस्तार की दृष्टि से चित्रकार के हाथ बंधे हुए थे। उसे दो-ढाई इंच से अधिक चौडा क्षेत्र ही नही मिल पाता था। कागज मे यह कठिनाई जाती रही, और चित्रण के लिए यथेष्ट लम्बान-चौडान मिलने लगा, जिससे रुचि अनुसार चित्रो के बड़े-छोटे आकार निर्माण व सम्पुजन में बडी सुविधा उत्पन्न हो गई। रंगों के चुनाव मे भी विस्तार हुआ। ताडपत्र पर रगो को जमाना एक कठिन कार्य था। कागज रंग को सरलता से पकड़ लेता है। इसके अतिरिक्त सोने-चांदी के रंगों का भी उपयोग प्रारंभ हुआ। इसके पूर्व सुवर्ण के रंग का भी उपयोग बहुत ही अल्प मात्रा में तूलिका को थोड़ा सा डुबाकर केवल आभूषणों के अंकन के लिए किया जाता था। सम्भवतः उस समय सुवर्ण की महगाई भी इसका एक कारण था। किन्तु इस काल में सुवर्ण कुछ अधिक सुलभ प्रतीत होता है। अथवा चित्रकला की ओर धनिक रुचियो का ध्यान आकर्षित हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप न केवल चित्रण में, किन्तु

ग्रंथ लेखन में भी सुवर्ण व चादी की स्याहियों का प्रचुरता से प्रयोग होने लगा। सुवर्ण की चमक से चित्रकार यहां तक प्रभावित हुए पाये जाते हैं कि बहुधा समस्त चित्रभूमि सुवर्ण-लिप्त कर दी जाने लगी, एवं जैन मुनियो के वस्त्र भी सुवर्ण-रंजित प्रदर्शित किये जाने लगे। जितना अधिक सुवर्ण का उपयोग, उतना अधिक सौन्दर्य; इस भावना को कलाभिरुचि की एक विकृति ही कहना चाहिए। तथापि इसमे संदेह नही कि नाना रंगों के बीच सुवर्ण के समुचित उपयोग से कागज पर की चित्रकारी मे एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है।

काष्ठ चित्र—

जैन शास्त्रभण्डारो मे काष्ठ के ऊपर भी चित्रकारी के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं। ये काष्ठ प्रादित: ताडपत्रो की प्रतियो की रक्षा के लिए उनके ऊपर-नीचे रखे जाते थे। ऐसा एक सचित्र काष्ठ चित्रपट मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से प्राप्त हुआ है। यह २७ इंच लम्बा और ३ इच चोडा है। रंग ऐसे पक्के है कि वे पानी से धुलते नही। पट के मध्य में जैन मंदिर की आकृति है, जिसमे एक जिनमूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनो ओर परिचारक खडे है। दाहिनी ओर कोष्ठक मे दो उपासक अंजलि-मुद्रा मे खडे है, दो व्यक्ति डिंडिम बजाने मे मस्त हैं, और दो नर्त्तकिया नृत्य कर रही हैं। ऊपर की ओर आकाश मे एक किन्नरी उड़ रही है। बाए प्रकोष्ठ मे तीन उपासक हाथ जोडे हैं, और एक किन्नर आकाश मे उड़ रहा है। इस मध्यवर्ती चित्र के दोनो ओर व्याख्यान-सभा हो रही है। एक मे आचार्य जिनदत्त सूरि विराजमान हैं, और उनका नाम भी लिखा है। उनके सम्मुख प० जिनरक्षित बैठे हुए हैं। अन्य उपासक-उपासिकाएं भी है। मुनि के सम्मुख स्थापनाचार्य रखा हुआ है और उसपर महावीर का नाम भी लिखा है। दाहिनी ओर की व्याख्यान-सभा में आचार्य जिनदत्त, गुणचन्द्राचार्य से विचार-विमर्श कर रहे है। इन दोनो के बीच मे भी स्थापनाचार्य बना हुआ है। मुनि जिनविजय जी का अनुमान है कि यह चित्रपट जिनदत्त सूरि के जीवन-काल का ही हो तो आश्चर्य नही। उनका जन्म वि० सं० ११३२, और स्वर्ग-वास वि० सं० १२११ मे हुआ सिद्ध है। सम्भव है उपर्युक्त चित्रण उनके मारवाड़ अन्तर्गत विक्रमपुर के मंदिर में दीक्षाग्रहण के काल का ही हो। मुनि जिनविजय जी द्वारा जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से एक और सचित्र काष्ठ-पट का पता चला है, जो ३० इंच लम्बा और ३ इंच चौडा है। इसमें वादिदेव सूरि और आचार्य कुमुदचन्द्र के बीच हुए शास्त्रार्थ सम्बन्धी नाना घटनाओंका चित्रण किया गया है। श्री साराभाई नवाब

के संग्रह में एक १२ वी शती का काष्ठ-पट ३० इंच लम्बा तथा पौने तीन इंच चौड़ा है, जिसमें भरत और बाहुबलि के युद्ध का विवरण चित्रित है। इसमें हाथी, हंस, सिंह, कमलपुष्प आदि के चित्र बहुत सुन्दर बने हैं। वि० सं० १९५६ में लिखित सूत्रकृतांग-वृत्ति की ताडपत्रीय प्रति का काष्ठ-पट साढे चौंतीस इंच लम्बा और तीन इंच चौड़ा महावीर की घटनाओ से चित्रित पाया गया है। इसी प्रकार सं० १४२५ में लिखित धर्मोपदेशमाला का काष्ठ-पट सवा पैंतीस इंच लम्बा और सवा तीन इंच चौड़ा है, और उसपर पार्श्वनाथ की जीवन-घटनाए चित्रित है। ये सभी काष्ठ-चित्र सामान्यत: उसी पश्चिमी शैली के हैं, जिसका ऊपर परिचय दिया जा चुका है।

वस्त्र पर चित्रकारी—

वस्त्र पर चित्र बनाने की कला भारत वर्ष मे बड़ी प्राचीन है। पालि ग्रंथो व जैन आगमों मे इसके अनेक उल्लेख मिलते है। महावीर का शिष्य, और पश्चात् विरोधी मंखलि गोशाल का पिता, व दीक्षित होने से पूर्व स्वयं गोशाल, चित्रपट दिखाकर जीविका चलाया करते थे। किन्तु वस्त्र बहुत नश्वर द्रव्य है, और इसलिए स्वभावत: इसके बहुत प्राचीन उदाहरण उपलब्ध नही है। फिर भी १४ वी शती के आगे के अनेक सचित्र जैन वस्त्र-पट पाये जाते है। एक चिन्तामणि नामक वस्त्र-पट साढे उन्नीस इंच लम्बा तथा साढे सत्तरह इच चौडा वि० सं० १४११ (ई० १३५४) का बना बीकानेर निवासी श्री अगरचन्द्र नाहटा के सग्रह मे है। इसमे पद्मासन पार्श्वनाथ, उनके यक्ष-यक्षिणी धरणेन्द्र-पद्मावती तथा चौरी-वाहको का चित्रण है। ऊपर की ओर पार्श्व-यक्ष और वैरोट्या-देवी तथा दो गंधर्व भी बने हुए है। नीचे तरुणप्रभाचार्य और उनके दो शिष्यो के चित्र हैं। ऐसा ही एक मंत्र-पट श्री साराभाई नवाब के संग्रह मे है, जिसमे महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी कमलासन पर विराजमान हैं, और उनके दोनो ओर मुनि स्थित हैं। मण्डल के बाहर अश्वारूढ काली तथा भैरव एवं धरणेंद्र और पद्मावती के भी चित्र है। यह चित्रपट भावदेव सूरि के लिए वि० सं० १४१२ में बनाया गया था। एक जैन वस्त्र-पट डा० कुमारस्वामी के संग्रह मे भी है, जो उनके मतानुसार १६ वी शती का, किन्तु डा० मोतीचन्द्र जी के मतानुसार १५ वी शती के प्रारंभ का है। पट के वामपार्श्व मे पार्श्वनाथ के समवसरण की रचना है। इसके आजू-बाजू यक्ष-यक्षिणियों के अतिरिक्त ओंकार की पाच आकृतिया, चन्द्रकला की आकृति पर आसीन सम्भवत: पांच सिद्ध, तथा सुधर्मास्वामी और नवग्रहो के चित्र हैं। पट के मध्य मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्वजायुक्त व शिखरबद्ध मंदिर मे विराजमान

चित्रित की गई है। अनुमान किया गया है कि यह मंदिर शत्रुंजय का है, और वे पाच सिद्धमूर्तिया पांच पाण्डवों की हैं, जिन्होने शत्रुजय से मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी अनेक वस्त्रपट प्राप्त हुए है। इनका उपयोग सम्भवतः उपासना व ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाता था। किन्तु कला की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है।

उपसंहार

उपर्युक्त चार व्याख्यानों मे जैनधर्म के इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान और कला का जो सक्षेप परिचय दिया गया है उससे उसकी मौलिक प्रेरणाओ और साधनाओ द्वारा भारतीय सस्कृति की परिपुष्टि का स्वरूप समझा जा सकता है। इस धर्म की आधार-भूमि उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीनतम वैदिक परम्परा, क्योकि ऋग्वेद मे ही केशी जैसे वातारशना मुनियो की उन साधनाओ का उल्लेख है जो उन्हे वैदिक ऋषियो से पृथक् तथा श्रमण मुनियो से अभिन्न प्रमाणित करती हैं। केशी और आदि तीर्थकर ऋषभदेव का एकत्व भी हिन्दू और जैन पुराणो से सिद्ध होता है।

कोशल से प्रारम्भ होकर यह श्रमण धर्म पूर्व की ओर विदेह और मगध, तथा पश्चिम की ओर तक्षशिला व सौराष्ट्र तक फैला; एव अन्तिम तीर्थकर महावीर द्वारा ईस्वी पूर्व छठी शती मे अपना सुव्यवस्थित स्वरूप पाकर उनके अनुयायिओ द्वारा अखिल देश व्यापी बना। उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न राजवंशों एव बहुजन समाज को प्रभावित किया, तथा अपने आन्तरिक गुणो के फल-स्वरूप वह अविच्छिन्न धारावाही रूप से आज तक देश मे अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है।

जिन आन्तरिक गुणो के बल पर जैनधर्म गत तीन-चार हजार वर्षो से इस देश के जन-जीवन मे व्याप्त है वे हैं उसकी आध्यात्मिक भूमिका, नैतिक विन्यास एवं व्यवहारिक उपयोगिता और सन्तुलन। यहा प्रकृति के जड और चेतन तत्त्वो की सत्ता को स्वीकार कर चेतन को जड से ऊपर उठाने और परमात्मत्व प्राप्त कराने की कला का प्रतिपादन किया गया है। विश्व के अनादि-अनन्त प्रवाह मे जड़-चेतन रूप द्रव्यो के नाना रूपो और गुणो के विकास के लिये यहा किसी एक ईश्वर की इच्छा व अधीनता को स्वीकार नही किया गया; जीव और अजीव तत्त्वो के परिणामी नित्यत्व गुण के द्वारा ही समस्त विकार और विकास के मर्म को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है। सत्ता स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, और ऐसी सत्ता रखने वाले समस्त द्रव्य गुण-पर्याय-युक्त हैं। इन्ही मौलिक सिद्धान्तों में जैन-दर्शन-सम्मत पदार्थों के नित्यानित्यत्व स्वरूप का मर्म अन्तर्निहित है। इस जानकारी के अभाव में प्राणी भ्रान्त हुए भटकते और बन्धन मे पड़े रहते हैं। इस तथ्य की ओर सच्ची दृष्टि और उसका सच्चा ज्ञान एवं तदनुसार आचरण हो जाने पर ही कोई पूर्ण स्वातंत्र्य व

बन्धन-मुक्ति रूप मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। यही, जैन दर्शनानुसार, जीवन का सर्वोच्च ध्येय और लक्ष्य है।

व्यावहारिक दृष्टि से विरोध मे सामञ्जस्य, कलह मे शान्ति व जीव मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न होना ही सच्चा दर्शन, ज्ञान और चारित्र है जिसकी आनुषंगिक साधनाये है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप नियम तथा क्षमा, मृदुता आदि गुण। नाना प्रकार के व्रतो और उपवासो, भावनाओ और तपस्याओं, ध्यानो और योगो का उद्देश्य यही विश्वजनीन आत्मवृत्ति प्राप्त करना है। समत्व का बोध और अभ्यास कराना ही अनेकान्त व स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तो का साध्य है।

जीवन मे इस वृत्ति को स्थापित करने के लिये तीर्थंकरो और आचार्यों ने जो उपदेश दिया वह सहस्त्रो जैन ग्रथो मे ग्रथित है। ये ग्रथ नाना प्रदेशो और भिन्न-भिन्न युगो की विविध भाषाओ मे लिखे गये। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश प्राकृतो एवं संस्कृत मे जैन धर्म का विपुल साहित्य उपलभ्य है जो अपने भाषा, विषय, शैली व सजावट के गुणो द्वारा अपनी विशेषता रखता है। आधुनिक लोक-भाषाओ व उनकी साहित्यिक विधाओ के विकास को समझने के लिये तो यह साहित्य अद्वितीय महत्त्वपूर्ण है।

साहित्य के अतिरिक्त गुफाओ, स्तूपो, मन्दिरो और मूर्तियो तथा चित्रो आदि ललित कला की निर्मितियो द्वारा भी जैन धर्म ने, न केवल लोक का आध्यात्मिक व नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है, किन्तु समस्त देश के भिन्न-भिन्न भागो को सौन्दर्य से सजाया है। इनके दर्शन से हृदय विशुद्ध और आनन्द-विभोर हो जाता है।

जैन धर्म की इन विविध और विपुल उपलब्धियो को जाने-समझे बिना भारतीय संस्कृति का ज्ञान परिपूर्ण नही कहा जा सकता। जैन धर्म ने वर्ण-जाति रूप समाज-विभाजन को कभी महत्त्व नही दिया। यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। आज के ईर्ष्या और संघर्ष के विष से दग्ध ससार को जीवमात्र के कल्याण और उत्कर्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत इस उपदेशामृत की बडी आवश्यकता है।

"अक्खर-पयत्थ-हीणं मत्ता-हीणं च जं मए भणियं।
तं खमउ णाणदेवय मज्झ वि दुक्खक्खयं दिन्तु॥"
"अक्षर-मात्र-पद-स्वरहीनं व्यंजन-संधि-विवर्जित-रेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे॥"
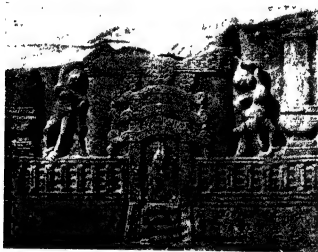
१ शिवयशा का स्तूपवाला आयागपट, मथुरा (पृ० ३०४)
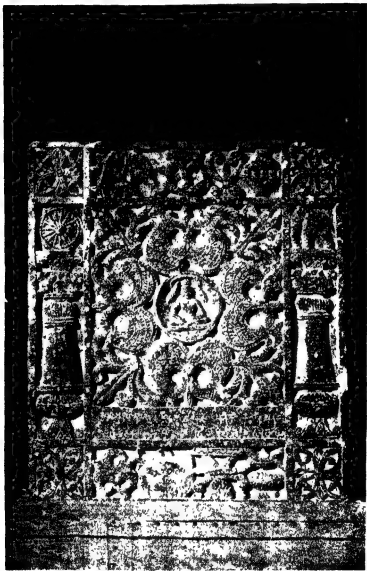
२ मथुरा का जिनमूर्तियुक्त आयागपट (पृ० ३०५)

३ दुमजली रानी गुम्फा (पृ० ३०८)

४. उदयगिरि रानीगुम्फा के तोरण द्वार पर त्रिरत्न व अशोक वृक्ष
(पृष्ठ ३०८ नं ३४३)
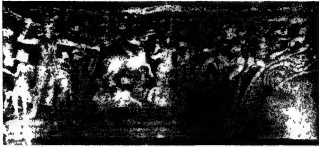
५. रानी गुम्फा का भित्ति चित्र (पृ० ३०८)
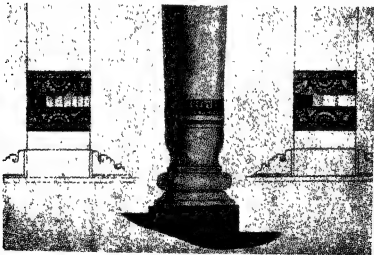
६ तेरापुर की प्रधान गुफा के स्तम्भों की चित्रकारी (पृ० ३११)

७ तेरापुर की प्रधान गुफा के भित्ति चित्र (पृ० ३११ व ३६३)
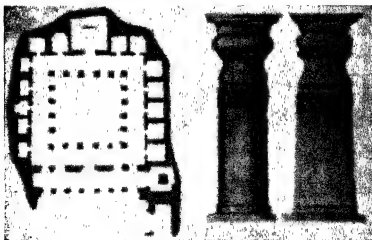
८ तेरापुर की तीसरी गुफा का विन्यास व स्तम्भ (पृ० ३११)
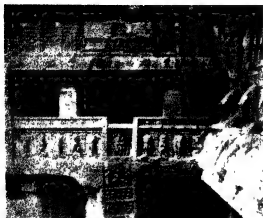
९. एलोरा की इन्द्रसभा का ऊपरी मंजिल (पृ० ३१४)
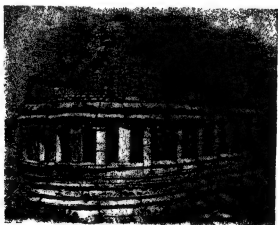
१०. ऐहोल का मेघुटी जैन मंदिर (पृ० ३२२)

११. लकुंडी का जैन मंदिर (पृ० ३२३)

१२. खजुराहो के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३२८)

१३. खजराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के भित्ति चित्र (पृ० ३२८)
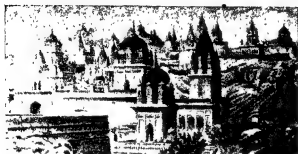
१४. सोनागिरि के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३०)
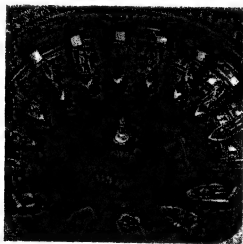
१५. आबू जैन मंदिर के छत की कारीगरी (पृ० ३३५)
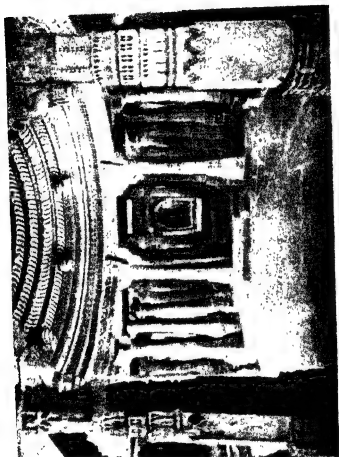
१६. राणकपुर का जैन मंदिर (पृ० ३३७)

१७. चित्तौड का जैन कीर्तिस्तम्भ (पृ० ३३८)
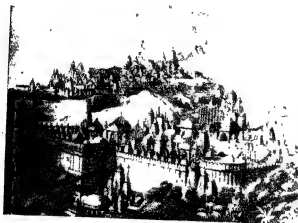
१८ शत्रुंजय के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३८)
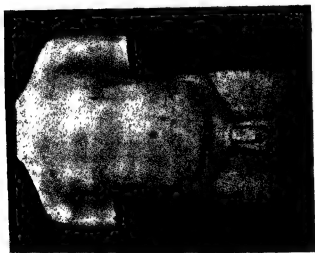
२० सिघवारी की मस्तकहीन मूर्ति (पृ० ३४२)

१९. लोहानीपुर की मस्तकहीन जिन मूर्ति (पृ० १४०)

२१, सिंधघाटी की त्रिश्रृंगयुक्त ध्यानस्थ मूर्ति (पृ० ३४२)

२२ ऋषभ की खड्गासन धातु प्रतिमा, चौसा, बिहार (पृ० ३५१)

२४. तेरापुर गुफा के खड्गासन पार्श्वनाथ (पृ० ३१२)

२३. तेरापुर गुफा के पद्मासन पार्श्वनाथ (पृ० ३१२)
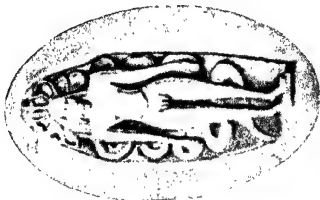
२५ पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति, उदयगिरि, विदिशा (पृ० ३११ व ३४७)
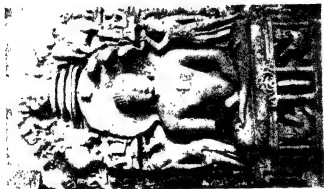
२६. देवगढ की पद्मासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)

२७ देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा
(पृ० ३२७ व ३४७)
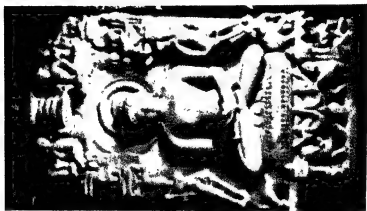
२८. देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा
(पृ० ३२७ व ३४७)
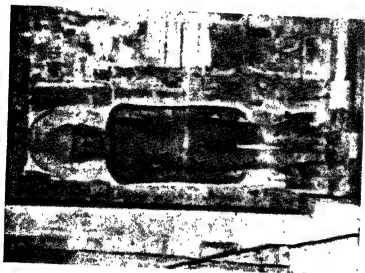
२९ देवगढ़ की खड्गासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)

३० जीवन्त स्वामी की धातु प्रतिमा, अकोट (पृ० ३५२)
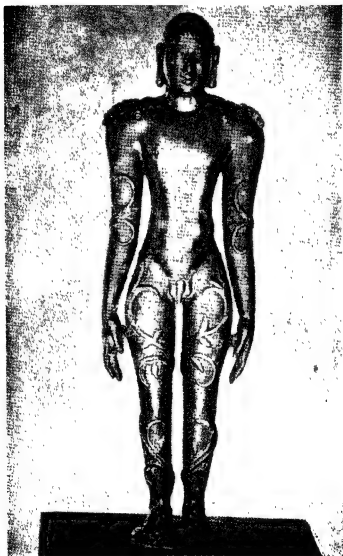
३१ श्रवणबेल्गोला के गोम्मटेश्वर बाहुबलि (पृ० ३५३)

३२ बाहुबलि की धातु प्रतिमा (पृ० ३५३)

३३. देवगढ जैन मंदिर की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)

३४ चन्दपुर, झाँसी, की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)

३५. मूडबिद्री के सिद्धांत ग्रन्थों के ताड़पत्रीय चित्र (पृ० ३६५)
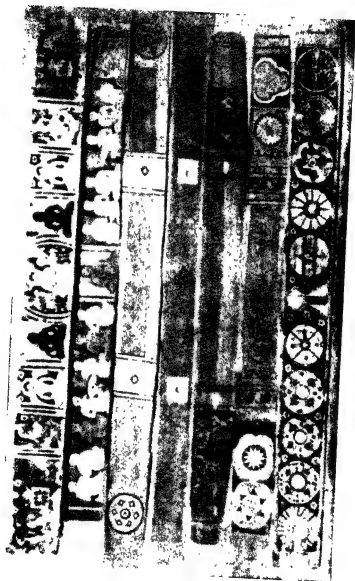
३६. सुपासणाह चरिय का कागद चित्र (पृ० ३७०)

ग्रन्थ-सूची

सूचना :– व्याख्यानों में प्रायः आधारभूत ग्रंथों का कुछ संकेत यथास्थान कर दिया गया है। विशेष परिचय व अध्ययन के लिये निम्न ग्रंथ उपयोगी होंगे :—

व्याख्यान १

जैन इतिहास

1 History and Culture of the Indian People, Vol. I—V (Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay).

2 Mysore and Coorg from the Inscriptions, by B. Rice (London, 1909)

3 Studies in South Indian Jainism, by M.S.R. Iyyangar & B Seshgiri Rao (Madras, 1922)

4 Rashtrakutas and their Times — A S. Altekar (Poona, 1934).

5 Mediaval Jainism, by B A. Saletore (Bombay, 1938).

6 Jainism and Karnataka Culture, by S.R. Sharma (Dharwar, 1940)

7 Traditional Chronology of the Jainas, by S. Shah (Stuttgart, 1935)

8. Jainism in North India, by C.J. Shah (London, 1932).

9 Life in Ancient India as depicted in the Jaina Canons, by J C Jain (Bombay, 1947)

10 Jainism, the oldest living religion, by Jyotiprasad Jain (Banaras, 1951).

11 Jainism in South India, by P B Desai (Sholapur, 1957).

12 Yasastilaka and Indian Culture, by K. K. Handiqui (Sholapur, 1949).

13 Jainism in Gujrat, by C B. Seth (Bombay, 1953).

14 Jaina System of Education, by B.C. Dasgupta (Calcutta, 1942).

15 Jain Community — A Social Survey, by V. A. Sangave (Bombay, 1959).

16 History of Jaina Monachism, by S.B. Deo (Poona, 1956).

17 Repertoire di Epigraphie Jaina, by A. Guerinot (Paris, 1908)

१८ श्रमण भगवान् महावीर–कल्याणविजय (जालोर, १९४१)
१९ वीर निर्वाण सवत् और जैनकाल गणना-कल्याण विजय, (नागरी प्रचारिणी पत्रिका १०–४ काशी, १९३०)
२० जैन लेख संग्रह (भा. १–३) पू. चं नाहर (कलकत्ता, १९१८–२९)
२१ पट्टावली समुच्चय–दर्शनविजय (बीरमगाम, गुजरात, १९३३)
२२ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १–३ (मा दि. जै ग्रथमाला, बम्बई)
२३ भट्टारक सम्प्रदाय–वि. जोहरापुरकर (शोलापुर, १९५८)
२४ जैन सिद्धान्त भास्कर (पत्रिका) भा १–२२, सिद्धान्त भवन, आरा
२५ अनेकान्त (पत्रिका) भा १–१२ (वीर सेवामन्दिर, दिल्ली)

व्याख्यान २

जैन साहित्य

26 Outline of the Religious Literature of India, by J.N. Farquhar (Oxford, 1920).

27 A History of Indian Literature, Vol. II (Jaina Lit.), by M. Winternitz (Calcutta, 1933).

28 History of the Jaina Canonical Literature, by H.R. Kapadia (Bombay, 1941).

29 Die Lehre Der Jainas, by W. Schubring, (Berlin, 1935).

30 Die Jaina Handschriften, by W. Schubring (Leifozing, 1944).

31 Essai De Bibliography Jaina, by A Guerinot (Paris, 1906).

32 Jaina Bibliography: Chhotelal Jain (Calcutta, 1945).

33 Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C.P. & Berar (Nagpur, 1926)

34 Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture, by S.K Katre (Bombay, 1945).

35 Die Kosmographic der Inder, by H. Kierfel (Leipzig, 1920).

३६ जैन ग्रथावलि – (जै श्वे काफरेस, बम्बई, १९०८)

३७ जिन रत्न कोश– ह दा वेलणकर (पूना, १९४४)

३८ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रथ-सूची, भा. १–४, कस्तूरचन्द्र कासलीवाल (जयपुर)

३९ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास (गुज) – मो द देसाई (बम्बई, १९३३)

४० प्राकृत साहित्य का इतिहास–जगदीशचन्द्र जैन (चौखम्भा विद्या भवन, बराणसी, १९६१)

४१ प्राकृत और उसका साहित्य–हरदेव बाहरी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

४२ अपभ्रश साहित्य–हरिवश कोछड (दिल्ली, १९५६)

४३ जैन ग्रथ और ग्रथकार–फतेहचन्द बेलानी (जै सं म माडल, बनारस, १९५०)

४४ जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह–जु. कि. मुख्तार और परमानन्द शास्त्री, (दिल्ली, १९५४)

४५ पुरातन जैन वाक्य सूची (प्रस्तावना) – जु. कि. मुख्तार (सहारनपुर १९५०)

४६ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश–जु. कि मुख्तार (कलकत्ता, १९५६)

४७ जैन साहित्य और इतिहास–नाथूराम प्रेमी (बम्बई, १९५६)

४८ प्रकाशित जैन साहित्य – जैन मित्र मंडल, धर्मपुरा, दिल्ली १९५८

ग्रंथमालायें जिनमें महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं

१ आगमोदय समिति, सूरत व बम्बई
२ जीवराज जैन ग्रथमाला (जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर)
३ जैन आत्मानंद सभा, भावनगर
४ जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
५ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फड, बम्बई व सूरत
६ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला, बम्बई
७ मूर्तिदेवी जैन ग्रथमाला (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
८ यशोविजय जैन ग्रथमाला, बनारस व भावनगर
९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (परमश्रुत प्रभावक मडल, बम्बई)
१० सिंघी जैन ग्रंथमाला (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

अर्धमागधी जैनागम

पृ. ५५ से ७५ तक जिन ४५ आगम ग्रथोंका परिचय दिया गया है उनका मूलपाठ टीकाओं सहित दो तीन बार कलकत्ता, बम्बई व अहमदाबाद से सन् १८७५ और उसके पश्चात् प्रकाशित हो चुका है। ये प्रकाशन आलोचनात्मक रीति से नही हुए। इनमें का अन्तिम सस्करण आगमोदय समिति, द्वारा प्रकाशित है। किन्तु यह भी अब दुर्लभ हो गया है। स्थानकवासी सम्प्रदाय मे मान्य ३२ सूत्रो का पहले अमोलक ऋषि द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित हैदराबाद से (१९१८) व हाल ही मूलमात्र प्रकाशन सूत्रागम प्रकाशन समिति द्वारा किया गया है (गुडगाव, पजाब, १९५१) विशेष सावधानी से भूमिकादि सहित प्रकाशित कुछ ग्रथ निम्न प्रकार है :—

४९ आचाराङ्ग– ह याकोबी (पा. टै सो लदन, १८८२)
उन्ही का अग्रेजी अनुवाद (सै. बु ई २२) प्रथम श्रुतस्कध (शब्दकोष व पाठ-भेदो सहित) –वा शुब्रिग, लीपजिग १९१०, अहमदाबाद, सं. १९८०)

५० सूत्रकृताङ्ग (निर्युक्ति सहित) – प. ल वैद्य (पूना, १९२८) शीलाङ्ककृत टीका व हिन्दी अनुवादादिसहित भा. १–३ –जवाहिरलाल महाराज (राजकोट वि सं. १९९३–९५

५१ भगवती, शतक १–२० हिन्दी विषयानुवाद, शब्दकोश आदि मदनकुमार महता (कलकत्ता वि सं. २०११)

५२ ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्मकहाओ) पाठान्तरसहित पूर्ण तथा अध्ययन ४ और ८ एवं ९ और १६ का अंग्रेजी अनुवाद – एन. व्ही. वैद्य (पूना, १९४०)

५३ उपासक दशा–अंग्रेजी अनुवाद. भूमिका व टिपण आदि सहित–हार्नले (कलकत्ता १८८५–८८) भूमिका, वर्णकादिविस्तार व अंग्रेजी टिप्पणी सहित–प. ल. वैद्य (पूना, १९३०)

५४ अन्तकृद्दशा
५५ अनुत्तरौपपातिक } अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, टिप्पण व शब्दकोश सहित–एम. सी. मोदी (अहमदाबाद १९३२) व अंग्रेजी भूमिका, स्कंदक कथानक व शब्दकोश सहित – प ल. वैद्य (पूना १९३२)

५६ विपाक सूत्र–अंग्रेजी भूमिका, वर्णकादि विस्तार व शब्दकोश सहित – प ल वैद्य (पूना, १९३३) व अनुवाद व टिप्पण सहित – चौकसी और मोदी (अहमदाबाद, १९३५)

५७ औपपातिक सूत्र – मूलपाठ व पाठान्तर – एन. जी सुरु (पूना, १९३६)

५८ रायपसेणिय –अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पणो सहित भाग १–२ –एन. व्ही. वैद्य (अहमदाबाद, १९३८) व हीरालाल बी. गांधी (सूरत, १९३८)

५९ निरयावलियाओ (अन्तिम ५ उपाग) अंग्रेजी भूमिका व शब्दकोश सहित–पी. एल. वैद्य (पूना, १९३२)

६० जीतकल्प सूत्र – भाष्यसहित – पुण्यविजय (अहमदाबाद, वि सं. १९९४), व्याख्या व चूर्णि सहित – जिनविजय (अहमदाबाद, वि. सं १९८३)

६१ कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्र पाठान्तर सहित–वाल्टर शुब्रिंग (लाइपजिग व अहमदाबाद)

६२ निशीथ – एक अध्ययन – दलसुख मालवणिया (आगरा, १९५९)

६३ स्टूडिएन इन महानिशीथ – हेम एण्ड शुब्रिंग, हेमवर्ग, १९५१

६४ उत्तराध्ययन – अंग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित–जार्ल चार्पेंटियर (उपसाला, १९१४)

६५ दशवैकालिक – अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, व टिप्पण सहित – ल्यूमन और वाल्टर शुब्रिंग (अहमदाबाद १९३२)

६६ नन्दीसूत्र – हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, शब्दकोश आदि सहित – हस्तिमल्लमुनि (मूथा, सतारा. १९४२)

शौरसेनी जैनागम–द्रव्यानुयोग

६७ षट्खंडागम (धवला टीका स) भाग १–१६ भूमिका. हिन्दी अनुवाद, अनुक्रमणिका दि सहित – डॉ हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)

६८ महाबंध –भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४७–१९५८)

६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स) (जैन सघ मथुरा, १९४४ आदि)

७० कसाय पाहुड – सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन सघ, कलकत्ता, १९५५)

७१ गोम्मटसार – जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड – अंग्रेजी अनुवाद सहित – जे एल जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स. भाग ग्र ५, ६, ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचद्र शास्त्रमाला बम्बई, १९२७–२८)

७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) – संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति, हिन्दी भूमिका अनवादादि सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९६०)

७३ पञ्चसग्रह (अमितगति सं) (मा ग्र बम्बई, १९२७)

७४ पञ्चसग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स (आगमोदय समिति, बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)

७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) – मलयगिरि और यशोवि टीकाओ सहित (जैनधर्म प्रसा. सभा, भावनगर)

७६ कर्मविपाक (कर्मग्रथ १) – प सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा, १९३९)

७७ कर्मस्तव (कर्मग्रथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)

७८ बधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि अ सहित (आगरा, १९२७)

७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) प सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा, १९२२)

८० शतक (कर्मग्रथ ५) प कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)

८१ सप्ततिका प्रकरण (क ग्रथ ६) पं फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)

८२ प्रवचनसार (कुदकुंद) – अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका, हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ. उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचंद्र शा मा. बम्बई, १९३५)

८३ समयसार (कुंदकुंद) – प्रो. चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९५०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत संस्कृत टीका व जयचन्द्र कृत हिन्दी टीका सहित (अहिंसा मन्दिर, दिल्ली, १९५९) ज. जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३०)

८४ पञ्चास्तिकाय (कुदकुद) – प्रो. चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी भूमिका व अनुवाद सहित (आरा १९२०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत स. टीका तथा मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु. सहित (रायचन्द्र जै शा. मा. बम्बई, १९०४)

८५ नियमसार (कुंदकुद) – उग्रसेन कृत अंग्रेजी अनु सहित (अजिताश्रम, लखनउ, १९३१) पद्मप्रभ कृत सस्कृत टीका व ब्रह्म शी प्र. कृत हिन्दी व्याख्या स. (बम्बई, १९१६)

८६ अष्टपाहुड (कुदकुंद) जयचद्रकृत हिन्दी वचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्र मा. बम्बई, १९२३)

८७ षट्प्राभृतादि संग्रह (कुदकुंद) श्रुतसागर कृत सस्कृत टीका व लिग और शील प्राभृत, रयणसार व द्वादशानुप्रेक्षा संस्कृत छाया मात्र स. (मा. दि. जै ग्रं. बम्बई वि सं. १९७७)

८८ कुन्दकुन्दप्राभृत सग्रह प कैलाशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स. (जीवराज जैन ग्रं. शोलापुर, १९६०)

द्रव्यानुयोग संस्कृत

८९ तत्वार्थसूत्र (उमास्वाति) – जु जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद स. (आरा, १९२०) भाष्य व हि. अनु स (रा. जै शा बम्बई, १९३२) पूज्यपादकृत सर्वार्थ सिद्धि टीका स (शोलापुर, १९३९) सर्वार्थसिद्धि टीका पं. फूलचन्द्र कृत भूमिका व अनुवाद स (ज्ञानपीठ, काशी, १९५५) अकलंक कृत तत्त्वार्थ वार्तिक टीका व हिन्दी साराश स. भा. १–२ (ज्ञानपीठ, काशी, १९४९ व १९५७) विद्यानन्दि कृत श्लोकवार्तिक स. (नाथारंग जै. ग्रं. बम्बई १९१८) श्रुतसागर कृत तत्त्वार्थवृत्ति स (ज्ञानपीठ, काशी, १९४९) प. सुखलाल कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स. (भारत जैन महामंडल, वर्धा, १९५२) पं फूलचन्द्र कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स (ग. वर्णा ग्र काशी, वी. नि. २४७६)

९० पुरुषार्थसिद्धयुपाय (अमृतचन्द्र) अजित प्रसाद कृत अंग्रेजी अनुवादादि स (अजिताश्रम, लखनउ, १९३३) हिन्दी अनु. स. (रायचन्द्र जै. शा. बम्बई, १९०४)

जैन न्याय

९१ सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन) – अभयदेव टीका स. भा १–५ (गुजरात विद्यापीठ. अहमदाबाद, १९२१ ३१) अंग्रेजी अनु. व भूमिका स (जै श्वे. ऐज्यू. बोर्ड बम्बई १९३८)

९२ नयचक्रसंग्रह (देवसेन) सं. छाया स. (मा. दि. जै ग्रं १६. बम्बई, १९२०) नयचक्र–हिन्दी अनु स (शोलापुर. १९४९)

९३ आलाप पद्धति (देवसेन) – (सनातन जैन ग्र बम्बई, १९२०. व मा. दि. जैन ग्र बम्बई, १९२०)

९४ आप्तिमीमासा (समन्तभद्र) – जयचन्द्र कृत हिन्दी अर्थ स (अनन्तकीर्ति ग्रं. मा ४ बम्बई, अकलंक कृत अष्टशती व वसुनन्दि टीका (सन. जै. बनारस, १९१४) विद्यानन्दि कृत अष्टसहस्त्री टीका (अकलोज, शोलापुर १९१५)

९५ युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) (मूल मा दि. जै. ग्रं १६ बम्बई) जु. मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या स (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा १९५१)

९६ अन्ययोग व्यवच्छेद (हेमचन्द्र) मल्लिषेण कृत स्याद्वाद मञ्जरी टीका जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स (रायचन्द्र जै शा. बम्बई, १९३५)

९७ न्यायावतार (सिद्धसेन) – सतीशचन्द्र वि. भू कृत अंग्रेजी अनुवाद व चन्द्रप्रभसूरि कृत विवृत्ति के अवतरणो स. (कलकत्ता १९०९) सिद्धर्षिकृत टीका व देवभद्र कृत टिप्पण व प ल. वैद्य कृत अंग्रेजी प्रस्तावना स (श्वे. जैनसभा बम्बई १९२८)

९८ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र) – हेमचन्द्र टीका स (य. जै ग्रं. बनारस, नि स २४२७-४१) गुज अनु स (आगमोदय स. बम्बई, १९२४-२७)

९९ अकलंक ग्रंथत्रय (लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह) महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना व टिप्पणी स (सिंघी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद–कलकत्ता, १९३९)

१०० न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स. (मा दि. जै. ग्रं. बम्बई, १९३८, १९४१)

१०१ न्यायविनिश्चय विवरण (वादिराज) भा. १–२ महेन्द्र कु. कृत प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९, १९५४)

१०२ सिद्धिविनिश्चय टीका (अनन्तवीर्य भा. १–२ डा. महेन्द्र कु. कृत अंग्रेजी व हिन्दी प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी. १९५९)

१०३ आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द) स्वोपज्ञ टीका व पं दरबारीलाल कोठिया कृत हिन्दी प्रस्तावना व अनुवाद स. (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १९४९) आप्त परीक्षा और पत्र परीक्षा (जैन धर्म प्रचारिणी सभा. बनारस, १९१३)

१०४ लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (अनन्तकीर्ति) (मा दि. जै. ग्रं बम्बई, वि.सं. १९७२)

१०५ परीक्षामुख (माणिक्यनन्दि) अनन्त वीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला टीका व टिप्पणों सहित (बनारस १९२८) हिन्दी अनुवाद स. (झासी, नि सं. २४६५) शरच्चन्द्र घोषाल कृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद स. (अजिताश्रम, लखनउ, १९४०) अनन्तवीर्य कृत टीका स. सतीशचन्द्र वि. भू. द्वारा सम्पादित (बिब इडीका कलकत्ता. १९०९)

१०६ प्रमेयकमल मार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) –प महेन्द्र कु भूमिका स (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई. १९४१)

१०७ न्यायदीपिका (धर्मभूषण) –प दरबारीलाल कोठिया कृत टिप्पण. हिन्दी प्रस्तावना अनुवाद स (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १९४५)

१०८ सप्तभङ्गितरङ्गिणी (विमलदास) – पं ठाकुरप्रसाद कृत हिन्दी अनुवाद स. (रायचन्द्र शा बम्बई, १९१६)

१०९ अनेकान्तजयपताका (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका सहित (य. जै ग्र. भावनगर, नि. स. २४३६ आदि)

११० अनेकान्तवाद प्रवेश (हरिभद्र) –हेमचन्द्र सभा, पाटन, १९१९)

१११ अष्टक प्रकरण (हरिभद्र) जिनेश्वर कृत सं. टीका सहित (मनसुख भा., अहमदाबाद वि. सं १९६८)

११२ विंशतिविंशिका (हरिभद्र) – सस्कृत छाया व अंग्रेजी टिप्पणों स. (के. व्ही. अभ्यंकर, अहमदाबाद, १९३२)

११३ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (वादिदेव) स्वोपज्ञ टीका स. (मोतीचंद लाडजी, पूना, नि. सं. २४५३–५७) रत्नाकरावतारिका व अन्य टीकाओ स. (य जै. ग्रं. बनारस, नि. सं. २४३१–३७)

११४ प्रमाणमीमांसा (हेमचंद्र) पं. सुखलाल की प्रस्तावना एवं भाषा टिप्पणों स. (सिंघी ग्रं., बम्बई. अहमदाबाद–कलकत्ता १९३९)

११५ जैनतर्कभाषा (यशोविजय) तात्पर्य संग्रह वृत्ति स. (सिंघी ग्रं १९३८)
११६ ज्ञानबिन्दु (यशोविजय) – पं. सुखलाल कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स. (सिंधी ग्रं. १९४२)

करणानुयोग

११७ लोकविभाग (सिंहसूरि) – भाषानुवाद स. (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९६२)
११८ तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ) भा १–२ प्रस्ता. व हिन्दी अनु स (जीवराज ग्र शोलापुर, १९४३, १९५२)
११९ त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र) माधवचद्रकृत टीका स. (मा ग्र बम्बई, नि सं २४४४)
१२० जम्बूद्वीपपण्णत्ति (पद्मनन्दि) – प्रस्ता. हिन्दी अनु. म (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९५८)
१२१ लघुक्षेत्रसमास (रत्नशेखर) – सचित्र, गुज व्याख्या स. (मुक्तिकमल जैन मोहन माला, बडौदा, १९३४)
१२२ बृहत्क्षेत्र समास (जिनभद्र) मलयगिरि टीका स. (जैनधर्म प्र. स भावनगर, सं. १९७७)
१२३ बृहत्संग्रहणीमूत्र (चन्द्रसूरि) सचित्र गुज व्याख्या स. (मक्तिकमल जैन मो बडौदा १९३९)
१२४ विचारसार (प्रद्युम्नसूरि) – आगमोदय स. सूरत, १९२३)
१२५ ज्योतिष्करण्डक – सटीक (रतलाम, १९२८)

चरणानुयोग

१२६ मूलाचार (वट्टकेर) भा. १–२ वसुनन्दि टीका स (मा ग्रं. बम्बई, वि. स. १९७७, १९८०) मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु. म (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, १९१९)
१२७ भगवती आराधना (शिवार्य) – सदासुखकी भाषावचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, वि स १९८९) मूलाराधना – अपराजित और आशाधर की सं टीकाओ व हिन्दी अनु. स (शोलापुर, १९३५)
१२८ अनगार धर्मामृत (आशाधर) स्वोपज्ञ टीका स (मा ग्र बम्बई, १९१९)
१२९ पञ्चवस्तुक (हरिभद्र)–स्वोपज्ञ टीका स. (देवचन्द लालभाई ग्रं. बम्बई, १९३२)
१३० सम्यक्त्वसप्तति (हरिभद्र)–संघतिलक टीका स (दे. ला. ग्रं बम्बई, १९१३)
१३१ जीवानुशासन (देवसूरि) – (हेमचन्द्र – ग्रंथा. पाटन, १९२८)

१३२ प्रवचन सारोद्धार (नेमिचन्द्र) – सिद्धसेन टीका स. (ही. हं जामनगर, १९१४, दे ला. ग्रं. बम्बई, १९२२)

१३३ द्वादशकुलक (जिनवल्लभ) –जिनपाल टीका स. (जिनदत्त सूरि प्रा. पु. बम्बई, १९३४)

१३४ प्रशमरति (उमास्वाति) सटीक (जैन ध. प्र. स. भावनगर, सं. १९६६) सटीक हिन्दी अनु. स. (रा. जै शा बम्बई, १९५०)

१३५ चारित्रसार (चामुण्डाराय) – (मा दि. जै ग्रं, बम्बई, नि. सं २४४३)

१३६ आचारसार (वीरनन्दि) – (मा दि जै. ग्रं. बम्बई, सं १९७४)

१३७ सिन्दूरप्रकर (सोमप्रभ या सोमदेव)–हर्षकीर्ति टीका स (अहमदाबाद, १९२४)

१३८ श्रावकप्रज्ञप्ति (हरिभद्र)–सटीक गुज. अनु स. (जैन ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई, १९०५)

१३९ पञ्चाशक सूत्र (हरिभद्र)–अभयदेव टीका स (जै. ध प्र. स भावनगर, १९१२)

१४० धर्मरत्न (शान्तिसूरि) स्वोपज्ञ टीका स (जै आ. स. भावनगर, सं. १९७०) दवेन्द्र टीका स (जै ध. प्रमारक, पालीताना, १९०५-६)

१४१ वसुनन्दि श्रावकाचार – प्रस्तावना व हिन्दी अनु स (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२)

१४२ सावयधम्मदोहा – डा ही. ला जैन कृत प्रस्तावना हिन्दी अन. आदि स (कारंजा जैन ग्र १९३२)

१४३ रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र)–प्रभाचन्द्र टीका व जु. मुख्तार कृत प्रस्तावना स (मा दि जै. ग्र, बम्बई, वि. १९८२) समीचीन धर्मशास्त्र नाम से हिन्दी व्याख्या स. (वीर सेवा मं दिल्ली, १९५५) चम्पतराय कृत अं. अनु स (बिजनौर, १९३१)

१४४ यशस्तिलकम् (सोमदेव) भा १–२ पचम आश्वास के मध्य तक श्रुतसागर टीका स. (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१६)

१४५ श्रावकाचार (अमितगति) – (भागचंद्र कृत वचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्रं. बम्बई, वि १९७९)

१४६ सागारधर्मामृत (आशाधर) – स्वोपज्ञ टीका स. (मा. ग्रं. बम्बई, वि. १९७२)

१४७ श्रावकाचार (गुणभूषण) भा. १–२ हिन्दी अनु. स. (दि. जै. पु. सूरत, १९२५)

१४८ लाटीसंहिता (राजमल्ल) – मा. ग्रं. वि. १९८४)

ध्यान-योग

१४९ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) – शुभचन्द्र टीका पं कैलाशचन्द्र कृत हि. अनु. डॉ. उपाध्ये कृत अ प्रस्तावनादि स. (रायचद्र शा., अगास, १९६०)
१५० योगबिन्दु (हरिभद्र) – सटीक (जैन ध. प्र. स. भावनगर, १९११)
१५१ योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका स. (दे. ला. बम्बई, १९१३)
१५२ योगविंशिका (हरिभद्र) पातञ्जल योगसूत्र सटीक व पं सुखलाल की भूमिका स. (आ. ग्र भावनगर, १९२२)
१५३ षोडशक (हरिभद्र यशोभद्र व यशोविजय टीकाओ स (दे ला. बम्बई. १९११)
१५४ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र) ब्रह्मदेव कृत स. टीका व दौलतराम कृत हिन्दी टीका. डॉ उपाध्ये कृत अं प्रस्तावना व प जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अन स. (रायचन्द्र शा., अगास, १९६०)
१५५ पाहुड दोहा (रामसिंह) – डॉ० ही. ला. जैनकृत भूमिका, हि. अनु. आदि स. (कारंजा जैन सीरीज, १९३३)
१५६ इष्टोपदेश (पूज्यपाद) आशाधर टीका, धन्यकुमार कृत हि. अनु व चम्पतराय कृत अं अनु और टिप्पणी स. (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९५४)
१५७ समाधितत्र (पूज्यपाद) प्रभाचन्द्र टीका, परमानन्द कृत हि. अनु. व. जु मुख्तार कृत प्रस्तावना स (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९३९)
१५८ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (यशोविजय) –सटीक (जै ध प्र.स भावनगर, सं १९६६)
१५९ आत्मानुशासन (गुणभद्र) – प्रभाचन्द्र टीका, अंग्रेजी हिन्दी प्रस्ता., हिन्दी अनु. स (जीवराज जै. ग्र सोलापुर, १९६१) जु. जैनी कृत अंग्रेजी अनु. स. (अजिताश्रम, लखनउ, १९२८) वंशीधर कृत हिन्दी टीका (जैन ग्रं. र. का. बम्बई, १९१६)
१६० सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति) –निर्णयसागर बम्बई, १९०९) हि. अनु. स. (हरि. दे कलकत्ता, १९१७)
१६१ योगसार (अमितगति) – (सनातन जै ग्रं. कलकत्ता, १९१८)
१६२ ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) –हि अनु स. (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९०७)
१६३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स. (जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९२६)
१६४ अध्यात्म रहस्य (आशाधर) हिन्दी व्याख्या जु मुख्तार कृत (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५७)

स्तोत्र

१६५ जिन सहस्त्रनाम–आशाधर, जिनसेन, सकलकीर्ति, हेमचन्द्र कृत स्तोत्रों का पाठ-मात्र व आशाधर कृत स्वोपज्ञवृत्ति, प हीरालाल कृत अनुवाद व श्रुतसागर टीका स. (भारतीय ज्ञा. काशी, १६५४)

१६६ जैनस्तोत्र संग्रह, भा. १–२ (यशो. जै. ग्रं. बनारस, नि स. २४३६)

१६७ जैन नित्यपाठ संग्रह–जिनसहस्त्रनाम, भक्तामर, कल्याण मन्दिर, एकीभाव, विषापहार आदि स्तोत्रो स (निर्णय सा बम्बई, १६२५)

१६८ उपसर्गहर स्तोत्र (भद्रबाहु) पार्श्वदेव, जिनप्रभ, सिद्धिचन्द्र, हर्षकीर्ति टीकाओ स. (दे. ला. बम्बई नं. ८०-८१ १६३२,) पूर्णचन्द्र टीका स (शारदा ग्र मा भावनगर, १६२१, जैन स्तोत्र सग्रह के अन्तर्गत)

१६६ ऋषभपञ्चाशिका (धनपाल) – स व गुज टीका स (जै ध प्र स भावनगर, कापडिया द्वारा सम्पा दे भा बम्बई)

१७० अजित-शान्तिस्तव (नन्दिषेण) गोविन्द और जिनप्रभ टीकाओ स (दे ला. बम्बई)

१७१ जयतिहुयण स्तोत्र (अभयदेव) मुनिसुन्दर टीका स. (फूलकुवर बाई, रतलाम, अहमदाबाद, १८६०)

१७२ ऋषिमण्डल स्तोत्र (धर्मघोष) – अवचूरि स (जिनस्तोत्र सं. १ पृ. २७३. सा भा नवाब, अहमदाबाद, १६३२)

१७३ समवसरण स्तोत्र (धर्मघोष) जै. ध. प्र स. भावनगर, १६१७)

१७४ स्वयभूस्तोत्र (समन्तभद्र) जु. मुख्तार कृत प्रस्तावना व अनु स. (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १६५१)

१७५ स्तुतिविद्या (समन्तभद्र) – वसुनन्दि टीका, जु मुख्तार कृत प्रस्तावना व पं पन्नालाल कृत अनु स (वी से मं. सरसावा, १६५०)

१७६ सिद्धप्रिय स्तोत्र (देवनन्दि) निर्णय सागर, बम्बई १६२६ (काव्यमाला ७ पृ. ३०)

१७७ भक्तामरस्तोत्र (मानतुङ्ग) – गुणाकर, मेघविजय व कनककुशल टीकाओं स (दे ला बम्बई, १६३२)

१७८ भयहरस्तवन (मानतुङ्ग) अवचूरि स (दे ला. बम्बई, १६३२)

१७६ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (कुमुदचन्द्र) कनककुशल व मणिक्यचन्द्र टीकाओ स (दे. ला. बम्बई, १६३२) चन्द्रकीर्ति टीका, बनारसीदास व गिरिधर शर्मा के पद्यानुवाद व पं पन्नालाल गद्यानु. स. (सन्मतिकुटीर, चन्दावाड़ी, बम्बई, १६५६)

१८० विषापहार स्तोत्र (धनञ्जय) – चन्द्रकीर्ति टीका, नाथूराम प्रेमी कृत पद्यानुवाद व पं पन्नालाल कृत गद्यानुवाद स. (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी, बम्बई, १९५६)
१८१ एकीभावस्तोत्र (वादिराज्य) – चन्द्रकीर्ति टीका व परमानन्द शास्त्री कृत अनु. स. (वीरसेवा म , सरसावा, १९४०)
१८२ जिनचतुर्विंशतिका (भूपाल) – आशाधर टीका, भूधरदास व धन्यकुमार कृत पद्यानु व. प पन्नालाल कृत गद्यानु स. (सन्मति कुटीर, चन्दावाडी, बम्बई, १९५८)
१८३ सरस्वतीस्तोत्र (बप्पभट्टि) आगमो स. बम्बई, १९२६, चतुर्विंशिका पृ. २९४)
१८४ वीतराग स्तोत्र (हेमचन्द्र) – प्रभानन्द और सोमोदय गणि टीकाओ स. (दे. ला. बम्बई, १९११)
१८५ यमकमय चतुर्विंशति जिनस्तुति (जिनप्रभ) – भीमसी माणक, बम्बई, प्रकरण रत्नाकर–४
१८६ जिनस्तोत्ररत्नकोश (मुनिसुन्दर) – यशो. बनारस, १९०६
१८७ साधारण जिनस्तवन (कुमारपाल) – बम्बई, १९३६ (सोमतिलक) आगमो. बम्बई, १९२९
१८८ नेमिभक्तामर स्तोत्र (भावरत्न) – आगमो. बम्बई, १९२६
१८९ सरस्वती भक्तामरस्तोत्र (धर्मसिंह) आगमो. बम्बई, १९२७

प्रथमानुयोग प्राकृत

१९० पउमचरिय (विमलसूरि) – मूलमात्र याकोबी सम्पा (जै ध प्र. स भावनगर, १९१४)
१९१ चउपन्नमहापुरिसचरिय (शीलाङ्क) – प्राकृत ग्रंथ परिषद् , वाराणसी, १९६१)
१९२ पासनाहचरिय, (गुणचन्द्र) अहमदाबाद, १९४५, गुज. अनु आत्मा. भावनगर, सं. २००५
१९३ सुपासनाहचरिय (लक्ष्मण गणि) – पं हरगो सेठ सम्पा. (जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला. बनारस, १९१९)
१९४ महावीर चरिय (गुणचन्द्र). दे ला. बम्बई, १९२९, गुज. अनु आत्मा. सं. १९९४)
१९५ महावीरचरित (नेमिचन्द्र-देवेन्द्रगणि) जैन आत्मा. भावनगर, सं १९७३
१९६ तरङ्गलोला – (नेमिविज्ञान ग्रं (सं २०००) गुज. अनु. (पलीताना, स. १९८९)

१९७ धूर्ताख्यान (हरिभद्र) डॉ. उपाध्ये कृत ग्रं. प्रस्तावना स. (भारतीय वि भ. बम्बई, १९४४)
१९८ धर्मपरीक्षा (अमितगति) हि अनु. स. (जैन ग्रं. र. बम्बई, १९०१)
१९९ सुरसुदरीचरिअं (धनेश्वर) – हरगो. सेठ, बनारस, १९१६
२०० णाणपचमीकहा (महेश्वर) अ. गोपानीकृत अ. प्रस्ता. स. (सिंघी जै. ग्रं. बम्बई, १९४९)
२०१ कुमारपालचरित (हेमचन्द्र) डॉ प ल वैद्यकृत ग्रं प्रस्ता. स (भंडारकर ग्रो, पूना, १९३६)
२०२ महीवालकहा (वीरदेव) – अहमदाबाद. सं १९९८
२०३ सुदसणाचरिय-शकुनिका विहार (देवेन्द्र) – आत्मवल्लभ ग्र. वलाद, अहमदाबाद, १९३२
२०४ कृष्णचरित (देवेन्द्र) रतनपुर, १९३८
२०५ श्रीपालचरित (रत्नशेखर) – दे. ला बम्बई, १९२३) भा. १–वाडीलाल जीवा भाई चौकसी कृत ग्रं अनु भूमिकादि. स. अहमदाबाद, १९३२)
२०६ कुम्मापुत्तचरियं (जिनमाणिक्य) डॉ. प ल. वैद्यकी ग्रं भूमिका स. पूना, १९३०, अभ्यकर सम्पा. अहमदाबाद, १९३२
२०७ वसुदेव हिंडी (सघदास-धर्मसेन) प्रथम खण्ड जै आत्मा. सभा. भावनगर, १९३०
२०८ समरादित्यकथा (हरिभद्र) – याकोबी की अ प्रस्ता स. (बिब. इंडिका कलकत्ता, १९२६) भव १, २, ६ म. मोदी के अ अनु भूमिका स (अहमदाबाद-१९३३, ३६) भव २ गोरेकृत अ भू अन. स (पूना, १९५५)
२०९ कुवलयमाला (उद्योतन) डॉ. उपाध्ये द्वारा पाठान्तर स (सिंघी ग्रं बम्बई, १९५९)
२१० रयणचूडरायचरिय (देवेन्द्र) – पं मणिविजय ग्र अहमदाबाद, १९४९
२११ कालकाचार्यकथा – प्रो. एन डब्ल्यू ब्राउन कृत स्टोरी आफ कालक के अन्तर्गत (वाशिंगटन, १९३३) संस्कृत (दे. ला. बम्बई १९१४, कल्पसूत्र के अन्त मे) प्रभावकचरित का सं. पाठ (निर्णय सा. बम्बई) पृ ३६-४६ कथा सग्रह (३० कथाए) ग्रं प्रे. शाह, अहमदाबाद, १९४९
२१२ जिनदत्ताख्यान (सुमति) दो आख्यान (सिंघी. बम्बई, १९५३)
२१३ रयणसेहरीकहा (जिनहर्ष) जै आत्मा. बम्बई, सं १९७४
२१४ जम्बूचरियं – सिंघी जै. ग्रं. बम्बई, १९६०
२१५ णरविक्कमचरिय (गुणचन्द्र) – नेमिविज्ञान ग्रं. सं. २००८

२१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धर्षि टीकाएं (हीरालाल हंसराज, जामनगर, स. १९३४) ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था, इन्दौर, १९३६)
२१७ उपदेशपद (हरिभद्र) – मुनिचन्द्र टीका स जैनधर्म प्र. व., पालीताना, १९०९, मक्तिकमल जै. मो. बड़ौदा, १९२३-२५)
२१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) – सिंघी. बम्बई, १९४९
२१९ शीलोपदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स (हीरालाल हंसराज, जामनगर १९०९)
२२० आख्यानमणिकोश (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आम्रदेव कृत टीका स (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)
२२१ भवभावना (मल-हेमचन्द्र) सोपज्ञ वृत्ति स. ऋषभदेव के जै श्वे संस्था, रतलाम, स १९९२
२२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) – गा ओ. मी बड़ौदा, १९२०, गुज. अनु आत्मासभा, स. १९८३, डॉ आल्सडर्फ कृत अपभ्रंश संकलन जर्मन प्रस्ता अनु. स हेमवर्ग, १९२८
२२३ जयन्तीप्रकरण (मानतुङ्ग) – पन्यास मणिवि ग्र अहमदाबाद, स. २००६
२२४ कथारत्नकोष (गुणचन्द्र) – जैनआत्मा. प्र. भावनगर, १९४४
२२५ विजयचन्द्रचरित (चन्द्रप्रभ) जै ध. प्र. स. भावनगर, १९०६, गुज. अनुवाद वही स. १९९२
२२६ सवेगरंगशाला (जिनचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १९२४
२२७ विवेकमंजरी (आषाढ़) – बालचन्द्र टीका स. विविध सा. शा मा. बनारस, सं. १९७५
२२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै. ध. वि. प्र. वर्ग, पालीताना, सं. १९६४, दे. ला. बम्बई, १९२२
२२९ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स ही. हं. जामनगर, १९१६
२३० वर्धमानदेशना (शुभवर्धन) जै ध. प्र. सभा भावनगर, बालाभाई छगनलाल, अहमदाबाद, सं १९९०

प्रथमानुयोग अपभ्रंश :

२३१ पउमचरिउ (स्वयंभू) भाग १-३ ह. चू. भायाणी कृत प्रस्ता. स. (सिंघी भा. वि. भ. बम्बई, १९५३, १९६०) देवेन्द्रकुमार कृत हि. अनु. स. १–५६ संधि भा १–३ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७–५८

२३२ महापुराण (पुष्पदन्त) भा. १–३ डॉ प.ल. वैद्य सम्पा. (मा. दि. ग्रं. बम्बई १९३७-४७), परि. ८१–९२ हरिवंशपुराण डॉ. आल्सडर्फ कृत जर्मन प्रस्ता. अनु. स. हेमवर्ग, १९३६
२३३ सनत्कुमार चरित (हरिभद्र) याकोबी सम्पा. मुचेन, जर्मनी, १९२१
२३४ पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति) प्राकृत टैक्स्ट सोसा., मुद्रणाधीन)
२३५ जसहरचरिउ (पुष्पदन्त) प. ल. वैद्य सम्पा. (कारंजा सीरीज, १९३१)
२३६ णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त) ही. ला जैन सम्पा. (कारंजा सीरीज, १९३२)
२३७ भविसयत्तकहा (धनपाल) याकाबी सम्पा. जर्मनी १९१८; दलाल व देसाई सम्पा. गा ओ. सी बडौदा, १९२३
२३८ करकडचरिउ (कनकामर) ही ला. जैन सम्पा (कारजा सी. १९३४)
२३९ पउमसिरिचरिउ (धाहिल) मोदी और भायाणी सम्पा सिंघी भारतीय वि. भ. बम्बई, सं. २००५
२४० सुगंधदशमीकथा (बालचन्द्र) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (मुद्रणाधीन)

प्रथमानुयोग संस्कृत :

२४१ पद्मचरित (रविषेण) – मूलमात्र भाग १-३ (मा दि जै. ग्रं बम्बई, सं १९८५) हि अनु स भा १–३ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८–५९)
२४२ हरिवंशपुराण (जिनसेन) मूलमात्र भा १–२ (मा. दि जै ग्रं. बम्बई,) हि अनु स (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२)
२४३ पाण्डवपुराण (शुभचन्द्र) हि अनु स (जीवराज जै. ग्रथ शोलापुर १९५४) घनश्यामदास कृत हि अनु स. (जैन सा प्र. कार्या, बम्बई, १९१९, जिनवाणी प्र का, कलकत्ता, १९३९)
२४४ पाण्डवचरित्र (देवप्रभ) निर्णयसागर, बम्बई, १९११
२४५ महापुराण (जिनसेन गुणभद्र) स्याद्वाद ग्रथमाला, इन्दौर स १९७३–७५ हि. अनु स (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भा. १–३ १९५१–५४)
२४६ त्रिषष्ठिशलाका पु च (हेमचन्द्र) जै ध. प्र. स भावनगर, १९०६–१३; पर्व १ का अ. अनु. जानसनकृत, गा. ओ. सी. बडौदा १९३१, पर्व २१–परिशिष्ट पर्व याकोबी सम्पा. बिब इं कलकता, १८९१ द्वि सं १९३२
२४७ त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्र (आशाधर) मराठी अनु स. मा. दि. जै. ग्रंथ बम्बई, १९३७
२४८ चतुर्विंशति जिनचरित या पद्मानन्द काव्य (अमरचन्द्र) – गा ओ. सी. बडौदा १९३२

२४९ **बालभारत** (अमरचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १८९४, १९२६)
२५० **पुराणसार संग्रह** (दामनन्दि)–हि. अनु स.(भा ज्ञा. काशी,भा. १-२,१९५४-५५)
२५१ **चन्द्रप्रभचरित्र** (वीरनन्दि) नि सा. बम्बई, १९१२, १९२६
२५२ **वासुपूज्यचरित्र** (वर्धमान) जै. ध. प्र. स. भावनगर, स १९६६) हीरालाल हंसराज जामनगर, १९२८–३०
२५३ **धर्मशर्माभ्युदय** (हरिचन्द्र) नि सा. बम्बई, १८८८
२५४ **शान्तिनाथ चरित्र** (अजितप्रभ) जै ध प्र. स. भावनगर, सं १९७३
२५५ **शान्तिनाथ पुराण** (सकलकीर्ति) हि. अनु जिनवाणी प्र कलकत्ता, १९३९ दुलाचन्द पन्नालाल देवरी, १९२३
२५६ **मल्लिनाथ चरित्र** (विनयचन्द्र) यशो जै ग्र भावनगर, नि स २४३८
२५७ **नेमिनिर्वाण काव्य** (वाग्भट) नि. सा बम्बई, १८९६
२५८ **नेमिदूत काव्य** (विक्रम) नि सा बम्बई, काव्यमाला न २
२५९ **पार्श्वाभ्युदय** (जिनसेन) – योगिराज टीका स. नि सा बम्बई, १९०९, इसमें ग्रथित मेघदूत, पाठक कृत ग्र अनु स पूना, १८९४, १९१६
२६० **पार्श्वनाथ चरित्र** (वादिराज) – मा. दि. जै. ग्र बम्बई, १९१६, हिं अ. पं. श्रीलाल कृत, जयचन्द्र जैन, कलकत्ता, १९२२
२६१ **पार्श्वनाथ चरित्र** (भावदेव) – य जै. ग्र .बनारस, १९१२, अं. भावार्थ ब्लूमफील्ड कृत, बाल्टीमोर, १९१९
२६२ **वर्धमान** (महावीर) चरित्र (असग) प खूबचन्द कृत हि अनु. स (मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत, १९१८, मराठी अनु स. शोलापुर, १९३१
२६३ **यशस्तिलकचम्पू** (सोमदेव) श्रुतसागर टीका स , नि. सा. बम्बई, १९०१
२६४ **यशोधर चरित्र** (वादिराज) सरस्वती विलास सी तंजोर, १९१२ हि. अनु उदयलाल कृत, हिन्दी जै सा. प्रसा कार्या. बम्बई, १९१४
२६५ **जीवंधर चम्पू** (हरिचन्द्र) सर. वि. तंजोर १९०५, हि अनु. स भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८
२६६ **गद्यचिन्तामणि** (वादीभसिंह) टी एस कुप्पूस्वामी शास्त्री सम्पा नाटेसन कं, मद्रास, १९०२
२६७ **क्षत्रचूडामणि** (वादीभसिंह) स वि तंजोर, १९०३, हि. अनु. स जै. ग्रं. र. कार्या बम्बई १९१०, सरल प्रज्ञा पुस्तकमाला, मंडावरा, पूर्वार्ध, १९३२, उत्तरार्ध, १९४०

२६८ वराङ्गचरित्र (जटासिंहनन्दि) डॉ. उपाध्ये द्वारा सम्पा मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, १९३८ भाषा पद्य कमलनयन कृत, जैन सा. समिति, जसवन्तनगर, १९३९
२६९ मृगावती चरित्र (देवप्रभ) — ही. हे. जामनगर, १९०९
२७० शालिभद्रचरित (धर्मकुमार) — य. जै ग्रं. बनारस, १९१०
२७१ वसन्तविलास काव्य (बालचन्द्र) गा. ओ. सी. बडौदा, १९१७
२७२ वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध (राजशेखर) गा. ओ सी. बड़ौदा, १९१७
२७३ वस्तुपाल चरित्र (जिनहर्षगणि) ही हं जामनगर, गुज. अन. जै. ध. प्र. स. भावनगर सं. १९७४
२७४ अभयकुमार चरित्र (चन्द्रतिलक) भा. १–२ जै आ स. भावनगर, १९१७
२७५ जगडुचरित्र (सर्वानन्द) बम्बई, १८९६
२७६ कुमारपालचरित्र (जयसिंहसूरि) ही हं जामनगर १९१५, गोडीजी जैन उपाश्रय, बम्बई, १९२६
२७७ कुमारपाल चरित्र (चारित्र सुन्दर) जै. आ स. भावनगर सं. १९७३
२७८ कुमारपाल प्रबन्ध (जिन मण्डन गणि) जै आ स भावनगर सं. १९७१
२७९ महीपाल चरित्र (चारित्रसुन्दर) ही ह. जामनगर, १९०९, १९१७)
२८० उत्तमकुमार चरित्र (चारुचन्द्र) ही ह जामनगर, १९०८
२८१ हम्मीरकाव्य (नयचन्द्र) — बम्बई १८७९
२८२ श्रीपालचरित्र (सत्यराज) विजय दानसूरीश्वर ग्रं मा. सूरत, सं. १९९५
२८३ श्रीपालचरित्र (ज्ञानविमल) — देवचदलाल भाई पु बम्बई, १९१७
२८४ श्रीपालचरित्र (जयकीर्ति) ही हं जामनगर, १९०८
२८५ श्रीपालचरित्र (लब्धिमुनि) जिनदत्तसूरि भं पायधूनी, बम्बई, स १९९१
२८६ उपमितिभवप्रपंचकथा (सिद्धर्षि) बिब इ डी. कलकत्ता, १८९९-१९१४ दे. ला. बम्बई, १९१८-२० किर्फेल कृत जर्मन अनु लीपजिग १९२४
२८७ तिलकमञ्जरी (धनपाल) — निर्णय सागर बम्बई, १९०३
२८८ तिलकमञ्जरी कथासार (लक्ष्मीधर) हेमचन्द्र सभा. पाटन, १९१९
२८९ अम्बडचरित्र (अमरसुन्दर) ही ह जामनगर, १९१० डॉ क्राउसकृत जर्मन अनु. लीपजिग १९२२
२९० रत्नचूडकथानक (ज्ञानसागर) यशो. जै ग्रं. भावनगर, १९१७ हर्टलकृत जर्मन अनु. लीपजिग, १९२२
२९१ अघटकुमारकथा — चा क्राउस कृत जर्मन अनु लीपजिग, १९२२ संक्षिप्त पद्यानु. नि. सा. बम्बई, १९१७

२९२ चम्पकश्रेष्ठिकथानक (जिनकीर्ति) हर्टलकृत ग्रं व जर्मन अनु. स. लीपजिग १९२२
२९३ पालगोपाल कथानक (जिनकीर्ति) हर्टल, लीपजिग १९१७
२९४ मलयसुन्दरी कथा (माणिक्यसुन्दर) बम्बई, १९१८
२९५ पापबुद्धिधर्मबुद्धि कथा (कामघटकथा) ही. हं. जामनगर, १९०९
२९६ शत्रुञ्जयमाहात्म्य (धनेश्वर) ही हं जामनगर, १९०८
२९७ प्रभावकचरित्र (प्रभाचन्द्र) नि सा बम्बई, १९०९
२९८ प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग) सिंघी जै सी. शान्तिनिकेतन, १९३३, टानीकृत अं अनु. बिब इ डी कलकत्ता, १८९९-१९०१ गुज अनु स. रामचन्द्र दीनानाथ, बम्बई, १८८८
२९९ प्रबन्धकोश (राजशेखर) सिंघी जै. सी. शान्तिनिकेतन, १९३५, ही हं जामनगर १९१३, हेमचन्द्र सभा. पाटन, १९२१
३०० बृहत्कथाकोश (हरिषेण) डॉ उपाध्ये कृत अं प्रस्ता स. भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४३
३०१ धर्मपरीक्षा (अमितगति) – हि अनु स जै ग्रं र बम्बई, १९०८ जै. सि. प्र कलकत्ता, १९०८
३०२ आराधना कथाकोष (नेमिदत्त) (हि. अनु. स.) जै. हीराबाग, बम्बई, १९१५
३०३ अन्तरकथासंग्रह (राजशेखर) बम्बई, १९१८ गुज अनु जै ध. प्र स. भावनगर स १९७८ इटेलियन अनु. ७–१४ कथाओं का, वेनेजिया, १८८८
३०४ भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति (कथाकोश-शुभशील) दे ला. बम्बई १९३२ गुज अनु. मगनलाल हाथीसिंह, अहमदाबाद, १९०९
३०५ दानकल्पद्रुम (जिनकीर्ति) दे ला बम्बई १९०९
३०६ धर्मकल्पद्रुम (उदयधर्म) दे ला. बम्बई, स १९७३
३०७ सम्यक्त्वकौमुदी (जिनहर्ष) जै आ. स. भावनगर, सं १९७०
३०८ कथारत्नाकर (हेमविजय) ही हं जामनगर, १९११ हर्टल कृत जर्मन अनु. मुनचेन, १९२०

संस्कृत नाटक

३०९ निर्भयभीमव्यायोग (रामचन्द्र) यशो. जै. ग्रं. नं. १९ भावनगर
३१० नलविलास (रामचन्द्र) गा ओ. सी. बड़ौदा, १९२६
३११ कौमुदी नाटक (रामचन्द्र) जै. आ स नं ५९, भावनगर सं. १९७३

३१२ विक्रान्त कौरव (हस्तिमल्ल) मा. दि. जै. बम्बई, सं. १९७२
३१३ मैथिलीकल्याण मा. दि. जै. बम्बई, १९७३
३१४ अञ्जनापवनञ्जय (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत अं. प्रस्ता बम्बई, सं. २००६
३१५ सुभद्रा (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत अं. प्रस्ता स. सं. २००६
३१६ प्रबुद्ध रौहिणेय (रामभद्र) जै. आ. स. नं ५०, भावनगर, १९१७
३१७ मोहराज पराजय (यशःपाल) दलाल कृत अं. प्रस्ता. स. गा. ओ. बड़ौदा, १९१८
३१८ हम्मीरमदमर्दन (जयसिंह) गा ओ सी. नं १०, बड़ौदा, १९२०
 " (नयचन्द्र) बम्बई, १८७९
३१९ मुद्रित कुमुदचन्द्र (यशश्चन्द्र) यशो. जै ग्रं. नं ८ बनारस १९०५
३२० धर्माभ्युदय-छाया नाट्य प्रबध (मेघप्रभ) जै. आ स. भावनगर १९१८
३२१ करुणवज्रायुध (बालचन्द्र) जै आ. स. भावनगर, १९१६, गुज. अनु. अहमदाबाद १८८६

व्याकरण

३२२ प्राकृतलक्षण (चण्ड) हार्नले सम्पा. बिब इंडी. कलकत्ता, १८८३
३२३ प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र) प ल वैद्य सम्पा. मोतीलाल लाडजी, पूना १९२८ पिशेल कृत जर्मन अनु स. हल्ले, १८७७-८० ढूंढिका टीका स. भावनगर स. १९६०
३२४ प्राकृत व्याकरण (त्रिविक्रम) प. ल. वैद्य सम्पा. जैन सं सं. स शोलापुर १९५४
३२५ जैनेन्द्र व्याकरण (देवनन्दि) अभयनन्दि टीका स. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५६ सनातन जै. ग्रं बनारस, १९१५
३२६ जैनेन्द्र प्रक्रिया (गुणनन्दि) सनातन जै ग्र बनारस, १९१४
३२७ शब्दानुशासन (शाकटायन) अभयचन्द्र टीका स. जेठाराम मुकुन्दजी बम्बई, १९०७
३२८ कातंत्र व्या. सूत्र (सर्ववर्मा) रूपमालावृत्ति स. हीराचन्द्र नेमिचन्द बम्बई सं. १९५२ बिहारीलाल कठनेरा बम्बई, १९२७
३२९ शब्दानुशासन (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञलघु वृत्ति स. यशो जै ग्रं. बनारस १९०५ स्वोपज्ञ वृत्ति और न्यास तथा कनकप्रभ न्याससारसमुद्धार स. राजनगर विजयनेमिसूरि ग्रं. ३३ व ५०, जैन ग्रं. प्रका सभा, वि.सं. २४७७, २४८३

छन्द

३३० गाथालक्षण (नन्दिनाट्य छन्दःसूत्र) वेलणकर सम्पा. भं. ओ. रि. इं एनल्स १४ १-२, पृ. १ आदि, पूना १९३३

३३१ स्वयंभूछन्दस् (स्वयभू) १-३ वेलणकर सम्पा बम्बई, रा. ए. सो. जर्नल १९३५
४–८ बम्बई, यूनी जर्नल, नव. १९३६
३३२ कविदर्पण – वेलणकर सम्पा भ ओ रि इ जर्नल पूना, १९३५
३३३ छन्दःकोश (रत्नशेखर) वेलणकर सम्पा. बम्बई, यूनी ज १९१२
३३४ छन्दोनुशासन (हेमचन्द्र) देवकरन मूलजी, बम्बई, १९१२
३३५ रत्नमञ्जूषा (छन्दोविचिति) सभाष्य वेलणकर सम्पा भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१९४९

कोश

३३६ पाइयलच्छीनाममाला (धनपाल) भावनगर स १९७३
३३७ देशीनाममाला (हेमचन्द्र) पिशेल और ब्हूलर सम्पा. बम्बई, स सी १८८०;
मु बनर्जी सम्पा कलकत्ता, १९३१
३३८ नाममाला व अनेकार्थनिघण्टु (धनञ्जय) अमरकीर्ति भाष्य स. भारतीय ज्ञा. काशी,
१९५०
३३९ अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ टीका स यशो जै ग्र ४१-४२ भावनगर
नि सा २४४१, २४४६ मूलमात्र, जसवन्तलाल गिरधर लाल शाह,
अहमदाबाद, स २०१३

व्याख्यान ३

जैन दर्शन

340 The Heart of Jainism, by S. Sinclair (Ox. Uni. Press, 1915).
341 Outlines of Jainism — J.L. Jaini (Cambridge, 1916).
342 Der Jainismas, by H Glasenapp (Berlin, 1926).
(Gujrati Translation — Bhavnagar, 1940).
343 Doctrine of Karma in Jaina Philosophy, by H. Glassenapp Bombay, 1942).
344 Jaina Philosophy of Non-Absolutism, by S. Mookerjee (Calcutta, 1944).
345 Studies in Jaina Philosophy, by N Tatia (Benaras, 1951).
346 Outlines of Jaina Philosophy, by M L. Mehta (Jaina Mission Society, Bangalore, 1954).
347 Jaina Psychology, by M.L. Mehta (S.J.P. Samiti, Amritsar, 1955).
348 Some Problems in Jaina Psychology, by T.G. Kalghatgi (Karnataka University, Dharwar, 1961).
349 Jaina Philosophy and Modern Science, by Nagraj (Kanpur, 1959).

Chapters on Jainism from the following works (350—353).

350 History of Indian Philosophy, by Dasgupta.
351 Indian Philosophy, by Radhakrishnan.
352 Outlines of Indian Philosophy, by M. Hirayanna.
353 Encyclopaedia of Religion and Ethics.
354 Jaina Monistic Jurisprudence — S.B. Deo (Poona, 1956).
355 Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, by Sukhlalji Singhvi (Calcutta, 1961).
३५६ जैन धर्म – कैलाशचन्द्र शास्त्री (मथुरा, भा. दि. जैन संघ, नि. सं. २४७५)
३५७ जैन दर्शन – महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (काशी १९५५ २४७५)
३५८ जैन शासन – सुमेरुचन्द्र दिवाकर (काशी १९५०)
३५९ जैन दर्शन – न्याय विजय (पाटन गुजराती १९५२, हिन्दी १९५६)
३६० दर्शन अने चिन्तन (गुज.) सुखलाल (गु. वि. अहमदाबाद १९५७
३६१ दर्शन और चिन्तन (हिन्दी) सुखलाल (गु. वि. अहमदाबाद, १९५७
३६२ भारतीय तत्वविद्या – सुखलाल (ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६०

व्याख्यान ४

जैन कला

363 Origin and Early History of Caityas, V R. R. Dikshitar (Ind. Hist. Q. XIV, 1938).
364 Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura, V. Smith (Allahabad, 1901).
365 Mohenjodaro and the Indus Valley Civilization, Vol. I-III, J. Marshall (London, 1931).
366 Note on Pre-Historic Antiquities, from Mohenjodaro — R.P Chanda (Modern Review, 1924).
367 History of Fine Art in India and Ceylon — V. Smith (Oxford, 1930).
368 Indian Architecture — Percy Brown (Bombay).
369 Paharpur Copperplate Grant of Gupta Year 159 (Ep Ind. XX p. 61 ff).
370 Yakshas — Part I-II — A.K. Coomarswamy (Washington, 1928-31).
371 Yaksha Worship in Early Jain Literature — U.P. Shah (J O Instt III, 1953)
372 Muni Vairadeva of Sona Bhandar Gave Inscription — U P. Shah (J. Bihar R.S Patna, 1953).
373 Studies in Jaina Art — U.P. Shah (J.C.S Banaras, 1955).
374 History of Indian and Eastern Architecture— J Fergusson (London, 1910)
375 Jaina Temples from Devagadh Fort — H. D. Sankalia (J.I S O.A IX, 1941).
376 Khandagiri — Udayagiri Caves — T.N Ramchandran & Chhotelal Jain (Calcutta, 1951)
377 The Mancapuri Cave — T. N. Ramchandran (I.H.Q. XXVII, 1951).
378 Holy Abu — Jina Vijay (Bhavnagar, 1954)
379 A Guide to Rajgir — Kuraishi & Ghose (Delhi, 1939).
380 Archaeology in Gwaliar State — M.B. Garde (Gwaliar, 1934).
381 Cave Temples of India — Fergusson & Burgess (London, 1880).

382 List of Antiquarian Remains in the Central Provinces & Berar — H. Cousens (Arch. S.I. XIX, 1897).

383 Architectural Antiquities of Western India — H. Cousens (London, 1926).

384 Somnath and other Mediaeval Temples in Kathiawad — H. Cousens (A.S. of Ind. XLX, 1931).

385 Antiquities of Kathiawad and Kachh — J. Burgess (A.S. of Ind. II, 1876).

386 Architectural Antiquities of Northern Gujraj — Burgess & Cousens (A.S. of Western India, IX, 1903).

387 Indian Sculpture — Stella Kramrisch (Calcutta, 1933).

388 Development of Hindu Iconography — J. N. Banerjee (Calcutta, 1941).

389 Jaina Iconography — B C Bhattacharya (Lahore, 1930).

390 Jaina Images of the Mauryan Period — K. P. Jayaswal (J.B O.R.S. XXIII, 1937).

391 Specimens of Jaina Sculptuie from Mathura — G. Buhler (Ep Ind. II, 1894).

392 An Early Bronze of Parshwanath in the Prince of Wales Museum — U P. Shah (Bulletin of P.W.M Bombay, 1954).

393 Age of Differentiation of Svetambara and Digambara Images and a few Early Bronzes from Akota — U.P. Shah (Bulletin P.W.M. Bombay, 1951).

394 The Earliest Jain Sculptures in Kathiawad—H.D. Sankalia (J R A.S , London, 1938).

395 Iconography of the Jaina Goddess Saraswati — U.P Shah (J.U. of Bombay, X, 1941)

396 Iconography of the Jaina Goddess Ambika — U.P. Shah (J.U. of Bombay, 1940).

397 A Note on Akota Hoard of Jaina Bronzes — U.P. Shah (Baroda Through Ages, App. IV, p. 97 ff).

398 Catalogue of Jaina Paintings and Manuscripts — A. K. Coomarswamy (Boston, 1924).

399 Jaina Miniature Paintings from Western India — Motichandra (Ahmedabad, 1949).

400 A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra as executed in the Early Western Indian Style — W. N. Brown (Washington, 1934).

401 Conqueror's Life in Jaina Paintings — A.K. Coomarswamy (J.I.S. of Or Art, III, 1935)

402 The Story of Kalaka — W.N. Brown (Washington, 1933).

४०३ तीर्थराज आबू (गुज) जिनविजय (भावनगर १९५४)

४०४ जैन चित्र कल्पद्रुम – न मारामाई (अहमदाबाद १९३६)

४०५ जैसलमेर चित्रावली – पुण्य विजय (अहमदाबाद, १९५१)

शब्द-सूची

सूचना—यहाँ नामों और पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है।